जैन आचार-मीमांसा

(जैन श्रावक के आचार धर्म का सर्वांगीण विवेचन)

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर



☆ जैन आचार-मीमांसा
(जैन श्रावक के आचार धर्म का सर्वांगीण विवेचन)

☆ लेखक :
आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी

☆ प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय
गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर-३१३ ००१

☆ प्रथम बार
वि. सं. २०५२ आश्विन
गुरु पुष्कर जयन्ती
ईस्वी सन् १९९५, अक्टूबर

☆ मूल्य
एक सौ रुपया मात्र

☆ मुद्रण सज्जा
राजेश सुराना द्वारा
दिवाकर टेक्स्टोग्राफिक्स
संजय प्लेस, आगरा-२८२ ००२
दूरभाष : (०५६२) ३५११६५, ५१७८९

समर्पण

जिनके जीवन में
अहिंसा की निर्मल गंगा
संयम की सुन्दर सरस्वती
और तप की पवित्र यमुना का
सरस संगम हुआ है
उन्हीं
परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य
उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज
के कर-कमलों में
सादर, सभक्ति समर्पित

—देवेन्द्र मुनि

आशीर्वचन

–स्व. गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म.

आचार जैन साधना का प्राण तत्त्व है। बिना प्राण के शरीर टिक नहीं सकता। प्राणरहित शरीर का स्थान घर नहीं, श्मशान होता है; वैसे ही आचाररहित साधना का कोई महत्त्व नहीं है। यही कारण है कि आगम साहित्य में सर्वप्रथम आचार का विश्लेषण किया गया है। आचारांग आचार का महाभाष्य है। द्वितीय स्थान विचार को मिला है। सूत्रकृतांग विचार का प्रतिनिधित्व करने वाला आगम है। वह विचार दर्शन को उजागर करता है। जैन दर्शन ने जीवन को उन्नत व समुन्नत बनाने के लिये आचार की उत्कृष्टता पर बल दिया है। यों साधना का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है। सम्यग्दर्शन की पूर्णता चतुर्थ गुणस्थान में हो जाती है और सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है। पर ज्ञान और दर्शन की परिपूर्णता होने पर भी मोक्ष नहीं होता। मोक्ष होता है सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता होने पर। सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। सम्यक्चारित्र ही जैन आचार है।

आगम युग से लेकर दार्शनिक युग तक ही नहीं, आधुनिक युग तक जैन मनीषियों ने आचार की महत्ता पर प्रकाश डाला है। श्रमण भगवान महावीर के युग में दार्शनिकों के अनेक भेद थे। उनमें जैन धर्मावलम्बी क्रियावादी के रूप में विश्रुत थे। क्रियावाद का अर्थ ही आचारवाद है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जैन आचार अन्ध-विश्वासों पर आधृत नहीं है। उसके आचार में अन्धानुकरण नहीं है और न लोकमूढ़ता ही है। उसका आधार सम्यक्श्रद्धा व ज्ञानवाद पर अवलम्बित है। ज्ञान के दिव्य आलोक के पश्चात् ही आचार सम्यक्आचार बनता है। जिस आचार के पीछे ज्ञान का दिव्य आलोक जगमगा नहीं रहा है तो वह आचार नहीं, अनाचार है; मिथ्याचार है। वह आध्यात्मिक उत्थान नहीं करता; अपितु पतन ही करता है। इसीलिए जैन आचार में 'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः' कहा गया है। भारतीय दर्शनों में न्याय, सांख्य, बौद्ध प्रभृति दर्शन एकमात्र ज्ञान को महत्त्व देते रहे हैं। तो मीमांसादर्शन केवल क्रियावाद को ही महत्त्व देता रहा है। किन्तु जैन दर्शन ने ज्ञान और क्रिया की समन्विति को ही मोक्ष-मार्ग कहा है।

आधुनिक युग में विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं की ओर से दर्शन सम्बन्धी और आचार सम्बन्धी ग्रंथ प्रकाशित होते रहे हैं। किन्तु जैन आचार पर जैसा सर्वांग परिपूर्ण ग्रंथ चाहिए वैसा अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है, जिसे पढ़कर अन्य परम्परा वाले जैन आचार के महत्त्व को हृदयंगम कर सकें। चिरकाल से मेरी यह भावना अन्तर्मानस में पनपती रही थी। मैंने अपनी भावना अपने विनीत शिष्य देवेन्द्र मुनि के समक्ष व्यक्त की। देवेन्द्र मुनि ने मेरी भावना के अनुरूप ग्रन्थ का लेखन किया है। ग्रन्थ मुझे पसन्द आया है और मेरा पूर्ण आत्म-विश्वास है कि यह ग्रन्थ सभी के मन को लुभायेगा। उन्हें जैन आचार (श्रावक एवं श्रमण के आचार) के सही स्वरूप का परिज्ञान कराने में सक्षम होगा और साथ ही अनुसन्धित्सुओं के लिये भी पथ-प्रदर्शक होगा।

देवेन्द्र मुनि में प्रतिभा के साथ विनय है। गुरुजनों के प्रति गहरी निष्ठा है। यही उसके विकास का मूल कारण है। मैं चाहता हूँ कि वह पूर्ण स्वस्थ रहकर निरन्तर जैन साहित्य की सेवा करता रहे, और ऐसा उज्ज्वल कीर्तिमान स्थापित करे जिससे जिनशासन की गौरव गरिमा में अभिवृद्धि हो।

प्रकाशकीय

अपने चिन्तनशील प्रबुद्ध पाठकों के कर-कमलों में 'जैन आचार-मीमांसा' और 'अणु से पूर्ण की यात्रा' नामक ग्रन्थ समर्पित करते हुए अपार आह्लाद हो रहा है। विश्व के रंगमंच पर समय-समय पर अनेक धर्म, दर्शन और सम्प्रदाय अपना स्वरूप प्रकट करते रहे हैं और जन-जन के अन्तर्मानस में धर्म और दर्शन का सैद्धान्तिक रूप उजागर करते रहे हैं। सभी धर्म और दर्शनों की विभिन्न आचार-संहिताएँ रही हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में 'जैन आचार' के विभिन्न पहलुओं पर निष्पक्ष चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। आचार के विशाल धरातल पर जीवन का सर्वांगीण सत्य इसमें उद्घाटित हुआ है। ऐसे अनेक जाज्वल्यमान विषय-बिन्दु हैं जिन पर विद्वान् लेखक ने जीवन-व्यवहार्य प्रणाली से समाधान प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ लगभग १५ वर्ष पूर्व 'जैन आचार' नाम से विशाल आकार में प्रकाशित हुआ था। जिज्ञासु पाठकों ने इसे बहुत पसन्द किया। शीघ्र ही इसका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। इस बीच इसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर से किया जा रहा है। अब उस ग्रंथ में समयानुसार कुछ परिवर्तन करके दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक हैं–परम श्रद्धेय, अध्यात्मयोगी, प्रसिद्ध उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. के सुशिष्य साहित्यमनीषी आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री। आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी के नाम से हमारा प्रबुद्ध पाठक वर्ग भलीभाँति सुपरिचित है। वे एक तेजस्वी लेखक हैं, गंभीर विचारक हैं, मधुर प्रवक्ता हैं और प्रबुद्ध सम्पादक हैं। उन्होंने अनेक शोधप्रधान व चिन्तनप्रधान ग्रन्थों को लिखकर और शताधिक ग्रन्थों का शानदार सम्पादन कर साहित्य के क्षेत्र में एक उज्ज्वल कीर्ति अर्जित की है। साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन, आगम, इतिहास, चिन्तन और बोध कथाएँ आपका प्रिय विषय रहा है। जिस किसी भी विषय पर आप लिखते हैं तो उस विषय के तलछट तक पहुँचते हैं और खुले मन-मस्तिष्क से उस पर गहराई से चिन्तन करते हैं। आपके अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन का सौभाग्य हमें मिला है और उन ग्रन्थों की भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। हमें परम प्रसन्नता है कि उस लड़ी की पवित्र कड़ी में प्रस्तुत ग्रन्थ हम समर्पित कर रहे हैं।

जैन आगमों में और उनके व्याख्या-साहित्य में श्रावकाचार और श्रमणाचार पर बहुत ही विस्तार से लिखा गया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषा में अनेक ग्रन्थ भी जैनाचार्यों ने लिखे हैं पर आधुनिक युग के अनुरूप हिन्दी भाषा में तुलनात्मक दृष्टि से लिखा गया जैन आचार पर कोई श्रेष्ठ ग्रन्थ नहीं है; जबकि जैन दर्शन पर कई श्रेष्ठ ग्रन्थ निकल चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ लिखकर मुनिश्री ने एक महत्त्वपूर्ण कमी की पूर्ति की है। जैन आचार के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन हुआ है। सर्वत्र विद्वान् लेखक की तेजस्वी प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। उसने सर्वत्र तुलनात्मक व समन्वयात्मक दृष्टि से चिन्तन किया है। लेखक खण्डनात्मक नीति से अलग-थलग रहकर अनेकान्त दृष्टि के दिव्य आलोक में जैनाचार का प्रतिपादन करता है। उसने जैनाचार के साथ ही विश्व के सभी प्रमुख धर्म और दर्शनों की आचार-संहिता पर भी प्रकाश डाला है जिससे यह ग्रन्थ भारतीय आचार का प्रतिनिधि ग्रन्थ बन गया है। हमारा यह स्पष्ट अभिमत है कि भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल रूप को प्रस्तुत करने के लिए इसी तरह के श्रेष्ठ ग्रन्थों की आज आवश्यकता है। आज भारत में विचार-पक्ष तो प्रबल होता जा रहा है पर आचार-पक्ष में शिथिलता आती जा रही है जिससे हमारी मानवता मर रही है और दानवता पुष्ट हो रही है। ऐसी विषम वेला में यह ग्रन्थरत्न प्रकाशस्तम्भ की तरह सभी के लिए उपयोगी होगा।

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, जैन समाज की विश्रुत संस्था है। सम्प्रदायवाद के दलदल से ऊपर उठकर उसने मानवतापरक श्रेष्ठ साहित्य समय-समय पर प्रदान किया है। साहित्य की हर विधा में नित्य नूतन श्रेष्ठ ग्रन्थ दिये हैं। स्वल्पावधि में ही शताधिक ग्रन्थों का शानदार प्रकाशन कर एक कीर्तिमान आदर्श उपस्थित किया है। इसका सम्पूर्ण श्रेय परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्यायश्री को है जिनके हार्दिक आशीर्वाद से यह संस्था दिन दूनी और रात चौगुनी प्रगति कर रही है। ग्रन्थ के प्रकाशन विभाग को उदारमना दानी महानुभावों का सतत स्नेह, सुधा-स्निग्ध सहयोग भी समय-समय पर मिलता रहा है जिससे विराट्काय ग्रन्थों के प्रकाशन करने का हम साहस बटोर सके हैं। हम चाहते हैं कि हमारा पाठक वर्ग सत्साहित्य पढ़ने में कुछ रस ले, इतने श्रम से लिखे हुए ग्रन्थ रत्नों का रसास्वादन कर अपने आपको धन्य अनुभव करे। साहित्य लिखना गुरुदेवों का कार्य है और प्रकाशन का कार्य हमारा है तथा प्रचार का कार्य पाठकों का है। हमारी यह हार्दिक इच्छा है कि पाठक वर्ग साहित्य के प्रचार-कार्य में अपेक्षित सहयोग दे जिससे हम अधिक से अधिक श्रेष्ठ साहित्य का अभिनव प्रकाशन कर सकें। आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि सभी का हार्दिक सहयोग हमें सदा मिलेगा।

ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाने वाले हमारे अभिन्न साथी स्नेहमूर्ति श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' हैं जिनका स्नेह भरा सहयोग हमें सदा मिलता रहा है। वे हमारे हैं, हम उनके हैं अतः उनके लिए आभार जैसे हलके शब्द का प्रयोग करना हमें इष्ट नहीं है। 'आभार' द्वैत का प्रतीक है, अद्वैत का नहीं।

इस सुनहरे अवसर पर हम सभी का हृदय से अभिनन्दन करते हैं जिनका ज्ञात व अज्ञात रूप में सहयोग ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ रहा है। इस अवसर पर हम जैन जगत् की उज्ज्वल तारिका महान् प्रतिभा-सम्पन्न साध्वीरत्न स्वर्गीया श्री प्रभावती जी म. को भी विस्मृत नहीं हो सकते जिन्होंने जीवनभर जैन शासन की महान् प्रभावना की और जैन शासन की ज्योति को सदा ज्योतिर्मय बनाने के लिए अपने प्यारे इकलौते पुत्र श्री देवेन्द्र मुनि तथा इकलौती पुत्री परम विदुषी महासती पुष्पवती जी को भी आर्हती दीक्षा प्रदान की तथा उन्हें आध्यात्मिक, साहित्यिक प्रगति के क्षेत्र में आगे बढ़ाया, उनका समाज पर महान् उपकार है अतः वह उनका चिर ऋणी रहेगा।

इन महत्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन कार्य में समाज के जिन उदारमना दानी सज्जनों ने गुरुभक्ति व ज्ञान-प्रसार की पुनीत भावना के साथ उदार सहयोग प्रदान किया है, हम उनके प्रति भी हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

–चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर (राजस्थान)



अपनी बात : अपनी कलम

भारतवर्ष दर्शनों की जन्मस्थली है तो आचार-धर्म की क्रीड़ास्थली भी है। यहाँ पर समय-समय पर अनेक दर्शनों ने जन्म लिया है। वे खूब ही फले-फूले और अन्त में क्रूर काल के गाल में समा गये। जैन दृष्टि से श्रमण भगवान महावीर के समय तीन सौ तिरेसठ दर्शन थे, तो तथागत बुद्ध ने तिरेसठ दर्शनों का वर्णन किया है। उनमें कितने ही दर्शन क्रियावादी थे, तो कितने ही दर्शन अक्रियावादी थे। कितने ही दर्शन अज्ञानवाद पर आधारित थे, तो कितने ही दर्शन विनयवाद को महत्त्व दे रहे थे। जितने दर्शन थे, उतनी ही आचार-परम्पराएँ भी थीं। वैचारिक मतभेद होने से आचार में भी मतभेद होना सहज था, स्वाभाविक था। कितने ही मूलभूत ऐसे नियम थे, जो सभी दर्शनों ने स्वीकार किये थे, पर यह भी पूर्ण सत्य है कि किसी ने किसी तत्त्व को गौण मानकर उसकी उपेक्षा की तो दूसरे ने उसे मुख्य मानकर उसका विस्तृत विवेचन-विश्लेषण किया। इस तरह विभिन्न आचार-परम्पराएँ समय-समय पर बनती रहीं और बिगड़ती रहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन आचार-मीमांसा' में मैंने आचार पर अनेक दृष्टियों से तुलनात्मक शैली में चिन्तन किया है। जैन दर्शन का प्राणतत्त्व 'आचार' है। आचार को केन्द्र मानकर ही अन्य चिन्तन विकसित हुआ है। यदि हम वर्तमान में भारतीय चिन्तन-क्षितिज पर मँडराये हुए अन्य दर्शनों के आलोक में चिन्तन करें तो यह स्पष्ट होगा कि जितना जैन दर्शन ने आचार को केन्द्र मानकर विकास किया है, उतना अन्य दर्शनों ने आचार को केन्द्र मानकर विकास नहीं किया। उदाहरण के रूप में, हम योगदर्शन को ले सकते हैं। आचार्य पतंजलि, जो योगदर्शन के प्राण स्वरूप रहे हैं, उन्होंने पातंजल योगदर्शन में जितना विस्तार के साथ आचार का विश्लेषण किया, उतना अन्य वैदिक दर्शन नहीं कर सके हैं। आचार्य पतंजलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को पहले यम कहा है[1] और आगे चलकर उन्हें महाव्रत ही कहा है।[2] जैसे कि जैन धर्म में भी इन गुणों को महाव्रत की संज्ञा दी है। पर यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि पतंजलि ने यम को योग का अन्तरंग कारण न मानकर बहिरंग कारण माना है।[3] अन्तरंग कारण ध्यान,

---

१. योगसूत्र २, ३०

२. एते जातिदेशकाल समयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमाः महाव्रतम्। —योगसूत्र २, ३१

३. त्रयमन्तरंगपूर्वेभ्यः। —योगसूत्र ३, ७

धारणा और समाधि को माना है। आसन, यम, नियम, प्राणायाम और प्रत्याहार–ये योग के बहिरंग कारण हैं। यह सही है कि आचार्य पतंजलि का यह अभिप्राय नहीं था कि यम का महत्त्व कम है, पर परवर्ती चिन्तकों ने आचार्य पतंजलि के मूल अभिप्राय को न समझकर षडंग योग का प्रचलन किया। षडंग योग में आसन, यम और नियम को हटाकर ध्यान, धारणा, समाधि, प्राणायाम, प्रत्याहार और तर्क को प्रस्थापित किया।[1] आचार्य पतंजलि ने योग में तर्क को स्थान नहीं दिया था, पर बाद के आचार्यों ने तर्क को जोड़कर अपनी तार्किक बुद्धि का परिचय दिया। मेरी दृष्टि से आसन, यम और नियम को छोड़ने का मूल कारण यही हो सकता है कि पतंजलि ने यम और नियम को जो बहिरंग में स्थान दिया इसी के कारण उन विज्ञों ने उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी।

योगदर्शन का दार्शनिक पक्ष सांख्यदर्शन में उजागर हुआ है। उसने तात्त्विक प्रश्नों पर गहराई से अनुचिन्तन किया है। न्यायदर्शन में प्रमाणशास्त्र पर ही विश्लेषण हुआ है, तो वैशेषिक दर्शन में पदार्थशास्त्र का निरूपण है। पूर्वमीमांसा का प्रतिपाद्य विषय धर्म है। किन्तु वह धर्म चरित्र पर आधृत न होकर बाह्य क्रियाकाण्डों पर अवलम्बित है। यज्ञ-याग की विविध विधियाँ निरूपित हुई हैं। देवता और स्वर्ग पर अधिक चिन्तन किया गया है। इस तरह बाह्य क्रियाकाण्ड के साथ दैवीतत्त्व पर बल दिया है। उत्तरमीमांसा में ज्ञानकाण्ड की प्रमुखता है। उसे वेदान्त भी कहते हैं।

भारतीय दर्शनों में बौद्धदर्शन अवश्य ही आचार-प्रधान रहा है। तथागत बुद्ध ने आचार-पक्ष पर इतना अधिक बल दिया कि तात्त्विक प्रश्नों की सर्वथा उपेक्षा ही कर दी। जब कोई भी साधक तथागत के पास आत्मा, परमात्मा, जीव और जगत् के गम्भीर प्रश्नों को लेकर उपस्थित हुआ तो बुद्ध ने उन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टाल दिया।[2]

बौद्धदर्शन में आचार-पक्ष पर बल अवश्य दिया गया है, किन्तु जैन आचार की अपनी एक अलग ही विशेषता है। इसमें आचार और विचार दोनों पर ही समान बल दिया है, समान भूमिका पर चिन्तन किया है। श्रमण भगवान महावीर आत्मा, कर्म, लोक-परलोक आदि तात्त्विक प्रश्नों के सम्बन्ध में कभी भी मौन नहीं रहे। उन्होंने जमकर उन सभी दार्शनिक प्रश्नों के समाधान दिये। भगवान महावीर

---

१. गुह्य समाजतन्त्र (१८, १४०)–विज्ञान भैरव (दिल्ली, १९७८) की डॉ. व्रतबल्लभ द्विवेदी लिखित भूमिका के पृ. ३६ पर उद्धृत

२. मज्झिमनिकाय (सारनाथ, १९३३) २, २, ३

का चिन्तन था—आचार की निर्मल गंगा मन, वचन और काया इन तीनों में समान रूप से प्रवाहित हो। उन्होंने स्पष्ट रूप से आघोष किया कि मन में भी संयम होना चाहिए, वचन में भी संयम होना चाहिये और काया में भी संयम होना चाहिए। मन, वचन और काया की निर्मलता और एकरूपता ही साधक को साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाती है।

तथागत बुद्ध ने मनःसंयम पर जितना बल दिया उतना बल कायसंयम पर नहीं दिया। मनःसंयम पर बल देने के कारण बौद्ध परम्परा में ध्यान आदि का अत्यधिक विकास हुआ। किन्तु कायसंयम की उपेक्षा करने के कारण शारीरिक तप आदि का जितना विकास होना चाहिए, उतना नहीं हो सका। कायसंयम में काय-क्लेश की प्रमुखता है। पर मध्यममार्ग का प्रतिपादन करने से आचार में शैथिल्य आ गया। यही कारण है कि बुद्ध एक ओर अहिंसा का निरूपण करते हैं, किन्तु दूसरी ओर वे माँसाहार, मत्स्याहार का पूर्ण निषेध न कर सके जिससे बिना रोक-टोक के माँसाहार का प्रचलन प्रारम्भ हो गया और अनेक सुख-सुविधाएँ साधकों के लिये खुली हो गईं। जबकि जैन परम्परा में मन के साथ ही वचन और कायसंयम पर समान बल देने से वचन पर भी गहराई से चिन्तन हुआ। साधक कौन-सी भाषा का प्रयोग करे, इसके लिये महाव्रतों में द्वितीय महाव्रत, समितियों में द्वितीय समिति और गुप्तियों में द्वितीय गुप्ति का विधान है। साधक में भाषा का विवेक आवश्यक है। उसे बोलने की कला में निष्णात होना चाहिए। वह ऐसी भाषा का प्रयोग न करे, जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट हो। सर्वप्रथम साधक मौन रहे, और यदि बोलना भी हो तो विवेकपूर्वक बोले। इसी तरह कायसंयम पर बल देने के कारण अनशन, ऊनोदरी आदि बाह्य तप का पूर्ण विकास हुआ। स्वयं महावीर उग्र तपस्वी थे तो उनके शिष्यगण भी तप की दृष्टि से पीछे नहीं रहे। आगम साहित्य में उन साधकों की रोमांचकारी तपःसाधना का उल्लेख है। 'देहदुःखं महाफलम्' की उद्घोषणा कर महावीर ने कायसंयम की महत्ता प्रतिपादित की। इसी प्रकार मनःसंयम पर बल देने से ध्यान और कायोत्सर्ग का भी विकास हुआ। साधक के लिए ध्यान-साधना अनिवार्य थी। आठ प्रहर में दो प्रहर ध्यान-साधना के लिये नियत किये गये थे। इस तरह जैन परम्परा ने मन, वचन और काया के संयम पर बल दिया।

आत्मवाद की मूल-भित्ति पर जैन आचार का भव्य प्रासाद अवस्थित है। आचारांग जो जैन आचार का मूलभूत ग्रन्थ है, उसमें सर्वप्रथम आत्मा की चर्चा की गई है और यह प्रतिपादित किया गया है कि जिस तरह से तुझे सुख प्रिय है, वैसे ही संसार के सभी प्राणियों को सुख प्रिय है। जैसे तुम कष्ट से कतराते हो वैसे ही

संसार के सभी प्राणी कष्ट से घबराते हैं। तुम अपनी आत्मा के समान उन प्राणियों को समझकर उनकी हिंसा मत करो। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि स्थावर के चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं तथापि कष्ट देने से उन्हें अपार वेदना होती है। अन्धे, बहरे और गूँगे व्यक्ति के अंगोपांग का यदि कोई छेदन-भेदन करता है तो उसे अपार वेदना होती है पर वेदना होने पर भी वह उसे कह नहीं पाता। वही स्थिति स्थावर जीवों की है।[1] जैसे मानव का शरीर जन्म ग्रहण करता है, अभिवृद्धि को प्राप्त होता है, वह सचित्त है। शरीर को काट देने पर भी पुनः घाव भर जाता है। इसी तरह वनस्पति आदि भी है। वह भी वृद्धि को प्राप्त होती है। आहार ग्रहण करती है।[2] अतः वह भी जीव है।[3] अहिंसा धर्म शाश्वत है, ध्रुव है। जितने भी अतीतकाल में तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, वे सभी अहिंसा का ही प्रतिपादन करेंगे। अहिंसा का ही विकास अन्य चार महाव्रतों में हुआ है। अहिंसा का ही अपर नाम 'समता' है; राग-द्वेष का परित्याग है। सामायिक में समता की ही प्रमुखता है। वह अहिंसा का ही रूप है। तीर्थंकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से बाह्याचार में परिवर्तन करते हैं। पर वह परिवर्तन व्यवहार की दृष्टि से होता है, निश्चय की दृष्टि से नहीं। निश्चयनय की दृष्टि से जैन आचार-संहिता में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं होता।

हाँ, इस ऐतिहासिक सत्य-तथ्य को मैं स्वीकार करता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर के पश्चात् जैन श्रमणों की आचार परम्परा में कुछ शैथिल्य आया है। बृहत्कल्पचूर्णि[4] के अनुसार आचार-शैथिल्य का सर्वप्रथम सूत्रपात आर्य सुहस्ती के समय हुआ। भयंकर दुष्काल के कारण क्षुधा से छटपटाते हुए अनेक श्रमण साधना के कठोर कंटकाकीर्ण मार्ग से भटक गये। सम्राट् सम्प्रति ने श्रमणों को यथेष्ट भिक्षा प्राप्त हो इस प्रकार का समुचित प्रबन्ध किया। आर्य महागिरि ने जब यह देखा कि दुष्काल में भी श्रमणों को भिक्षा सुगम-रीति से उपलब्ध हो रही है तो उन्होंने आर्य सुहस्ती से इसका कारण जानना चाहा। आर्य सुहस्ती अच्छी तरह से जानते थे कि श्रमणों को जो भिक्षा मिल रही है वह सदोष है तथापि उन्होंने आर्य

---

१. (क) आचारांगसूत्र १५
(ख) जे ण पस्संति ण सुणंति तेसिं कहं वेदणा उप्पज्जइ ? से बेमि।
—*आचारांगचूर्णि, पृ. २३*

२. आचारांगसूत्र ४५

३. लक्खणावसिद्धत्थं भण्णति, इमं वि जाइधम्मं इमं ति मणुस्ससरीरं।
—*आचारांगचूर्णि, पृ. ३४-३५*

४. (क) बृहत्कल्पचूर्णि, उद्देशक १
(ख) निशीथचूर्णि, उद्देशक ८

महागिरि को स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जिसके फलस्वरूप आर्य महागिरि ने आर्य सुहस्ती के साथ साम्भोगिक सम्बन्ध विच्छेद कर दिया।

पण्डितप्रवर श्री बेचरदास जी दोशी का अभिमत है कि "तथागत बुद्ध के मध्यममार्ग का प्रभाव जैन धर्मावलम्बियों पर भी पड़ा। संभव है प्रारम्भ में जैन धर्म के प्रचार के लिए श्रमण आचार में छूट ग्रहण करते रहे होंगे। उसके पश्चात् उन्हें अभ्यास हो गया होगा जिससे शिथिलता में अभिवृद्धि होती गई और वही आगे चलकर चैत्यवास के रूप में परिणत हो गई।"[1]

पण्डित नाथूराम जी प्रेमी का भी अभिप्राय है "प्रारम्भ में दोनों ही शाखाओं के साधुओं में आगमोक्त आचारों के पालन का अधिक से अधिक आग्रह था पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया श्रमणों की संख्या में भी अभिवृद्धि होती गई और वह श्रमण समुदाय भिन्न-भिन्न आचार-विचार वाले विभिन्न प्रदेशों में भी फैलता गया। धनियों और राजा-महाराजाओं के द्वारा ज्यों-ज्यों पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त होती गई त्यों-त्यों शिथिलता आती गई और श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में शिथिलाचारी श्रमणों की संख्या में वृद्धि हुई।"[2]

दुर्भिक्ष, लोक-संग्रह की भावना, यन्त्र, मंत्र, तंत्र, शक्ति-प्रयोग प्रभृति अनेक कारण शिथिलता पनपने के रहे हैं। वीर निर्वाण ८८२ यानी विक्रम संवत् ४१२ में चैत्यवास की स्थापना हुई।[3] चैत्यवास की स्थापना होते ही श्वेताम्बर परम्परा का श्रमण समुदाय दो भागों में विभक्त हो गया–एक चैत्यवासी दूसरा सुविहित या संविग्न-पाक्षिक। सम्बोध प्रकरण[4] में आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवासियों के शिथिलाचार का विस्तार से वर्णन किया है। 'संघपट्टक' में जिनवल्लभसूरि ने सुविहित मार्ग के सम्बन्ध में चिन्तन किया और संघपट्टक पर तीन सहस्र श्लोक प्रमाण टीका का निर्माण कर उसमें चैत्यवास के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया है। चैत्यवास के विरुद्ध यह अभियान बन्द नहीं हुआ। समय-समय पर संविग्न आचार्य उसके सम्बन्ध में स्वर बुलन्द करते रहे।

विक्रम की सोलहवीं शती में वीर लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा एवं श्रमणाचार की शिथिलता के विरोध में आवाज उठाई। उनके द्वारा रचित हुण्डी में शिथिलाचार के

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ३५१

२. वही, पृ. ३५१

३. वीरात् ८८२ चैत्यस्थितिः। –*धर्मसागर कृत पट्टावली*

४. सम्बोधप्रकरण, गाथा ४६, ४९, ५७, ६१, ६३, ६८, ७६, ८१, १६२, १६३

प्रति विद्रोह के स्पष्ट स्वर मुखरित हुए हैं।[1] जब लोंकागच्छ में भी शिथिलता ने प्रवेश किया तब सोलह सौ छियासठ में जीवराज जी महाराज ने क्रियोद्धार किया।[2]

श्वेताम्बर परम्परा की भाँति दिगम्बर परम्परा में भी आचार-शैथिल्य के विरुद्ध क्रान्ति हुई। चैत्यवासियों के सदृश ही भट्टारकों की भी स्थिति थी। वे उग्र साधना को छोड़कर मठवासी हो गये। एक स्थान पर अवस्थित हो गये थे। वे उद्दिष्ट भोजन करने लगे थे। लोह के कमण्डलु, कपड़े के पादत्राण, सुखासन पर बैठना प्रभृति अनेक प्रवृत्तियाँ पनपने लगी थीं।[3] त्रिवर्णाचार[4], धर्मरसिक[5] ग्रन्थों में उनकी मान्यताओं का स्पष्ट निदर्शन है।

विक्रम की सत्रहवीं शती में पं. बनारसीदास जी ने भट्टारक परम्परा का विरोध किया।

जब-जब शिथिलाचार का प्रभाव बढ़ा तब-तब उसके विरोध में आचार-क्रान्ति के स्वर मुखरित हुए। जैन परम्परा में जो भी सम्प्रदाय भेद और प्रभेद हुए हैं, मेरी दृष्टि से, उसमें मुख्य रूप से विचार-भेद कम और आचार-भेद ही प्रमुख रहा है। इसीलिए उसे क्रियोद्धार कहा गया है। आचार शैथिल्य को जैन आचार्यों ने कभी भी मान्य नहीं किया है। यही कारण है कि जैन श्रमणों की आचार-संहिता अन्य भारतीय परम्परा की आचार-संहिता से अधिक कठोर है और आज भी वह काफी संयम-नियम-तप पर आधारित है।

जैन आचार व्यापक दृष्टिकोण को लिए हुए है। वहाँ केवल पवित्र चरित्र तक ही आचार सीमित नहीं रहा है, उसने केवल कमनीय-कल्पना के अनन्त गगन में विहरण करने को ज्ञान नहीं माना; अपितु वही ज्ञान श्रेष्ठ है, जिसका सम्बन्ध आचार के साथ है। दर्शन जो तत्त्वश्रद्धा पर अवलम्बित है, वह दर्शन भी यदि आचार के साथ सम्बन्धित नहीं है तो दर्शन केवल दर्शन तक ही सीमित रहता है। जब दर्शन आचार के साथ सम्पृक्त होता है तो वह दर्शनाचार के रूप में गौरव को प्राप्त होता है। इसी तरह चारित्र, तप और वीर्य यानी पुरुषार्थ भी आचार से समन्वित होने से वे ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार के रूप में विश्रुत हैं।

---

१. १६९ बोल की हुण्डी। —*शिशुहित शिक्षा, पृ. १५५*

२. उपाध्याय पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, खण्ड ८, पृ. ८६-८७

३. शतपदी, जैन हितैषी, भाग ७, अंक ९

४. त्रिवर्णाचार ४-८५

५. धर्मरसिक ३३, ५९

जैन आचार के विविध पहलुओं पर मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में चिन्तन किया है। संक्षेप में सभी प्रमुख बातें देने का प्रयास किया है। ग्रन्थ आवश्यकता से अधिक बृहत्काय न हो जाये, इस दृष्टि से विषय प्रतिपादन की शैली न अति विस्तृत रखी है, और न बहुत ही संक्षिप्त। प्रथम बार यह ग्रंथ 'जैन आचार' नाम से प्रकाशित हुआ था, जिसमें श्रावक का आचार-मर्यादा तथा श्रमण आचार के विविध पहलुओं पर विस्तारपूर्वक सारगर्भित शैली में चिन्तन किया गया था। अब उक्त ग्रंथ को कुछ परिवर्तन, परिवर्धन के साथ दो भागों में विभक्त किया गया है। 'जैन आचार-मीमांसा' में श्रावक आचार का सर्वांग विवेचन है तो 'अणु से पूर्ण की यात्रा' में श्रमण आचार के सभी पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। आकार में बृहद् न हो जाए इसलिए इसे दो भागों में विभक्त किया गया है। इससे जिज्ञासुओं को भी रोचक सामग्री मिलेगी और अनुसन्धाता भी अभिनव सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। मुझे विषय प्रतिपादन करने में कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है–इसका मानदण्ड प्रबुद्ध पाठकों के हाथों में है।

इस ग्रंथ में जैन आचार के साथ जैन नीतिशास्त्र पर भी चिन्तन करना अपेक्षित है, अतः प्रारंभ में मैंने जैन नीतिशास्त्र पर एक प्रकरण लिखा था, परन्तु वही एक प्रकरण लगभग ४०० पेज का ग्रंथ बन गया और तब 'जैन नीतिशास्त्र : एक अनुशीलन' नाम से उसका स्वतंत्र प्रकाशन हो गया। जैन आचार एवं नीतिशास्त्र सम्बन्धी सभी तथ्यों/कथ्यों व प्रत्ययों पर उसमें प्रकाश डाला गया है, अतः इस ग्रंथ में जैन नीतिशास्त्र का स्वतंत्र अध्याय जोड़ने की अपेक्षा नहीं लगी।

जैन श्रमण होने के नाते जैन आचार के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और बहुमान होना सहज है। किसी भी आचार परम्परा का खण्डन करना मुझे इष्ट नहीं है। मेरा यह स्पष्ट अभिमत है कि आज के युग में खण्डनात्मक नीति अनुचित है। साम्प्रदायिक समन्वय के लिये यह अपेक्षित है कि हम तुलनात्मक दृष्टि से और शोध प्रधान शैली में प्रत्येक विषय पर गहराई से चिन्तन करें। उस विषय के तलछट तक पहुँचने का प्रयास करें जिससे एक-दूसरे में जो बिखराव, अलगाव और तनावपूर्ण स्थिति है, उसे मिटाया जा सकता है और परस्पर स्नेह, सद्भावना की सुरसरिता प्रवाहित की जा सकती है। प्रारम्भ से ही मेरा रुझान इस ओर रहा है। अपने श्रद्धेय सद्गुरुदेव से मुझे यही विरासत मिली है। अन्य ग्रन्थों की भाँति प्रस्तुत ग्रन्थ में भी मैंने यही शैली अपनाई है।

परम श्रद्धेय, अनन्त आस्था के केन्द्र, सद्गुरुवर्य, अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. सा. की सतत प्रेरणा मिलती रही है कि मैं साहित्य के क्षेत्र में

कुछ कार्य करूँ। गुरुदेवश्री के हार्दिक आशीर्वाद से ही मैं विविध विधाओं में कुछ लिख सका हूँ। मे[illegible]हित्य में जो कुछ भी अच्छा है, वह गुरुदेवश्री की कृपा का फल है। उन्हीं की कृपा से मैं साहित्यिक क्षेत्र में आगे बढ़ रहा हूँ।

परमादरणीया, प्रतिभामूर्ति, ऋजुमना, मातेश्वरी महासती श्री प्रभावती जी तथा ज्येष्ठ भगिनी परम विदुषी महासती श्री पुष्पवती जी की हार्दिक इच्छा थी कि जैन दर्शन, जैन आगम और जैन तीर्थंकरों पर जिस तरह शोध प्रधान ग्रंथ लिखे हैं, उसी प्रकार जैन आचार पर भी मैं ग्रन्थ लिखूँ। मातुश्री के ममता भरे आदेश को मैं कैसे टाल सकता था ? मैंने ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया। लेखन में अनेक व्यवधान भी आये, किन्तु ग्रन्थ उल्लास के क्षणों में पूर्ण हो गया। मुद्रण कार्य चल रहा था कि यकायक मातुश्री का संथारे के साथ दि. २७ जनवरी, सन् १९८२ को खैरोदा (मेवाड़) में स्वर्गवास हो गया।

यह सृष्टि का एक अनिवार्य क्रम है जो उदय होता है वह अस्त भी होता है। विश्व में जितने भी प्राणी जन्म लेते हैं, जीवन जीते हैं, उन्हें इसी क्रम से गुजरना पड़ता है। प्रकृति के इस महाविधान को बदलने की शक्ति किसी में भी नहीं है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि प्रातः सूर्य उदित होता है और देखते ही देखते संध्या को अपने अस्तित्व को समेटकर विदा हो जाता है। विदा होने के बाद उसका इतिहास समाप्त हो जाता है। पर कुछ ऐसी विशिष्ट विभूतियाँ होती हैं जिनका ओजस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व कभी धुँधला नहीं होता। वे त्रिकालाबाधित होती हैं। देशकाल की संकीर्ण सीमाएँ उनके ओजस्वी व्यक्तित्व-कृतित्व को आच्छादित नहीं कर सकतीं। माताजी महाराज का जीवन ऐसा ही तेजस्वी जीवन था। उनके असीम व्यक्तित्व को ससीम शब्दों में व्यक्त करना कठिन ही नहीं, कठिनतर है। मुझे जीवन के उषा काल से ही उनकी ममता मिली थी। उनके छलछलाते हुए वात्सल्य ने मेरा पथ प्रशस्त किया था। उनकी विमल छत्रछाया ने मुझे श्रमण साधना के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ने के लिए उत्प्रेरित किया। क्रूर काल ने राजस्थान की सच्ची वीरांगना साध्वीरत्न को हमारे से छीन लिया। उनकी छत्रछाया सदा के लिए उठ गई। माँ के मन में श्रमणाचार के प्रति गहरी निष्ठा थी। वह स्वयं शुद्ध आचार और विचार की देवी थीं। आगम साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन होने पर भी उनमें किंचित् मात्र भी अहंकार नहीं था। उत्कृष्ट आचार और विचार की धनी होने पर भी मन में अस्मिता नहीं थी। मोह ममता से ऊपर उठी हुई कर्त्तव्य की जीती-जागती मूर्ति माँ की सत्शिक्षाएँ मुझे सतत पथ-प्रदर्शन करती रहेंगी। मैं उनके बताये हुए आचार-मार्ग पर निरन्तर बढ़ता रहूँ, यही हार्दिक कामना है और उनके प्रति सच्ची श्रद्धार्चना है।

मैं पूजनीया मातेश्वरी महाराज व बहन म. तथा गुरुदेवश्री की भावना के अनुरूप ग्रन्थ तैयार कर सका हूँ, इसका मुझे सात्त्विक गौरव है। जब गुरुजनों का हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त होता है तो असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं।

सौजन्यमूर्ति श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' को भी विस्मृत नहीं हो सकता, जिन्होंने पांडुलिपि तथा प्रूफ आदि संशोधन कर ग्रन्थ को सर्वाधिक सुन्दर बनाने का प्रयास किया है।

ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणिका तैयार करने में परमविदुषी, पंजाबसिंहनी केशरदेवी जी म. प्रशान्तमूर्ति कौशल्या जी म. की सुशिष्या प्रतिभामूर्ति विजयश्री जी ने जो कठिन श्रम किया है, वह भी सदा स्मृति-पटल पर चमकता रहेगा।

ज्ञात व अज्ञात रूप में जिन ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सामग्री का मैंने उपयोग किया है उन सभी का हृदय से आभार मानता हूँ। मुझे पूर्ण आत्म-विश्वास है कि प्रस्तुत दोनों ग्रन्थ जैन आचार के सिद्धान्त व स्वरूप को समझने में परम उपयोगी होंगे।

सुज्ञेषु किं बहुना

–देवेन्द्र मुनि

जैन आचार-मीमांसा : विषय अनुक्रम

१. आचार धर्म : एक मूल्यांकन ३-१३

धर्म का मेरुदण्ड : आचार ३, आचाररहित विचार : कल्चर मोती ४, आचारहीनता से पतन ४, तप का मूल : आचार ५, आचार और सदाचार ५, मानव का शृंगार : सदाचार ६, सदाचार : परिभाषा ६, सदाचार : दुराचार ७, जीवन की प्राणशक्ति : सदाचार ७, सदाचार और सच्चरित्र ८, आचार और नीति ९, नीतिशास्त्र का ध्येय ९, आचार और विचार १०, आचार और विचार का सम्बन्ध १०, आचारशास्त्र का आधार : कर्मसिद्धान्त १२।

२. वैदिक धर्म की आचार दृष्टि १४-३९

वर्ण व्यवस्था १४, संस्कार २०, उपनयन संस्कार २१, आश्रम व्यवस्था २२, आह्निक २५, पंच महायज्ञ २५, भोजन २६, दान २७, वानप्रस्थ ३०, संन्यास ३२, प्रायश्चित्त ३६।

३. पुराण साहित्य में आचार-महिमा ४०-४४

कथाओं के माध्यम से ४०, वृत्त और आचरण ४०, पवित्र आचार ही सदाचार है ४१, धर्म का उद्‌भव : आचार से ४१, तीस प्रकार का आचरण ४२, पांडव आचार के प्रतीक ४३, शील का आधार ४३, महाभारत में आचार ४३।

४. बौद्ध धर्म में आचार का स्वरूप ४५-६७

आचार : विनय ४५, धर्म-प्रचार ४५, विनय विकास के बढ़ते चरण ४५, उपसंपदा का विधान ४६, उपसंपदा का अधिकारी ४८, दस शिक्षाएँ ४८, उपसंपदा के लिए अयोग्य व्यक्ति ४८, उपोसथ ४९, पातिमोक्ख ४९, उपाध्याय की अनुमति ५०, वर्षावास ५०, प्रवारणा ५१, उपानह ५२, वाहन और आसन ५२, भैषज्य ५२, चीवर ५३, दण्ड विधान ५४, स्नान आदि ५५, विहार ५६, व्रत ५६, महिला दीक्षा ५६, पातिमोक्ख व दण्डविधान ५७, उपासक आचार-संहिता ५८, पंचशील व शिक्षापद ५९, उपासक का कर्त्तव्य ६०, अवनति के कारण ६१, उपासकों को प्रेरणा ६१, गृहस्थ-जीवन को सुखी बनाने का उपाय ६१, दुर्गुणों से दूर रहो ६२,

चार आर्यसत्य ६४, (१) दुःख आर्यसत्य ६४, (२) दुःखसमुदय आर्यसत्य ६४, (३) दुःखनिरोध आर्यसत्य ६५, (४) दुःखनिरोधगामिनी-प्रतिपद आर्यसत्य ६५, मध्यम प्रतिपदा अथवा अष्टांगिक मार्ग ६५, त्रिरत्न ६७।

५. आजीवक मत की आचार-दृष्टि ६८-७२

आजीवक : एक विश्रुत मत ६८, आजीवक व तप ६८, आजीवक और भिक्षा ६९, तप और हिंसा ६९, आजीवक नग्न रहते थे ६९, बौद्ध साहित्य में आजीवक आचार का वर्णन ७०, आजीवक और जैन श्रमण ७१, आजीवक उपासक ७१, नियतिवादी ७२।

६. विभिन्न धर्मों के आचार-विधान ७३-८४

यहूदी धर्म में आचार ७३, ईश्वर का प्रतिनिधि ७३, प्रथम कर्त्तव्य : सेवा ७३, पारसी धर्म में आचार ७४, सच्चा और अच्छा पारसी ७४, स्नेह की शक्ति ७४, सहनशीलता ७४, स्वार्थत्याग : समर्पण ७४, अन्तःकरण की पवित्रता ७५, सेवा करो ७५, निष्ठावान बनो ७५, ईसाई धर्म में आचार ७५, मानवतावादी धर्म ७५, अहंकार विसर्जन ७६, पापों से ग्लानि ७६, विनय ७६, तीव्र अभिलाषा ७६, दया ७६, अन्तःकरण की शुद्धि ७६, शान्ति ७६, धैर्य व क्षमा ७७, इस्लाम धम में आचार ७७, परोपकार ७७, बिना फूल का वृक्ष ७८, सद्व्यवहार करो ७८, सदाचार की पोशाक ७८, सूफी धर्म में आचार ७९, आस्था का केन्द्र–ईश्वर ७९, अल्लाह का रूप–व्यापक ८०, नफ्स और रूह ८०, पथ-प्रदर्शक गुरु ८०, विशिष्ट आचरण ८१, साधना पद्धति ८१, सिक्ख धर्म में आचार ८२, सद्गुणों का आचरण ८३, धर्म और सदाचार ८३।

७. जैन आचार : विहंगम अवलोकन ८५-९९

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ८५, आचार के भेद-प्रभेद ८५, ज्ञानाचार ८६, दर्शनाचार ८६, आठ प्रकार के प्रभावक ८६, चारित्राचार ८९, तपाचार ८९, वीर्याचार ९०, ज्ञान और आचार ९०, जैन आचार का आधार ९०, अहिंसा आचार है ९१, आध्यात्मिक चिन्तन ९२, श्रावक का आचार ९३, जैन आचार के पुरष्कर्ता ९४, आत्मौपम्य दृष्टि ९५, समभाव ९६, चरित्रहीन; समाज के लिए घातक है ९६, लोकहित की भावना ९७, आत्महित और लोकहित ९७, समता और अनेकांतवाद ९९।

८. व्यसनमुक्त-जीवन १००-१२६

राष्ट्र की अमूल्य निधि १००, भौतिक उन्नति से वास्तविक सुख-शान्ति नहीं

१००, व्यसन की परिभाषा १०१, व्यसनों की तुलना १०१, वैदिक ग्रंथों के अनुसार व्यसनों के अठारह प्रकार १०२, व्यसन के सात प्रकार १०२, (१) जुआ १०३, जुआ : असाध्य रोग १०३, जुआरी अन्य व्यसनों को भी अपनाता है १०४, (२) माँसाहार १०५, माँसाहार और पाप १०६, शाकाहार और माँसाहार १०६, शक्ति का मूल : शाकाहार १०७, माँसाहार अपवित्र १०७, माँसाहार से हानि १०८, (३) मद्यपान १०८, मदिरालय : दिवालिया बैंक १०८, मदिरा पोषक नहीं, शोषक १०९, मदिरा टॉनिक नहीं ११०, मदिरा से उत्तेजना ११०, मदिरापान सन्निपात के समान १११, मदिरा के दोष १११, मदिरापान और शुद्धि ११२, बौद्ध साहित्य में ११३, मदिरा न पियो ११४, मदिरापान : महान् पाप ११४, पापों की जड़ ११४, विनाश का कारण ११५, सामाजिक अप्रतिष्ठा ११६, (४) वेश्यागमन ११६, वेश्या : प्रज्वलित दीपशिखा ११७, वेश्या में स्नेहाभाव ११७, (५) शिकार ११८, शिकारी के पास धर्म नहीं ११८, शिकार में आनन्द कहाँ? ११८, शिकार में भयंकर विपत्तियाँ ११९, पशुओं को मारना कहाँ का न्याय? ११९, (६) चोरी १२०, चोरी का केन्द्र : लोभ १२०, चोरी के प्रकार १२१, सभ्य चोरियाँ १२१, चोरी चरित्र धन की नाशक १२२, चोरी के कारण १२२, (७) परस्त्री-सेवन १२३, परस्त्री-सेवन : अवैध पापाचार १२३, परस्त्रीगामी सदा अविश्वसनीय १२५, परस्त्रीगमन के कारण १२५, कथनी करनी में एकरूपता १२५।

९. सदाचार की पृष्ठभूमि : मार्गानुसारी के गुण १२७-१५०

मूल आधार १२७, मानवता की नींव १२७, मार्गानुसारी के दिव्य-गुण १२७, धर्म का निवास, शुद्ध हृदय में १२८, आत्मा की पाँच श्रेणियाँ १२९, (१) न्यायसम्पन्न विभव १३०, (२) शिष्टाचार-प्रशंसक १३०, शिष्टाचार के अठारह सूत्र १३०, (३) काम-संयम १३१, (४) पाप का भय १३३, (५) देश-प्रसिद्ध आचार का पालक १३३, (६) निन्दा नहीं करना १३४, (७) आदर्श घर १३५, (८) घर के अनेक द्वार न हों १३५, (९) सत्पुरुषों की संगति १३५, (१०) माता-पिता की सेवा १३६, (११) कलह से दूर रहें १३७, (१२) निन्दनीय आचरण न करे १३७, (१३) आय के अनुसार व्यय करे १३७, (१४) आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहने १३८, (१५) धर्मश्रवण १३९, आठ प्रकार की बुद्धियाँ १३९, (१६) अजीर्ण होने पर भोजन न करे १३९, (१७) नियत समय पर संतोष के साथ भोजन करे १४०, (१८) अविरोधी भाव से त्रिवर्ग की साधना करे १४१, (१९) अतिथि-सेवा १४२, (२०) दुराग्रह के वशीभूत न हो १४३,

(२१) गुणानुरागी बने १४४, (२२) देश-कालोचित आचरण १४४, (२३) शक्ति के अनुसार कार्य करे १४४, (२४) व्रती और ज्ञानी जनों की सेवा करे १४५, (२५) उत्तरदायित्व निभाना १४५, (२६) दीर्घदर्शी १४५, (२७) विशेषज्ञ १४६, (२८) कृतज्ञ १४६, (२९) लोकप्रिय १४७, (३०) लज्जाशील १४७, (३१) दयावान १४७, (३२) सौम्यता १४८, (३३) परोपकारी १४८, (३४) षड्रिपुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य) को जीतने वाला १४८, (३५) इन्द्रिय-विजेता १४९, श्राद्ध विधि आदि ग्रन्थों के अनुसार श्रावक के २१ गुण १५०।

१०. जैन आचार का आधार : सम्यग्दर्शन १५१-१७६

जैन आचार का मूलाधार १५१, जैन-साधना का लक्ष्य १५२, विश्वास की आवश्यकता १५२, शक्ति की अभिव्यक्ति १५३, सम्यग्दर्शन की परिभाषा १५३, सम्यग्दर्शन अंक है १५४, परभाव और परभव १५५, सम्यग्दर्शन और साधना १५५, आध्यात्मिक साधना का द्वार १५५, सम्यग्दर्शन की निधि १५६, सम्यग्दर्शन चिन्तामणि १५६, बत्तीस दाँतों के बीच जीभ १५७, अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्रभाव नहीं १५७, ममता की मुद्रा १५७, भव परम्परा का उच्छेद १५८, सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के कारण १५८, तीन आत्माएँ १५९, तीन करण १५९, सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षण १६०, सम्यग्दर्शन के आठ अंग १६२, सम्यग्दर्शन के भेद १६५, सम्यक्त्व की दस रुचि १६७, सम्यक्त्व के आभूषण १६८, सम्यग्दर्शन की भावनाएँ १६९, अधिकार-पत्र १७०, सम्यक्त्व का आधार १७०, सम्यग्दर्शन के अतिचार १७१, साधना का प्राण-तत्त्व १७२, सत्य का साक्षात्कार १७३, दर्शन और ज्ञान १७३, प्रज्ञा और श्रद्धा १७४, श्रद्धा और क्रिया १७५, ज्ञान और चारित्र १७५।

११. आत्मिक विकास की सीढ़ियाँ : गुणस्थान १७७-२२२

जीवस्थान : गुणस्थान १७७, गुणस्थान का आधार १७८, (१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान १७९, मिथ्यात्व के विविध भेद १८०, आभिग्रहिक आदि पाँच भेद १८०, मिथ्यात्व के दस भेद १८१, मिथ्यात्व के पच्चीस भेद १८२, प्रथम गुणस्थान के तीन रूप १८२, कर्मप्रकृतियाँ : चिन्तन १८२, करण के तीन प्रकार १८४, यथाप्रवृत्तिकरण १८४, अपूर्वकरण १८४, अनिवृत्तिकरण १८५, (२) सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान १८७, (३) सम्यक्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान १८८, तीसरे गुणस्थान की विशेषता १८९, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तृतीय गुणस्थान १९०,

७४ कर्म प्रकृतियों का बन्ध १९१, अबन्ध्य ४६ प्रकृतियाँ १९१, (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान १९१, सम्यग्दर्शन के भेद १९२, बंध ७७ प्रकृतियों का १९३, अबन्ध्य ४३ प्रकृतियाँ १९३, (५) देशविरति गुणस्थान १९३, जैन गृहस्थ के बारह व्रत १९३, इस गुणस्थान का काल १९३, बंध योग्य ६७ प्रकृतियाँ १९४, (६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान १९४, बंध योग्य ६३ प्रकृतियाँ १९५, इस गुणस्थान का काल १९५, (७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान १९६, बन्ध योग्य ५९ प्रकृतियाँ १९७, इस गुणस्थान का काल १९७, (८) निवृत्तिबादर (अपूर्वकरण) गुणस्थान १९७, गुणश्रेणी आरोहण की तैयारी १९८, बन्ध्य ५८/५६/२६ प्रकृतियाँ १९८, (९) अनिवृत्तिबादर गुणस्थान १९८, बन्ध्य २२/२१/२०/१९/१८ प्रकृतियाँ १९९, (१०) सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान १९९, बन्ध्य १७ प्रकृतियाँ २००, (११) उपशान्तमोह गुणस्थान २००, इस गुणस्थान में पतन अवश्यंभावी २००, बन्ध्य सातावेदनीय प्रकृति २०१, (१२) क्षीणमोह गुणस्थान २०१, (१३) सयोगी केवली गुणस्थान २०१, केवली समुद्घात २०२, (१४) अयोगी केवली गुणस्थान २०३, आत्मा के तीन रूप २०३, बहिरात्मा २०३, अन्तरात्मा २०४, परमात्मा २०५, जैन गुणस्थान और वैदिक भूमिकाएँ २०५, जैन गुणस्थान और चित्त की पाँच अवस्थाएँ २०६, जैन गुणस्थान और गीता की त्रिगुणात्मकता २०९, त्रिगुणों के आधार पर गुणस्थानों का विश्लेषण २१०, आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से आठ भूमिकाएँ २१२, जैन गुणस्थान और बौद्ध अवस्थाएँ २१३, बौद्धधर्म के हीनयान संप्रदाय की दृष्टि से साधक की चार भूमिकाएँ २१४; बौद्धधर्म के महायान संप्रदाय की दृष्टि से अध्यात्मविकास की दस भूमिकाएँ २१६, जैन गुणस्थान और आजीवक भूमिकाएँ २१८, गुणस्थान और योग २१९, योग किसे कहते हैं? २२०, जैन दृष्टि से योग के पाँच भेद २२२।

१२. व्रत-मीमांसा २२३-२३२

व्रत की आवश्यकता और महत्त्व २२३, व्रत : एक प्रतिज्ञा २२३, व्रत : दमन नहीं, शमन २२४, व्रत : सुव्रत २२५, व्रत : स्वेच्छा से ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा २२५, व्रत : सार्वभौम हैं २२६, आदर्श : पर्वतारोहण के समान २२६, व्यवहार और निश्चय २२७, व्रत का उद्देश्य २२८, दम्भी व्रत का अधिकारी नहीं २२८, व्रती को निदानरहित होना चाहिए २२८, मिथ्यात्व और व्रत २२८, साधकों के दो प्रकार २२९, अणुव्रत और महाव्रत २२९, व्रत का व्यावहारिक रूप २३० श्रावक व्रतों के विकल्प २३०, व्रत ग्रहण करने के प्रकार २३१, व्रत की मर्यादा २३१।

१३. जैन साहित्य में श्रावकाचार की विविध भूमिकाएँ २३३-२५४

श्वेताम्बर आगम साहित्य में २३३, आगम साहित्य में श्रावकाचार २३४, आचारांगसूत्र में २३४, स्थानांगसूत्र में २३४, समवायांगसूत्र में २३६, भगवती-सूत्र में २३६, ज्ञातासूत्र में २३८, उपासकदशांग में २३८, अन्तकृद्दशांगसूत्र में २३८, प्रश्नव्याकरणसूत्र में २३९, विपाकसूत्र में २३९, राजप्रश्नीयसूत्र में २३९, उत्तराध्ययनसूत्र में २३९, दशाश्रुतस्कन्ध में २३९, आवश्यकसूत्र में २३९, उत्तरवर्ती श्वेताम्बर परम्परा में २४०, तत्त्वार्थसूत्र में २४०, श्रावक प्रज्ञप्ति में २४०, धर्मबिन्दुप्रकरण में २४१, श्रावकधर्मविधि प्रकरण में २४१, षट्स्थान प्रकरण में २४१, श्राद्धदिनकृत्यसूत्र में २४१, श्रावकधर्मविधि में २४१, श्राद्धगुण विवरण में २४१, श्राद्धविधि में २४१, कथाग्रन्थों में श्रावकाचार २४२, कथाकोश में २४३, नवपद प्रकरण सटीक में २४३, योगशास्त्र में श्रावकाचार २४३, पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज का गृहस्थधर्म २४३, महासती उज्ज्वलकुँवर जी का श्रावकधर्म २४३, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का श्रावक धर्म दर्शन २४३, दिगम्बर परम्परा में २४३, आचार्य कुन्दकुन्द का चारित्रपाहुड २४३, रयणसार २४३, कार्तिकेयानुप्रेक्षा २४४, स्वामि समन्तभद्र का रत्नकरंड श्रावकाचार २४४, जिनसेन का आदिपुराण २४५, जिनसेन का हरिवंशपुराण २४६ सोमदेव का यशस्तिलक चम्पू (उपासकाध्ययन) २४६, आचार्य देवसेन का भावसंग्रह २४७, अमितगति का उपासकाध्ययन २४७, अमृतचन्द्र का पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २४७, वसुनन्दि का श्रावकाचार २४८, पं. आशाधर जी का सागारधर्मामृत २४८, सावयधम्मदोहा २४८, धर्मसंग्रह श्रावकाचार २४९, सकलकीर्ति का प्रश्नोत्तर श्रावकाचार २४९, गुणभूषण का श्रावकाचार २४९, नेमिदत्त का धर्मोपदेश पीयूष वर्ष २४९, लाटी संहिता २४९, पूज्यपाद का श्रावकाचार २४९, पद्मनन्दि का श्रावकाचार २४९, व्रतसार श्रावकाचार २५०, अभ्रदेव का व्रतोद्योतन श्रावकाचार २५०, प्रभाचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दिकृत श्रावकाचारसारोद्धार २५०, भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययन २५०, शिवकोटिरचित रत्नमाला २५०, पद्मचरित्र २५०, वरांगचरित्र २५०, संस्कृतभावसंग्रह २५०, पं. गोविन्द का पुरुषार्थानुशासन २५०, उपासक की ग्यारह प्रतिमाएँ २५१, श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार २५१, दिगम्बर परम्परा के अनुसार २५१, जघन्य श्रावक २५२, मध्यम श्रावक २५२, षट्कर्म २५३, उत्कृष्ट श्रावक (प्रतिमाधारी श्रावक) २५३।

१४. श्रावक : एक लक्ष्य, अनेक नाम २५५-२५९

श्रावक शब्द की परिभाषा २५४, अक्षरों के आलोक में २५५, व्रत ग्रहण करने से : श्रावक (व्रती) २५६, श्रमणोपासक २५६, अरिहंतोपासक क्यों नहीं? २५७, श्रमणों की उपासना के विविध प्रकार अम्मापिउ समाणा २५८, अणुव्रती आदि अन्य नाम २५८, रत्न-पिटारा २५९।

१५. आचार के मानदण्ड : श्रावकव्रत २६0-३0८

अणुव्रत : सामान्य परिचय २६0, अतिचार : अनाचार २६१, बारह व्रतों के नाम २६१, पाँच अणुव्रत २६१, (१) स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत २६१, आघात के दो प्रकार २६१, अहिंसा व्रत के दो आगार २६२, स्थूल प्राणातिपात २६२, संकल्प और आरम्भ २६३, अहिंसा व्रत की मर्यादा २६४, शिकार करना महाहिंसा २६४, मत्स्य गलागलन्याय से शांति नहीं २६५, कुल-विनाशिनी हिंसा २६५, संकल्पी हिंसा २६६, अहिंसा व्रत के अतिचार २६७, (१) बंध २६७, (२) वध २६७, (३) छविच्छेद २६७, (४) अधिभार २६७, (५) भक्तपान विच्छेद २६७, (२) स्थूल मृषावादविरमण व्रत २६७, झूठ के विभिन्न अर्थ २६८, श्रावक स्थूल असत्य से बचता है २६८, असत्य बोलने के कारण २६९, कन्या के सम्बन्ध में २६९, गाय के सम्बन्ध में २७0, भूमि के सम्बन्ध में २७0, न्यास-धरोहर के सम्बन्ध में २७0, झूठी साक्षी २७१, स्थूल मृषावाद के पाँच अतिचार २७१, (१) सहसाऽभ्याख्यान २७१, (२) रहस्याभ्याख्यान २७१, (३) स्वदार मन्त्रभेद २७२, (४) मिथ्योपदेश २७२, (५) कूटलेख प्रक्रिया २७२, (३) स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत २७३, स्थूल अदत्तादान का स्वरूप २७३, चोरी त्याग से प्रामाणिकता २७३, चोरी के बाह्य कारण २७३, प्रथम कारण–भोगों के प्रति आसक्ति २७४, दूसरा कारण–भुखमरी और बेकारी २७४, तीसरा कारण–फिजूलखर्ची २७४, चौथा कारण–यशकीर्ति व प्रतिष्ठा की भूख २७४, (५) पाँचवाँ कारण–स्वभाव २७४, अन्य कारण–अशिक्षा और कुसंगति आदि २७४, स्थूल चोरी के प्रकार २७४, अस्तेय व्रत के अतिचार २७४, (१) स्तेनाहृत २७४, (२) तस्करयोग २७५, (३) विरुद्धराज्यातिक्रम २७५, (४) कूटतुला-कूटमाप २७५, (५) तत्प्रतिरूपक व्यवहार २७६, अतिचार का सेवन न करने का व्यवहार में महत्त्व २७६, (४) स्वदारसन्तोष व्रत २७६, गृहस्थ की ब्रह्मचर्य मर्यादा २७६, प्रतिज्ञा से वासना के द्वार का अवरोध २७७, स्वच्छन्दता नहीं २७७, स्वदारसंतोष व्रत के पाँच अतिचार २७८, (१) इत्वरिक परिगृहीतागमन २७८, अपरिगृहीतागमन २७८,

(३) अनंगक्रीड़ा २७८, (४) परविवाहकरण २७८, (५) कामभोगतीव्राभिलाषा २७९, अतिचारों से व्रत में दूषण २७९, (५) स्थूल परिग्रह-परिमाणव्रत २७९, परिग्रह : पाप का मूल २७९, सम्पत्ति नहीं, सन्तोष २७९, बाह्य परिग्रह २८०, परिग्रह व्रत की मर्यादाएँ २८०, परिग्रहपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार २८१, गुणव्रत २८१, गुणव्रतों का महत्त्व २८२, (१) दिशापरिमाण व्रत २८२, गमनागमन की मर्यादाएँ २८३, विदेश यात्रा के तीन प्रमुख कारण २८३, मुख्य तीन दिशाओं के उत्तरभेद–दस विदिशाएँ २८४, मर्यादाएँ अपनी इच्छा से ग्रहण की जाती हैं २८४, दिशापरिमाण व्रत के अतिचार २८४, (१) ऊर्ध्वदिशा-परिमाणातिक्रम २८४, (२) अधोदिशापरिमाणातिक्रम २८४, (३) तिर्यग्दिशा-परिमाणातिक्रम २८५, (४) क्षेत्रवृद्धि २८५, (५) स्मृति भ्रंश २८५, (२) उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत २८५, छब्बीस बोल २८६, पाँच बातों से बचो २८७, (१) त्रसवध २८७, (२) बहुवध २८७, (३) प्रमाद २८८, (४) अनिष्ट २८८, (५) अनुपसेव्य २८८, उपभोग-परिभोग व्रत के अतिचार २८८, (१) सचित्ताहार २८८, (२) सचित्त प्रतिबद्धाहार २८८, (३) अपक्वाहार २८८, (४) दुष्पक्वाहार २८८, (५) तुच्छौषधिभक्षण २८८, स्वामि समन्तभद्र के अनुसार उपभोग-परिभोग व्रत के पाँच अतिचार २८८, पन्द्रह कर्मादान २८९, कर्मादान का अर्थ २८९, कर्मादान के नाम २८९, (३) अनर्थदण्डविरमण व्रत २९१, अनर्थदण्ड-विरमण का अभिप्राय २९१, अर्थदण्ड और अनर्थदण्ड २९२, अनर्थदण्ड के चार आधार २९२, (१) अपध्यानाचरित २९२, (२) प्रमादाचरित २९३, (३) हिंस्रप्रदान २९४, (४) पापोपदेश २९४, समन्तभद्र के अनुसार अनर्थदण्ड के पाँच आधार २९४, अनर्थदण्ड के पाँच अतिचार २९५, (१) कन्दर्प २९५, (२) कौत्कुच्य २९५, (३) मौखर्य २९५, (४) संयुक्ताधिकरण २९५, (५) उपभोग-परिभोगातिरेक २९५, शिक्षाव्रत २९६, शिक्षाव्रत का अर्थ २९६, (१) सामायिक व्रत २९७, सामायिक का महत्त्व २९७, सामायिक के दो भेद–आगारसामायिक, अनगारसामायिक २९७, जीवन-परिवर्तन २९८, सामायिक व्रत के पाँच अतिचार २९८, (१) मनःदुष्प्रणिधान २९९, (२) वचन दुष्प्रणिधान २९९, (३) काय दुष्प्रणिधान २९९, (४) स्मृत्यकरण २९९, (५) अनवस्थितता २९९, (२) देशावकाशिक व्रत २९९, देशावकाशिक व्रत नियम काल-मर्यादा २९९, जीवन को अनुशासित बनाने का मंत्र २९९, चौदह नियम ३००, देशावकाशिक ग्रहण की मर्यादाएँ ३०१, देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार ३०२, आनयन प्रयोग ३०२, (२) प्रेष्य प्रयोग ३०२, (३) शब्दानुपात ३०३,

(४) रूपानुपात ३०३, (५) पुद्गल प्रक्षेप ३०३, पौषधोपवास व्रत ३०३, पौषध और उपवास शब्दों का अर्थ ३०३, स्वयं के दोषों का चिन्तन ३०३, आत्म-शक्ति का प्रकटीकरण ३०४, पौषध के चार प्रकार ३०४, (१) आहार पौषध ३०४, (२) शरीर पौषध ३०४, (३) ब्रह्मचर्य पौषध ३०५, (४) अव्यापार पौषध ३०५, पौषध और काल मर्यादा ३०५, पौषध व्रत के पाँच अतिचार ३०५, (४) अतिथिसंविभाग व्रत ३०६, अतिथि का अर्थ ३०६, दाता चार बातों का ध्यान रखे ३०७, अतिथिसंविभाग व्रत के पाँच अतिचार ३०८, (१) सचित्तक्षेपण ३०८, (२) सचित्तपिधान ३०८, (३) कालातिक्रम ३०८, (४) परव्यपदेश ३०८, (५) मात्सर्य ३०८।

१६. साधना की भूमिकाएँ : श्रावक प्रतिमा ३०९-३२०

विश्व संस्कृतियाँ ३०९, साधना के विविध रूप ३०९, प्रतिमाएँ ३१०, प्रतिमा का अर्थ ३१०, श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ३१०, दिगम्बर परम्परा के अनुसार ३१०, (१) दर्शन प्रतिमा ३११, (२) व्रत प्रतिमा ३११, (३) सामायिक प्रतिमा ३१२, (४) पौषध प्रतिमा ३१२, (५) नियम प्रतिमा ३१३, (६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा ३१३, (७) सचित्तत्याग प्रतिमा ३१४, (८) आरम्भत्याग प्रतिमा ३१४, (९) प्रेष्य परित्याग ३१४, (१०) उद्दिष्टत्याग प्रतिमा ३१५, (११) श्रमणभूत प्रतिमा ३१५, दिगम्बर परम्परा के अनुसार ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक और ऐलक–दो भेद ३१६, प्रतिमाओं की काल मर्यादा ३१८, श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में ३१८, प्रतिमा : एक चिन्तन ३१९।

१७. आत्म-शोधन की प्रक्रिया : तप ३२१-४१०

श्रमण संस्कृति का आधार : श्रमण ३२१, तप उत्कृष्ट मंगल है ३२२, तप में शूर : अनगार ३२३, जीवनोत्थान का प्रशस्त पथ : तप ३२३, सिद्धियों का मूल : तप ३२४, तप और लब्धियाँ ३२६, बौद्ध दृष्टि से तप ३३०, वैदिक धर्म की दृष्टि से तप ३३१, आयुर्वेद की दृष्टि से तप ३३२, प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से तप ३३३, तप के विविध प्रकार ३३६, बाह्य तप–(१) अनशन ३३९, (२) अनोदरी ३४१, (३) भिक्षाचारी ३४६, (४) रस-परित्याग ३५३, (५) कायक्लेश ३५६, (६) संलीनता ३६०, आभ्यन्तर तप–(७) प्रायश्चित्त ३६४, (१) आलोचनार्ह ३६६, (२) प्रतिक्रमणार्ह ३६८, (३) तदुभयार्ह ३६९, (४) विवेकार्ह २६९, (५) व्युत्सर्गार्ह ३६९, (६) तपार्ह ३६९, (७) छेदार्ह ३६९, (८) मूलार्ह ३७०, (९) अनवस्थाप्यार्ह ३७०, (१०) पारांचिकार्ह ३७०, (८) विनय ३७१,

(९) वैयावृत्य ३७५, (१०) स्वाध्याय ३७६, स्वाध्याय तप : एक अनुचिन्तन ३७७, स्वाध्याय की परिभाषा ३८०, स्वाध्याय के प्रकार ३८१, स्वाध्याय के नियम ३८२, स्वाध्याय-योग्य ग्रंथों के प्रकार ३८३, अस्वाध्याय के प्रकार ३८३, दस आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय ३८३, दस औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय ३८४, (११) ध्यान ३८६, ध्यान की परिभाषाएँ ३८७, ध्यान के भेद-प्रभेद ३९०, धर्मध्यान ३९१, धर्मध्यान के भेद ३९१, ध्याता के लक्षण ३९२, ध्यान के आलम्बन ३९३, धर्मध्यान की चार भावनाएँ ३९३, ध्येय के भेद ३९३, शुक्लध्यान ३९८, शुक्लध्यान के भेद-प्रभेद ३९८, (१२) व्युत्सर्ग ४०१, कायोत्सर्ग में श्वास-नियमन ४०१, व्युत्सर्ग का अर्थ ४०३, व्युत्सर्ग के भेद-प्रभेद ४०३, बाह्य-आभ्यन्तर तप का समन्वय ४०६, भगवान महावीर की तप : साधना ४०७, तप का उद्देश्य : आत्म-शुद्धि ४०८, सकाम और निष्काम तप ४०९।

परिशिष्ट

- पारिभाषिक शब्द कोष ४११
- प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची ४४८




जैन आचार-मीमांसा

१. आचार धर्म : एक मूल्यांकन

धर्म का मेरुदण्ड : आचार

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युदय का मूल आधार आचार है। आचार के आधार पर विकसित विचार जीवन का नियामक और आदर्श होता है, अतः विचार की जन्म-भूमि आचार ही है।

अतीत काल में आचार शब्द बिना किसी विशेषण के भी श्रेष्ठतम आचरण के लिए व्यवहृत हुआ है। शाब्दिक दृष्टि से आचार का अर्थ है–'आचर्यते इति आचारः' जो आचरण किया जाय, वह आचार है। यह सदाचार का द्योतक है। आचार्य मनु[१], आचार्य व्यास[२] प्रभृति विज्ञों ने 'आचारः प्रथमो धर्मः' कहा है। भगवान महावीर ने द्वादशांगी में 'आचार' को प्रथम स्थान दिया है। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–"आचार सभी अंगों का सार है।"[३] महाभारत में वेदव्यास ने भी यही कहा है कि सभी आगमों से 'आचार' प्रथम है।[४] ऋषियों ने भी आचार से ही धर्म की उत्पत्ति बताई है–"आचारप्रभवो धर्मः।"[५] आचार्य पाणिनि[६] ने प्रभव का अर्थ 'प्रथम प्रकाशन' किया है। अर्थात् आचार ही धर्म का प्रथम प्रकाशन स्थान है। आचार धर्म का मेरुदण्ड है जिसके बिना धर्म टिक नहीं सकता।

विश्व में जितने भी प्राणी हैं उन सभी प्राणियों में मानव श्रेष्ठ है।[७] सभी मानवों में ज्ञानी श्रेष्ठ है और सभी ज्ञानियों में आचारवान श्रेष्ठ है। आचार मुक्तिमहल में प्रवेश करने का भव्य द्वार है।

---

१. मनुस्मृति १/२०७
२. महाभारत १३/१४९
३. अंगाणं किं सारो? आयारो ! –*आचारांगनिर्युक्ति, गा. १६*
४. सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्प्यते।
५. हरिभक्ति विलास ३/१०
६. प्रभवति प्रथमं प्रकाशते वा आचारात्। –*पाणि. ३१३/१९, ५७*
७. गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् !

आचार रहित विचार : कल्चर मोती

आचारहीन मानव को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। कहा है–"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।"[1] आचार रहित विचार कल्चर मोती के सदृश है, जिसकी चमक-दमक कृत्रिम है। विचारों की तस्वीर चाहे कितनी भी मनमोहक और चित्ताकर्षक क्यों न हो, पर जब तक आचार के फ्रेम में वह नहीं मढ़ी जायेगी तब तक जीवन-प्रासाद की शोभा नहीं बढ़ेगी। विचारों की सुन्दर तस्वीर को आचार के फ्रेम में मढ़वा दिया जाय तो तस्वीर भी चमक उठेगी और भवन भी खिल उठेगा।

शीशे की आँख स्वयं के देखने के लिए नहीं होती, दिखाने के लिए होती है, वैसे ही आचारहीन ज्ञान आत्म-दर्शन के लिए नहीं होता, किन्तु मात्र अहंकार के प्रदर्शन के लिए होता है। प्रशंसा के गीत गाने मात्र से अमृत किसी को अमर नहीं बनाता, पानी-पानी पुकारने से प्यास शान्त नहीं होती। इसी प्रकार सिर्फ शास्त्रों का ज्ञान बघारने से जीवन में दिव्यता नहीं आती।

अमृत-पान से अमर बना जाता है, पानी पीने से प्यास शान्त होती है, आहार करने से क्षुधा मिटती है, ताजगी और स्फूर्ति का संचार होता है, वैसे ही शास्त्रीय ज्ञान किंवा सद्गुणों के आचरण से जीवन में दिव्यता और भव्यता प्रगट होती है। स्मरण रखिए, आचारहीन विचार-क्रान्ति से विचारों की विशुद्धि नहीं होती, अपितु विकारों की अभिवृद्धि होती है। दूषित वायु के सेवन से स्वास्थ्य की शुद्धि नहीं होती, रोग की वृद्धि होती है। शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन करके भी वे लोग मूर्ख रहते हैं जो शास्त्रों के अनुसार आचरण नहीं करते। ज्ञान से तत्त्व का स्वरूप समझा जा सकता है, पर तत्त्व की उपलब्धि आचरण से ही होती है। आचरण ही ज्ञान को अनुभूति से मंडित करता है।

आचारहीनता से पतन

विराट् सम्पत्ति का अधिपति तथा वेद-वेदांगों का पारंगत होने पर भी सदाचार-रहित होने से रावण 'राक्षस' जैसे घृणापूर्ण सम्बोधन से पुकारा गया। सुयोधन दुर्योधन के रूप में विश्रुत हुआ। आचार का परित्याग करने से कंस राजा होकर भी कसाई कहलाया और दक्ष दंभी के रूप में प्रसिद्ध हुआ। जबकि सदाचार

---

१. (क) महाभारत, अनुशासनपर्व १४९/३७
(ख) वशिष्ठ धर्मसूत्र ६/३
(ग) देवीभागवत ११/२१
(घ) वृहद्योगी याज्ञवल्क्य ८/७१

को धारण करने से शबरी भीलनी होकर भी भक्त बन गई। वाल्मीकि व्याध से वन्दनीय बन गया। अर्जुनमाली हत्यारे से साधु बन गया।

तप का मूल : आचार

आचार की महिमा बताते हुए वैदिक महर्षियों ने कहा–"आचार से विद्या प्राप्त होती है।"[1] आयु की अभिवृद्धि होती है, कान्ति और कीर्ति उपलब्ध होती है।[2] ऐसा कौन-सा सद्गुण है जो आचार से प्राप्त न हो। आचार से धर्मरूपी विराट् वृक्ष फलता है। आचार से धर्म और धन ये दोनों ही प्राप्त होते हैं।[3] आचार की शुद्धि होने से सत्त्व की शुद्धि होती है, सत्त्व की शुद्धि होने से चित्त एकाग्र बनता है और चित्त एकाग्र होने से साक्षात् मुक्ति प्राप्त होती है।[4] सभी प्रकार के तप का मूल आचार है।[5]

आचार और सदाचार

भारतीय साहित्य में प्रारम्भ में आचार शब्द सदाचार का ही द्योतक रहा। बाद में आचार के साथ 'सत्' शब्द का प्रयोग इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि जब आचार के नाम पर कुछ गलत प्रवृत्तियाँ पनपने लगीं तब श्रेष्ठ आचार को सदाचार और निकृष्ट आचार को दुराचार कहना प्रारंभ किया गया। इस तरह आचाररूपी स्रोत दो धाराओं में प्रवाहित हो गया। उसकी एक धारा ऊर्ध्वमुखी है, तो दूसरी धारा अधोमुखी है। ऊर्ध्वमुखी धारा सदाचार है तो अधोमुखी धारा दुराचार है। शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से सदाचार शब्द सत् + आचार इन दो शब्दों से मिलकर बना है। जो आचरण या प्रवृत्ति पूर्ण रूप से सत् है, शिष्टजन सम्मत है, उचित है वह सदाचार है। सत् या उचित को ही अंग्रेजी में 'राइट' (right) कहा है। जिसका अर्थ है नियमानुसार। जो आचरण नियम के अनुसार है, वह सदाचार है और जो आचरण नियम के विरुद्ध है, असत् है, वह दुराचार है। दुराचार को ही अनाचार या कदाचार भी कहते हैं।

---

१. आचारात् प्राप्यते विद्या।

२. (क) आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचाराल्लभते कीर्तिं पुरुषः प्रेत्य चेह च॥ –*मनुस्मृति ४/१५२*
(ख) आचारादायुर्वर्धते कीर्तिश्च। –*कौटिल्य*

३. आचारात् फलते धर्ममाचारात् फलते धनम्।
आचाराछ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम्॥ –*महाभारत, अनुशासनपर्व*

४. आचार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः सत्त्व शुद्धौ चित्तैकाग्रता, ततः साक्षात्कारः।

५. सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्। –*मनुस्मृति*

मानव का शृंगार : सदाचार

सदाचार मानव का शृंगार है। विभिन्न ग्रन्थों में सत् या शिष्ट की विभिन्न परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं।[1] संक्षेप में उन सभी परिभाषाओं का सार इतना ही है कि जो राग-द्वेष आदि से रहित महापुरुष हैं, वे 'सत्' या 'सन्त' हैं, उनका आचरण ही सदाचार है। आचार में 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'चर' धातु है। वैयाकरणों ने 'चर' धातु (भ्वादि ५५२) का मुख्य प्रयोग गति और भक्षण अर्थ में किया है। 'चर' धातु चलने के अर्थ में है। मन में शुभ विचारों का चलना विचार है, शुभ वाणी का प्रयोग उच्चार है और शुभ विचारों का जीवन में धारण करना आचार है। इस प्रकार सदाचार शब्द विचार, आचार एवं उच्चार की विशुद्धता, पवित्रता तथा नियमबद्धता को ध्वनित करता है।

सदाचार : परिभाषा

आचार्य मनु[2] ने सदाचार की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "जिस देश, काल व समाज में जो आचरण की पवित्र परम्पराएँ चल रही हैं वह सदाचार है।" सज्जन व्यक्तियों के द्वारा जिस पवित्र मार्ग का अनुसरण किया जाता है वह सदाचार है।[3] सदाचार एक ऐसा व्यापक तथा सार्वभौम तत्त्व है जिसे देश, काल की संकीर्ण सीमा आबद्ध नहीं कर सकती। जैसे सहस्ररश्मि सूर्य का चमचमाता हुआ प्रकाश सभी के लिए उपयोगी है वैसे ही सदाचार के मूलभूत नियम सभी के लिए आवश्यक व उपयोगी हैं। कितने ही व्यक्ति अपने कुल, परम्परा से प्राप्त आचार को अत्यधिक महत्त्व देते हैं और समझते हैं कि मैं जो कर रहा हूँ वही सदाचार है, पर जो सत् आचरण चाहे वह किसी भी स्त्रोत से व्यक्त हुआ हो, वह सभी के लिए उपयोगी है।

आचार्य मनु का मन्तव्य है कि साधु का जो आचार है वही हमें आत्म-संतुष्टि प्रदान करता है। आत्म-संतुष्टि ही सच्चा कर्तव्य है। महाभारतकार[4] का भी यही

---

१. (क) संस्यासावाचारः सदाचारः।
   (ख) सताम् आचारः सदाचारः।
   (ग) सद्भिराचरितः पन्था सदाचारः प्रचक्षते।

२. तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्य क्रमागतः।
   वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥ —*मनुस्मृति २/१८*

३. आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च। —*वही २/६*

४. आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः।
   साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्॥ —*महाभारत, अनुशासनपर्व १०४/९*

अभिमत है कि साधुओं का जो आचरण है, वही आचार है। हारितस्मृति[1] में भी कहा है "वही साधु है जिसके दोष क्षीण हो चुके हैं। दोषों से मुक्त साधु का आचार ही सदाचार है।" विष्णुपुराण[2] और प्रस्थान त्रयी में भी यही स्वर मुखरित हुआ है। सुष्ठु आचार ही सदाचार है। शास्त्रसम्मत जिस आचरण से मन, वाणी और शरीर सुसंस्कृत बनता है, सद्चित् रूप परमात्मा की उपलब्धि होती है वह सदाचार है। मीमांसा दर्शनकार ने सदाचार शब्द से ऋषि, मुनि, देवता और मानवों के श्रेष्ठ आचरण को लिया है।

सदाचार : दुराचार

सदाचार से व्यक्ति श्रेयस् की ओर अग्रसर होता है। सदाचार वह चुम्बक है, जिससे अन्यान्य सद्गुण स्वतः खिंचे चले आते हैं। दुराचार से व्यक्ति प्रेय की ओर अग्रसर होता है। दुराचार से व्यक्ति के सद्गुण उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे शीत-दाह से कोमल पौधे झुलस जाते हैं। सदाचारी व्यक्ति यदि दरिद्र भी है तो वह सबके लिए अनुकरणीय है, यदि वह दुर्बल है तो भी प्रशस्त है क्योंकि वह स्वस्थ है। दुराचारी के पास विराट् सम्पत्ति भी है तो भी वह साररहित है।

शोथ से शरीर में स्थूलता आ जाना शरीर की सुदृढ़ता नहीं कही जा सकती अपितु वह शोथ की स्थूलता शारीरिक दुर्बलता का ही प्रतीक है।[3] सदाचार और सद्गुणों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सद्गुणों से सदाचार प्रगट होता है और सदाचार से सद्गुण दृढ़ होते हैं। गगनचुम्बी पर्वतमालाओं से ही निर्झर प्रस्फुटित होते हैं और वे सरस सरिताओं के रूप में प्रवाहित होते हैं, वैसे ही उत्कृष्ट सदाचारी के जीवन से ही धर्मरूपी गंगा प्रगट होती है।

जीवन की प्राणशक्ति : सदाचार

सदाचार मानव-जीवन का खिला हुआ सहस्र दल कमल है, जिसकी सुमधुर सौरभ दिगदिगन्त में फैलती है और जन-जन के मन को मुग्ध करती है। वह जीवन की प्राणशक्ति है। जिन व्यक्तियों के जीवन में आचार का तेज नहीं होता, वे

---

१. साधवः क्षीणदोषाः स्यु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥

२. विष्णुपुराण ३/११/३

३. वरं विभवबन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणामसाधुचरितार्जिता न पुनरर्जिताः सम्पदः।
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं, विपाक विरसा न तु श्वयथुसम्भवा स्थूलता॥
—सूक्तिमुक्तावली : आचार्य सोमप्रभसूरि

आकाश विद्युत् की तरह क्षणिक प्रकाश दिखाकर नष्ट हो जाते हैं, पर जिनके जीवन में आचार की प्रचंड शक्ति है, वे ज्योतिस्तंभ की तरह सदा चमकते रहते हैं। उनके विचारों में अपूर्व शक्ति होती है। सदाचारी जो भी कार्य करता है, सफलता देवी उसके चरण चूमने के लिए सतत लालायित रहती है। वह अपने निर्मल आचार के बल पर इतिहास की धारा को बदल देता है। यदि मन में सदाचार के प्रति गहरी निष्ठा नहीं है, तो व्यक्ति सदाचार का अभिनय कर सकता है पर सदाचारी नहीं बन सकता। सदाचार के अभाव में पवित्रता की आशा करना वैसे ही है जैसे जल के अभाव में शीतलता की आशा करना। जिन विचारों को आचार रस का पोषण नहीं मिलता, वे विचार गुलदस्ते के खिले हुए फूल के समान हैं, भले ही वे मनमोहक हों, उनकी सौरभ मादक हो पर उन फूलों का सम्बन्ध टहनी से टूट चुका है, पृथ्वी से पोषण बन्द हो चुका है इसलिए कुछ समय तक भले ही चमकें किन्तु पोषण के अभाव में शीघ्र ही मुरझा जायेंगे।

सदाचार और सच्चरित्र

सदाचार और चरित्र ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक ही धातु खण्ड के दो टुकड़े हैं, एक ही भाव के दो रूप हैं। आचार्य शंकर ने शील और सदाचार को अभेद माना है। सदाचार मानव-जीवन की श्रेष्ठ पूँजी है। अद्‌भुत आभा है। वह श्रेष्ठतम गंध है जो जन-जीवन को सुगन्ध प्रदान करती है। इसीलिए धम्मपद में शील को सर्वश्रेष्ठ गंध कहा है।[1] रामचरितमानस में शील को पताका के समान कहा है।[2] पताका सदा सर्वदा उच्चतम स्थान पर अवस्थित होकर फहराती है वैसे ही सदाचार भी पताका है, जो अपनी स्वच्छता, निर्मलता और पवित्रता के आधार पर फहराती रहती है।

चरित्र को अंग्रेजी में करेक्टर (character) कहते हैं। मनुष्य का बर्ताव, व्यवहार, रहन-सहन, जीवन के नैतिक मानदण्ड व आदर्श ये सब करेक्टर या चरित्र के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन्हीं सबका संयुक्त रूप जो स्वयं व समाज, के समक्ष व्यक्त होता है, वह आचार या सदाचार है। इसलिए सदाचार व सच्चरित्रता को हम अभिन्न भी कह सकते हैं तथा एक-दूसरे के सम्पूरक भी।

आचारसम्पन्न व्यक्ति का जीवन एक तेजस्वी जीवन होता है। यदि कोई आचाररहित होकर विद्वान् भी है तो उसका कुछ भी अर्थ नहीं है। समग्र शास्त्रों का परिशीलन करने पर भी यदि आचार विशुद्ध नहीं बना है तो जीवन में उसका कुछ भी मूल्य नहीं है।

---

१. सीलगंधो अणुत्तरो। —*धम्मपद ४/१२*

२. सौरज धीरज तेहि रथ चाका, सत्यशील दृढ़ ध्वजा पताका। —*रामचरितमानस ६/७९/५*

आचार और नीति

आचार के अर्थ में ही पाश्चात्य मनीषियों ने 'नीति' शब्द का प्रयोग किया है। आचारशास्त्र को उन्होंने नीतिशास्त्र कहा है। नैतिकता के अभाव में मानव पशु से भी गया-गुजरा हो जाता है। मानव का क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है इसका निर्णय नीति के आधार से किया जा सकता है। जो नियम नीतिशास्त्र की कसौटी पर खरे उतरते हैं, वे उपादेय हैं, ग्राह्य हैं और जो नियम नीतिशास्त्र की दृष्टि से अनुचित हैं वे अनुपादेय हैं और अग्राह्य हैं। मानव जिस समाज में जन्म लेता है उस समाज में जो नैतिक आचार और व्यवहार प्रचलित होता है वह उसे धरोहर के रूप में प्राप्त होता है। मानव में नैतिक आचरण की प्रवृत्ति आदिकाल से रही है। वे नैतिक नियम जो समाज में प्रचलित हैं उनके औचित्य और अनौचित्य पर चिन्तन कर जीवन के अन्तिम उच्च आदर्श पर नैतिक नियम आधृत होते हैं।

यद्यपि आचार या नीति शब्द के अर्थ कुछ भिन्न भी हैं। 'आचार' सम्पूर्ण जीवन के क्रिया-कलाप से सम्बन्ध रखता है, जबकि 'नीति' आचार के साथ विचार को भी ग्रहण कर लेती है। 'नीति' में सामयिक, देश-काल की अनुकूलता का विशेष ध्यान रखा जाता है जबकि 'आचार' में कुछ शाश्वत व स्थायी सिद्धान्त कार्य करते हैं। 'नीति' व्यक्ति व समाज के सम्बन्धों पर जोर देती है, 'आचार' व्यक्ति व ईश्वर सत्ता (आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध पर) के अधिक निकट रहता है। पश्चिमी विद्वान् देकार्ते (Descartes), लॉक (Locke) आदि के मतानुसार धर्म ही नीति का मूल है, जबकि कांट (Kant) के अनुसार नीति मनुष्य को धर्म की ओर ले जाती है। नीति का लक्ष्य 'चरित्र शुद्धि' है और चरित्र शुद्धि से ही धर्म की आराधना होती है। इस प्रकार 'नीति' और 'आचार' के लक्ष्य में प्रायः समानता है। भारतीय धर्म आचार को नीति से व नीति को आचार से नियंत्रित रखने पर बल देते हैं।

नीतिशास्त्र का ध्येय

कितने ही विचारकों का यह भी मत है कि नीतिशास्त्र के अनुशीलन-परिशीलन से मानव के आचरण में सुधार नहीं आ सकता, उसके आचरण पर उसका कोई प्रभाव पड़ नहीं सकता, इसलिए नीतिशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता नहीं है। उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नैतिक नियमों का परिज्ञान होने से ही जीवन में नैतिकता सहज रूप से आ सकती है और उन नियमों को धारण किया जा सकता है। जब तक नैतिकता व आचार सम्बन्धी नियमों का ज्ञान नहीं है तब तक उन्हें धारण नहीं किया जा सकता। नीतिशास्त्र का मुख्य ध्येय आचार को सुधारना है। दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान और शिक्षा–ये तीनों

केवल मार्ग बताते हैं पर नीतिशास्त्र उस मार्ग पर चलाता है। नैतिकता का जीवन में निरन्तर अभ्यास करने से ही जीवन परिवर्तित होता है। नैतिकता से ही मानव अपना सच्चा और अच्छा जीवन जी सकता है। वैषयिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करने से जीवन में नैतिकता प्राप्त होती है।

पश्चिम के प्रसिद्ध नीतिशास्त्री मैकेंजी (Mackenzie) का कहना है कि 'नीति' एक क्रिया है, धर्म मनुष्य का सत्संकल्प है, नीति उस संकल्प को क्रियान्वित करती है, इसलिए नीति को नियामक विज्ञान (Normative Science) कहा जाता है, और वह धर्म, सदाचार का ही अन्तिम अंग है।

आचार और विचार

आचार और विचार–ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। विश्व में जितनी भी विचारधाराएँ प्रचलित हैं, उन्होंने आचार और विचार को महत्त्व दिया है। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये आचार और विचार दोनों का विकास अपेक्षित है। जब तक आचार के विकास के लिए पवित्र विचार नहीं होंगे, तब तक आचार सदाचार नहीं होगा। जिन विचारों के पीछे आचार का दिव्य-आलोक नहीं है, वे विचार व्यक्तित्व-निर्माण में अक्षम हैं। जब आचार और विचार में एकरूपता होती है, वे परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, तभी विकास के नित्य-नूतन द्वार उद्घाटित होते हैं।

आचार और विचार का सम्बन्ध

यह एक ज्वलंत सत्य है कि दर्शन का सीधा सम्बन्ध विचार और तर्क से है और धर्म का सीधा सम्बन्ध आचार और व्यवहार से है। दर्शन हेतुवाद (तर्क-प्रमाण आदि) पर अवलम्बित है। तो धर्म श्रद्धा पर प्रतिष्ठित है। विचार के लिए तर्क की आवश्यकता है, तो आचार के लिए श्रद्धा व विश्वास की जरूरत है। इस तरह धर्म और दर्शन, आचार और विचार एक-दूसरे से भिन्न नहीं, अपितु अभिन्न हैं। विचारों की परिपक्वता आचार में देखी जा सकती है और आचार की तेजस्विता विचारों में निहारी जा सकती है।

पाश्चात्य चिन्तकों का यह अभिमत है कि आचार और विचार एक-दूसरे से भिन्न हैं। विचार का आचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। विचारक यह नहीं देखता कि श्रद्धालु किस प्रकार आचरण कर रहा है। और आचारनिष्ठा व्यक्ति यह नहीं देखता कि विचारक किस प्रकार विचार कर रहा है। पर भारतीय चिन्तन इस मत को स्वीकार नहीं करता। उसका यह स्पष्ट आघोष है कि आचार और विचार संतुलित विकास होने पर ही व्यक्तित्व का वास्तविक स्वरूप उजागर होता है।

भारतीय चिन्तकों ने धर्म और दर्शन का, आचार और विचार का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध माना है। यही कारण है कि तत्त्वज्ञान के साथ आचारशास्त्र का विश्लेषण हुआ है। आध्यात्मिक संसिद्धि के लिए विमल विचार और उत्कृष्ट आचार की आवश्यकता है। भारतीय दर्शनों ने आचार और विचार इन दोनों को कुछ अंशों में समान स्थान दिया है। जैसे–वेदान्त में पूर्वमीमांसा आचारप्रधान है तो उत्तरमीमांसा विचारप्रधान है। योग आचार का द्योतक है तो सांख्य विचार का प्रतीक है। बौद्ध परम्परा में हीनयान आचार-क्रान्ति का समर्थक रहा है तो महायान विचार-क्रान्ति का।

जैन दर्शन जीवन के हर पहलू को आचार और विचार की तुला पर तोलता रहा है। जिस प्रकार निश्चयनय मौलिकता लिए हुए है वैसे ही व्यवहारनय अपने साथ उपयोगिता लिए हुए है। निश्चयनय एक स्पष्ट दर्शन देता है, तो व्यवहार-नय उसे आचरण करने को उत्प्रेरित करता है। भगवान महावीर ने जहाँ आचारमूलक अहिंसा की आराधना व साधना के लिए श्रावक के बारह व्रत और श्रमण के लिए पञ्च महाव्रत, समिति गुप्ति का विधान किया है। वहाँ पर सत्य के सही स्वरूप को समझने के लिए अनेकान्त दृष्टि दी। अहिंसामूलक आचार और अनेकान्तमूलक विचार का प्रतिपादन साथ-साथ हुआ है। आचार और विचार, श्रद्धा और मेधा के साथ-साथ रहने में किसी तरह का न विवाद है और न किसी प्रकार की विसंगति ही है।

जैन परम्परा में जितना महत्त्व आचार को मिला है उतना ही महत्त्व विचार को मिला है। यही कारण है कि आचार की अपेक्षा जैन परम्परा धर्म है और विचार की अपेक्षा दर्शन है। जैन परम्परा का जितना भी व्यवहार पक्ष है उसका आधार अहिंसा है और जितना भी विचार पक्ष है उसका आधार अनेकान्त है। अहिंसा और अनेकान्त का मानव-जीवन के धरातल पर जब तक समुचित विकास नहीं होगा तब तक आचार और विचार उसके जीवन में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने में सक्षम नहीं हो सकते।

भारत के अनेक दार्शनिक ईश्वर को जगत्कर्ता तथा सुख-दुःख-फल-प्रदाता मानते हैं, किन्तु इस सिद्धान्त के आधार पर कार्य-व्यवस्था, आचार व नीति के नियम स्थिर नहीं रह सकते। क्योंकि व्यक्ति सोचता है, "मैं कैसे भी कर्म करूँ, अन्त में ईश्वर-भक्ति, प्रभु-उपासना करके उनसे मुक्त हो जाऊँगा। ईश्वर मेरे समस्त अपराधों को क्षमा कर देगा।" इस धारणा से मनुष्य के भावों में पराश्रितता, स्वेच्छाचारिता, स्वच्छन्दता तथा कर्मफल के प्रति अविश्वास पैदा होता है। समाज व्यवस्था में भी शिथिलता आती है तथा नैतिक निष्ठाएँ लड़खड़ाने लगती

हैं, और व्यक्ति भले-बुरे कर्म की जिम्मेदारी से स्वयं मुक्त रहकर ईश्वर को उत्तरदायी ठहरा देता है।

जैन दर्शन ईश्वर को परम-आत्मा के रूप में स्वीकार करके भी व्यक्ति को उसके हाथ की कठपुतली नहीं मानता, बल्कि सुख-दुःख, भला-बुरा का कर्ता आत्मा को ही मानकर[1] व्यक्ति को स्वयं उत्तरदायी ठहराता है। अपने प्रति उत्तरदायित्व की भावना का विकास तथा जैसा कार्य वैसा फल[2] का सिद्धान्त– व्यक्ति को कर्म करने से पहले उसके फल की ओर सोचने को बाध्य करता है और जब व्यक्ति का यह विश्वास होता है कि "मैं जैसा कार्य करूँगा उसका वैसा ही परिणाम मुझे स्वयं भुगतना पड़ेगा"[3] तो वह धर्म, नीति, राज्य के नियम एवं मर्यादाओं के प्रति निष्ठावान, उत्तरदायी और जागरूक होकर चलता है। जैन धर्म का कर्म सिद्धान्त आचारशास्त्र का मूल आधार है। क्योंकि जब व्यक्ति के सद्-असद् आचरण का परिणाम कर्मफल के रूप में उसे अवश्यमेव भुगतना पड़ेगा तब वह ऐसा कर्म नहीं करना चाहेगा, जिसका परिणाम दुःख, यातना, संत्रास एवं जन्म-मरण रूप हो। वह वही आचरण करना चाहेगा, जिससे उसे इस जीवन में सुख, वैभव, यश, प्रतिष्ठा, सन्तोष, शान्ति और मनःप्रसन्नता प्राप्त हो, तथा उसका परलोक भी सुखमय, निराबाध हो, और आचार के अन्तिम फलरूप निर्वाण का परम सुख भी प्राप्त हो।

आचारशास्त्र का आधार : कर्मसिद्धान्त

भारतीय आचारशास्त्र का आधार है–कर्मसिद्धान्त। जिस आचरण से कर्म-परम्पराएँ नष्ट होती हों, वह आचार आदर्श आचार माना गया है विभिन्न आचार ग्रन्थों में जो विधि और निषेध के नियम हैं उसका मूल आधार कर्मसिद्धान्त ही है। भले ही प्रत्येक दर्शन ने कर्मसिद्धान्त को विभिन्न शब्दावली से व्यक्त किया हो, पर सभी का तात्पर्य वही है। किसी ने उसे माया, किसी ने अविद्या, किसी ने प्रकृति, किसी ने अपूर्व, किसी ने वासना, किसी ने आशय, किसी ने अदृष्ट और किसी ने संस्कार कहा है। षड्दर्शन में एक चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी दर्शनों ने कर्म को स्वीकार किया है। जैसा कि पीछे कहा गया है–ईश्वरवादी दर्शनों का यह अभिमत है कि फल प्रदान करने वाला ईश्वर है और वह फल कर्म के अनुसार ही देता है। जैन दर्शन में कर्मफल प्रदान करने में ईश्वर को स्थान नहीं दिया है। कर्म स्वतः ही फल प्रदान करते हैं।

---

१. अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य। –उत्तराध्ययन २०/३७

२. जहा कडं कम्म तहासि भारे। –सूत्रकृतांग ५/१/२६

३. स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है। पर वे कर्म कितने काल तक रहेंगे, यह निश्चित नहीं है। कर्म के कारण ही आत्मा को विविध योनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है। कर्म से ही पुनर्जन्म होता है। जन्म-मरण और कर्म-परम्परा को रोकने के लिए संवर और निर्जरा आवश्यक हैं। संवर और निर्जरा ही जैन-आचार है। संवर में पाँच चारित्र, पंच समिति, तीन गुप्ति, दस यतिधर्म, द्वादश अनुप्रेक्षाएँ और बावीस परीषहों पर विजय प्राप्त करने का विधान है।[1] प्रश्नव्याकरण[2] और स्थानांगसूत्र[3] में संवर तत्त्व के अन्तर्गत महाव्रतों को भी लिया गया है। निर्जरा में बारह प्रकार से तप की साधना कर कर्म निर्जरित किये जाते हैं। जिससे आत्मा का शुद्ध स्वरूप जो ज्ञानमय, दर्शनमय, सुखमय और अनन्त वीर्यमय है, वह प्रकट होता है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को आवृत करने वाले 'कर्म' हैं। कर्म ज्यों-ज्यों नष्ट होते हैं, त्यों-त्यों आध्यात्मिक उत्क्रान्ति होती है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति को ही गुणस्थान कहा गया है। इस तरह सम्पूर्ण आचारशास्त्र का उद्देश्य कर्म को नष्ट कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उजागर करना है।

भारतीय चिन्तकों ने कर्म-मुक्ति के लिए ज्ञान, भक्ति और ध्यान पर बल दिया और एक-एक पहलू को लेकर एक-एक सिद्धान्त का भी विकास हुआ। किसी ने ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ बताया, किसी ने भक्ति को और किसी ने ध्यान तथा योग को। इस तरह आचार और विचार के विविध नियम निर्मित हुए।

प्रस्तुत में हम आचारशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों, दृष्टियों और मर्यादाओं को भारतीय धर्म-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में वर्गीकृत करके देखेंगे। भारतीय धर्म-परम्पराओं ने विविध दृष्टियों से आचार के जो नियमोपनियम बनाये हैं आगे उसी पर हम विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

●●

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र ९/२
   (ख) नवतत्त्व प्रकरण २५
२. प्रश्नव्याकरणसूत्र १-५ संवरद्वार
३. स्थानांगसूत्र ५/२/४१८, १०/१/७०९

२. वैदिक धर्म की आचार दृष्टि

जैन धर्म एकान्त निवृत्तिप्रधान होने से उसमें निवृत्तिपरक आचार-संहिता का निरूपण हुआ है। श्रावकधर्म और श्रमणधर्म की जो चर्चा है उसमें निवृत्ति का ही स्वर प्रमुख है। गृहस्थ आचार-संहिता में भी जो आध्यात्मिक दृष्टि से उत्कर्ष करने वाले नियम व मर्यादाएँ हैं, उन्हीं का मुख्यतः उनमें निरूपण है; पर वैदिक परम्परा प्रवृत्तिप्रधान थी, इसलिए उसमें प्रवृत्तिपरक सम्पूर्ण आचार-संहिता का विश्लेषण मिलता है। वेद, धर्मसूत्र, स्मृतियाँ आदि ग्रंथों में विस्तार के साथ एक-एक पहलू पर चिन्तन हुआ है। हम यहाँ पर उतने विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही उन सभी प्रमुख पहलुओं पर चिन्तन प्रस्तुत करेंगे जिससे कि यह परिज्ञात हो सके कि वैदिक आचार-संहिता किस रूप में थी। यह पूर्ण सत्य है कि वैदिक परम्परा की आचार-संहिता में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनके सम्बन्ध में वेद मौन है पर वेद के पश्चात् जो साहित्य सृजन हुआ है, उसमें उसका विधान है। कितने ही वैदिककालीन नियम कलिकाल में मानवों के लिए वर्ज्य माने गये और उनके स्थान पर नये नियम निर्माण किये गये। अतः सभी नियमों को वेदकालीन ही मानना सत्य का अपलाप होगा। देश-कालानुसार उनमें परिवर्तन-परिवर्धन होते रहे हैं। इस तरह वैदिक साहित्य में आचार का विकास होता रहा है।

वर्ण व्यवस्था

वर्ण के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद[1] में वर्ण का अर्थ रंग और प्रकाश भी लिया है और कहीं पर वर्ण का सम्बन्ध ऐसे जन-समुदाय से है जिसकी चमड़ी, श्याम और गौर वर्ण की है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में ब्राह्मण को दैवी वर्ण और शूद्र को असूर्य वर्ण माना है। ऋग्वेद में ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्द अनेक बार आये हैं[3], पर उसका वर्ण के साथ

---

१. ऋग्वेद १/७३/७, २/३/५, ९/९७/१५, ९/१०४/४, ९/१०५/४, १०/१२४/७, २/१२/४, १/१७९/६

२. तैत्तिरीय ब्राह्मण १/२/६

३. धर्मशास्त्र का इतिहास (काणे) प्रथम भाग, पृ. सं. ११०

कोई सम्बन्ध नहीं है। ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त'[1] में ब्राह्मण और क्षत्रिय के अतिरिक्त वैश्य और शूद्र भी आये हैं। उसके पश्चात् अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में इन शब्दों का अनेकों बार उपयोग हुआ है। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से यही पता लगता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय में स्पष्ट कोई अन्तर नहीं था यदि एक भाई क्षात्रधर्म का पालन करता तो दूसरा भाई ब्राह्मधर्म का भी पालन कर सकता था।[2] इससे स्पष्ट है कि बाद में चलकर वर्ण व्यवस्था ने विशेष बल पकड़ा है।

मनुस्मृति[3] आदि में तो शूद्र की उत्पत्ति ब्राह्मणों के दास्य कार्य करने के लिए की गई थी।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अभिमत से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः परमपुरुष के मुख, बाहु, जाँघों और पैरों से उत्पन्न हुए। पुरुषसूक्त के ऋषि ने समाज का विभाजन किया, किन्तु उसके बाद में तैत्तिरीय संहिता[4] आदि ग्रन्थों में शूद्र को यज्ञ के लिए अयोग्य माना। ऐतरेय ब्राह्मण[5], ताण्ड्य महाब्राह्मण[6] आदि ग्रंथों में लिखा है कि शूद्र के पास भले ही कितने ही पशु हों, वह यज्ञ करने के योग्य नहीं है क्योंकि उसकी उत्पत्ति पैरों से हुई है। इस प्रकार विरोधी वातावरण में भी आचार्य बादरी[7] ने शूद्रों को वैदिक यज्ञों के योग्य माना है।

ऋग्वेद[8] में ब्राह्मण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। ब्राह्मण ऐसा देवता है जिसे हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण[9] और अथर्ववेद[10] में भी उसे श्रेष्ठ कहा गया है। क्षत्रिय का भी गौरवपूर्ण स्थान रहा है। ऋग्वेद में क्षत्रियों के लिए राजन्[11] शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ 'महान्', 'प्रमुख', 'राजा' और 'बड़ा' है। जब उसका राज्याभिषेक होता तो[12] वह सबका अधिपति, ब्राह्मण और धर्म की रक्षा करने वाला माना गया है। शतपथ ब्राह्मण[13] में कहीं-कहीं पर क्षत्रिय को उत्तम कहा है तो अथर्ववेद[14] में ब्राह्मण को सर्वोच्च कहा है।

वैश्य का महत्त्व रहा है, किन्तु ब्राह्मण और क्षत्रियों की भाँति नहीं। तैत्तिरीय संहिता[15] में लिखा है–"मनुष्यों में वैश्य और पशुओं में गाय अन्य लोगों के

---

१. पुरुषसूक्त, अ. १०/९०
२. यास्क निरुक्त, ऋग्वेद
३. मनुस्मृति, ८/४१३
४. तैत्तिरीय संहिता, ७/१/१/६
५. ऐतरेय ब्राह्मण, ५/१२
६. ताण्ड्य महाब्राह्मण ६/१/११
७. धर्मशास्त्र का इतिहास (काणे) प्रथम भाग, पृ. ११३
८. ऋग्वेद ४/५०/७
९. शतपथ ब्राह्मण ११/५/७/१
१०. अथर्ववेद ५/१७/१९
११. ऋग्वेद १७/२२/१०, १०/९७/६
१२. ऐतरेय ब्राह्मण ३८/३९/३
१३. शतपथ ब्राह्मण ५/४/४/१५
१४. अथर्ववेद ५/१८/४, ५/१९/३
१५. तैत्तिरीय संहिता ७/१/१/५

उपयोग में आती है।'' वैश्यों की संख्या ब्राह्मण और क्षत्रियों से अधिक[1] थी। वे पशुपालन करते थे, कभी यज्ञ भी कर लेते थे और ब्राह्मण व क्षत्रियों की आज्ञा का पालन करते थे।

शूद्र का स्थान इन तीनों वर्णों से निम्न माना गया है। शूद्रों में नाई[2], बढ़ई[3], वैद्य[4], लुहार[5], चमार[6], रथकार[7], कर्मार[8], सूत[9], क्षता[10], संग्रहिता, कुलाल, कुम्हार, पुंजिष्ट, निषाद, इषुकृत, धन्वकृत, मृगयु (शिकारी), भाट, मागध, ये नाम व्यवसाय के प्रतीक हैं।

जितने भी धर्मशास्त्र हैं, उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–इन चार वर्णों को माना है और यह स्वीकार किया है कि एक उच्च वर्ण वाला पुरुष निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकता है किन्तु निम्न जाति का पुरुष उच्च जाति की स्त्री से विवाह नहीं कर सकता। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के भी उल्लेख हैं। आचार्य मनु[11] ने छह अनुलोम जातियाँ मानी हैं जो द्विजों के सारे संस्कार कर सकते हैं। प्रतिलोम जातियाँ शूद्र के समान मानी हैं। गौतम[12], वसिष्ठ[13], मनु[14] और याज्ञवल्क्य[15] ने स्वजातीय विवाह को उचित माना है और अनुलोम विवाह को वर्जित माना है।

विभिन्न धर्मशास्त्रों[16] में वर्णों के क्या-क्या कर्त्तव्य हैं और उनके क्या विशेष अधिकार हैं, इस सम्बन्ध में भी चिन्तन किया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के विशेषाधिकार इस प्रकार हैं–ब्राह्मण का प्रमुख अधिकार है–वेदाध्ययन करना, वेदाध्ययन कराना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना, दान देना। क्षत्रिय का अधिकार है–युद्ध करना व प्रजाजन की रक्षा करना। वैश्य का अधिकार है–कृषि,

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण ३५/३
२. ऋग्वेद १०/१४२/४
३. वही १/६१/४, ७/३३/२०, ९/११२/१, १०/११९/५
४. वही ९/११२/१
५. वही १०/७२/२
६. वही ८/५/३८
७. अथर्ववेद ३/५/६
८. वही ३/५/६
९. वही ३/५/७
१०. तैत्तिरीय संहिता ४/५/४/२
११. मनुस्मृति १०/४१
१२. गौतम धर्मसूत्र ४/१
१३. वसिष्ठ. १/२४
१४. मनुस्मृति ३/१२-१३
१५. याज्ञवल्क्य. १/५५-५७
१६. (क) गौतम. १०/१/३/७/५०
(ख) आपस्तंब. २/५/१०/५-८
(ग) बोधायन. १/१०/२-५
(घ) वसिष्ठ. २/१३-१९
(च) मनु. १/८८-९०, १०/७५-७६
(छ) याज्ञवल्क्य. १/११८-११९
(ज) विष्णुधर्म सूत्र २/१०-१५
(झ) अत्रिस्मृति १३-१५
(ट) मार्कण्डेयपुराण २८/३-८

पशुपालन और व्यापार आदि करना। शूद्रों का कर्तव्य द्विजों की सेवा करना, उनसे भरण-पोषण पाना था।

वैदिक काल में ब्राह्मण का विद्या से अभिन्न सम्बन्ध था और कुछ क्षत्रिय भी ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में ब्राह्मणों से भी आगे बढ़ गये थे। ब्राह्मण उन क्षत्रियों से ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिष्य के रूप में उनके पास पहुँचते थे। याज्ञवल्क्य[१] ने राजा जनक से, बालाकी गार्गी[२] ने काशीराज अजातशुत्र से, श्वेतकेतु आरुणेय[३] ने प्रवाहण जैवली से, पंचब्राह्मणों[४] ने केकय राज अश्वपति से ज्ञान प्राप्त किया था। वैदिक ग्रन्थों में वैश्यों ने वेदाध्ययन किया हो, इस प्रकार की सूचना प्राप्त नहीं होती।यद्यपि वैश्यों के लिए भी वेदाध्ययन करना अत्यधिक आवश्यक माना गया था।

शूद्रों के अध्ययन के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। वह तो उच्च वर्णों की सेवा करके अपनी आजीविका चलाते थे। वह चित्रकारी, नृत्य, संगीत, वेणु, वीणा, ढोलक, मृदंग आदि वाद्य यन्त्र का उपयोग करना[५] आदि कलाओं का स्वतः अध्ययन करते थे। मनु आदि ने शूद्रों को धन संचय करने के लिए भी निषेध किया है, क्योंकि उससे ब्राह्मणों को कष्ट हो सकता है।

ऋग्वेद से यह ज्ञात होता है कि उस युग में शिक्षा पद्धति मौखिक थी। ब्राह्मण ग्रन्थों के काल से लेकर धर्मशास्त्र-काल तक ब्राह्मणों के हाथ में वेदाध्ययन का कार्य था। ब्राह्मण को गुरु का गौरवपूर्ण पद प्राप्त था। वह कलंकरहित पवित्र व्यक्ति से दान भी ग्रहण करता था। ब्राह्मण का जीवन एक आदर्श जीवन था। वह 'सादा जीवन और उच्च विचार' रखने वाला विशिष्ट संस्कारी वृत्ति वाला था। वह किसी को कष्ट न देकर इतना ही धन प्राप्त करता था जिससे कुटुम्ब का भरण-पोषण हो सके।

याज्ञवल्क्य[६], मनु[७], व्यास[८] आदि के ग्रन्थों में ब्राह्मणों को पूर्ण रूप से सादगीमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी है और उसे सदा धन-संग्रह से दूर रहने के लिए आदेश किया है।

---

१. शतपथ ब्राह्मण ६/२१/५
२. (क) बृहदारण्यक २/१ (ख) कोशीतकी उपनिषद् ४
३. छान्दोग्य उप. ५-३
४. वही ५-२
५. मिताक्षरा–याज्ञवल्क्य. १-१२०
६. याज्ञवल्क्य. १/१२९
७. मनु. ४/१२, १५, १७
८. महाभारत, अनुशासनपर्व ६१/१९

अध्ययन, अध्यापन के अतिरिक्त ब्राह्मण का सेनापति के रूप में भी उल्लेख मिलता है। आपस्तंब[1], गौतम[2], बोधायन[3], वसिष्ठ[4], और मनु[5] ने भी इसका उल्लेख किया है। महाभारत[6] में द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य श्रेष्ठ योद्धा थे। शल्यपर्व[7] के अनुसार राजा की आज्ञा से ब्राह्मण को युद्ध करना चाहिए। ब्राह्मण अपवाद में खेती आदि भी करता था।[8] वृद्ध हारीत[9] ने कृषि कर्म सभी वर्णों के लिए उचित माना है।

ब्राह्मण आपत्ति के समय वाणिज्य भी कर सकता था, किन्तु वस्तु विक्रय के सम्बन्ध में उस पर अनेक नियन्त्रण थे।

गौतम धर्मसूत्र[10] के अनुसार उसके लिए सुगन्धित चन्दन आदि तेल, घृत प्रभृति पदार्थ, पका हुआ भोजन, तिल, पटसन से निर्मित वस्तुएँ, क्षौम सन से बने हुए वस्त्र, मृगचर्म, रंगीन वस्त्र, दूध आदि से बनाई हुई वस्तुएँ, कन्द-मूल-फल, पुष्प, मधु-माँस, घास, जल, विषैली औषधियाँ (अफीम आदि) पशु, मानव (दास-दासी के रूप में), वन्ध्या गायें, बछवा-बछिया, लड़ाकू गायें आदि को बेचने का निषेध है।

आपस्तंब[11], बोधायन[12], वसिष्ठ धर्मसूत्र[13], मनुस्मृति[14], में भी लम्बी सूचियाँ मिलती हैं।

याज्ञवल्क्य[15], मनु[16], विष्णु[17], प्रभृति ने वर्जित वस्तुओं के बेचने के लिए प्रायश्चित्त का भी उल्लेख किया है। वर्जित वस्तुओं का विनिमय करना भी वर्जित माना गया।[18] अत्रि[19] ने ब्राह्मणों के दस प्रकार बताये हैं। अपरार्क[20] ने देवल को उद्धृत करते हुए ब्राह्मणों के आठ प्रकार बताये हैं। शातातप[21] ने ब्राह्मणों के छह प्रकार बताये हैं। अनुशासनपर्व[22] में भी अनेक प्रकार बताये हैं। स्मृतिशास्त्र के

---

१. आपस्तंब. १/१०/३९/७
२. गौतम. ७/६
३. बोधायन २/२/८०
४. वसिष्ठ. ३/२४
५. मनुस्मृति ८/३४८-३४९
६. महाभारत
७. महाभारत, शल्यपर्व ८५/४२
८. बोधायन धर्मसूत्र १/५/१०१, २/२/ ८२-८३
९. हारीतस्मृति ७/१७९-१८२
१०. गौतम धर्मसूत्र ७/८-२४
११. आपस्तंब. १/७/२०/१२-१३
१२. बोधायन. २/१/७६-७८
१३. वसिष्ठ धर्मसूत्र २/२४-२९
१४. मनुस्मृति १०/९२
१५. याज्ञवल्क्य. ३/४०
१६. मनु. ११/६२
१७. विष्णु. ३७/१४
१८. आपस्तंब. १/७/२०/१४-१५
१९. अत्रिस्मृति ३७३-३८३
२०. अपरार्क–'दानरत्नाकर' में भी उद्धृत-वैखानससंग्रह १/१
२१. शातातप. ऐतरेय ब्राह्मण ३/५ का भाष्य
२२. महाभारत, अनुशासनपर्व ३३/११

अनुसार जो ब्राह्मण ब्राह्मणसदृश आचरण नहीं करता है, वह शूद्र है।[1] ब्राह्मण को प्रातः और सायं के समय सन्ध्या करनी चाहिए।[2] ब्राह्मण स्वयं कर्त्तव्यनिष्ठ था और अन्य वर्णों के कर्त्तव्य का निर्धारण करता, उन्हें सही आचरण करने के लिए प्रेरणा देता, राजाओं का भी पथ-प्रदर्शन आदि करता था। उसके बताये हुए विधान के अनुसार राजा शासन करता था। यह बात वसिष्ठ[3], काठसंहिता[4], तैत्तिरीय ब्राह्मण[5], ऐतरेय ब्राह्मण[6] आदि में पायी जाती है। यूनान के महान् दार्शनिक प्लेटो ने दार्शनिकों को ही जो सद्गुण सम्पन्न हैं, उन्हें राजनीतिज्ञों व विधाताओं के लिए उपयुक्त माना है। प्लेटो ने सर्वोत्तम व्यक्तियों द्वारा निर्मित शासन 'अरिस्टोक्रेसी' को आदर्श शासन माना है।

धर्मशास्त्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणों को हर प्रकार से छूट दी जाती थी। उसे ब्रह्मसम और देवसम मानते रहे। इसलिए उसके द्वारा अपराध होने पर भी दण्ड विधान में उतनी कठोरता नहीं[9] रखी गई जितनी कि अन्य वर्णों के साथ रखी गयी है। ब्राह्मणों को जितना गौरव मिला है उतना ही अधिक अपमान शूद्रों का किया जाता था। उनके लिये वेद का अध्ययन निषिद्ध था। गौतम[7] ने तो यहाँ तक लिखा है कि यदि शूद्र जान-बूझकर वेदपाठ को श्रवण करता है तो उसके कर्ण कुहरों में शीशा उड़ेल देना चाहिए और लाख से कान भर देने चाहिए। यदि उसने वेद पर अधिकार कर लिया हो तो उसके शरीर को छेद देना चाहिए।

आचार्य शंकर[8] ने भी लिखा है, शूद्रों को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं, किन्तु वे विदुर और धर्मव्याध की भाँति मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। शूद्र का स्पर्श हो जाने पर स्नान, आचमन, प्राणायाम, तप आदि से शुद्धि करने का विधान था।[10] शूद्र चारों आश्रमों में केवल गृहस्थाश्रम ग्रहण कर सकता था क्योंकि उसके लिए वेदाध्ययन वर्जित था।

तीन वर्णों की अपेक्षा शूद्रों को व्यवसाय आदि की अधिक सुविधा थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय बहुत ही सीमित व्यवसाय कर सकते थे। किन्तु शूद्र ब्राह्मण और क्षत्रियों

---

१. (क) बोधायन धर्मसूत्र २/४/२०
(ख) वसिष्ठ धर्मसूत्र ३/१-२
(ग) मनु. २/१६८, ८/१०२, १०/९२
(घ) पाराशर. ८/२४
२. बोधायन धर्मसूत्र २/४/२०
३. (क) वसिष्ठ. १/३९-४१
(ख) मनु. ७/३७, १०/२
४. काठसंहिता ९/१६
५. तैत्तिरीय ब्राह्मण २/२/१
६. ऐतरेय ब्राह्मण ३७/५
७. गौतम धर्मसूत्र ८/१२-१३
८. (क) गौतम. १२/४
(ख) मृच्छकटिक ९/२१
९. वेदान्त सूत्र १/३/३८
१०. अपरार्क, पृ. ११९४

के कुछ व्यवसायों के अतिरिक्त सभी व्यवसाय कर सकते थे। संस्कारों के सम्बन्ध में स्मृतिकारों में विविध मत रहे हैं। शूद्र के लिए संस्कार की कोई व्यवस्था नहीं थी।[1] लघुविष्णु के अनुसार, शूद्र सर्व संस्कारों से वर्जित हैं। मिताक्षरा[2] के अनुसार शूद्र बिना होम व वैदिक मन्त्र के व्रत कर सकता है। व्यास[3] का अभिमत है कि शूद्रों के गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, कर्णवेध और विवाह ये दस संस्कार बिना मन्त्रोच्चार के किये जा सकते हैं।

संस्कार

'संस्कार' शब्द का प्रयोग प्राचीनतम वैदिक साहित्य में उपलब्ध नहीं है। वह धर्मसूत्रों में आया है।[4] संस्कार वह है जिससे पदार्थ व व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य होता है। संस्कार वे क्रियाएँ व रीतियाँ हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं। 'वीर मित्रोदय' के अनुसार संस्कार एक विलक्षण योग्यता है जो शास्त्रविहित क्रियाओं से उत्पन्न होती है। वर्ण की भाँति संस्कारों के सम्बन्ध में भी बहुत ही विस्तार से विश्लेषण किया गया है। संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में भी स्मृतियों में मतभेद मिलता है। गौतम[5] ने चालीस संस्कारों का वर्णन किया है, वैखानस ने अठारह शारीरिक संस्कारों के नाम गिनाये हैं। अंगिरा ने पच्चीस संस्कार गिनाये हैं। व्यास[6] ने सोलह संस्कार बताये हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु धर्मसूत्र में संख्या का निर्देश नहीं है। निबन्धों में मुख्य रूप से सोलह प्रमुख संस्कार बताये गये हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, विष्णुवलि, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, वेदव्रत, चतुष्टय, समावर्तन और विवाह। स्मृतिचन्द्रिका के अनुसार १६ संस्कार इस प्रकार हैं—'गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चार व्रत, गोदान, समावर्तन, विवाह एवं अंत्येष्टि।

जातकर्म से लेकर चूड़ाकर्म के संस्कारों के कृत्य द्विजातियों के पुरुषों के लिए वैदिक मंत्र से करने का विधान है। किन्तु महिला वर्ग के लिए बिना वैदिक मंत्रों के करने का उल्लेख है।[7] ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन वर्णों की महिलाओं के

---

१. (क) मनुस्मृति ४/८०
   (ख) वसिष्ठ. १८/१४
   (ग) विष्णु. ७१/४८-५२
२. मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य. ३/६२
३. (क) व्यास. १/१७
   (ख) गौतम. १०/५१
४. (क) गौतम. ८/८
   (ख) आपस्तंब. १/१/१/९
   (ग) वसिष्ठ. ४/१
५. गौतम. ८/१४-२४
६. व्यास. १/१४-१५
७. (क) आश्वलायन गृहसूत्र १/१५/१२; १/१६/६; १/१७-१८
   (ख) मनु. २/६६
   (ग) याज्ञवल्क्य. १/१३

विवाह में वैदिक मंत्रों का प्रयोग होता है।[1] द्विजातियों में गर्भाधान से लेकर उपनयन तक के संस्कार अनिवार्य माने गये, किन्तु समावर्तन स्नान व विवाह के संस्कार अनिवार्य नहीं हैं। क्योंकि छात्र सीधा संन्यासी भी हो सकता है। शूद्रों के लिए संस्कारों का वर्णन नहीं है। वे बिना वैदिक मंत्रों के गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, कर्णवेध और विवाह संस्कार कर सकते हैं–ऐसा व्यास का मत है।

अपरार्क[2] की दृष्टि से गर्भाधान से लेकर चौल तक के आठ संस्कार सभी वर्ण वाले कर सकते हैं। ब्रह्मपुराण के अनुसार शूद्र केवल विवाह संस्कार कर सकता है। विभिन्न देशों में विभिन्न नियम भी रहे हैं। संस्कारों के विषय में गृहसूत्रों, धर्मसूत्रों, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति और अन्य स्मृतियों में तथा रघुनन्दनकृत 'संस्कार तत्त्व', नीलकण्ठकृत 'संस्कार मयूख', मित्र मिश्रकृत 'संस्कार प्रकाश', अनन्तदेवकृत 'संस्कार कौस्तुभ' और गोपीनाथकृत 'संस्कार रत्नमाला' नामक निबन्धों में विराट् सामग्री भरी पड़ी है। विशेष जिज्ञासुओं को उन ग्रंथों को देखना चाहिए।

उपनयन संस्कार

सब संस्कारों में यह एक महत्त्वपूर्ण संस्कार माना गया है। उपनयन का अर्थ है–आचार्य के पास अध्ययन के लिए ले जाना। यह संस्कार विद्या सीखने वाले विद्यार्थी को गायत्री मंत्र सिखाकर किया जाता है। गुरु के सन्निकट रहने के कारण शतपथ-ब्राह्मण[3] और तैत्तिरीयोपनिषद[4] में उसे अन्तेवासी भी कहा है। पारीक्षित जनमेजय[5] हंसों से पूछते हैं–"पवित्र क्या है?" तो वे उत्तर देते हैं–'ब्रह्मचर्य'। गोपथब्राह्मण[6] के अनुसार सभी वेदों में निष्णात बनने के लिए ४८ वर्ष का छात्र-जीवन आवश्यक है। एक-एक वेद के अध्ययन के लिए बारह-बारह वर्ष का समय निश्चित किया गया है।

उपनयन संस्कार कब किया जाय इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए आश्वलायन गृहसूत्र[7] में लिखा है–ब्राह्मण ८वें वर्ष में, क्षत्रिय ११वें वर्ष में, वैश्य १२वें वर्ष में; उपनयन करें १६, २२, २४वें वर्ष में। आपस्तंव[8], शांखायन[9], बोधायन[10],

---

१. (क) मनु. २/६७
(ख) याज्ञवल्क्य. १/१३
२. याज्ञवल्क्यस्मृति १/११-१२
३. शतपथ ब्राह्मण ५/१/५/१७
४. तैत्तिरीयोपनिषद् १/११
५. गोपथ ब्राह्मण २/५
६. वही २/७
७. आश्वलायन गृहसूत्र १/१९/१-६
८. आपस्तंब. १०/२
९. शांखायन. २/१
१०. बोधायन. २/५/२

भारद्वाज[1], गोभिल[2], गृहसूत्र तथा याज्ञवल्क्य[3] में यह स्पष्ट संकेत है कि वर्षों की परिगणना गर्भाधान से करनी चाहिए। शांखायन गृहसूत्र[4] आदि में वर्षों के सम्बन्ध में विभिन्न मत रहे हैं। धर्मशास्त्रों में उपनयन के लिए मुहूर्त आदि की भी चर्चा की है। उपनयन के समय वस्त्र, दण्ड, मेखला, यज्ञोपवीत, गायत्री उपदेश प्रदान की विधि बताई गई है। भिक्षा, सन्ध्या, वेदाध्ययन, ब्रह्मचर्य की अवधि, अध्ययन के विषय, अनध्ययन के दिन, समावर्तन या स्नान आदि का भी विस्तृत वर्णन है।

यह संस्कार विधि जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिए थी। इस विधि के पीछे एक व्यापक दृष्टिकोण था। पर धीरे-धीरे संस्कार विधि में भी विकृति आ गई है और आज उसका जिस रूप में विधान है उस रूप में पालन कठिन हो गया है।

आश्रम व्यवस्था

धर्मसूत्र और स्मृति की दृष्टि से चार आश्रमों में ब्रह्मचर्य सर्वप्रथम है। आपस्तंब[5] धर्मसूत्र में आश्रम चार हैं–गार्हस्थ्य, गुरुगेह, मुनिरूप में रहना तथा वानप्रस्थ। सम्भव है, गार्हस्थ्य जीवन की महत्ता के कारण उसे प्रथम स्थान दिया हो। गौतम[6] ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस–ये चार आश्रम गिनाये हैं। वसिष्ठ धर्मसूत्र[7] में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक का उल्लेख है। बोधायन धर्मसूत्र[8] में भी वसिष्ठ की भाँति नाम गिनाये हैं और यह भी सूचन किया है कि असुर कपिल ने देवताओं की शत्रुता से उत्प्रेरित होकर आश्रम व्यवस्था की पर जिसे विवेकशील विश्वास नहीं करते हैं। मनु[9] ने चार आश्रमों के नाम दिये हैं, अन्तिम यति या संन्यास कहा है। उसके लिए परिव्राट, परिव्राजक, भिक्षु, मुनि और यति शब्द भी अनेक स्थलों पर व्यवहृत हुए हैं।

आश्रम व्यवस्था में आयु को चार भागों में बाँटा है और पच्चीस-पच्चीस वर्ष एक-एक आश्रम के लिए हैं। पर आयु का भरोसा न होने से उसमें कमी भी की जा सकती है। 'आश्रम' शब्द संहिता में और ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति आदि शब्द का प्रयोग ऋग्वेद[10] आदि में आया है पर सम्भव है उस समय व्यवस्थित रूप से आश्रम व्यवस्था प्रारम्भ न हुई हो, उसके पश्चात् उसमें व्यवस्थितरूपता आई हो। विभिन्न धर्मशास्त्रों में कहीं

---

१. भारद्वाज. १/१
२. गोभिल. २/१०
३. याज्ञवल्क्य. १/१४
४. शांखायन गृहसूत्र २/१/१
५. आपस्तंब. २/९/२१/१
६. गौतम. ३/२
७. वसिष्ठ. ७/१-२
८. बौधायन. २/६/१७
९. मनु. ६/८७
१०. (क) ऋग्वेद ३/८/९
(ख) तैत्तिरीय सं. ६/७/२/५

गृहस्थाश्रम को महत्त्व दिया है[1] तो कहीं ब्रह्मचर्य को, कहीं वानप्रस्थ और संन्यास को। पर यह सत्य है कि गृहस्थाश्रम में उनको महत्त्व दिया है।[2]

विवाह–वैदिक परम्परा में विवाह को महत्त्व दिया है। ऋग्वेद[3] के अनुसार विवाह का उद्देश्य गृहस्थ होकर यज्ञ करना और सन्तानोत्पत्ति करना, माना गया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता तथा सन्तानोत्पत्ति नहीं करता तब तक पूर्ण नहीं बनता। जैमिनी[4] और आपस्तंब[5] सूत्र में पत्नी के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। वर किस प्रकार का होना चाहिए? इसके लिए कहा गया है वह श्रेष्ठ कुलवान हो, चरित्रवान हो, सद्गुणी हो, ज्ञानी हो और स्वस्थ हो। आश्वलायन गृह्य सूत्र[6] में और मनु[7] ने कुल को सबसे अधिक महत्त्व दिया और ऐसे वर जो पागल हों, अपराधी हों, कुष्टरोगग्रस्त हों, नपुंसक हों, स्वगोत्री हों, अन्धा, बहिरा और मृगी आदि रोग से ग्रसित हों, वे अयोग्य हैं।[8]

इसी तरह योग्य कन्या वह मानी गई है जो बुद्धिमान हो, सुन्दर हो, सच्चरित्रवान हो। विवाह में व्यक्ति को उद्दाम वासनाओं को सीमित करने का एक उपक्रम था। आश्वलायन गृह्यसूत्र[9], गौतम[10], बोधायन[11], मनु[12], आदि ने विवाह के आठ प्रकार बताये हैं–ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। विवाह की वैधता-अवैधता के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा गया है।

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि वहाँ पर विवाह में भोग की मात्रा प्रधान नहीं थी। वैदिक ऋषियों ने विवाह करने के पश्चात् भी पति-पत्नी के लिए अनेक नियम बनाये थे, जिसके कारण वह संयमी जीवन जी सकें। महीने में कुछ ही दिन पति-पत्नी के मिलन की छूट के लिए रखे गये थे, शेष दिन उन्हें ब्रह्मचर्य का पालन करना होता था। ऋषियों का यह विश्वास था कि

---

१. (क) आपस्तंब. २/९/२१/७-८
(ख) याज्ञवल्क्य. ३/५६
(ग) मिताक्षरी टीका
२. (क) गौतम. ३/१/३५;
(ख) मनु. ६/८९-९०, ३/७७-८०
३. ऋग्वेद.१०/८५/३६, ५/३/२; ५/२८/३, ३/५३/४
४. जैमिनी. ६/१/१७
५. आपस्तंब. ११/६/१३/१६-१७
६. आश्वलायन गृहसूत्र १/५/१
७. मनु. ४/२४४, ३/६/७
८. (क) स्मृतिचंद्रिका १, पृ. ५९
(ख) नारद स्त्रीपुंस योग ३६
९. गृह्यसूत्र–आश्वलायन १/६
१०. गौतम. ४/६/६-१३
११. बोधायन धर्मसूत्र १/११
१२. (क) मनु. ३/२१
(ख) आदिपर्व ७३/८/९
(ग) विष्णुधर्मसूत्र २४/१८-१९
(घ) याज्ञवल्क्य.१/५८
(ङ) कौटिल्य. ३/१/४९

व्यक्ति तीन ऋणों के साथ जन्म ग्रहण करता है–(१) ऋषिऋण, (२) देवऋण, और (३) पितृऋण। ब्रह्मचर्य आश्रम से व्यक्ति ऋषिऋण से मुक्त बनता है, यज्ञ-हवन से देवऋण और सन्तानोत्पत्ति से पितृऋण[1] से मुक्त होता है।

मनु का मन्तव्य है बिना तीनों ऋणों से मुक्त हुए कोई भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। ज्येष्ठ पुत्र के जन्म लेते ही व्यक्ति पितृऋण से मुक्त हो जाता है।[2] पत्नी अपने पति को दो ऋणों से मुक्त करती है–वह यज्ञ में साथ देकर देवऋण से और पुत्रोत्पन्न कर पितृऋण से। अतः प्रत्येक नारी पुत्र की कामना करती थी। पत्नी पति को देवस्वरूप मानती थी, उसकी आज्ञा का पालन करना वह अपना परम कर्त्तव्य समझती थी। चाहे पति रुग्ण भी क्यों न हो उसकी सेवा पत्नी को करनी चाहिए। रुग्ण होने पर पति का परित्याग करना पत्नी के लिए पूर्ण निषिद्ध था।[3] पत्नी को सदा हँसमुख, जागरूक, दक्ष, कुशल, मितव्ययी, कुशल गृहिणी होना चाहिए।

वैदिक साहित्य के परिशीलन से यह भी पता लगता है कि उस समय नारी की स्थिति अच्छी भी थी और बुरी भी। कहीं पर नारी की गरिमा के गीत गाये गये हैं। बोधायन धर्मसूत्र[4], मनु[5], याज्ञवल्क्य[6], वसिष्ठ[7], धर्मसूत्र, अत्रि[8], महाभारत[9], मार्कण्डेयपुराण[10], कामसूत्र[11] आदि में नारी का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है, तो कहीं पर उसके विरोध में उसके दुर्गुणों को प्रकट करने के लिए स्वर बुलन्द किये हैं। मैत्रायणी संहिता[12] में स्त्री को झूठ का अवतार कहा गया है।

---

१. (क) तैत्तिरीय संहिता ६/३/१०/५
(ख) शतपथ ब्राह्मण १/७/२/१९
(ग) ऐतरेय ब्राह्मण ३३/१
(घ) वसिष्ठ धर्मसूत्र ११/४७

२. (क) मनु. ९/१३७
(ख) वसिष्ठ. १७/५
(ग) विष्णुधर्मसंहिता १५/४७
(घ) महाभारत, आदिपर्व १२९/१४

३. (क) मनु. ५/१५४
(ख) याज्ञवल्क्य. १७७
(ग) रामायण, अयोध्याकांड ९४/२६-२७
(घ) महाभारत, अनुशासन पर्व १४६/५५
(च) अश्वमेधिकपर्व (म. भा.) ९०-९१
(छ) शांतिपर्व १४८/६/७
(ज) मत्स्यपुराण २१०/१८
(झ) शाकुन्तल (कालिदास)–५

४. बोधायन धर्मसूत्र २/२/६३-६४

५. मनु. ३/५५-६२

६. याज्ञवल्क्य. १/७१, ७४, ७८, ८२

७. वसिष्ठ. २८/१-९

८. अत्रि. १४०-१४१, १९३-१९८

९. (क) महाभारत आदिपर्व ७४/१४०, १५२
(ख) अनुशासन पर्व ४०
(ग) शान्तिपर्व १४४, १२-१७

१० मार्कण्डेय पुराण २१/६९-७६

११. कामसूत्र ३/२

१२. मैत्रायणी संहिता १/१०/११

ऋग्वेद[1] में बताया है नारी का मन दुर्दमनीय है। ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण[2] में स्पष्ट कहा है–"स्त्रियों के साथ मित्रता नहीं करनी चाहिए क्योंकि उनका हृदय भेड़ियों की तरह कठोर व धोखेबाज होता है।" शतपथ ब्राह्मण[3] के अनुसार स्त्री, शूद्र, कुत्ता और कौआ में असत्य, पाप और अंधकार रहता है। इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि स्त्रियों को निम्न दृष्टि से देखा जाता था।

महाभारत[4], मनस्मृति[5] और अन्य स्मृतियों में भी स्त्रियों पर अनेक लांछन लगाये गये हैं और उनकी भरपूर निन्दा भी की है कि वे धर्मभ्रष्ट हैं, चंचल हैं। इन सभी से नारी के प्रति सहज आक्रोश-भावना व्यक्त होती है। वस्तुतः नारी की निन्दा का जो चित्रण किया गया है वह एकांगी है। पुरुष भी वासना का दास हो सकता है। चाहे पुरुष हो, चाहे नारी हो, वासनाएँ दोनों की दुर्बलता रही हैं। अतः हमारी दृष्टि से उस दुर्बलता को केवल नारी पर ही थोपना सर्वथा अनुचित है।

आह्निक

वैदिक महर्षियों ने दैनिक जीवन के कार्यक्रम को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ब्राह्ममुहूर्त में उठना चाहिए। यदि ब्रह्मचारी सूर्योदय के पश्चात् उठता है तो उस दिन उसे निराहार रहकर गायत्री का जप करना चाहिए तभी वह उस दोष से मुक्त हो सकता है। उठ करके भगवान का स्मरण करना चाहिए। उसके पश्चात् मल-मूत्र-विसर्जन और उसकी शुद्धिः उसके पश्चात् शरीर व मन, वाणी का शुद्धीकरण, आचमन (कुल्ला), दन्तधावन, स्नान, तर्पण (सन्ध्या), वस्त्रधारण, तिलकधारण, होम, जप, मंगल-दर्शन, अमंगल-वर्जन आदि का निरूपण किया गया है।

पंच महायज्ञ

द्विज के लिए पंच महायज्ञों का विधान है। शतपथ ब्राह्मण[6] में भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ का उल्लेख किया है। तैत्तिरीयारण्यक[7] के क्रम में भेद है।

---

१. ऋग्वेद ८/३३/१७
२. शतपथ ब्राह्मण ११/५/१/९
३. शतपथ ब्राह्मण १४/१/१/३१
४. महाभारत–अनुशासन पर्व १९/६, ३८/१२-२९
५. मनुस्मृति ९/१४-१५
६. शतपथ ब्राह्मण ११/५/६/१
७. तैत्तिरीयारण्यक ११/१०

भूतयज्ञ में जीवों को अन्न प्रदान किया जाता है। मनुष्ययज्ञ में अतिथि को देव मानकर सत्कार किया जाता है। पितृयज्ञ में पितरों को तर्पण दिया जाता है। देवयज्ञ में अग्नि में आहुति दी जाती है और ब्रह्मयज्ञ में वेदों का अध्ययन-अध्यापन निहित है। इन पंच महायज्ञों के सम्बन्ध में भी अत्यधिक विस्तार के साथ चिन्तन किया गया है।

भोजन

वैदिक धर्मशास्त्रों में भोजन सम्बन्धी भी अनेक नियम और उपनियम बताये हैं। प्रत्येक गृहस्थ अपने सामर्थ्य के अनुसार देवों, पितरों, मानवों और कीट-पतंगों को भोजन कराने के बाद अवशेष भोजन करे।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] एवं शतपथ ब्राह्मण[3] के अनुसार भोजन दो बार किया जाता था और ऋग्वेद[4] की दृष्टि से बैठकर भोजन किया जाता था। आपस्तंब धर्मसूत्र[5], वसिष्ठ धर्मसूत्र[6] व विष्णु धर्मसूत्र[7] के अनुसार भोजन पूर्वाभिमुख होकर करना चाहिए। वामन[8] और विष्णुपुराण[9] के अनुसार दक्षिण और पश्चिम की ओर मुख रखकर भोजन करने का निषेध किया गया है। गृहस्थरत्नाकर[10] के अनुसार एकान्त में भोजन करना चाहिए, सभी लोगों के बीच में नहीं और भोजन करते समय मौन रहना चाहिए। सन्धिकाल में भोजन नहीं करना चाहिए। गोभिलस्मृति[11] में सन्धिकाल के अतिरिक्त अर्धरात्रि में भोजन करने का निषेध किया गया है। गौतम[12], वसिष्ठ धर्मसूत्र[13] आदि के अनुसार भोजन आने पर उसका सम्मान करना चाहिए। मन में प्रसन्नता होनी चाहिए। उसमें दोष नहीं देखना चाहिए।

विष्णुपुराण[14] के अनुसार सर्वप्रथम मधुर तरल पदार्थ, उसके पश्चात् नमकीन व खट्टा पदार्थ, उसके पश्चात् कटु व तीक्ष्ण व्यंजन और अन्त में दूध, उसके बाद दही का सेवन नहीं होना चाहिए। बोधायन धर्मसूत्र[15] के अनुसार भोजन करते समय आसन का परिवर्तन नहीं करना चाहिए।

---

१. (क) दक्ष. २/५६ एवं ६८
(ख) अपरार्क, पृ. १४३
२. तैत्तिरीय ब्राह्मण १/४/९
३. शतपथ ब्राह्मण २/४/२६
४. ऋग्वेद ६/३०/३
५. आपस्तंब धर्मसूत्र १/११/३१/१
६. वसिष्ठ धर्मसूत्र १२/१८
७. विष्णु धर्मसूत्र ६८/४०
८. गृहस्थरत्नाकर, पृ. ३१२ में उद्धृत
९. विष्णुपुराण–गृहस्थरत्नाकर, पृ. ३१२ में उद्धृत
१०. गृहस्थरत्नाकर, पृ. ३११
११. गोभिलस्मृति २/२३
१२. गौतम धर्मसूत्र ९/५९
१३. वसिष्ठ धर्मसूत्र ३/६९
१४. विष्णुपुराण ३/२/८३-८४
१५. बोधायन धर्मसूत्र २/७/१०

आपस्तंब[1], वसिष्ठ[2] और बोधायन[3] धर्मसूत्रों के अनुसार संन्यासी को आठ कौर, वानप्रस्थ को सोलहकौन, गृहस्थ को बत्तीस कौर और ब्रह्मचारी को जितना आवश्यक हो उतना ही खाना चाहिए। गृहस्थ के लिए कितनी बार भोजन करना, ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं था।[4]

अनेक ग्रन्थों में लहसुन, पलाण्डु, पौधों की कोमल पत्तियाँ आदि के खाने का निषेध किया गया है।[5] कन्द-मूल का प्रयोग वैदिक परम्परा में संन्यासी भी करते रहे हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि प्याज, लहसुन आदि उनके लिए भी वर्ज्य है।

दान

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में बताया है कि यतियों का धर्म है 'शम', वानप्रस्थों का धर्म-साधारण रूप से भोजन त्यागना, गृहस्थों का दान देना और ब्रह्मचारियों की सेवा करना तथा आज्ञा पालन करना है। दान में गोदान का अत्यधिक महत्त्व रहा है और उस दान को देने वाला स्वर्ग में उच्च स्थान प्राप्त करता है।[6] तैत्तिरीय संहिता[7] में लिखा है जब व्यक्ति अपने सर्वस्व का दान करता है तो वह भी एक प्रकार की तपस्या है। बृहदारण्यकोपनिषद[8] के अनुसार तीन गुण हैं–दम, दान और दया, महाभारत के सभी पर्वों में दान के संकेत मिलते हैं। अनुशासनपर्व[9] में विशेष रूप से दान की चर्चा है। अग्निपुराण[10], मत्स्यपुराण[11], वराहपुराण[12] में दान के विषय में विस्तार से चर्चा है।

दक्ष[13] ने लिखा है–माता, पिता, गुरु, मित्र, चरित्रवान व्यक्ति, उपकारी, दीन असहाय और विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति को दान देने से पुण्य होता है। पात्र-अपात्र के सम्बन्ध में भी चर्चा की गई है।

भगवद्गीता[14] में भी सात्त्विक, राजस् और तामस्–इन तीन प्रकार के दान

---

१. आपस्तंब धर्मसूत्र २/४/९/१३
२. वसिष्ठ. ६/२०/२१
३. बोधायन. २/७/३१-३२
४. (क) आपस्तंब. २/४/९/१२
   (ख) जैमिनी. ५/१/२०
५. (क) आपस्तंब. १/५/१७/२५-२७
   (ख) गौतम. १७/३२-३३
   (ग) वसिष्ठ. १४/३०
   (घ) मनु. ५/५
६. ऋग्वेद १०/१०७/२/७
७. तैत्तिरीय संहिता ६/१/६३
८. बृहदारण्यकोपनिषद ५/२/३
९. अनुशासनपर्व, महाभारत
१०. अग्निपुराण, अ. २०८-२१५ और २१७
११. मत्स्यपुराण, अ. ८२-९१
१२. वराह पुराण ९९-१०२
१३. दक्ष. ३/१७-१८
१४. भगवद्गीता १७/२०-२२

का वर्णन है। देय-अदेय वस्तु के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। दान के नित्य, नैमित्तिक और काम्य–ये तीन प्रकार बताये गये हैं। वसिष्ठ धर्मसूत्र[१], बृहस्पति[२], विष्णु धर्मोत्तर[३], मत्स्यपुराण[४], महाभारत आदि में भूमिदान का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।[५] अग्निपुराण[६] में सोना, अश्व, तिल, हाथी, दासियाँ, रथ, भूमि, घर, दुलहिन और कपिला गाय–इन दस वस्तुओं को महादान में गिनाया गया है। कहीं पर महादान की संख्या सोलह भी मानी गई है। लिंगपुराण[७], महाभारत[८], हर्षचरित्र[९] आदि में दानों के नामों में विभिन्नता है। समय-समय पर किस प्रकार दान देना चाहिए इस पर विस्तार से विश्लेषण किया गया है। दान के विविध भेद बताकर हृदय को अत्यन्त उदार बनाने की प्रबल प्रेरणा दी गई है।

गृहस्थाश्रम में दान की प्रमुखता है, इसलिए भी उस पर हर दृष्टि से चिन्तन किया गया है। महादानों में तुला दान[१०] अपने आपको स्वर्णादि से तुलवाकर उस धन को दान देना है। हिरण्यगर्भ दान[११] विराट् अर्थराशि का दान है। ब्रह्माण्ड दान[१२], कल्पपादप दान[१३], गो सहस्रदान[१४], कामधेनु दान[१५], हिरण्याश्व दान[१६] आदि प्रकार के दानों का वर्णन है।

'व्रत' का अर्थ 'संकल्प' है। यह विधि, आज्ञापालन, धार्मिक या नैतिक व्यवहार, धार्मिक उपासना और आचरण है। संहिताओं, ब्राह्मणों व उपनिषदों में व्रत दो अर्थों में आया है–

---

१. वसिष्ठ धर्मसूत्र २९/१६
२. बृहस्पति, ७
३. विष्णु धर्मोत्तर–अपरार्क, पृ. ३५९-३६० में उद्धृत
४. मत्स्यपुराण–अपरार्क, पृ. ३५९-३६० में उद्धृत
५. महाभारत–अनुशासनपर्व ६२/१९
६. अग्निपुराण २०९/२३-२४
७. लिंगपुराण उत्तरार्द्ध, अ. २८
८. महाभारत–आश्रमवासीपर्व ३/३१/१३-१५
९. हर्षचरित्र–३
१०. अपरार्क, पृ. ३२० में उद्धृत
११. (क) मत्स्यपुराण २७६ (ख) लिंगपुराण २/२९
१२. मत्स्यपुराण २७६
१३. (क) मत्स्यपुराण २७७, (ख) लिंगपुराण २/३३
१४. मत्स्यपुराण २७८, २३८
१५. (क) मत्स्यपुराण २७९ (ख) लिंगपुराण २/३५
१६. मत्स्यपुराण २८०

(१) धार्मिक कृत्य संकल्प, आचरण, भोजन सम्बन्धी रोक।

(२) विशिष्ट भोजन, जो धार्मिक कृत्य में संलग्न व्यक्ति के लिए निर्दिष्ट किया गया हो, जैसे–गाय का दूध आदि। यास्क[१] ने ये दोनों अर्थ दिये हैं। शबर[२] ने यह स्पष्ट किया है कि "व्रत एक मानस-क्रिया है जो प्रतिज्ञा के रूप में होती है।" मेधानिथि[३] ने भी इस मत को स्वीकार किया है। अमरकोश[४] के अनुसार नियम और व्रत समान अर्थ वाले हैं।

पुराणों में व्रतों की महिमा तीर्थयात्रा के सदृश मानी है। देवल[५] ने लिखा है इसमें सन्देह नहीं कि व्रतों, उपवासों, नियमों तथा शरीरोत्ताप से पापों से छुटकारा मिलता है। पद्मपुराण[६] में व्रतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है–

(१) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अकल्कता (कुटिलता का अभाव) ये मानस व्रत हैं। इनसे हरि प्रसन्न होते हैं।

(२) दिन में केवल एक बार भोजन करना, वह भी सूर्योदय के समय, या उपवास करना या बिना माँगे जो मिले अयाचित भोजन करना ये कायिक व्रत हैं।

(३) वेदाध्ययन करना, विष्णु-कीर्तन करना, सत्य-भाषण, अपैशुन्य ये वाचिक व्रत हैं।

व्रतों का दूसरा विभाजन काल के आधार पर है–एक दिन का व्रत, पाक्षिक, मासिक, ऋतु, उत्तरायण, दक्षिणायन, वार्षिक, वार व्रत, नक्षत्र व्रत, योग व्रत, संक्रान्ति व्रत, प्रकीर्णक व्रत आदि व्रत के विविध प्रकार हैं। एकादशी व्रत, चातुर्मास्य व्रत, नागपंचमी, मनसापूजा, रक्षाबन्धन, कृष्णजन्माष्टमी, हरतालिका, गणेशचतुर्थी, ऋषिपंचमी, अनन्त चतुर्दशी, नवरात्रि व दुर्गोत्सव, विजयादशमी, दीपावली, नरकचतुर्दशी, यमद्वितीया, मकरसंक्रान्ति, महाशिवरात्रि, होलिका व्रत, ग्रहण व्रत–इस तरह व्रतों की बहुत ही लम्बी सूची प्राप्त होती है। उन सभी व्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन किया जाये तो महर्षियों का मन्तव्य है कि जीवन में सात्त्विकता और निर्मलता आती है और मोक्ष प्राप्ति होती है।

---

१. निरुक्त २/१४
२. जैमिनी. ६/२/२०
३. मनु. ४/३
४. अमरकोश–**नियमो व्रतमस्त्री तच्चोपवासादि पुण्यकम्।**
५. हेमाद्री व्रत, खण्ड १, पृ. ३२५ में उद्धृत।
६. (क) पद्मपुराण ४/८४/४२-४४
(ख) वराह. ३७/४-६

वानप्रस्थ

मिताक्षरा[1] के अनुसार 'वानप्रस्थ' शब्द वन प्रस्थ ही है जिसका अर्थ है जीवन के कठोर नियमों का पालन करते हुए सर्वोत्तम ढंग से वन में रहना। जावालोपनिषद्[2] के अनुसार कुछ समय तक ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में रहकर वानप्रस्थ हो सकता है। आचार्य मनु[3] का मन्तव्य है जब गृहस्थ अपने शरीर पर झुर्रियाँ निहारे, उसके बाल पक जायें, उसके पुत्रों के भी पुत्र हो जायें तो उसे वन की राह लेनी चाहिए। कुल्लुक[4] ने एक स्मृति में उद्धरण देकर पचास वर्ष की अवस्था को वानप्रस्थ के लिए उपयुक्त माना है। गौतम[5], आपस्तंब धर्मसूत्र[6], बोधायन[7], वसिष्ठ धर्मसूत्र[8], मनुस्मृति[9], याज्ञवल्क्य[10], विष्णु धर्मसूत्र[11], शंखस्मृति[12], कूर्मपुराण[13], प्रभृति अनेक ग्रन्थों में वानप्रस्थ आश्रमों के नियमों के सम्बन्ध में चर्चा की गई है।

वानप्रस्थ आश्रम में जाने वाला या तो पत्नी के साथ जाये या पत्नी युवा हो तो उसे पुत्रों के आश्रय में छोड़कर जाये। मनु[14] और गौतम[15] की दृष्टि से वानप्रस्थ को गृहस्थाश्रम की तरह भोजन, शयन आदि नहीं करना चाहिए। फूल-फल, कन्द-मूल और वन में पाये जाने वाली वनस्पतियों का उपयोग करे। मनु[16] ने लिखा है वह अन्य यतियों के यहाँ पर भिक्षा माँग सकता है और गाँवों से केवल आठ ग्रास भोजन माँगकर ला सकता है। उसे कम से कम दो बार या ज्यादा से ज्यादा तीन बार प्रतिदिन स्नान करना चाहिए।[17] शरीर को मृगचर्म की छाल या कुश से आच्छादित करना चाहिए।[18] सिर के बाल तथा नाखून काटने का निषेध किया है।[19] उसे वेद का मौन होकर पाठ करना चाहिए[20] और वेदों पर श्रद्धा रखनी

---

१. मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य. ३/४५
२. जावालोपनिषद् ४
३. मनु. ६/२
४. मनु. ३/५०
५. गौतम. ३/२५-३४
६. आपस्तंब. २/९/२१/१८
७. बोधायन. ३/३
८. वसिष्ठ. सूत्र ९
९. मनु. ६/१/१-३२
१०. याज्ञवल्क्य. ३/४५-५५
११. विष्णु धर्मसूत्र ९५
१२. शंखस्मृति ६/१-७
१३. कूर्मपुराण, उत्तरार्द्ध २७
१४. मनु. ६/५
१५. गौतम. ३/२६-२८
१६. (क) मनु. ६/२७-२८
(ख) याज्ञवल्क्य. ३/५४-५५
१७. (क) याज्ञवल्क्य. ३/४८
(ख) वसिष्ठ ९/९
१८. (क) मनु. ६/६
(ख) गौतम ३/३४
(ग) वसिष्ठ ९/११
१९. वसिष्ठ. ९/११
२०. आपस्तंब धर्मसूत्र. २/९/२२/९

चाहिए। वह दिन में केवल एक बार भोजन करे।[1] या २-३ दिन के अन्तर से चन्द्रायण व्रत[2] करे। या अपने सामर्थ्य के अनुसार या एक पक्ष के उपरान्त खाये और क्रमशः इस प्रकार जल और वायु पर भी निर्भर रहे।[3] उसे पंचाग्नि के बीच खड़े होकर, वर्षा में बाहर खड़े होकर, जाड़े में गीले वस्त्र धारण कर उग्र तपस्या करनी चाहिए।[4] रात्रि में पृथ्वी पर शयन करना चाहिए।[5] जागरण स्थिति में चलते हुए या बैठकर योगाभ्यास करना चाहिए। जो पदार्थ उसे सुख प्रदान करता हो उससे दूर रहना चाहिए।[6]

वानप्रस्थ को असाध्य रोग होने पर अपनी मृत्यु सन्निकट समझकर वह उत्तर या पूर्वाभिमुख होकर प्रस्थान करे। उसे केवल जल और वायु ही ग्रहण करनी चाहिए। उसे वहाँ तक चलते रहना चाहिए जब तक गिर न पड़े।[7] बोधायन[8] और बृहत् पाराशर[9] ने वानप्रस्थों के अनेक प्रकार बताये हैं।

यों धर्मशास्त्र में आत्महत्या को महापाप माना है। पाराशर स्मृति[10] में स्पष्ट निर्देश है कि जो नारी या पुरुष अभिमान, क्रोध, क्लेश तथा भय के कारण आत्महत्या करता है तो वह साठ हजार वर्ष तक नरकवास करता है। आदिपर्व[11] में कहा है आत्महत्या करने वाला कल्याणप्रद लोकों में नहीं जा सकता। किन्तु व्रत, उपवास के द्वारा व पवित्र स्थलों पर मरने वाले की आत्महत्या नहीं होती।

वानप्रस्थ के लिए जो आचार-संहिता है वह संन्यासी के लिए भी उसी तरह प्राप्त होती है। मनुस्मृति[12] में और आपस्तंब धर्मसूत्र[13] में यह सत्य स्वीकार किया है। वानप्रस्थ ही आगे चलकर संन्यासी बनता है। दोनों आश्रमों में ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना होता है। इन्द्रियनिग्रह, भोजन के नियम, उपनिषदों का अध्ययन और ब्रह्मज्ञान के लिए प्रयास करना होता है। दोनों आश्रमों में अन्तर यह है कि वानप्रस्थ आश्रम में पुरुष स्त्री के साथ भी रह सकता है, पर संन्यासाश्रम में नहीं। वानप्रस्थ में अग्नि प्रज्वलित रखनी पड़ती है, आह्निक और यज्ञ आदि भी करने

१. विष्णु धर्मसूत्र ९५/५-६
२. मनु. ११/२-१६
३. आपस्तंब. २/९/२३/२
४. याज्ञवल्क्य. ३/५२
५. मनुस्मृति ६/२२-२६
६. याज्ञवल्क्य. ३/५१
७. (क) मनुस्मृति २/३१
(ख) याज्ञवल्क्य. ३/५५
(ग) अपरार्क, पृ. ९४५
८. बोधायन. ३/३
९. बृहत्पाराशर. ११, पृ. २९०
१०. पाराशरस्मृति ४/१-२
११. आदिपर्व १७९/२०
१२. मनुस्मृति ६/३८/४३-४४
१३. आपस्तंब धर्मसूत्र २/९/२१/१०-२०

पड़ते हैं पर संन्यासी अग्नि आदि का त्याग कर देता है। संन्यासी को इन्द्रियों पर संयम रखना और परम तत्त्व का ध्यान करना होता है।[1]

संन्यास–छान्दोग्योपनिषद्[2] के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वहाँ पर ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ–इन तीन आश्रमों का ही वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि संन्यास जो चतुर्थ आश्रम है उसने आश्रम के रूप में उस समय तक स्थान प्राप्त न किया हो। बृहदारण्यक आदि जो प्राचीन उपनिषद् माने जाते हैं उनमें संसार के प्रति मोह-त्याग, भिक्षा-ग्रहण और परब्रह्म का ध्यान करना चाहिए–इस पर अत्यधिक बल दिया गया है; किन्तु वहाँ पर संन्यास आश्रम की कोई भी चर्चा नहीं है। जाबालोपनिषद्[3] में संन्यास आश्रम को चतुर्थ आश्रम के रूप में ग्रहण करना स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया है। यदि किसी की इच्छा हो तो वह संन्यासाश्रम को ग्रहण करे अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यासी भी हो सकता है। गृहास्थाश्रम से भी संन्यासी हो सकता है। वानप्रस्थ से तो संन्यास ग्रहण किया ही जाता है। इस तरह संन्यासाश्रम को हर व्यक्ति अपनी इच्छा से ग्रहण कर सकता है।

बृहदारण्यकोपनिषद्[4] में याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नियों–मैत्रेयी और कात्यायनी का अत्यन्त भावपूर्ण संवाद है। उससे यह स्पष्ट है कि संन्यासी बनने के लिए गृहत्याग, पत्नी व सम्पत्ति आदि का परित्याग भी आवश्यक है। आत्मविद् व्यक्ति सन्तान, सम्पत्ति आदि के मोह का परित्याग कर एक भिक्षुक का जीवनयापन करता है। जाबालोपनिषद्[5] से यह स्पष्ट होता है कि संन्यासी काषाय वस्त्र धारण करे। उसका सिर मुण्डित हो। सम्पत्ति न रखे। उसका आचरण पवित्र हो। उसका मानस अद्रोही हो। भिक्षावृत्ति करता हुआ वह ब्रह्म में संलग्न रहे।

गौतम धर्मसूत्र[6], आपस्तंब धर्मसूत्र[7], बोधायन धर्मसूत्र[8], वसिष्ठ धर्मसूत्र[9] प्रभृति सभी प्रमुख धर्मसूत्रों में संन्यासधर्म के सम्बन्ध में अत्यन्त विस्तार से विश्लेषण किया गया है। उन सभी का संक्षेप में सारांश यह है–

(१) संन्यासी बनने से पूर्व उसे यज्ञ आदि करके सारी सम्पत्ति का दान कर देना चाहिए।

(२) स्वजन व परिजन का परित्याग कर गाँव के बाहर रहना चाहिए। वर्षावास के अतिरिक्त अन्य समय उसे परिभ्रमण करना चाहिए।

---

१. वेदान्तसूत्रभाष्य (आचार्य शंकर) ३/४/२०
२. छान्दोग्योपनिषद् २/२३/१
३. जाबालोपनिषद् ४
४. बृहदारण्यक २/४/१; ३/५/१
५. जाबालोपनिषद् ५
६. गौतम. ३/१०-१७
७. आपस्तंब. २/९/२१/७-२०
८. बोधायन. २/६/२१-२७
९. वसिष्ठ. १०

(३) संन्यासी को सदा एकाकी परिभ्रमण करना चाहिए। क्योंकि साथ में रहने से मोह उद्‌बुद्ध हो सकता है और वियोग की तीक्ष्ण पीड़ा भी हो सकती है। संन्यासियों को ये चार क्रियाएँ करनी चाहिए–ध्यान, शौच, भिक्षा और एकान्त व शान्त जीवन व्यतीत करना।[१]

(४) संन्यासी पूर्ण ब्रह्मचारी हो। उसे सदा इन्द्रिय-सुखों से दूर रहना चाहिए।[२]

(५) संन्यासी का जीवन पूर्ण अहिंसक हो। वह किसी भी जीव को कष्ट न दे। चाहे सन्मान हो या अपमान, वह सदा समभाव में रहे। न क्रोध करे और न कभी असत्य भाषण ही करे।[३]

(६) वह अग्नि का उपयोग न करे।[४]

(७) भिक्षा के लिए उसे ग्राम या नगर में केवल एक बार जाना चाहिए। वर्षा ऋतु के अतिरिक्त उसे गाँव में नहीं रहना चाहिए। यदि कदाचित् रुकने का प्रसंग आये तो एक रात्रि से अधिक न रहे।[५]

(८) भिक्षा लेने के पूर्व उसे कोई योजना नहीं बनानी चाहिए, केवल सात घरों से भिक्षा लेनी चाहिए।[६] भिक्षा केवल द्विज जातियों के घरों से ही ले। माँस, मधु आदि का उपयोग न करे।

(९) उशना[७] जो वैदिक युग का चिन्तक व कवि था, उसने भिक्षा के पाँच प्रकार बताये हैं–माधुकर, प्राक्‌प्रणीत (पूर्वकथित), आयाचित, तात्कालिक, उपपन्न (शिष्यों के द्वारा लाया गया)।

(१०) संन्यासी को अपराह्न में भिक्षा लेने जाना चाहिए। जिस समय रसोईघर में धुँआ न हो, अग्नि बुझ चुकी हो, बरतन आदि अलग रख दिये गये हों।[८] भिक्षा ग्रहण करते समय न संन्यासी को भविष्यवाणी करनी चाहिए, न शकुन या अपशकुन ही बताना चाहिए और न ज्योतिष बताकर भिक्षा लेनी चाहिए।

---

१. (अ) अपरार्क. पृ.९५२
   (ब) मिताक्षरा, याज्ञ. ३/५८
२. (अ) मनु. ६/४१. ४९
   (ब) गौतम. ३/११
३. (अ) मनु. ६/४०, ४७-४८
   (ब) याज्ञवल्क्य. ३/६१
   (स) गौतम. ३/२३
४. (अ) मनु. ६/३८ एवं ४३
   (ब) आपस्तंब. १/९/२१
   (स) महा. आदिपर्व ११/१२
५. (अ) गौतम. ३/१३, एवं २०
   (ब) मनु. ६/४३ एवं ५५
६. (अ) वसिष्ठ. १०/६
   (ब) शंख. ७/३
७. (अ) अस्मृतिमुक्ताफल पृ. २००
   (ब) यतिधर्मसंग्रह, पृ. ७४-७५
८. (अ) मनु. ६/५६
   (ब) याज्ञवल्क्य. ३/५९

(११) संन्यासी को शरीर और आत्मा को टिकाने के लिए स्वल्प भोजन करना चाहिए। संन्यासी को ८ ग्रास खाने का वर्णन है।[१]

(१२) संन्यासी को बढ़िया वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए। वह जीर्ण-शीर्ण स्वल्प वस्त्र धारण करे। जलपात्र के अतिरिक्त उसे भोजन आदि के लिए जो अत्यधिक आवश्यक हो, कमण्डलु आदि रख सकता है।[२]

(१३) वह धातु का भिक्षापात्र या जलपात्र न रखे। मिट्टी, लकड़ी, तुंबी या छिद्ररहित बाँस का रखे।

(१४) उसे नाखून, बाल और दाढ़ी अत्यधिक बढ़ी हुई नहीं रखनी चाहिए क्योंकि उससे जीवों की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए उसे कटा लेना चाहिए।[३]

(१५) उसे भूमि पर शयन करना चाहिए। व्याधि होने पर चिन्तित नहीं होना चाहिए। उसे न मृत्यु का स्वागत करना चाहिए और न जीने के लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए।[४]

(१६) उसे मंत्र-जप करते समय वाणी का उपयोग करना चाहिए, शेष समय मौन रहना चाहिए।[५]

(१७) संन्यासी को त्रिदण्डी या दण्डी होना चाहिए।[६] आचार्य मनु, दक्ष आदि ने स्पष्ट लिखा है–जो मन, वाणी व शरीर पर नियंत्रण करता है, वह त्रिदण्डी है।[७]

(१८) उसे चलते समय भूमि को देखकर चलना चाहिए, पानी का उपयोग भी छानकर करना चाहिए।

(१९) संन्यासी को सत्य, अक्रोध, विनय, विवेक, मन-इन्द्रिय-वाणी-नियंत्रण, आदि गुणों को प्राप्त करने का अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहिए[८] और उसके लिए प्राणायाम व योग की साधना करनी चाहिए।[९]

---

१. (अ) आपस्तंब. २/४/९/१३
   (ब) बोधायन. २/१०/६८
२. (अ) गौतम. ३/१७/१८
   (ब) आपस्तंब. २/९/२१/११-१२
३. (अ) मनु. ६/५२
   (ब) वसिष्ठ. १०/६
४. मनु. ६/४३
५. (अ) मनु. ६/४३
   (ब) गौतम. ३/१६
   (स) बोधायन. २/१०/७९
६. (अ) याज्ञवल्क्य. ३/५८
   (ब) मनु. ६/५२
७. (अ) मनु. १२/१०
   (ब) दक्ष. ७/३०
८. (अ) मनु. ६/६६
   (ब) याज्ञवल्क्य. ३/६५-६६
   (स) वसिष्ठ. १०/३०
९. (अ) मनु. ६/७०-७५
   (ब) याज्ञवल्क्य. ३/६२, ६४

संन्यासियों के अनेक प्रकार हैं। कुटीचक (जो घर में ही संन्यास धारण करता है और अपने स्वजनों से भिक्षा माँगता है), बहूदक (सात ब्राह्मण घरों से भिक्षा ग्रहण करते हैं), हंस (ग्राम में एक रात्रि और नगर में ५ रात्रि से अधिक नहीं रुकता। वह गोमूत्र ग्रहण करता है। एक मास का उपवास करता है। सदा चन्द्रायण व्रत करता रहता है।), परमहंस (वृक्ष के नीचे, श्मशान में या ऐसे स्थान में रहते हैं जो किसी के उपयोग में न आता हो। सभी के यहाँ भिक्षा ग्रहण करते हैं। वस्त्र सहित या वस्त्ररहित रहते हैं। जाबालोपनिषद्[१] में परमहंसों के जीवन के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण है। तुरीयातीत भोजन आदि में हाथ का उपयोग नहीं करते और न वस्त्र आदि धारण करते हैं। अवधूत पूर्ण उन्मुक्त जीवन व्यतीत करते हैं। वे किसी भी बन्धन से आबद्ध नहीं होते।

संन्यास किस वर्णमाला को ग्रहण कर सकता है, इस सम्बन्ध में मतभेद है। बृहदारण्यकोपनिषद्[२], मुण्डकोपनिषद्[३], प्रभृति में बताया है कि केवल ब्राह्मण ही संन्यासी हो सकता है, किन्तु सूत्रकार कात्यायन, जाबालोपनिषद्[४], याज्ञवल्क्य[५], और कूर्मपुराण[६] प्रभृति ग्रंथों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य–तीनों वर्ण वाले संन्यासी बन सकते हैं; किन्तु शूद्र संन्यास धारण नहीं कर सकता। पर कुछ शूद्र व्यक्तियों के द्वारा अपवाद के रूप में संन्यास ग्रहण करने के उल्लेख मिलते हैं।[७]

शूद्रों की भाँति महिलाएँ भी मुख्य रूप से संन्यास ग्रहण नहीं कर सकती थीं। अत्रि[८] के अनुसार महिलाओं के लिए जप, तप, प्रव्रज्या (संन्यास), तीर्थयात्रा, मन्त्रसाधना और देवाराधन वर्ज्य हैं। आचार्य पतंजलि[९] ने और कवि कुलगुरु कालिदास[१०] ने क्रमशः शंकरा, परिव्राजिका और कौशिकी संन्यासिनी का वर्णन किया है। पर विशेष रूप से स्त्रियों को संन्यासिनी के रूप में साधना करने को समाज ने मान्यता नहीं दी।

आचार्य मनु[११] के अनुसार संन्यास के लिए अन्धा, लूला, लँगड़ा और नपुंसक अयोग्य है। बोधायन धर्मसूत्र[१२] और कंधायन गृह्यसूत्र[१३] व वैखानस[१४] आदि ने संन्यास ग्रहण करने की विधि विस्तार से दी है। संन्यास धारण करते समय सभी

---

१. जाबालोपनिषद् ६
२. बृहदारण्यक. ४/४/२२, ३/५/१
३. मुण्डकोपनिषद् १/२/१२
४. जाबालोपनिषद् ४
५. याज्ञवल्क्य. ३/३२
६. कूर्मपुराण–उत्तरार्द्ध २८/२
७. महाभारत–आश्रमवासिकपर्व २६/३३
८. अत्रि. १३६-१३७
९. पतंजलि–महाभाष्य २, पृ. १००
१०. मालविकाग्निमित्र १/१४
११. मनु. ६/३६
१२. बोधायन. २/१०/१९-३०
१३. बोधायन गृह्य सूत्र ४/१६
१४. वैखानस ९/६-८

भौतिक सम्बन्धों का परित्याग करना चाहिए, सिर-दाढ़ी और शरीर के सभी अंगों के बालों को बनवाकर त्रिदण्ड धारण करना चाहिए तथा एक जल छानने के लिए वस्त्रखण्ड, कमण्डलु, और एक भिक्षा-पात्र रखना चाहिए। संन्यासियों को शिखा व यज्ञोपवीत नहीं धारण करना चाहिए, ऐसा आचार्य शंकर[१] का मत है।

चाहे गृहस्थ आचारनिष्ठ हो, चिन्तक हो तो भी संन्यासी को उसे नमस्कार नहीं करना चाहिए। यदि गृहस्थ संन्यासी को नमस्कार करता है तो संन्यासी उसे आशीर्वाद न देकर केवल 'नारायण' कहे। संन्यासी की मृत्यु हो जाने पर रुदन नहीं करना चाहिए और न श्राद्ध ही करना चाहिए। उसे जलाना नहीं, किन्तु गाढ़ना चाहिए।

इस तरह वैदिक परम्परा में चारों आश्रमों की आचार संहिता पर विस्तार से विश्लेषण किया गया है। हमने यहाँ पर अत्यन्त संक्षेप में प्राचीन ग्रन्थों के आधार से एक रूपरेखा प्रस्तुत की है। यह सत्य है कि मानव मात्र भूल का पात्र है, भूल होना स्वाभाविक है और उस भूल के परिष्कार हेतु वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है।

प्रायश्चित्त–प्रायश्चित्त के लिए 'प्रायश्चित्ती' और 'प्रायश्चित्त' ये दोनों शब्द उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय संहिता[२] में प्रायश्चित्ती शब्द अनेक बार व्यवहृत हुआ है। किन्तु पाप के सम्बन्ध में कुछ भी चिन्तन नहीं किया गया है। कौशीतकी ब्राह्मण[३] में और अन्यत्र प्रायश्चित्त शब्द आया है। आश्वलायन श्रौतसूत्र[४], शाखा श्रौत[५] प्रभृति ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग हुआ है। विभिन्न विज्ञों ने प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति अपनी-अपनी दृष्टि से की है। याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार की दृष्टि से 'प्राय' का अर्थ 'पाप' और चित्त का अर्थ 'शोधन' या 'शुद्धीकरण' है। प्रायश्चित्त वह क्रिया है जिससे व्यक्ति पाप से मुक्त होता है।

आचार्य मनु[६] का अभिमत है कि अनजान में जो पापकृत्य किये गये हैं उन पापकृत्यों का शमन वेदों के अध्ययन, चिन्तन-मनन से हो सकता है। पर जो पाप

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य ३/५/१
२. तैत्तिरीय संहिता २/१/२/४, २/१/४/१०, ३/१/३/२-३, ५/१/१/३, ५/३/१२/१
३. कौशीतकी ब्राह्मण ५/१/६/१२
४. आश्वलायन श्रौतसूत्र ३/१०/३८
५. शाखा श्रौत ३/१९/१
६. मनु. ११/४६

जान-बूझकर किये गये हैं वे पाप प्रायश्चित्त ग्रहण करने से नष्ट होते हैं। याज्ञवल्क्य[1] का मन्तव्य है कि जान-बूझकर किये गये पाप कभी नष्ट नहीं होते। पर प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेने से वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आने के योग्य बन जाता है। पातकी का कर्त्तव्य है वह अपनी विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करे और जब वह प्रायश्चित्त कर लेता है तो उसकी अन्तरात्मा विशुद्ध हो जाती है। वह दोष सेवन के पूर्व की उस स्थिति को पुनः प्राप्त कर लेता है जिससे वह विज्ञ जनों के सम्पर्क में आने के योग्य बन जाता है।

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि किसी व्यक्ति से पाप हो जाने पर यदि उसने उसकी शुद्धि के लिए व्यवस्थित रूप से प्रायश्चित्त ग्रहण कर लिया है तो वह व्यक्ति नरक की दारुण वेदना नहीं भोगता। यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि प्रायश्चित्त से पाप नष्ट होते हैं, यह क्यों न माना जाय ? समाधान है, श्रुतियों और स्मृतियों में जिसकी निष्ठा है और जो उन्हें आधारभूत ग्रन्थ मानते हैं तो उन्होंने जो व्यवस्था दी है उसे बिना नन-नुच किये स्वीकार करना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता[2] में भी कर्मयोगी श्रीकृष्ण का यह स्पष्ट अभिमत है कि आध्यात्मिक ज्ञान की जाज्वल्यमान अग्नि सभी संचित पापकर्मों को जलाकर नष्ट कर देती है।

वैदिक साहित्य से यह भी स्पष्ट है कि कितने ही पापकृत्यों के लिए राजा के द्वारा दण्ड व्यवस्था थी। दण्ड और प्रायश्चित्त में अन्तर है ? दण्ड बिना मन के लिया जाता है, उसे कोई भी सहर्ष स्वीकार नहीं करता। जबकि प्रायश्चित्त स्वयं ग्रहण किया जाता है। प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले के मन में पाप के प्रति ग्लानि होती है। उसे अपनी भूल का परिज्ञान होता है। अपराध के अनुसार दण्ड और प्रायश्चित्त की व्यवस्था रही है। एक ही अपराध के लिए सभी को समान प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता था। यदि किसी ने अनजान में कोई अपराध किया है तो उसको हल्का दण्ड या प्रायश्चित्त दिया जाता था और वही कार्य यदि विज्ञ करता तो उसे उग्र दण्ड दिया जाता था।

आचार्य बृहस्पति ने 'विवादरत्नाकार' ग्रन्थ में एक उद्धरण दिया है कि किसी चारित्रनिष्ठ और वेदों के पारंगत विद्वान् ने चोरी का अपराध किया है तो उसे लम्बे समय तक कारागृह में रखना चाहिए और उसके सम्पूर्ण धन को लौटाने के पश्चात् उसे प्रायश्चित्त कराना चाहिए जिससे उसे अपने पाप का परिज्ञान हो सके।

---

१. याज्ञवल्क्य. ३/२२३ २. श्रीमद्भगवद्गीता ४-३७

पाराशरस्मृति[1] में स्मृतिकार का मन्तव्य है कि किसी ने महान् अपराध किया है तो सर्वप्रथम राजा की अनुमति लेनी चाहिए और उसके पश्चात् परिषद योग्य प्रायश्चित्त का निर्देश करे। बिना राजा को बताये परिषद प्रायश्चित्त का निर्णय न करे। किन्तु किसी ने बहुत हल्का पाप किया है तो बिना राजा को सूचित किये भी परिषद उसे प्रायश्चित्त दे सकती है।

आचार्य मनु[2] का मानना है कि किसी ब्राह्मण ने अनजान में महान् पापकृत्य का सेवन कर लिया हो तो उसे मध्यम प्रकार का दण्ड देना चाहिए। किन्तु जान-बूझकर ब्राह्मण ने महापाप किया है तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति के साथ उसे देश से निष्कासित कर देना चाहिए। यदि अन्य वर्ण वाले व्यक्ति ने अनजान में महापातक किया हो तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति को छीन लेना चाहिए और यदि जान-बूझकर किया है तो उसे मृत्यु-दण्ड देना चाहिए।

इस तरह वैदिक परम्परा में दण्ड और प्रायश्चित्त दोनों का उल्लेख है। यदि कोई व्यक्ति प्रायश्चित्त ग्रहण न करे तो उस व्यक्ति को इस प्रकार के चिह्न से अंकित किया जाए जिससे कि यह ज्ञात हो सके कि इसने प्रायश्चित्त नहीं किया है। वैदिक परम्परा के महर्षियों ने प्रायश्चित्त सम्बन्धी विपुल साहित्य का सृजन किया है। गौतम धर्मसूत्र में अट्ठाईस अध्याय हैं। उनमें से १० अध्याय प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में हैं। वसिष्ठ धर्मसूत्र में ९ अध्याय के २०-२८ में प्रायश्चित्त का वर्णन है। मनुस्मृति में ११वें अध्याय में २२२ श्लोक प्रायश्चित्त के विषय में हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में १२२ श्लोक प्रायश्चित्त के विषय को लेकर लिखे गये हैं। इसी तरह अंगिरा, देवल, वृद्ध, यम प्रभृति स्मृतियों में, अग्नि, गरुड़, कूर्म, वराह, ब्रह्मांड, विष्णुधर्मोत्तर प्रभृति पुराणों में, मिताक्षरा, अपरार्क, पाराशर, माधवीय, मदन-मदनपारिजात आदि में प्रायश्चित्त का विश्लेषण है। इसके अतिरिक्त अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रायश्चित्त के विषय को स्पष्ट करने के लिए लिखे गये हैं। उनमें से प्रमुख ग्रन्थ हैं–'प्रायश्चित्त प्रकरण', 'प्रायश्चित्त विवेक', 'प्रायश्चित्त-तत्त्व', 'स्मृतिमुक्ताफल', 'प्रायश्चित्त सार', 'प्रायश्चित्त-मयूख', 'प्रायश्चित्त-प्रकाश' आदि। प्रायश्चित्त कब देना चाहिए, किस स्थान पर कौनसा प्रायश्चित्त देना चाहिए, किस वय वाले को कितना प्रायश्चित्त देना, यह भी इन ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है।

उपर्युक्त पंक्तियों में वैदिक परम्परा के आचार और उसकी स्खलना होने पर प्रायश्चित्त की जो व्यवस्था थी, उस पर बहुत ही संक्षेप में विचार प्रस्तुत किये हैं

---

१. पाराशरस्मृति ८/२८ २. मनु. ९/२४१-२४२

जिससे स्पष्ट होता है कि वैदिक परम्परा की आचार-संहिता क्या थी ? वैदिक परम्परा ने गृहस्थाश्रम को महत्त्व दिया, जिसके फलस्वरूप गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण आचार-संहिता भी उन्होंने दी। पर, श्रमण संस्कृति की दोनों धाराएँ–जैन और बौद्ध, उन्होंने गृहस्थ-जीवन को आचार-संहिता पर इतना बल नहीं दिया। गृहस्थ-जीवन में भी जो श्रावक व्रत ग्रहण करता है उसी की आचार-संहिता श्रमण साहित्य में है। तुलनात्मक दृष्टि से यदि हम चिन्तन करें तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि संन्यासियों की जो आचार-संहिता है, वह श्रमण संस्कृति के श्रमणों की आचार-संहिता से काफी मिलती-जुलती है। संन्यासी भी अपरिग्रही होता है, अनिकेत होता है, पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, धातु आदि के पात्र भी नहीं रखता और भोजन भी केवल शरीर टिकाने के लिए आठ कवल मात्र करता है। अपराह्न में एक बार भोजन आदि के जो नियम हैं वह जैन श्रमणों से पूर्ण रूप से मिलते हैं। जैन श्रमणों की ही नहीं, बौद्ध श्रमणों की आचार-संहिता को भी समन्वय की दृष्टि से देखा जाय तो काफी मिलती-जुलती है जिस पर हम अगले पृष्ठों में चिन्तन करेंगे।

● ●

३. पुराण साहित्य में आचार-महिमा

कथाओं के माध्यम से

वेद, स्मृति प्रभृति साहित्य में चिन्तन सूत्रों के रूप में आचार का सैद्धान्तिक रूप प्रस्तुत हुआ है तो पुराण साहित्य में विभिन्न कथाओं के माध्यम से आचार का निरूपण किया गया है।

वैसे वेदों में कर्मकाण्ड, उपनिषदों में तत्त्वज्ञान तथा स्मृतियों में ब्राह्मण आदि वर्गों के कर्तव्यों का–क्रियाकाण्डों का विशेष वर्णन किया गया है। किन्तु पुराण साहित्य में मानव मात्र के कर्तव्य–सदाचार, नीति व धर्म-पालन की मुख्य बातों पर विशेष विचार किया गया है। और उनमें पूर्वपुरुषों के चरित्र व रूपक कथाओं के माध्यम से रोचक तथा सहज शैली से आचार की विधियाँ समझाई गई हैं।

महर्षि व्यास ने आचार का जो विश्लेषण किया है, वह सहज है, सुगम है। श्रीमद्भागवतपुराण में सन्त का लक्षण बताते हुए कहा है–"सन्त कृपालु, अकृतद्रोह, तितिक्षु, सत्यशील, अनवद्य आत्मा, सम, सर्वोपकारक, मृदु, शुचि, अकिंचन, अनीह, मितभुक्, शान्त, स्थिर, अप्रमत्त, गम्भीरात्मा, धृतिमान्, अमानी, मानद, कल्प, मैत्र, कारुणिक, कवि आदि गुणों से युक्त होता है।" उसके जीवन में सदाचार का निखरा हुआ रूप होता है। पुराणों में यम की शुद्धि, दान की महिमा, कर्म-फल, प्रायश्चित्त, अतिथि-सेवा, योगाचार, शिष्टाचार आदि विविध विषयों का विश्लेषण है।

वृत्त और आचरण

पुराणों में आचार के लिए 'वृत्त' शब्द व्यवहृत हुआ है। सांबपुराण आदि में वैदिक होम आदि के अर्थ में आचार शब्द आया है। जिसमें आचार का अर्थ केवल सम्प्रदाय-निष्ठा और तदनुरूप आचरण है। आचार का अर्थ 'विधि' यानी 'कानून' के अर्थ में भी विष्णुधर्मोत्तरपुराण[१] में आया है। श्रेष्ठ-कर्म को भी आचार माना गया है, जिसमें संयम, दान, तप आदि का आचरण करने योग्य नियमों का वर्णन है। संयममय आचरण ही तप है। हाथ का संयम दान है। भगवत्पूजन, गुरुजन

१. विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३, ८६, १३९

अभिवन्दन करना, ध्येय है। चरण का संयम है महान् पुरुषों के वन्दन आदि के लिए जाना। जननेन्द्रिय का संयम है ब्रह्मचर्य और वागेन्द्रिय का संयम है सत्य भाषण, वही वाणी का तप है। सत्य को परब्रह्म रूप माना गया है, वह ओंकार रूप है। जब वाणी में सत्य नहीं होता तो वह वाणी काम, क्रोध, राग-द्वेष से सम्पृक्त होकर दुर्भाषित हो जाती है।[1] सत्य जब आचरण के रूप में अवतरित होता है, तब वह सद्कर्म या सदाचार कहलाता है। कर्तव्यों का यथाविधि पालन करना, माँस-मदिरा का त्याग करना, विविध प्रकार से दान देना, इन शुभ कार्यों से स्वर्ग मिलता है और निषिद्ध-कार्यों को करना, अशुभ कर्म है और उनसे नरक मिलता है।[2] दूसरों को दण्ड देने की इच्छा, क्रुद्ध होकर दूसरे पर आघात करना आदि निषिद्ध कार्य हैं[3] और गुरुजन आदि का अभिवादन करना, और वृद्ध आदि का पालन करना, ये विहित कर्म हैं।[4] शिव धर्म पाँच प्रकार के हैं–तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान।[5]

पवित्र आचार ही सदाचार है

जिन पुराणों में भक्ति की प्रधानता का चित्रण हुआ है वहाँ पर भक्ति की महिमा का प्रतिपादन करते हुए कहा–भक्ति ज्ञान का मुख्य हेतु है।[6] भक्ति और ज्ञान अभिन्न हैं।[7] भक्तिहीन ज्ञान नरक का कारण है।[8] भक्ति भगवान को प्राप्त करने का मुख्य साधन है।[9] भक्ति से भगवान भक्त के अधीन रहते हैं।[10] आचारहीन व्यक्ति न इस लोक में सुखी होता है और न परलोक में ही। सदाचारयुक्त व्यक्ति ही सौ वर्ष तक जीवित रहता है।[11] पवित्र आचार ही सदाचार है।[12]

धर्म का उद्भव : आचार से

पुराणों की दृष्टि में आचार से ही धर्म का उद्भव होता है। जो व्यक्ति आचार का पालन नहीं करते, उन्हें धर्म और अर्थ आनन्द प्रदान नहीं कर सकता। आचार से ही आनन्द प्राप्त होता है।[13] और आचार से ही परमपद मोक्ष प्राप्त होता है।[14]

---

१. शिवपुराण, वा. स. उ. ध. १२/२७
२. विष्णुधर्मोत्तरपुराण अ. ११७-११८
३. सांबपुराण अ. ४४
४. प्रातरुत्थाय पितरमाचार्यमभिवादयेत्।
५. शिवपुराण सा. सं. उ. ८/३७
६. विष्णुधर्मपुराण अ. १७
७. शिवपुराण रु. सं. स. खं. २३/१६
८. वही ३५/३१
९. शिवपुराण रु. सं. स. खं. २३/३८
१०. वही २३/१६
११. सदाचारो हि पुरुषः शतं वर्षाणि जीवति।
१२. शौचाचारः सदाचारः।
१३. बृहन्नारदीयपुराण २०९ से २२१
१४. वही ४-२७

इसलिए मानव को कदाचार का परित्याग करना चाहिये। सदाचार से इस लोक के और परलोक के सारे सुख उपलब्ध हो जाते हैं।[1] इस तरह पुराण साहित्य में भी यत्र-तत्र सद्आचरण की प्रेरणा दी गई है। व्यास ने तो अष्टादशपुराण का सार ही परोपकार करना बताया है।[2]

तीस प्रकार का आचरण

श्रीमद्भागवत में देवर्षि नारद ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा–"तीस प्रकार का आचरण सभी मानवों के लिये हितावह है। वे तीस लक्षण इस प्रकार हैं–

१. सत्य
२. दया
३. तपस्या
४. शौच
५. तितिक्षा
६. उचित और अनुचित का विचार
७. मन का संयम
८. इन्द्रियों का संयम
९. अहिंसा
१०. ब्रह्मचर्य
११. त्याग
१२. स्वाध्याय
१३. सरलता
१४. सन्तोष
१५. समदर्शिता
१६. महात्माओं की सेवा
१७. सांसारिक भोगों से निवृत्ति
१८. मनुष्य के अभिमानपूर्ण प्रयत्नों का फल उल्टा होता है–ऐसा विचार
१९. मौन
२०. आत्मचिन्तन
२१. प्राणियों को अन्न आदि का यथायोग्य विभाजन
२२. अपने आत्मा तथा इष्टदेव का भाव
२३. भगवान कृष्ण के नाम, गुण, लीला आदि का श्रवण
२४. कीर्तन
२५. उनकी सेवा
२६. पूजा
२७. नमस्कार
२८. उनके प्रति दास्य
२९. सख्य
३०. आत्म-समर्पण"[3]

पुराण साहित्य में कथाओं द्वारा बड़े ही रोचक ढंग से सद्आचरण की पवित्र प्रेरणाएँ दी गई हैं।

---

१. सदाचारेण सिद्ध्येच्च ऐहिकामुष्मिकं सुखम्। –देवीभाग. ११/२४/१००
२. अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥
३. श्रीमद्भागवत् ७/११/८-११

पाण्डव आचार के प्रतीक

वैदिक मनीषियों ने महाभारत को पंचम वेद की संज्ञा प्रदान की है। उसमें पाण्डव सम्यग् आचार के प्रतीक हैं तो कौरव कदाचार के प्रतीक हैं। आरुणि और उपमन्यु की कथाएँ गुरुभक्ति के आदर्श को उपस्थित करती हैं। ययाति ने अष्टक के प्रश्न का समाधान करते हुए कहा–"स्वर्ग के सात द्वार हैं–(१) दान, (२) तप, (३) शम, (४) दम, (५) लज्जा, (६) सरलता, और (७) करुणा।" मार्कण्डेय ऋषि ने पाण्डवों को शिष्टाचार की शिक्षा देते हुए कहा–"शिष्ट पुरुष यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय और सत्य भाषण का व्यवहार करता है तथा काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और उद्दण्डता प्रभृति दुर्गुणों पर विजय वैजयन्ती फहराता है।"

शील का आधार

महाभारत के शान्तिपर्व व अनुशासनपर्व में आचार का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को कहा–"मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी से द्रोह न करना, शक्ति के अनुसार दान देना और वह कार्य करना जिससे सभी प्राणियों का मंगल हो।" प्रस्तुत पर्व में ही इन्द्र और प्रह्लाद की कथा के माध्यम से यह बताया है कि धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मी ये सभी शील के आधार पर ही आधृत हैं।[1]

महाभारत में आचार

महाभारत अनुशासनपर्व के अनुसार सदाचार का स्वरूप इस प्रकार है–जो आचारनिष्ठ व्यक्ति है, वह सूर्योदय से घण्टे भर पहले उठता है, सूर्योदय के समय वह कभी नहीं सोता। मार्ग में हरे-भरे खेत जहाँ लहलहाते हों वहाँ वह मल-मूत्र का विसर्जन नहीं करता। वह पूर्व और उत्तर की ओर मुँह करके भोजन करता है। भोजन के समय न भोजन की निन्दा करता है और न अन्य व्यक्तियों की ही। वह बाँटकर भोजन करता है और अमृतभोजी होता है।[2] वह न्याय से अपनी जीविका चलाता है। माता-पिता और गुरुजनों को आसन, मान, दान देकर उनका सन्मान करता है। वह बड़ों को कभी भी हलके शब्दों से नहीं पुकारता। वह जिस पथ से जा रहा हो, यदि उस मार्ग में–ब्राह्मण, गाय, राजा, वृद्ध, गर्भिणी स्त्री, दुर्बल व्यक्ति और भार उठाने वाला व्यक्ति मिल जाये तो स्वयं मार्ग से हटकर प्रथम उन्हें मार्ग दे। किसी की निन्दा, चुगली और बदनामी न करे। दूसरों को नीचा दिखाने का

---

१. महाभारत–शान्तिपर्व १२४/६२

२. वही २४३/१५

प्रयास न करे। अन्धे, काणे, कुरूप, निन्दित और मूर्ख का भूलकर भी उपहास न करे, और न किसी से वैर-विरोध ही मोल ले। पक्षियों की हिंसा न करे। पुत्रों को श्रेष्ठ-विद्या का अध्ययन करावे, माँस-भक्षण और मदिरा-पान से बढ़कर अन्य कोई बड़ा पाप नहीं है। अतः इनका भूलकर भी उपयोग न करे।

वृद्ध, मित्र, गरीब और सुजनों को आश्रय प्रदान करे। गृहस्थ को स्वदारानिरत, दान्त, अनिन्दक और जितेन्द्रिय होना चाहिये। उसे चाहिये कि न वह अपने घर के लोगों से और न अनुचरों से क्लेश करे।[1]

इस तरह महाभारत में सभी आश्रमों की आचार-संहिता का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। शान्तिपर्व के अध्ययन से तो यह ज्ञात होता है कि जैन आचार के मूलभूत सिद्धान्त ही उसमें झंकृत हो रहे हैं।

● ●

१. स्वदारनिरतो दान्तः ह्यनसूयुर्जितेन्द्रियः।
दुहित्रा दासवर्गेण, विवादं न समाचरेत्॥ —महाभारत–शान्तिपर्व २४४/१४/१६

४. बौद्ध धर्म में आचार का स्वरूप

वैदिक साहित्य–पुराण, स्मृति आदि में संन्यासी की अपेक्षा गृहस्थ का वर्णन अधिक है तथा गृहस्थ अथवा सद्गृहस्थ के आचार का निरूपण ही विशेष विधि-विधानों के साथ किया गया है। किन्तु श्रमण परम्परा–जिसमें बौद्ध व जैन संस्कृति का समावेश है, उसमें त्यागी व श्रमण जीवन पर अधिक बल दिया गया है, यद्यपि श्रमण के साथ गृहस्थ उपासक (श्रावक) के कर्त्तव्यों व आचार-नियमों पर भी विचार किया गया है, किन्तु उसमें भी निवृत्ति का स्वर प्रधान है। श्रमण संस्कृति का लक्ष्य 'त्याग' व निवृत्ति होने के कारण प्रायः विधि-विधानों/मर्यादाओं में भी निवृत्ति भावना ही प्रबल रही है फिर भी प्रवृत्ति को संयत व मर्यादायुक्त बनाने की नैतिक धारणाएँ भी वहाँ विकसित हुई हैं। संक्षेप में हम यहाँ उन सभी पक्षों पर विचार कर रहे हैं।

आचार : विनय

तथागत बुद्ध ने भी श्रमण-जीवन पर अत्यधिक बल दिया। सांसारिक स्नेह-जाल से मुक्त होने के लिए श्रमण-जीवन आवश्यक है। श्रमणों के लिए जो आचार-संहिता निर्माण की गई वह 'विनय' के नाम से विश्रुत हुई। विनयपिटक में श्रमणों के विधि-विधानों का ही निरूपण है। संबोधि प्राप्त होने के पश्चात् बुद्ध ने सर्व प्रथम पंचवर्गीय भिक्षुओं को धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने उन भिक्षुओं को मध्यममार्ग और चार आर्यसत्य का परिज्ञान कराया। पंचवर्गीय भिक्षुओं ने बुद्ध से प्रव्रज्या और उपसंपदा प्रदान करने के लिए निवेदन किया।

धर्म-प्रचार

बुद्ध ने कहा–"भिक्षुओ ! धर्म सुव्याख्यात है दुःखों को क्षय करने के लिए अच्छी तरह से ब्रह्मचर्य का पालन करो।" गृहस्थों को भी प्रव्रज्या प्रदान की। उसके पश्चात् वाराणसी में अन्य श्रेष्ठि-पुत्रों ने बुद्ध से प्रव्रज्या के लिए प्रार्थना की, उन्हें भी बुद्ध ने दीक्षा दी। जब बुद्ध के संघ में इकसठ (६१) भिक्षु हो गये तब बुद्ध के अन्तर्मानस में धर्म-प्रचार की भावना उद्‌बुद्ध हुई। उन्होंने भिक्षुओं को सम्बोधित कर कहा–"भिक्षुओ ! बहुजन के हित के लिए, सुख के लिए, लोक पर अनुकम्पा करने के लिए, देवताओं और मानवों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के

लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। ..... धर्म का उपदेश दो। परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करो।" इस प्रकार धर्म को श्रवण कर वे सभी धर्मज्ञ हो गये।[1]

विनय विकास के बढ़ते चरण

बुद्ध ने प्रव्रज्या और उपसंपदा देने का अधिकार देकर भिक्षुओं को विविध दिशाओं में धर्म-प्रचारार्थ प्रेषित किया। उपसंपदा की विधि इस प्रकार थी–प्रथम साधक के सिर और दाढ़ी का मुंडन करवाया जाता। उसे काषाय वस्त्र धारण करवाया जाता। वह कंधे पर वस्त्र रखकर भिक्षुओं को पाद-वन्दना करता। उक्कुडू आसन से बैठकर अंजलि से नमस्कार करता हुआ, तीन बार यह निवेदन करता– "बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि" बुद्ध के विनय के विकास का यह द्वितीय चरण था।

धीरे-धीरे बुद्ध के संघ में भिक्षुओं की संख्या बढ़ने लगी। जब बुद्ध संघ में १,५०० भिक्षु हो गये। बुद्ध ने देखा भिक्षुगण अनुशासनहीन हो रहे हैं तो बुद्ध ने अपने प्रमुख भिक्षुओं को उपाध्याय पद प्रदान किया। विनयपिटक के महावग्ग में उपाध्याय और उनके शिष्यों के क्या कर्त्तव्य हैं, इसका उल्लेख है। उपाध्याय का यह कर्त्तव्य है कि वह शिष्यों को उपदेश दे, पात्र दे, चीवर दे, वे यदि रोगग्रस्त हो जायें तो उनकी परिचर्या करे। इसी तरह शिष्य भी उपाध्याय के प्रति पूर्ण निष्ठावान रहे। उसमें पाँच गुण होने चाहिए–(१) उपाध्याय के प्रति उसमें प्रेम हो, (२) श्रद्धा हो, (३) लज्जाशील हो, (४) गौरव प्रदान करने वाला हो, (५) ध्यान आदि में अधिक रुचि रखने वाला हो। उपाध्याय को कल्याणमित्र माना है। उसके जीवन के कण-कण में संघ के प्रति कल्याण की भावना होती है। बुद्ध के विनय के विकास का यह तृतीय चरण था।

उपसंपदा का विधान

परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण बुद्ध को उपसंपदा के नियमों में परिवर्तन करना पड़ा। उन्होंने 'ज्ञप्ति', 'अनुश्रावण' और 'धारणा' के द्वारा उपसंपदा का विधान किया। जिसके अन्तर्मानस में भिक्षुधर्म धारण करने की भावना अँगड़ाइयाँ ले रही हो, वह व्यक्ति संघ को यह ज्ञापित करे–

---

१. चरथ भिक्खवे चारिकां बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, लोकानुकम्पाय, हिताय, सुखाय देवमनुस्सानं। मा एकेन द्वे अगमित्थ। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं ..... धम्मस्स अञ्ञातारो– —महावग्ग, पृ. २३

ज्ञप्ति–"भंते ! संघ मेरी बात को श्रवण करे, मेरा अमुक नाम है, मैं अमुक नाम के उपाध्याय से उपसंपदा ग्रहण करना चाहता हूँ, यदि संघ मुझे योग्य समझे तो उपाध्याय के श्रीचरणों में उपसंपदा की अनुज्ञा प्रदान करे।"

अनुश्रावण–भंते ! उपसंपदापेक्षी अमुक व्यक्ति अमुक उपाध्याय के पास उपसंपदा ग्रहण करने की अभ्यर्थना कर रहा है, जिन्हें यह बात स्वीकार है वह मौन रहें और जिन्हें स्वीकार नहीं है वे स्पष्ट कहें, जिससे परिज्ञात हो सके। इस प्रकार वह इसे तीन बार दुहराये।

धारणा–संघ को स्वीकार है, एतदर्थ ही सभी मौन हैं। यह मेरा स्पष्ट अभिमत है।[१]

जहाँ तक भिक्षु बनने का इच्छुक व्यक्ति उपसंपदा के लिए निवेदन न करे वहाँ तक उस व्यक्ति को उपसम्पन्न नहीं किया जा सकता। उपसंपदा प्रदान करने के पूर्व, उस व्यक्ति को यह स्पष्ट सूचित करना चाहिए कि तुम्हें चार निश्रयों अर्थात् जीविका के साधना का पालन करना होगा। वे ये हैं–

(१) भिक्षा माँगना होगा, और पुरुषार्थ करना होगा।

(२) श्मशान आदि में पड़े हुए चीथड़ों को ग्रहण कर चीवर तैयार करना होगा। यों क्षौम, कापासिक, कौशेय व कम्बल आदि वस्त्र भी धारण किये जा सकेंगे।

(३) वृक्ष के नीचे निवास करना। यों विहार, आढ्ययोग, प्रासाद, हर्म्य, गुफा आदि में भी रह सकोगे।

(४) गोमूत्र की औषधि को भी ग्रहण करना होगा। यों घी, मक्खन, तेल, मधु, शक्कर आदि भी ग्रहण किये जा सकेंगे।

मूलतः ये चार निश्रय थे। कालक्रम के अनुसार उस विधान में कुछ छूट दी गई। यह बौद्ध विनय के विकास का चतुर्थ चरण है।

शनैः-शनैः उपसंपदा के नियमों व विधानों में घटना विशेष के कारण परिवर्तन होते गये। उपसंपदा ग्रहण करने वाला व्यक्ति कम से कम दस वर्ष की उम्र वाला होना आवश्यक था। उपाध्याय के अभाव में आचार्यपद की भी अनुमति प्रदान की गई और यह स्पष्ट आदेश दिया गया कि आचार्य और शिष्य में पिता-पुत्र की भाँति स्नेह सम्बन्ध होना चाहिए।

---

१. देखिए–बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ. २११-२१२, डॉ. भागचन्द जैन, प्रकाशक–आलोक प्रकाशन, नागपुर, सन् १९७२

उपसम्पदा का अधिकारी

जो व्यक्ति कुष्ठरोग से ग्रसित हो, चर्मरोग से उत्पीड़ित हो, सूजन, मृगी आदि भयंकर बीमारियों से संत्रस्त हो, वह व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए अयोग्य माना गया। साथ ही ऐसे व्यक्ति भी उपसंपदा के लिए अयोग्य माने गये जो डाकू, चोर, ऋणी, दास, राजदण्ड आदि के अपराधी हों। पहले उपसम्पदा पाने वालों की अवस्था दस वर्ष की विहित की गई, उसके पश्चात् उपसंपदा ग्रहण करने वाले की अवस्था बीस वर्ष की कर दी गई और श्रामणेर (सामणेर) की अवस्था पन्द्रह वर्ष की कर दी गई।

दस शिक्षाएँ

श्रामणेर के लिए दस शिक्षा-पदों का पालन करना आवश्यक माना गया। वे शिक्षा-पद ये हैं–(१) प्राणातिपात, (२) अदिन्नादान, (३) मृषावाद, (४) सुरामेरय-मज्जप्पमादट्ठान, (५) विकालभोजन, (६) नच्चगीतवादित्त विकूसदस्सन, (७) मालागंधविलेपनधारणमण्डन, (८) विभूसनट्ठान, (९) उच्चासयन महासयन, (१०) जातरूपरजतपरिग्गहण।

उपसंपदा के लिए अयोग्य व्यक्ति

उन श्रामणेरों को दण्ड प्रदान किया जाता जो भिक्षुओं के लिए अलाभ, अनर्थ, आवास, निन्दा व संघर्ष समुत्पन्न करते थे। इनके अतिरिक्त प्राणि-हिंसा, तस्कर, कृत्य, अब्रह्मसेवन, असत्य भाषण, मद्यपान और बुद्ध संघ की निन्दा करते थे उन्हें भी दण्ड दिया जाता था। उपसंपदा के लिए पहले जिन व्यक्तियों को अयोग्य माना गया था। उस सूची में अन्य अयोग्य व्यक्तियों के नाम और बढ़ा दिये गये। वे ये हैं–

नपुंसक-पण्डक, अन्य तीर्थगामी, मातृ-पितृ व अर्हत् हन्ता, स्त्री और पुरुष इन दोनों ही लिंग वाला, पात्ररहित, चीवररहित, कटे हुए हाथ, पैर, कान, नाक व अँगुलियों वाला, कुबड़ा, बौना, अशुभ लक्षणों वाला, लूला, लँगड़ा, पक्षाघाती, ईर्यापथरहित, जराग्रस्त, अंधा, बहिरा आदि।

प्रव्रज्या के लिए माता-पिता की अनुमति आवश्यक मानी गई। जब उपसंपदा प्रदान की जाती उस समय उसके उपाध्याय का नाम भी पूछा जाता था। ज्ञप्ति, अनुश्रावण, धारणापूर्वक उपसंपदा कर्म भी किया जाता था।

यह बौद्ध विनय के विकास का पाँचवाँ चरण था। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक चरण के अन्तस्तल में घटनाएँ रही हुई हैं। उन्हीं घटनाओं के आधार पर नियमों में

परिवर्तन होता रहा। पर भगवान महावीर की आचार-संहिता में इस प्रकार घटनाओं को लेकर नियमोपनियमों में परिवर्तन नहीं हुआ है, जैसा कि बुद्ध संघ में हुआ।

उपोसथ

जैन परम्परा में चतुर्दशी, पूर्णमासी और अष्टमी आदि को एक स्थान पर एकत्रित होकर उपासक धार्मिक साधना किया करते थे। श्रेणिक बिम्बसार ने तथागत बुद्ध से निवेदन किया जिसके कारण तथागत ने अपने संघ में उपोसथ का प्रचलन किया। उपोसथ के दिन भिक्षुगण एकत्रित होकर 'पातिमोक्ख'–यानी भिक्षु जीवन के विविध नियमों की आवृत्ति करें। महावग्ग ग्रन्थ में अन्य कुशल धर्मों से पातिमोक्ख को अधिक महत्त्व दिया गया है। पातिमोक्ख के लिए किसी विहार, प्रासाद, हर्म्य, गुफा आदि को निश्चित किया जाता था, जहाँ पर सभी भिक्षु स्थविर भिक्षु के सन्निकट उपोसथ के लिए आते। उपोसथ के चार कर्म हैं–

(१) संघ के कितने ही भाग का धर्मविरुद्ध उपोसथ कर्म करना।

(२) समग्र संघ का धर्मविरुद्ध उपोसथ करना।

(३) कितने ही भाग का धर्म के अनुकूल उपोसथ करना।

(४) समग्र संघ का धर्म के अनुकूल उपोसथ करना।

इन चार भागों में अन्तिम कर्म विधेय माना गया है।

पातिमोक्ख

पातिमोक्ख और उपोसथ में परस्पर सम्बन्ध है, जिसके कारण उपोसथ के दिन पातिमोक्ख किया जाने लगा। पातिमोक्ख में पाँच कर्म थे। वे इस प्रकार हैं–

(१) निदान का पाठ करना।

(२) निदान और पाराजिकों का पाठ करना।

(३) निदान, पाराजिक और संघादिशेषों का पाठ करना।

(४) निदान, पाराजिक, संघादिशेष और अनियत धर्मों का पाठ करना।

(५) विस्तार के साथ पातिमोक्ख का पाठ करना।

चोर, अग्नि व उदक का उपद्रव होने पर, मानव और मानवेतर हिंसक प्राणियों का संकट उपस्थित होने पर, ब्रह्मचर्य के नष्ट होने की स्थिति होने पर पातिमोक्ख का पाठ अत्यन्त संक्षेप में भी किया जा सकता था। यदि किसी भिक्षु ने

भिक्षु-मर्यादा के विरुद्ध कार्य किया हो तो चार-पाँच भिक्षु मिलकर उस भिक्षु की भर्त्सना करते और यह कहते कि आपका प्रस्तुत कार्य भिक्षु-जीवन की मर्यादा के अनुकूल नहीं है। पातिमोक्ख की आवृत्ति उसी भिक्षु के सामने की जाती जो भिक्षु समर्थ व प्रतिभा-सम्पन्न होता। उस परिषद् में किसी भी गृहस्थ का प्रवेश वर्जित था।

उपाध्याय की अनुमति

यदि कोई भिक्षु लम्बी यात्रा करना चाहता तो उस भिक्षु को उपाध्याय की अनुमति लेनी आवश्यक थी। यदि किसी स्थान पर बहुश्रुत, आगमज्ञ, धर्मधर, विनयधर, मात्रिकाधर, भिक्षु आये तो उस भिक्षु की सेवा करना वहाँ पर अवस्थित श्रमण का परम कर्त्तव्य है। सभी भिक्षुओं को उपोसथ या संघकर्म में सम्मिलित होना चाहिए। यदि कोई भिक्षु रुग्ण हो, उस भिक्षु के पारिवारिक जन उस भिक्षु को पुनः ले जाना चाहें या राजा, तस्कर आदि कोई भी उसे पकड़कर ले जाये तो उस भिक्षु को चाहिए कि वह अपनी परिशुद्धि संघ के समक्ष प्रस्तुत करे। यदि यह सम्भव न हो तो एक भाग को उपोसथ नहीं करना चाहिए। यदि कोई भिक्षु उन्मत्त हो गया है तो उसके अभाव में भी संघ उपोसथ करे यह प्रस्ताव पहले आना आवश्यक है और साथ ही वैधानिक है।

उपोसथ कर्म के लिए चार व्यक्ति आवश्यक हैं पर कारण-विशेष से चार व्यक्ति उपस्थित न हो सकें तो दो व्यक्ति भी चल सकते हैं। उन्हें परस्पर "परिसुद्धो अहं आवसो, परिसुद्धो तिमं धारेथ।" यह वाक्य तीन बार दुहराना होगा। यदि अकेला ही भिक्षु है तो उसे उपोसथ करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिए। यदि नियम-विरुद्ध किसी भी प्रकार स्खलना हो गई हो तो उसे स्वीकार कर "भविष्य में उस दोष की पुनरावृत्ति नहीं करूँगा" इस प्रकार दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिए। यदि किसी विहार में चार से अधिक भिक्षु हों तो उन्हें उपोसथ के दिन एकत्र होकर 'पातिमोक्ख' का पाठ करना चाहिए। सन्देह, संकोच, कटूक्तिपूर्ण या अनुपस्थिति में बिना जाने किया गया उपोसथ सदोष होता है। उन दोषों का परिहार कर पुनः 'पातिमोक्ख' करना चाहिए। उपोसथ के दिन आवास का परित्याग नहीं करना चाहिए, यदि विशेष परिस्थिति में आवास का परित्याग करना हो तो भिक्षुओं को ऐसे स्थान पर जाना चाहिए जहाँ पर स्वधर्मी भिक्षु हों और उसी दिन वहाँ पर पहुँच सके।

'पातिमोक्ख' की आवृत्ति उस परिषद में करनी चाहिए जहाँ पर भिक्षुणी, शिक्षमाणा, सामणेर, सामणेरी, पाराजिकदोषी, पापदिट्ठीगत, तीर्थिकगत, मातृपितृघातक, अर्हद्घातक, भिक्षणीदूषक, पण्डग, संघभेदक, प्रभृति व्यक्ति उपस्थित न हों। उपोसथ की सम्पूर्ण क्रिया एक ही दिन में पूर्ण होना आवश्यक था।

इस तरह उपोसथ और पातिमोक्ख का यह विधान बौद्धविनय के विकास का छठा चरण है।

वर्षावास

जीवों की रक्षा के लिए और यातायात की सुविधा के लिए वर्षावास का विधान बौद्ध धर्म में भी किया गया। पहले जैन श्रमणों की तरह बौद्ध भिक्षु एक स्थान पर वर्षावास नहीं करते थे और न हरियाली के स्पर्श से ही बचते थे। बुद्ध के सामने जब यह बात आई तो उन्होंने वर्षावास का विधान किया।[1] वह वर्षावास आषाढ़ी पूर्णिमा (श्रावणी पूर्णिमा) के द्वितीय दिन से प्रारम्भ होता था और भिक्षु तीन माह तक एक स्थान पर अवस्थित रहता। वर्षावास के सम्बन्ध में कुछ अपवाद भी थे। वे ये थे–यदि कहीं पर भिक्षु, भिक्षुणी, शिक्षमाणा, सामणेर, सामणेरी, उपासक, उपासिका या विहार आदि के लिए कहीं दान से प्राप्त करने की आशा हो या भिक्षु के पुत्र-पुत्री का विवाह हो तो वह एक सप्ताह के लिए बाहर जा सकता है। विनयपिटक में अन्य अनेक कारण भी बताये हैं, जैसे–कोई-कोई भिक्षु रोग से संत्रस्त हो, अनभिरति कौकृत्य, मिथ्यादृष्टि आदि का प्रसंग उपस्थित हो तो वह बिना सन्देश के भी सहायता हेतु जा सकता है।

निम्न कारण समुपस्थित होने पर वर्षावास में भिक्षु अन्य स्थान पर जा सकता है–वन्यपशु का उपद्रव होने पर, सरिसृप, तस्कर, पिशाच, अग्नि, जल का भय उत्पन्न होने पर, आहार की अनुकूलता नहीं होने से, गणिका, स्थूलकुमारी, पण्डग, ज्ञातिजन, भूपति आदि यदि भिक्षु को आह्वान करें। संघ में भेद समुत्पन्न हो रहा हो तो उसे रोकने के लिए।

भिक्षु को निम्न स्थानों पर वर्षावास नहीं करना चाहिए–(१) वृक्ष कोटर, (२) वाटिका, (३) अध्याकाश, (४) अशयन, (५) शवकुटिका, (६) छत्रवास, (७) चाटीवास आदि में।

प्रवारणा

वर्षावास से पश्चात् भिक्षु संघ एकत्रित होता और अपने कृत अपराधों/दोषों के सम्बन्ध में गहराई से निरीक्षण करता कि हमारे जीवन में प्रस्तुत वर्षावास में क्या-क्या दोष लगे हैं, यही प्रवारणा कहलाती थी। इसमें इष्ट श्रुत, परिशंकित, अपराधों का परिमार्जन किया जाता। जिससे परस्पर विनय का अनुमोदन होता।[2]

---

१. महावग्ग–विनयपिटक, पृष्ठ ५४४

२. अनुजानामि भिक्खवे, वस्सं, वुट्ठानं, भिक्खूनं तीहि ठानेहि पकारेतु दिट्ठेन वा सुत्तेन वा परिसंकाय वा। सा वो भविस्सति अञ्ञमञ्ञानुलोमता आपत्तिवुट्ठानता विनयपुरेक्खा रता।
–*महावग्ग, पृ. १६७*

प्रवारणा की विधि इस प्रकार थी–प्रमुख भिक्षु संघ को यह सूचित करता कि आज प्रवारणा है। सर्वप्रथम स्थविर भिक्षु उत्तरासंग को अपने कंधे पर रखकर कुक्कुड आसन से बैठता, हाथ जोड़कर संघ से यह निवेदन करता कि मैं इष्ट, श्रुत और परिशंकित अपराधों की आपके सामने प्रवारणा कर रहा हूँ। संघ मेरे अपराधों को बताए। मैं उनका स्पष्टीकरण करूँगा। वह इस बात को तीन बार दुहराता है। उसके बाद उनसे छोटा भिक्षु, क्रमशः सभी भिक्षु दुहराते हैं अपने अपराधों को। इस तरह प्रवारणा से पाक्षिक व वार्षिक शुद्धि की जाती है। प्रवारणा चतुर्दशी और पूर्णिमा को की जाती। पहले कम से कम पाँच भिक्षु प्रवारणा में आवश्यक माने जाते थे। उसके बाद चार, तीन, दो और अन्त में एक भिक्षु भी प्रवारणा कर सकता है, यह अनुमति दी गई। विशेष स्थिति में प्रवारणा बहुत ही संक्षेप में और अन्य समय में भी की जा सकती थी। वर्षावास और प्रवारणा के प्रस्तुत विधान को हम बौद्ध विनय के विकास का सप्तम चरण कह सकते हैं।

उपानह

विनयपिटक में यह विधान प्राप्त होता है कि भिक्षु केवल एक तल्ले वाला जूता धारण कर सकता है। पर बाद में चलकर अनेक तल्लों वाले जूतों के धारण करने की अनुमति दी गई। बौद्ध-विहार में भी भिक्षु उपानह, मशाल, दीपक, दण्ड आदि रख सकता था। उनके लिए काष्ठ, ताड़पत्र, बाँस, तृण, मूँज, बल्वज, हिंताल, कमल, कम्बल आदि से निर्मित पादुकाएँ होती थीं। भिक्षुओं के लिए उन पादुकाओं का निषेध किया गया जिनमें स्वर्ण, चाँदी प्रभृति विविध धातुओं का उपयोग हो और मोती आदि विविध प्रकार के रत्न लगे हुए हों।

वाहन और आसन

सामान्य रूप से बौद्ध भिक्षुओं के लिए वाहन का उपयोग निषिद्ध था। पर जो भिक्षु रुग्ण होते उन भिक्षुओं के लिए मानव द्वारा उठाई जाने वाली शिविका व पालखी और हस्तीयान के उपयोग की छूट दी गई और अन्य जितने भी प्रकार के वाहन थे उनका निषेध किया। सिंह, व्याघ्र, चीते आदि के चर्म से निर्मित वस्तुएँ भिक्षु धारण न करे, यह स्पष्ट आदेश दिया गया, इस आदेश के पीछे प्राणी-वध की विचारधारा कार्य कर रही थी। जब भिक्षु सीमान्त प्रदेशों में विहरण करने लगे तो पूर्व के नियमों में शिथिलता आ गई।

भैषज्य

बौद्ध भिक्षु प्रातःकाल और सायंकाल घृत, नवनीत, तैल, मधु और शर्करा ये पाँचों पदार्थ ग्रहण कर सकते थे। रीछ, मछली, शूकर, गधे आदि की चर्बी से

निर्मित पदार्थ तथा नीम, कुटज, तुलसी आदि जड़ी-बूटियों से निर्मित औषधियाँ भी ग्रहण कर सकते थे। एक सप्ताह से अधिक घी, मक्खन, मधु, तैल आदि पदार्थ भिक्षु नहीं रख सकते थे। बौद्ध-विहार में निर्मित और स्वयं भिक्षु द्वारा तैयार किया हुआ भोजन भिक्षुओं के लिए निषिद्ध था। पर भयंकर दुष्काल में इन नियमों में भी शिथिलताएँ आ गईं। बौद्ध श्रमण माँसाहार का उपयोग करते थे, पर मानव का माँस, हाथी, घोड़ा, कुक्कुर, सर्प, व्याघ्र, भाल, लक्कड़वक्का प्रभृति पशुओं का माँस निषिद्ध था। माँस भी 'तिकोटि परिशुद्ध' होना चाहिए। भिक्षु के उद्देश्य से बनाया हुआ माँस तथा अदृष्ट, अश्रुत, अपरिशंकित माँस भी अग्राह्य माना गया।[1]

पहले बौद्ध भिक्षु एक स्थान से दूसरे स्थान पर यात्रा करते समय अपने साथ भोजन नहीं रखते थे जिसे पाथेय कहते हैं किन्तु बाद में जंगलों में यात्रा करते समय भिक्षु तन्दुल, नवनीत, गुड़, उड़द, मूँग, घृत, तैल आदि वस्तुएँ पाथेय के रूप में रखने लगे। फलों व पुष्पों के रस को ग्रहण करने की भी अनुमति प्रदान की गई।[2] इस तरह यह बौद्ध विनय के विकास का आठवाँ चरण है।

चीवर

वर्षावास सम्पन्न होने के पश्चात् कितने ही पाठेय्यक तथागत बुद्ध के दर्शन के लिए श्रावस्ती पहुँचते। उनके वस्त्र वर्षा हो जाने से गीले हो जाते। उन गीले वस्त्रों को निहारकर बुद्ध ने कठिन चीवर का विधान बनाया। कठिन चीवर वर्षावास के बाद संघ की सम्मति से किसी श्रमण के सम्मान के लिए दिया जाता था। और जिसे वह दिया जाता उस भिक्षु के लिए पाँच बातें विहित थीं। वे ये हैं–(१) बिना आमंत्रण के विचरना, (२) बिना तीनों चीवर लिए विचरना, (३) गणभोजन, (४) इच्छानुसार चीवर ग्रहण करना, (५) वह चीवर उसी का होगा।

जीवक वैद्य ने बुद्ध का उपचार किया था। उसने राजा प्रद्योत के द्वारा प्राप्त बहुमूल्य दुशाले को बुद्ध को समर्पित किया। इसी तरह बुद्ध को गृहपति ने कौशेय व कोजव (कम्बल) समर्पित किया था। उसके बाद बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को क्षोम, कपास, कौणेय, कम्बल, शान, भंग–ये पाँच प्रकार के चीवर ग्रहण कर सकते हैं, यह अनुमति प्रदान की। यह बौद्ध विनय के विकास का नौवाँ चरण है।

जब बुद्ध का संघ जनप्रिय हो गया। बुद्ध के संघ के प्रति अनेक श्रेष्ठीगण व राजागण निष्ठावान बन गये तब चीवर की उपलब्धि अत्यधिक सरल हो गई। तब बुद्ध ने चीवर वितरण के लिए एक भिक्षु को नियुक्त किया। यदि चीवर दो वर्ण

---

१. विनयपिटक–महावग्ग, पृ. २५३ २. विनयपिटक–महावग्ग, भेसज्जक्खन्दक

वाला हो तो उसे मूलस्कन्ध, त्वक्, पत्र, पुष्प और फल के रंगों से रँगते। रँगने के लिए बर्तन की आवश्यकता हुई अतः बर्तन रखने की भी अनुमति दी गई। अधिक चीवर भिक्षु न रखे इसलिए चीवर की मर्यादा की गई। भिक्षु अधिक से अधिक तीन चीवर रख सकता था। दोहरी संघाटी, एकहरा उत्तरासंग, एकहरा अन्तरावासक के अतिरिक्त अन्य चीवर विकल्प से रख सकता था। पुराने वस्त्र अधिक भी रखे जा सकते थे। मृगारमाता विशाखा बुद्ध संघ के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थी। वह प्रति वर्ष भिक्षुओं को साटिका, नवागन्तुक-भोजन, गमिक-भोजन, रोगी-भोजन, रोगी परिचारक-भोजन, रोगी-भैषज, यवागु प्रदान करती थी। भिक्षुणियों को वह विशेष रूप से उदकसाटी देती थी। अतः बुद्ध ने अपने भिक्षु संघ को इन वस्तुओं के ग्रहण की अनुमति दे दी। साथ ही प्रत्यस्तरण (बिछाने का आसन), प्रतिच्छादन (कोपिन), मुखपुञ्छन (रूमाल) और परिष्कारक चोलक रखने की भी अनुमति दी। किन्तु नीले, पीले, लाल, काले, हरे, अत्यन्त लाल, मजीठ रंगीय आदि रंग-विरंगे वस्त्र न रखने का विधान किया गया।[1]

दण्ड विधान

भिक्षु कभी भी निर्दोष भिक्षु को उत्क्षिप्त न करें। यदि प्रमाद से कभी उत्क्षिप्त कर दिया हो तो अपराध को स्वीकार करते। सामान्य रूप से (१) धर्म कर्म, (२) वर्ग कर्म, (३) समग्र कर्म, (४) धर्मप्रतिरूपक वर्ग कर्म, (५) धर्मप्रतिरूपक समग्र कर्म, (६) धर्मसमग्र कर्म–ये छह प्रकार हैं। बौद्ध भिक्षु संघ पाँच प्रकार का है–चार, पाँच, दस, बीस और उससे अधिक भिक्षुओं का संघ। जो चतुर्वर्ग भिक्षु संघ था वह उपसंपदा, प्रवारणा और आह्वान का परित्याग कर धर्मसमग्र होकर अन्य सभी कर्म कर सकता था। पंचम वर्ग भिक्षुओं का संघ आह्वान और मध्यम जनपदों में उपसम्पदा का त्याग कर देता था। दशवर्ग भिक्षु-संघ आह्वान का परित्याग करता था। बीस वर्ग और उससे अधिक संख्या वाला भिक्षु-संघ धर्मसमग्र होकर सभी कर्म कर सकते थे। संघ के बीच, उन्मत्त, तीर्थिगत, मातृ-पितृहन्ता, भिक्षुओं को प्रतिक्रोशन नहीं दिया जाता था किन्तु जो भिक्षु प्रकृतिस्थ होते उन्हें प्रतिक्रोशन दिया जाता था। भिक्षु को संघ से निष्कासित करने के लिए, सुधारने के लिए नियमोपनियम थे और उन नियमों का भंग होने पर क्षमायाचना का भी विधान था।[2]

संघ में यदि परस्पर कलह समुत्पन्न हो तो ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणा-पूर्वक छन्द के माध्यम से संघभेद का उपशमन करता है।[3] छन्द के समय भिक्षणो,

---

१. विनयपिटक–चीवर खन्दक
२. वही
३. विनयपिटक–कोसम्बकखन्दक

शिक्षमाणा, सामणेर, सामणरी से भी वर्ग की पूर्ति की जाती थी। तथागत बुद्ध के जीवनकाल में ही बौद्ध संघ में भेद चालू हो गया था। देवदत्त पण्डक, लौहितक प्रभृति भिक्षुओं के जीवन-प्रसंग इस तथ्य के साक्षी हैं। तर्जनीय व्यक्ति वह है जो कलह-प्रिय, अनाचारी, निन्दक और मिथ्यादृष्टियुक्त हो, उस भिक्षु के तर्जनीय कर्म को क्षमा नहीं किया जा सकता था। जो उपसंपदा प्रदान करता हो, निश्रय देता हो, सामणेर से सेवा करवाता हो, भिक्षुणियों को उपदेश प्रदान करता हो, कर्म की निन्दा करता हो, उपोसथ और प्रवारणा स्थगित करता हो, उसे भी क्षमा नहीं किया जा सकता था। नियससकर्म का दण्ड विधान भी इसी तरह का था। प्रव्राजनीय कर्म (संघ-निष्कासन) अश्वजित और पुनर्वसु भिक्षु के पापमयी अनाचारों से प्रारम्भ हुआ था। जो भिक्षु पारिवासिक दण्ड प्राप्त हो, उसे उपसंपदा, निश्रय प्रभृति नहीं दिया जाता, जिस भिक्षु ने दण्ड ग्रहण नहीं किया हो, उसके साथ रहने का निषेध था। शुक्र-परित्याग करने पर छह दिन का मानत्व दण्ड प्रदान किया जाता। यदि भिक्षु इस कार्य को एक पक्ष तक गोपनीय रखता, तो एक पक्ष का उसे मानत्व दण्ड दिया जाता। संघादिशेष के दोष होने पर शुद्धान्त-परिवास दिया जाता। कितने ही ऐसे पापकृत्य थे, जिनका आचरण करने पर भिक्षु को मूल से प्रतिकर्षण किया जाता था। स्खलना होने पर स्मरण कर लेना स्मृति-विनय है। स्मृति-विनय से भिक्षु दोष से मुक्त होकर धर्म से समग्र हो जाता। उन्मत्त अवस्था पर अमूढ़ विनय की व्यवस्था थी। इसी तरह प्रतिज्ञातकरण (स्वीकार) यत् भूयसिक (बहुमत से उपशमन) तत्पापीयसिक और तिण्णवत्थारक (तृण जैसा आवृत कर देना)–ये छह विनय भी प्रचलित थीं। भिक्षु-भिक्षुणियों में विभिन्न विषयों पर विवाद होने पर बुद्ध ने विवाद, अनुवाद, आपत्ति कृत्य–ये चार अधिकरण बताये।

स्नान आदि

तथागत बुद्ध ने स्नान आदि के भी नियम बनाये और उन्होंने कहा–स्नान करने के लिए गन्धर्व, हस्त, चूर्ण आदि का उपयोग नहीं करना चाहिये। केश कंघी, दर्पण, लेप, नृत्य, गीत, लौमी ऊन, महार्घ चन्दन आदि–रखने का निषेध था। कैंची, सूचिका, नालिका, किन्न, सिपाटिका (गोंद) आदि भिक्षु रख सकता था। बुद्ध संघ में लसुण आदि खाने का निषेध ..... था, और तिरिधान विद्याओं का अध्ययन भी निषिद्ध था। तथागत ने कहा–मेरे वचनों को संस्कृत में न लिखा जाये, किन्तु उन्हें अपनी भाषा मागधी में ही स्मरण करें।[1]

---

१. न भिक्खवे बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेतब्बं, यो आरोपेय्य, आपत्ति, दुक्करस्स। अनुजानामि, भिक्खवे सकाय निरुत्तया बुद्धवचनं परियापुणितु। *–चुल्लवग्ग, खुद्दकत्थुक्खन्धक (हिन्दी)*

विहार

बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि प्रारम्भ में बौद्ध भिक्षुओं के लिये जंगल में, वृक्षों के नीचे, गुफाओं में, श्मशान आदि में रहने का विधान था। किन्तु बाद में तथागत बुद्ध ने विहार, अड्ढायोग, प्रासाद, हर्म्य, गुफा आदि में रहने की मान्यता दी। और वहाँ पर किस प्रकार का द्वार होना चाहिये, किस प्रकार गवाक्ष, शय्या, आसन, दीवाल की रँगाई, भित्तिचित्र, सीढ़ियाँ, मंचपीठ पर बैठने का आसन, उपस्थानशाला, अध्ययन स्थान आदि के सम्बन्ध में भी विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया गया। द्वादशविध कर्मचारियों का भी वर्णन मिलता है–(१) भक्त उद्देशक, (२) शयनासन प्रज्ञापक, (३) भाण्डागारिक, (४) चीवर भाजक, (५) यवाहुकगुभाजक, (६) फलभाजक, (७) खाद्यभाजक, (८) अल्पमात्र विसर्जक, (९) शाटिकग्रहापक, (१०) आरामिक, (११) प्रेषक, (१२) सामणेर प्रेषक।[1]

व्रत

व्रतस्कन्धक में भिक्षुओं की व्रत-संहिता का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। शिष्य का आचार्य और उपाध्याय के प्रति क्या कर्त्तव्य है। इस पर प्रकाश डालते समय बौद्ध धर्म की अपूर्व विशेषताओं पर चिन्तन करते हुए लिखा है–यह संघ विराट् समुद्र की तरह गम्भीर व स्थिर है। इस संघ में आचार से च्युत भिक्षु को निष्कासित करने का विधान है। प्रव्रज्या लेने पर भिक्षु को पूर्व नाम का परित्याग करना चाहिये, धर्म विनयवाला है, विनय में धर्म है, विनय में अनेक गुण रहे हुए हैं। सामान्य रूप से आचार से च्युत होने पर पातिमोक्ख को स्थगित नहीं करना चाहिये पर पाराजिक-दोषी, शिक्षाप्रत्यास्थानिक, धार्मिक सामग्री प्रत्यादानक आदि ऐसे विशिष्ट दोष हैं, जिनके कारण पातिमोक्ख को स्थगित किया जाता है।

महिला दीक्षा–तथागत बुद्ध महिला वर्ग को दीक्षा दी जाय इस पक्ष में नहीं थे। आनन्द के अत्यधिक आग्रह पर उन्होंने दीक्षा के लिये अनुमति दी, पर साथ नियम भी बनाये–(१) पुरानी उपसम्पन्न भिक्षुणी को नये उपसम्पन्न भिक्षु का भी अभिवादन और सत्कार करना, (२) धर्म-श्रवण के लिये भिक्षु का उपगमन करना, (३) प्रतिपक्ष भिक्षु संघ से उपोसथ की पर्येषणा करना, (४) वर्षावास सम्पन्न होने पर भिक्षुणी को दोनों संघों में दृष्ट, श्रुत और परिशंकित, स्थानों से प्रवारणा करना, (५) गुरु धर्म स्वीकृति-सम्पन्न भिक्षुणी को दोनों संघों में पक्षमानता करनी, (६) भिक्षुणी दोनों संघों से उपसंपदा ग्रहण करे, (७) भिक्षु को भिक्षुणी

---

१. चुल्लवग्ग, सेनक्खन्धक

आक्रोशात्मक शब्दों का प्रयोग न करे, (८) भिक्षुणियाँ भिक्षु को कुछ भी नहीं कह सकती थीं किन्तु भिक्षु भिक्षुणियों को कह सकता था।

इतने कठोर नियम बनाने पर भी बुद्ध के मानस में शान्ति नहीं थी। उन्होंने दुःखी हृदय से आनन्द से कहा–"आनन्द ! नारियाँ प्रव्रज्या ग्रहण न करतीं तो ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता, जो सद्धर्म हजार वर्ष तक रहने वाला था। अब वह पाँच सौ वर्ष तक ही ठहरेगा।"[1] तथागत बुद्ध की शंका बाद में यथार्थ हुई, बौद्ध-विहारों में अनाचार पनपने लगा। अतः बुद्ध ने अभद्र कृत्यों पर रोक लगाने के लिये नवीन नियम बनाये। मालिश, शरीर सज्जा तथा रंग-बिरंगे वस्त्र आदि का निषेध किया।

पातिमोक्ख व दण्ड विधान

प्रत्येक माह की कृष्णा, चतुर्दशी और पूर्णिमा को उस विहार में रहने वाले सभी भिक्षु उपोसथागार में एकत्र होवें और पातिमोक्ख नियमों की आवृत्ति करें।

मैथुन, चोरी, मानवहत्या और मुझमें दिव्य शक्ति उत्पन्न हुई है, इस प्रकार आधिकारिक भाषा का प्रयोग करने वाले भिक्षु को भिक्षु-अवस्था से दूर कर पाराजिक दण्ड दिया जाता था। जो एक तरह से जैन प्रायश्चित्त विधि में पारान्चिक प्रायश्चित्त के सदृश है।

वीर्यमोचन, स्त्री-स्पर्श, काम-वार्तालाप, मैथुन इच्छा, मैथुन के लिए दूतीकार्य, संघ में मतभेद डालना आदि में संघादिशेष कुछ समय के लिए दिया जाता था। कितने ही अपराध ऐसे हैं, जिनका समावेश पाराजिक संघादिशेष और पाचित्यदोषों में से किसी में भी पूर्ण रूप से नहीं हो पाता था। उन्हें अनियत कहा जाता है। पातिमोक्ख में इस प्रकार के मैथुन सम्बन्धी दो उल्लेख प्राप्त होते हैं। कितने ही अपराध ऐसे होते थे, जिनका प्रतिकार संघ के सामने या बहुत से भिक्षुओं के सामने अथवा एक भिक्षु के सामने स्वीकार करने पर होता था। इस प्रकार के अपराधों को निस्सग्गिय पाचित्तिय कहा जाता था। इस प्रकार के अपराध कठिन-चीवर, अन्य चीवर, आसन, स्वर्ण-रजत, पैसे आदि अट्ठाईस प्रकार के दोषों से सम्बन्धित हैं। पाचित्तिय दोष, जैसे–भाषण सम्बन्धी चार, सहवास-सम्बन्धी दो, धर्मोपदेश, दिव्य शक्ति-प्रदर्शन, अपराध-प्रकाशन, भूमि-खनन, वृक्ष-छेदन, संघ के प्रश्न पर मौन रहना, निन्दा करना, सांघिक वस्तुओं के प्रति उपेक्षा रखना, बिना छना पानी ग्रहण करना आदि ९२ दोष हैं। पाटिदेसनीय-आहारग्रहण सम्बन्धी,

---

१. न दानि आनन्द ब्रह्मचरियं चिरट्ठितिकं भविस्सति।
पञ्चेवदानि आनन्द वस्स सतानि सद्धम्मो ठस्सति॥

भिक्षुणी-सम्बन्धी चार दोष आदि हैं। सेखिय (शिक्षणीय) नियम ७५ थे, जैसे–गृहस्थों के घर में जाने सम्बन्धी, भिक्षाग्रहण करने सम्बन्धी, व्यक्ति को किस प्रकार उपदेश देना, मल-मूत्र-विसर्जन सम्बन्धी नियम। अधिकरण समथ में, विवाद शान्ति हेतु सात नियम बताये हैं। इस तरह भिक्ख-पातिमोक्ख के २२७ नियम हैं।

भिक्षुणी पातिमोक्ख में मैथुन, चोरी, मनुष्य-हत्या, दिव्य-शक्ति-प्रदर्शन, कामासक्ति से विविध कार्य करना, संघ से निष्कासित भिक्षु का अनुगमन, कामासक्ति से पुरुष का स्पर्श करना आदि पाराजिक दोष हैं। जिस तरह भिक्षु के लिए २२७ नियम हैं, वैसे ही भिक्षुणी के लिए ३११ नियम हैं। भिक्षुणी और भिक्षु के नियमों में विशेष अन्तर नहीं है। जो अन्तर है, वह परिस्थिति के कारण है। यह सत्य है कि प्रत्येक नियम के पीछे किसी घटना-विशेष का सम्बन्ध रहा है। कितने ही नियम सार्वकालिक थे तो कितने ही नियम सामयिक थे। एतदर्थ ही बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा–संघ मेरे पश्चात् चाहे तो छोटे-बड़े शिक्षापदों को छोड़ सकता है।[1]

उपासक आचार-संहिता

तथागत बुद्ध ने जितना विस्तार के साथ भिक्षु और भिक्षुणियों की आचार-संहिता पर चिन्तन किया, उतना विस्तार के साथ उपासक की आचार-संहिता पर विचार नहीं किया। यही कारण है कि पौर्वात्य और पाश्चात्य विज्ञों में यह भ्रान्ति हो गई है कि बुद्ध ने उपासकों के सम्बन्ध में कोई चिन्तन नहीं किया। पर यह सत्य है; बुद्ध ने यह स्पष्ट बताया है कि गृहस्थ का क्या कर्तव्य है? उसकी उन्नति के मूल तथ्य क्या हैं? इस पर उन्होंने प्रकाश डाला है। बुद्ध का यह स्पष्ट अभिमत था कि विना उपासक के भिक्षु-भिक्षुणियाँ नहीं रह सकतीं। संघ, विहार आदि की व्यवस्था उपासक ही करता है। वही भिक्षु संघ को चीवरदान, पिण्डदान औषधिदान और शयनासन आदि की पूर्ण व्यवस्था करता है।[2] वह भिक्षु के वैचारिक और आचारिक शैथिल्य को भी दूर करता है। जब उपासकों ने बौद्ध भिक्षुओं को देखा। भिक्षु हरित तृणस्कन्ध को बुरी तरह से कुचल रहे हैं, उन्होंने प्रस्तुत दुष्कृत्य की आलोचना करते हुए कहा–"यह प्रत्यक्ष ही प्राणातिपात है। इस हिंसा से भिक्षु निवृत्त हों।" ऐसे अनेक प्रसंग बौद्ध-त्रिपिटिक-साहित्य में देखे जा सकते हैं।[3] बुद्ध ने यह स्पष्ट कहा–"भिक्षुओ ! तुम्हें गृहस्थ के प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए। यदि कदाचित् क्रोध आ जाये तो प्रतिसारिणी कर्म किया जाये और गृहस्थ उपासक से क्षमायाचना की जाये।"[4]

---

१. दीघनिकाय महापरिनिव्वाण सुत
२. गिहिसामीचिसुत्त, अंगुत्तरनिकाय
३. वर्षोपनायिका स्कन्धक, विनयपिटक
४. चुल्लवग्ग, विनयपिटक

बुद्ध ने उपासकों के लिए (१) प्राणातिपात–हिंसा न करना, (२) अदिन्नादान–चोरी न करना, (३) कामेसु मिच्छाचार–स्त्री सम्बन्धी दुराचार न करना, (४) मुसावाद–असत्य न बोलना[1] इन चार नियमों का विधान किया। उसके पश्चात् सुरमैरेय्य-प्रमाद स्थान-विरति का विधान किया। देखा जाय तो सभी पापकृत्यों के मूल में हिंसा रही हुई है। उपासकों का परम कर्त्तव्य है कि हिंसा से निवृत्त हों एतदर्थ ही तथागत ने प्राणिमात्र के प्रति प्रेम करने के लिए उत्प्रेरित किया। जो शान्ति के इच्छुक हैं, उनका मानस सरल बने, वे स्वभाव से मृदु हों, विनम्र हों, सन्तोषी हों, अल्पवृत्ति वाले, इन्द्रिय-संयमी और अप्रगल्भ हों, सभी प्राणी सुखी हों, सभी का कल्याण हो और सभी सुखपूर्वक रहें।[2] एक-दूसरे की प्रवंचना न की जाये, अपमान न किया जाये, परस्पर वैमनस्य के कारण एक-दूसरे को दुःख देने की भावना न की जाये। जैसे माँ स्वयं अपनी चिन्ता न कर अपने प्यारे पुत्र के संरक्षण की चिन्ता करती है, वैसे ही असीम प्रेम का धनी व्यक्ति भी दूसरों की चिन्ता करता है। उसके मन में वैर-भाव नहीं होता, उसमें प्रेम की लहरें उछालें मारती हैं। उपासक के अन्तर्मानस में प्रतिपल-प्रतिक्षण यह स्मृति सतत बनी रहनी चाहिए। इसे ही ब्रह्म-विहार कहा गया है। ऐसे स्नेहवान् व्यक्ति ही विशुद्ध शील का आराधन कर सकते हैं और पुनर्जन्म की परम्परा का प्रच्छेद कर मुक्त हो सकते हैं।[3]

संयुत्त-निकाय के अहिंसक सुत्त में बुद्ध ने कहा–"जो तन-मन और वचन से हिंसा नहीं करता है, और दूसरे प्राणी को नहीं सताता है वह अहिंसक है।" प्रस्तुत परिभाषा अहिंसा की सार्थक परिभाषा है। तथागत ने हिंसक यज्ञों का तीव्र विरोध करते हुए कहा–"अश्वमेध, पुरुषमेध, वाजपेय्य प्रभृति यज्ञ; जिनमें पशुओं की अपार हिंसा होती है, वे सर्वथा अनुचित हैं। दान-पुण्य करना, यही सबसे बड़ा यज्ञ है। विज्ञों का कर्त्तव्य है कि वे यही यज्ञ करें।

पंचशील व शिक्षापद

तथागत ने उपासकों को हिंसा, चौर्य, असत्य भाषण, मिथ्याचार, सुरा, मेरय्य, मद्य प्रभृति सभी नशीले पदार्थों से विरत रहने का संदेश दिया। वे उसे पंचशील या पंचशिक्षापद भी कहते रहे हैं। पंचशिक्षापदों के अन्तस्तल में दस उद्देश्य रहे हुए हैं– (१) संघ की भलाई, (२) संघ की सुविधा, (३) दुष्ट व्यक्तियों का निग्रह, (४) शीलवान भिक्षुओं का सुखपूर्वक विहार, (५) आश्रमों का संयमन, (६) श्रद्धालुओं

१. सिगालोवादसुत्त दीघनिकाय–८/१/४
२. सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सब्बे सत्ता भवन्तु सुखिनता। –*मेत्तसुत्त ४/५*
३. मेत्तसुत्त–सुत्तनिपात १, १०

में अधिक श्रद्धा की जागृति, (७) अश्रद्धालु में श्रद्धा के प्रति रुचि, (८) भावी जन्मों के आश्रवों का प्रतिघात, (९) सद्धर्म की स्थिति, (१०) विनय पर अनुग्रह।[१]

पंचशिक्षापदों के माध्यम से श्रद्धाबल, लज्जाबल, पापभीरुताबल, वीर्यबल और प्रज्ञाबल, इन शैक्षबलों की प्राप्ति होती है, जिससे वह चार आर्यसत्य भावना, चार स्मृति प्रस्थान भावना, चार सम्यग्प्रधान भावना, प्रभृति अनेक भावनाओं का अभ्यास करने लगता है। जिससे उपासक का अन्तर्मानस विशुद्ध और ऋजु होता है। उपासक इन भावनाओं से प्रत्यक्ष सुख की अनुभूति करता है। चैतसिक ध्यानों को प्राप्त करता है। बुद्ध धर्म और बुद्ध संघ में निश्चल श्रद्धानिष्ठ होता है।

बुद्ध का प्रथम उपासक यश गृहपति था, जो वाराणसी का रहने वाला था। उसे बुद्ध ने दान, शील, स्वर्गकथा, कामवासनाओं का दुष्परिणाम, निष्काम-साधना का महत्त्व, और चार आर्यसत्य का उपदेश दिया था। बुद्ध ने प्रज्ञा की वृद्धि के लिये (१) सत्पुरुषों की सेवा, (२) सद्धर्म-श्रवण, (३) योग्य-विचार, और (४) धर्म के अनुसार आचरण, इन चार बातों पर बल दिया। बुद्ध ने जीवन की अवनति के तीन कारण बताये–(१) यौवनमद, (२) आरोग्यमद, और (३) जीवनमद। इन तीनों के परित्याग पर उन्होंने बल दिया। बुद्ध का दृष्टिकोण व्यावहारिक था। उन्होंने जीवन के व्यावहारिक पहलुओं पर ही अधिक चिन्तन किया। उन्होंने कहा–'उपासक का कर्त्तव्य है कि (१) भिक्षु को दान दे, (२) प्रिय वचन, उपकार, और समानता का व्यवहार रखे, (३) पुत्र, माता-पिता आदि सभी के साथ मधुर सम्बन्ध रखे।[२]

उपासक का कर्त्तव्य

महानाम शाक्य ने तथागत से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि उपासक का प्रथम कर्त्तव्य क्या है? बुद्ध ने कहा–धर्म और संघ की शरण ग्रहण करना, प्राणातिपात आदि से विरत होना, प्रज्ञा, श्रद्धाशील समाधि, त्याग प्रभृति भावनाओं को स्वयं धारण करे, दूसरों को धारण करने के लिये प्रेरित करे, उसे स्वयं आत्महित भी करना चाहिये और साथ ही परहित भी करना चाहिए।[३] मेधावी व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि बुद्ध के अनुशासन का सम्यग् प्रकार से आराधन कर धर्मदर्शी बने। बुद्ध ने कहा–"भौतिक धन से बढ़कर आध्यात्मिक धन है और वह यह है–श्रद्धा, शील, लज्जा, पापभीरुता, श्रुति, त्याग और प्रज्ञा।"[४]

---

१. दसमनिपात, उपालिसुत्त–अंगुत्तरनिकाय
२. चतुत्थनिपात–अंगुत्तरनिकाय
३. अंगुत्तरनिकाय–गृहपतिवग्ग
४. अंगुत्तरनिकाय–सत्तकनिपात, धनवग्ग

बुद्ध ने तृष्णाविजय पर अत्यधिक बल दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा–तृष्णा से ही आसक्ति होती है, आसक्ति से ममत्व, ममत्व से मात्सर्य, मात्सर्य से सुरक्षा और सुरक्षित पदार्थ के लिये खींचातान, दण्डप्रयोग, शस्त्रप्रयोग, कलह, विवाद, पैशुन्य असत्य भाषण, प्रभृति अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।[1]

अवनति के कारण

बुद्ध ने उपासकों को कहा–भिक्षुओं को हानि पहुँचाना, उनका अहित करने का प्रयास करना, उनको आवास से हटाना, उन्हें अशिष्ट शब्द कहना, उनमें परस्पर वैमनस्य उत्पन्न करना, धर्म और संघ की निन्दा करना आदि आठ दुर्गुण हैं, जिन्हें धारण करने पर अवनति होती है। उन्होंने अन्य रूप से भी अवनति के कारण बताये हैं। धर्म-द्वेष, असत्-पुरुष-प्रियता, निन्दा, माता-पिता की सेवा न करना, मिथ्या भाषण, स्वादिष्ट भोजन, जाति, धन, गोत्र आदि का अहंकार व अन्य व्यक्तियों का अपमान करना, मिथ्याचार और मदिरापान, परस्त्री-गमन आदि भी ऐसे ही कारण हैं, जिनसे अवनति होती है।[2]

उपासकों को प्रेरणा

बुद्ध ने उपासकों को यह प्रेरणा प्रदान की कि वे सद्गुणों को अपनायें। अतिथि का अत्यन्त स्नेह के साथ स्वागत करें। बड़ों का अभिवादन करें, उन्हें बैठने के लिए आसन दें, खाने के लिए श्रेष्ठ पदार्थ दें। जो भी वस्तु उन्हें दी जाये वह बहुत ही आदर के साथ दी जाये। उपासक का कर्त्तव्य है कि वह अस्त्र-शस्त्र, माँस, मद्य, विष आदि का व्यापार न करे। वह संयतेन्द्रिय हो और चेतसिक ध्यान का करने वाला हो।[3] जिससे उसका मलिन मानस निर्मल और पवित्रतम रह सके।

गृहस्थ-जीवन को सुखी बनाने का उपाय

एक बार उग्गह ने तथागत से निवेदन किया–"भन्ते ! मेरी सुपुत्रियाँ युवा हो चुकी हैं, उनका विवाह होगा और वे पतिगृह में जायेंगी। पति के साथ उन्हें किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए इस सम्बन्ध में आप जरा इन्हें शिक्षा प्रदान करें।"

बुद्ध ने कहा–बालाओ ! गृहस्थ-जीवन को सुखी बनाने के कुछ नियम हैं, वे मैं तुम्हें बता रहा हूँ–

---

१. अंगुत्तरनिकाय–नवमनिपात, तण्हामूलकसुत्त
२. सुत्तनिपात वसलसुत्त
३. अंगुत्तरनिकाय–पंचकनिपात

(१) पत्नी का कर्त्तव्य है कि वह पति के शयन करने के पश्चात् निद्रा ले और उसके जागने के पहले वह जागे।

(२) पति की आज्ञा का पूर्ण पालन करे।

(३) सदा-सर्वदा सभी के साथ अत्यन्त मधुर व्यवहार रखे और मधुर भाषा का प्रयोग करे।

(४) माता-पिता, श्रमण-ब्राह्मण और अन्य गुरुजनों का सत्कार करे।

(५) पति का जो भी व्यापार हो उस व्यापार में पूर्ण दक्षता प्राप्त करे, जिससे कि वह उसके कार्य में हाथ बँटा सके।

(६) अप्रमत्त होकर पति को पूर्ण सहयोग दे।

(७) अनुचरों की पूर्ण जानकारी रखे।

(८) रुग्ण व्यक्तियों की अच्छी तरह सेवा करे।

(९) पति के धन-धान्य आदि की पूर्ण सुरक्षा रखे।

इस तरह की गृहिणी ही सच्ची गृहिणी होती है।[1]

माता-पिता के प्रति सन्तान का क्या कर्त्तव्य है इस पर भी बुद्ध ने चिन्तन-विवेचन करते हुए कहा–माता-पिता पूज्य हैं, अन्न, पानी, वस्त्र, शयनासन, मालिश, स्नान, पादप्रक्षालन, प्रभृति जो भी उन्हें सेवा की आवश्यकता हो, उससे उनकी सेवा करनी चाहिये। क्योंकि इन दो व्यक्तियों का प्रत्युपकार करना अत्यन्त कठिन है। यदि सौ वर्ष तक एक-एक कन्धे पर माता-पिता को ढोया जाय, उनकी उबटन-मर्दन, स्नान आदि से सेवा की जाये, यदि माता-पिता सन्तान के कन्धे पर मल-मूत्र-विसर्जन कर दें, तो भी पुत्र उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकता, पर अश्रद्धावान् माता-पिता को श्रद्धानिष्ठ बनाये, दुराचारी माता-पिता को सदाचारी बनाये, उन्हें त्यागमार्ग पर आरूढ़ करे तो पुत्र माता-पिता के ऋण से मुक्त हो सकता है।[2]

दुर्गुणों से दूर रहो

तथागत बुद्ध ने यह भी बताया, वही व्यापारी सफल होता है, कि उसे इस बात का पता होना चाहिये कि वस्तु किस भाव में आयी है और उसे किस भाव में

---

१. अंगुत्तरनिकाय–पंचकअट्ठकनिपात

२. अंगुत्तरनिकाय–तिकनिपात
तुलना करें–जैन आगम–स्थानांगसूत्र, स्थान ३, तीन दुष्प्रतिकार्य

बेचना है। व्यापारी को वस्तु लेने में दक्षता होनी चाहिए और उसे लेन-देन में अधिक स्पष्टता रखनी चाहिये जिससे कि दूसरों में यह निष्ठा उत्पन्न हो सके कि यह ब्याज सहित पैसा लौटाने में समर्थ है।[1]

बुद्ध ने इस बात पर भी बल दिया कि चाहे कुबेर भी क्यों न हो, उसकी सम्पत्ति इन कारणों से नष्ट हो जाती है–(१) नशीले पदार्थों का सेवन, (२) विकाल में घर से बाहर घूमना, (३) नृत्य और तमाशा, (४) द्यूत, (५) दुष्ट की मित्रता, (६) आलस्य, ये ऐसे दुर्गुण हैं जिसस व्यक्ति का जीवन दुर्गुणों का शिकार बन जाता है।

बुद्ध ने शृगाल गृहपति को कहा–"जो व्यक्ति पर-धन को हरने वाला है, केवल बात ही बनाने वाला है, जो चाटुकार हो, हानिप्रद कार्यों में सहयोग देता हो, ऐसा मित्र अमित्र है; किन्तु जो उपकारी हो, सुख-दुःख में समान रूप से भाग लेता हो, अर्थ की दृष्टि से जो सहयोग देता हो, जिसके अन्तर्मानस में अनुकम्पा हो, जो भूल हो जाने पर परिष्कार करने की क्षमता रखता हो, गोपनीय बातों को प्रकट न करता हो, आपत्तिकाल में मित्र के लिए प्राण न्योछावर करने के लिए तत्पर हो, जो मित्र की निंदा न करे और न सुने किन्तु प्रशंसा दिल खोलकर करे, ऐसा मित्र सुमित्र है।" उपासक का कर्त्तव्य है माता-पिता, आचार्य, पत्नी, मित्र, सन्त सभी की सेवा करे, सभी का सम्मान करे, वह बुद्ध-धर्म और संघ के प्रति पूर्ण निष्ठावान बनकर उन्हें दान दे और अतिथि को, पथिक को, रोगी और दरिद्र को दान दे।[2] दान देने से बहुजनप्रिय, सत्संगति, वंश-वृद्धि और गृहस्थ-धर्म का पालन करता हुआ वह सुगति को प्राप्त होता है।

तथागत बुद्ध ने कहा–अज्ञों की संगति न करना, विज्ञों की संगति करना, पूज्यों की अर्चना करना, यह श्रेष्ठ मंगल है।[3] अनुकूल स्थानों में निवास करना, स्वयं को सन्मार्ग पर लगाना, बहुश्रुत होना, शिष्ट होना, सुशिक्षित होना, मिष्टभाषी होना, माता-पिता की सेवा करना, स्त्री-पुत्र का पालन करना, निराकुल रहना, दान देना, धर्माचरण करना, निर्दोष कार्य करना, पापकृत्यों का परित्याग करना, मद्यपान न करना, विनम्र रहना, सन्तुष्ट रहना, कृतज्ञ होना, धर्म-श्रवण करना, क्षमाशील होना, आज्ञाकारी होना, श्रमणों का दर्शन करना, धार्मिक चर्चा करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, आर्यसत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार करना, ये उत्तम मंगल हैं। इनके पालन से उपासक श्रोतापाति सकदागामि अनागामि अर्हत् अवस्था को प्राप्त करता है।

---

१. अंगुत्तरनिकाय–तिकनिपात
२. अंगुत्तरनिकाय–पंचकनिपात
३. सुत्तनिपात–महामंगल सुत्त

बौद्ध धर्म में उपासक की जो दिनचर्या है, वह अधिकाधिक जीवनोत्थान के लिये है। मानव की सारी प्रवृत्तियों का प्रारम्भ मन से होता है। यदि मन में दुष्ट विचार हैं तो उस व्यक्ति का आचरण भी दूषित होगा। एतदर्थ उसने चित्त- दमन पर बल दिया।[1] और यह स्पष्ट कहा है कि प्रमाद से अपने आपको दूर रखो, तृष्णा का क्षय करो। जो व्यक्ति प्रति मास हजारों का दान देकर सौ वर्ष तक यज्ञ कर जितना फल प्राप्त नहीं कर सकता उतना फल विशुद्ध मन वाले स्थितप्रज्ञ सन्त की मुहूर्तभर सेवा से प्राप्त हो सकता है।[2] वही आर्य है जो किसी भी प्राणी की हिंसा न करता हो।[3] क्रोध को अक्रोध से, बुराई को भलाई से, कृपणता को उदारता से और असत्य को सत्य से जीतता हो।[4]

चार आर्यसत्य

तथागत बुद्ध ने भावुक भक्तों को दार्शनिक गहन गुत्थियों में नहीं उलझाया। उन्होंने जिज्ञासुओं को यह बतलाया कि मानव दुःखी है, और वह दुःख अकारण नहीं है, दुःख का निरोध सम्भव है। एतदर्थ बुद्ध ने चार आर्यसत्य का प्रतिपादन किया जो दुःख निरोध का मार्ग है। तथागत के अनुसार चार आर्यसत्य[5] इस प्रकार हैं–

(१) दुःख आर्यसत्य–इस संसार में दुःख की सत्ता इतनी ठोस और स्थूल है कि उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। प्राणी विविध प्रकार के कष्टों से पीड़ित हैं। जन्म, जरा, व्याधि और मरण–ये सभी दुःख हैं। प्रिय लोगों का बिछुड़ना, अप्रिय लोगों का मिलना, वस्तु की चाह होने पर भी प्राप्त न होना–ये सभी दुःख हैं।

(२) दुःखसमुदय आर्यसत्य–मानव को जो भी दुःख प्राप्त होते हैं, वे किसी न किसी कारण को लेकर होते हैं। दुःख की उत्पत्ति का एक ही कारण नहीं है, अपितु कारणों की एक लम्बी शृंखला है। प्रस्तुत परम्परा की संज्ञा है–द्वादश निदान। द्वादश निदान का अपर नाम प्रतीत्य समुत्पाद (हेतु परम्परा) है। यह बौद्ध

---

१. चित्तस्स दमथो साधु–धम्मपद ३/३

२. मासे-मासे सहस्सेन यजेथ सतं समं।
एकं च भावितं ज्ञानं मुहुत्तमपि पूजये॥
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं। –धम्मपद ८/१०६

३. अहिंसा सब्बपाणानं 'अरियो' ति पवुच्चति। –धम्मपद १९/२७०

४. धम्मपद १७/२२३

५. दीघनिकाय १, पृ. ८३-८४, २, पृ. ३०४

परम्परा का मूल सिद्धान्त है, इसका तात्पर्य है किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् सापेक्ष कार्यकारणवाद। द्वादश निदान ये हैं[१]–(१) जरामरण, (२) जाति, (३) भव, (४) उपादान, (५) तृष्णा, (६) वेदना, (७) स्पर्श, (८) षडायतन, (९) नामरूप, (१०) विज्ञान, (११) संस्कार, (१२) अविद्या। इनमें प्रत्येक पूर्ण निदान का कारण पर-निदान है। निदान का मुख्य कारण तृष्णा है। वह तृष्णा (१) कामतृष्णा, (२) भवतृष्णा, (३) विभवतृष्णा के रूप में तीन प्रकार की है। इस तरह समस्त दुःखों का मूल कारण तृष्णा है। द्वादश निदानों में मूल रूप में अविद्या रही हुई है। अविद्या से ही समस्त दुःख उत्पन्न होते हैं, द्वादश निदानों के इस चक्र की संज्ञा 'भवचक्र' है।[२]

(३) दुःखनिरोध आर्यसत्य–कारण की सत्ता पर ही कार्य की सत्ता अवलम्बित है। यदि कारण परम्परा का निरोध कर दिया जाये तो कार्य का निरोध अपने आप हो जायेगा। दुःखों का कारण अविद्या है। यदि अविद्या का विद्या के द्वारा निरोध कर दिया जाये तो दुःख निरोध स्वतः हो जाता है अर्थात् जिन-जिन कारणों से मानवों को दुःख होते हैं, उन-उन कारणों से मुक्त हो जाने का भाव, यही दुःख-निरोध है।

(४) दुःख निरोध-गामिनी-प्रतिपद आर्यसत्य–अर्थात् निर्वाण मार्ग; तथागत बुद्ध ने न तो सांसारिक सुखोपभोग में जीवन व्यतीत करने वाले सुखमार्गियों के मार्ग को और न उग्र व्रताचरण से शरीर को अत्यन्त कृश करने वाले तापसों के मार्ग को निर्वाण के लिये उपयुक्त माना। उन्होंने सुख और दुःख के उभय छोरों का परित्याग कर 'मध्यम प्रतिपदा' का प्रतिपादन किया। प्रस्तुत प्रतिपद को आर्य अष्टांगिक मार्ग भी कहा गया है।[३] वह अष्टांग मार्ग इस प्रकार है[४]–

(१) सम्यग्दृष्टि–यह दृष्टि रखना कि जीवन में दुःख हैं। यह दुःख अकारण नहीं हैं। दुःख दूर किये जा सकते हैं। उन दुःखों के दूर करने के उपाय भी हैं, अर्थात् तथागत बुद्ध ने जिन चार आर्यसत्यों का प्रतिपादन किया है उन पर दृढ़निष्ठा रखना। तुलनात्मक और समन्वयात्मक दृष्टि से चिन्तन करें तो यह कह सकते हैं कि बुद्ध ने जिसे सम्यग्दृष्टि कहा है, महावीर ने उसे सम्यग्दर्शन कहा है और वैदिक परम्परा ने उसे श्रद्धा कहा है।

१. (क) दीघनिकाय–महानिदानसुत्त
(ख) मज्झिमनिकाय–महातण्हासंखयसुत्त
२. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, पृ. १८०
३. (क) दीघनिकाय–महासतिपट्ठान-सुत्त
(ख) संयुक्तनिकाय ५, पृ. ८-१०
४. संयुक्तनिकाय

(२) सम्यग्-संकल्प (दृढ़ निश्चय)–निष्कर्मता से सम्बन्धित संकल्प, जो कर्म करने योग्य नहीं हैं, उन्हें नहीं करने का संकल्प करना आदि।

(३) सम्यग्-वचन–मिथ्या प्रलाप से बचना, चुगली करने से वचना, कर्कश वाणी से बचना।

(४) सम्यक्-कर्मान्त–प्राणि-हिंसा न करना, जो वस्तु नहीं दी गई है, उसे न लेना, दुराचार से बचना। इस तरह हिंसा, द्रोह, दुराचरण/रहित कर्म।

(५) सम्यक्-आजीव–गलत व्यापार से यदि आजीविका चलती हो तो उसका परित्याग कर ऐसे व्यापार को करना, जिससे धर्म की हानि न हो।

(६) सम्यग्-व्यायाम–दुर्व्यसन और बुरी प्रवृत्तियों का परित्याग करने का प्रयत्न करना। यदि मन में पाप की प्रवृत्तियाँ उद्‌बुद्ध होती हों तो उन्हें उपशान्त करने का प्रयत्न करना, और मन में सदा सद्‌भाव पैदा हों, और वे सद्‌भाव शतशखा के रूप में निरन्तर बढ़ते रहें, इस प्रकार प्रयास करना। इसमें साधक मानसिक दोषों का परिहार कर अपने व्यक्तित्व और कृतित्व को पूर्ण निर्मल बनाने का संलक्ष्य करता है।

(७) सम्यग्-स्मृति–शरीर जरा और व्याधि से ग्रसित है, पाप पंक में निमग्न है। अतः प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक रहकर वासना के दलदल से उन्मुक्त होकर उपासना में संलग्न होना।

(८) सम्यग्-समाधि–चार प्रकार के ध्यान जिनमें वितर्क और विचार से अन्तर्मानस के विचारों को विशुद्ध किया जाता है। एकान्त शान्त क्षणों में एकाग्र होकर अपने आपको निहारने का प्रबल प्रयास करना। सुख और दुःख से अलग-थलग रहकर कमल की तरह निर्लिप्त रहने का उपक्रम करना।

श्रीमती रिज डेविड्स ने आष्टांगिक मार्ग को बुद्ध की मूल देशना का अंग माना है।[1] यद्यपि डॉ. पाण्डेय ने अंगुत्तरनिकाय के अष्टकनिपात में तथा दीघनिकाय के संगति सुत्त में उनका उल्लेख न होने से प्रस्तुत मान्यता पर एक प्रश्नचिन्ह उपस्थित किया है।[2] पर इतने मात्र से ही आष्टांगिक मार्ग को मूल देशना से पृथक् नहीं माना जा सकता।[3] धम्मपद में इसी को निर्वाण प्राप्ति का मुख्य मार्ग कहा है।[4]

---

१. शाक्य, पृ. ८९

२. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. ११७ (डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय)

३. बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ. ८६ (डॉ. भागचन्द्र जैन)

४. एसो व मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया –धम्मपद २०, २-३

तथागत बुद्ध ने जिस मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन किया है, वह उपनिषद् प्रतिपादित मार्ग से सर्वथा पृथक् नहीं है। उन्होंने ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार कर सभी दुःखों का मूल 'अज्ञान' माना है। ज्ञान के अभाव में मुक्ति कदापि सम्भव नहीं है। पर ज्ञान की प्राप्ति के लिए शरीर को उसके धारण योग्य बनाना आवश्यक है। उन्होंने ज्ञानोत्पत्ति के लिए शरीर-शुद्धि नितान्त आवश्यक मानी है। अतः बुद्ध ने शील के आचरण द्वारा शरीर-शुद्धि पर बल दिया है। शील से उनका तात्पर्य सम्पूर्ण सात्त्विक कर्मों से है। यही कारण है कि बौद्ध धर्म में गृहस्थ और भिक्षु इन दोनों के लिए कतिपय शीलों का पालन करना परम आवश्यक माना है। गृहस्थ के लिए पंचशील का विधान है।[1]

किन्तु भिक्षु के लिए दश-शील का पालन आवश्यक है। शीलों के साथ समाधि और प्रज्ञा के सेवन पर भी बुद्ध ने बल दिया। सामञ्ञफल सुत्त में चार प्रकार की समाधि का सदृष्टान्त वर्णन है।

त्रिरत्न

प्रज्ञा तीन प्रकार की है–(१) श्रुतमयी, (२) चिन्तामयी, और (३) भावनामयी। तथागत बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा–प्रज्ञा के अनुष्ठान से मनोमय शरीर का निर्माण, दिव्यस्रोत, परिचित्तज्ञान, पूर्वजन्मस्मरण, और दिव्य चक्षु की उपलब्धि होने के अनन्तर दुःख-क्षय का ज्ञान हो जाता है। जब चित्त कामास्रव (भोगने की इच्छा), भवास्रव जन्म लेने की इच्छा और अविद्यास्रव (अज्ञानमल) से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है तब साधक निर्वाण प्राप्त कर लेता है। शील, समाधि और प्रज्ञा को बौद्ध दर्शन में त्रिरत्न की संज्ञा से अभिहित किया है। संक्षेप में कहें तो इन तीन शब्दों में बुद्ध के उपदेशों का सार आ जाता है।

तथागत बुद्ध ने अपने अनुयायियों को यह कहा कि मेरे उपदेशों पर विश्वास रखो, बुद्धि के द्वारा उन्हें समझने का प्रयास करो, और प्रत्येक उपदेश को जीवन में उतारने का प्रयास करो, पवित्र जीवन व्यतीत करो, और नियमित रूप से ध्यान और समाधि में लगे रहो।

इस प्रकार बुद्ध-दर्शन का विहंगावलोकन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध ने आचार-शुद्धि (सम्यक् आजीव) पर बहुत अधिक बल दिया है और विविध रूपों में गृहस्थ को शील-सम्पन्न बनाने के मार्ग बताये हैं। शील अर्थात् सदाचार के बिना गृहस्थ जीवन को गंधहीन पुष्प की तरह निरर्थक बताकर शील की महत्ता स्थापित की गई है।

● ●

१. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. २४ (आचार्य नरेन्द्रदेव)

५. आजीवक मत की आचार-दृष्टि

आजीवक : एक विश्रुत मत

जैन आगम सूत्रकृतांग के अनुसार भगवान महावीर के समय में तीन सौ त्रेसठ मत प्रचलित थे और तथागत के अनुसार ६३ मत थे। उन मतों में 'आजीवक' भी एक मत था। वह मत उस समय काफी प्रभावशाली और व्यापक था। उसके आचार्य गोशालक थे। विक्रम की आठवीं शताब्दी तक इस मत का अस्तित्व समाप्तप्राय हो गया। पर जिस समय यह सम्प्रदाय विद्यमान था, उस समय यह अत्यधिक विश्रुत था। आज भले ही उस सम्प्रदाय का साहित्य उपलब्ध नहीं है, जिससे पूर्ण और व्यवस्थित सामग्री मिल सके तथापि जैन और बौद्ध परम्परा के साहित्य में उस विषयक विपुल सामग्री उपलब्ध है। उस सामग्री के आधार से हम उस सम्प्रदाय की आचार-संहिता को जान सकते हैं।

बुद्ध के शिष्य शाक्य-श्रमण कहलाते थे और गोशालक के शिष्य आजीवक-श्रमण। ये दोनों श्रमण-संस्कृति के अनुयायी अर्थात् वेदविहित यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि को अमान्य कर, त्याग-तपश्चर्या तथा कठोर-साधना में विश्वास करते थे, इसलिए ये भी श्रमण कहलाते थे। निर्ग्रन्थ परम्परा की तरह इनमें भी गृहस्थ धर्म प्रायः निवृत्तिप्रधान था। अतः आचार मार्ग में भी निवृत्ति का ही स्वर गूँजता है। श्रमण एवं श्रमणोपासक-गृहस्थ की आचार-संहिता में निवृत्ति व त्याग की विशेष प्रेरणा रही है। संक्षेप में आजीवक सम्प्रदाय की आचार-संहिता निम्न प्रकार थी–

आजीवक व तप

स्थानांगसूत्र[1] के अनुसार आजीवक भिक्षु चार प्रकार का तप करते थे–(१) उग्र तप, (२) घोर तप, (३) रसनिर्यूहणा तप, (४) जिह्वेन्द्रिय–प्रतिसंलीनता तप। ये चारों प्रकार के तप बहुत ही दुष्कर थे। यह तप के नामों से भी परिज्ञात होता है। बौद्ध धर्म दर्शन ग्रन्थ में आचार्य नरेन्द्रदेव[2] ने लिखा है कि बुद्ध आजीवकों को सबसे बुरा समझते थे। तापस होने के कारण इनका समाज में आदर था। लोग निमित्त, शकुन, स्वप्न आदि का फल इनसे पूछते थे। पूर्व दो प्रकार के तप उनकी

१. स्थानांगसूत्र, स्थान ४, सू. ३५० २. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. ४

उग्र साधना व तपस्वी होने की सूचना देते हैं। रस निर्यूहण और जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता–ये दोनों तप आजीवकों के अस्वाद व्रत के सूचक हैं। आजीवक भिक्षु पंचाग्नि तप भी तपते थे। अनेक प्रकार के कठोर आसनों की साधना भी करते थे।

आजीवक और भिक्षा

आजीवक भिक्षु जिस प्रकार भिक्षा ग्रहण करते थे, उसका वर्णन औपपातिक-सूत्र[1] में मिलता है। वह इस प्रकार है–ग्राम, नगर, पुर और सन्निवेश में रहने वाले आजीवक भिक्षु इस प्रकार के थे–द्विगृहान्तरित, त्रिगृहान्तरित और सप्तगृहान्तरित; दो, तीन या सात घरों में भिक्षा के लिए जाते और भिक्षा न मिलने पर वे उपवास आदि करते थे। विद्युदन्तरित भिक्षा के लिए जाने पर बीच में विद्युत् के चमक जाने पर वे भिक्षा ग्रहण नहीं करते थे। उष्ट्रीका श्रमण–मिट्टी के बड़े-बड़े बर्तनों में रहने वाले। इस तरह आजीवक श्रमण दीर्घकाल तक श्रमण-पर्याय का पालन करते थे।

तप और हिंसा

भगवतीसूत्र[2] के अनुसार आजीवक एक ओर उग्र तप की साधना करते थे तो दूसरी ओर वे हरी वनस्पति, कच्चा अन्न और सचित्त फल आदि का उपयोग करते थे। इस तरह वे सभी प्राणियों की हिंसा करते थे। छेदन-भेदन और विनाश कर आहार करते थे।

आजीवक नग्न रहते थे

आजीवक आचार्य गोशालक स्वयं नग्न रहता था और उसके भिक्षु भी नग्न रहते थे। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार[3] श्रमण भगवान महावीर का द्वितीय वर्षावास राजगृह के उपनगर नालन्दा की तन्तुवाय शाला (बुनकर की उद्योगशाला) में हुआ। वहाँ मंखलिपुत्र गोशालक भी वर्षावास हेतु ठहरा हुआ था। भगवान महावीर के उत्कट तप-त्याग से प्रभावित होकर उसने भगवान महावीर से निवेदन किया था कि आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिए। भगवान महावीर के मौन रहने पर आगे चलकर वह स्वतः ही महावीर का शिष्य बनकर रहने लगा।

बौद्ध साहित्य में भी आजीवकों के लिये नग्नता का उल्लेख है और यत्र-तत्र अचेलक शब्द भी उनके लिए व्यवहृत हुआ है।

---

१. औपपातिकसूत्र ६१/१०

२. भगवतीसूत्र, श. ८,उ. ५

३. (क) आवश्यकनिर्युक्ति ३५५
   (ख) विशेषावश्यकभाष्य १९०७
   (ग) महावीर चरियं–गुणचन्द्र ६/१८३-१८६
   (घ) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित १०-३-३७२

पाश्चात्य विचारक डॉ. हार्नले ने लिखा है कि भगवान महावीर ने गोशालक का अनुसरण करके ही नग्नता ग्रहण की थी। किन्तु जैन साहित्य में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है, बल्कि यह उल्लेख है कि महावीर का अनुसरण करके ही गोशालक नग्न रहने लगा था। महावीर ने जब दीक्षा ग्रहण की, उस समय शक्रेन्द्र ने एक देवदूष्य वस्त्र दिया था और वह वस्त्र तेरह माह तक महावीर के कन्धे पर रहा।[1] उसके बाद वह नीचे गिर गया। इससे यह स्पष्ट है कि द्वितीय चातुर्मास में उनके पास वस्त्र नहीं था। इसलिये हार्नले का कथन सत्य-तथ्य से परे है, इतिहास-विरुद्ध है।

बौद्ध साहित्य में आजीवक आचार का वर्णन

मज्झिमनिकाय, दीघनिकाय[2] आदि में आजीवकों के आचार का वर्णन प्राप्त है। वहाँ लिखा है कि आजीवक सभी प्रकार के वस्त्रों का परित्याग करते थे। उनमें शिष्टाचार का अभाव था। वे स्वयं भिक्षा के लिए जाते थे। वे भिक्षा के लिए किसी के निमन्त्रण की राह नहीं देखते थे। स्वयं के निमित्त भोजन नहीं बनवाते थे। जिस भाजन में आहार तैयार किया हुआ हो, उस भाजन में से आहार ग्रहण नहीं करते थे। देहली के बीच में रखा हुआ, ओखली में कूटा हुआ तथा चूल्हे में पकाया हुआ आहार नहीं लेते थे। गर्भवती स्त्री और दूधमुँहे बच्चे की माँ आदि से वे भोजन ग्रहण नहीं करते थे। जहाँ पर भोजन की मात्रा कम हो, कुत्ते खड़े हों, मक्खियाँ भिनभिना रही हों, वहाँ से भी वे आहार ग्रहण नहीं करते थे। मछली, मदिरा, मैरेय और खट्टी कांजी आदि भी ग्रहण नहीं करते थे। कितने ही भिक्षु तो केवल एक घर से ही आहार ग्रहण करते थे और आहार में केवल एक मुट्ठी अन्न लेते थे। कितने ही भिक्षु सात घरों में भिक्षा ग्रहण करते और सात मुट्ठी अन्न ग्रहण करते थे। कितने ही भिक्षु एक बार भोजन ग्रहण करते तो कितने ही दो दिनों से, तो कितने ही पन्द्रह दिनों से, इस प्रकार वे विविध प्रकार का तप करते थे।

बौद्ध साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि अपने लिये निर्मित भोजन को आजीवक भिक्षु ग्रहण नहीं करते थे। पर जैनसूत्र सूत्रकृतांग के उल्लेखानुसार वे अपने लिये निर्मित आहार को गृहान्तर से स्वीकार करते थे। वहाँ यह भी सूचन है कि कुछ भिक्षु औद्देशिक आहार को द्विगृहान्तर से या त्रिगृहान्तर से भी ग्रहण कर लेते हैं। भले ही औद्देशिक आहार का जरा-सा भी अंश हो, एक सहस्त्र गृहान्तरित भी हो जाये और उसको जो ग्रहण करता है, वह भिक्षु द्विपक्ष का सेवन करता

---

१. (क) आवश्यकचूर्णि, पृ. २६८
(ख) महावीरचरियं ५/१४४

२. (क) मज्झिमनिकाय ३९
(ख) दीघनिकाय

है।[1] औपपातिकसूत्र में द्विगृहान्तरित शब्द आजीवकों के विशेषण के रूप में व्यवहृत हुआ।

आजीवक और जैन श्रमण

उत्तराध्ययन की प्रस्तावना में–डॉ. हर्मन जेकोबी ने आजीवक और जैन श्रमणों के आचार में समानता बतायी है। पर जैन श्रमण और आजीवक श्रमणों के आचार में बहुत अन्तर है। दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय में जो उनके उग्र साधना का विश्लेषण है, सम्भव है वह वर्णन सभी श्रमणों का न होकर कुछ विशिष्ट श्रमणों का रहा हो। जैन निर्ग्रन्थ श्रमण सचित्त वस्तु का किंचित् मात्र भी स्पर्श नहीं करते। वहाँ पर आजीवक भिक्षु हरी, अखण्डित वनस्पति, बीज, अन्न, शीतल सचित्त जल आदि भी ग्रहण करते थे। वे छत्र आदि भी ग्रहण करते थे; जबकि जैन श्रमण के लिये इन सबका निषेध था।

आजीवक उपासक

भगवती सूत्र आदि के अनुसार–आजीवक उपासक के नियम बहुत कठोर नहीं थे। वे इस प्रकार के नियम पालते थे–

(१) माता-पिता की सेवा करना।

(२) गूलर, बड़, बेर, सत्तर और पिप्पल इन पाँच फलों का त्याग करना।

(३) प्याज, लहसुन और कन्दमूल सेवन न करना।

(४) विना नाथे हुए और अलांछित बैलों से आजीविका चलाना अर्थात् बैलों के न कान-नाक वींधना और न उनको नपुंसक करना।

(५) त्रस जीवों की हिंसा न करना।

इससे यह स्पष्ट है कि जैन श्रावकों की आचार-संहिता और आजीवक गृहस्थों की आचार-संहिता में अन्तर था। भगवान महावीर ने भी इस तथ्य को स्पष्ट रूप से सूचित किया था। निश्चय ही इस प्रकार श्रमणोपासक होते हैं। पर इस प्रकार आजीवक उपासक नहीं होते।[2]

---

१. जं किंचि पूइगडं सड्ढी आगन्तु ईहियं।
सहसन्तरियं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवई॥ –सूत्रकृतांग १/१/३

२. ए ए खलु एरिसगा समणोवासगा भवन्ति, नो खलु एरिसा आजीवियोवासगा भवन्ति।
–भगवती, श. ८, उद्दे. ५

नियतिवादी

इस प्रकार आजीवक मत की आचार-संहिता का कुछ रूप आज मिलता है। आजीवक नियतिवादी थे तथापि वे तपोऽनुष्ठान करते थे। वे आत्मा, कर्म व मुक्ति के अस्तित्त्व को भी मानते थे। क्रिया-अक्रिया, सिद्धि-असिद्धि, स्वर्ग-नरक प्रभृति प्रत्येक अवस्था नियति के ही आधीन मानते थे। सभी क्रियाएँ करते हुए भी उनका श्रेय नियति को देते थे। आजीवकों की आचार-संहिता व साधना-पद्धति कठोर थी। किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से वे नियतिवादी थे। जैन, बौद्ध आचार-विधियों से काफी मिलता-जुलता उनका आचार-मार्ग था।

●●

६. विभिन्न धर्मों में आचार-विधान

भारत के वैदिक एवं श्रमणधर्म–बौद्ध, आजीवक आदि मतों की आचार-संहिता का संक्षिप्त परिचय देने के बाद अब हम अन्य भारतीय तथा भारतीयेतर धर्मों में आचार-सम्बन्धी नियमोपनियमों का संक्षिप्त में यहाँ वर्णन करना चाहते हैं।

यहूदी धर्म में आचार

ईश्वर का प्रतिनिधि

विश्व के प्राचीनतम धर्मों में यहूदी धर्म भी एक प्रमुख धर्म है। इसका सम्पूर्ण जातीय जीवन ईश्वरार्पित है। 'याहवेह' (जेहोवा) इसके प्रमुख आराध्यदेव हैं, जिसने ही अन्य देवों का सृजन किया है। ये एकेश्वरवादी हैं। इनका विश्वास गीता की भाँति अवतारवाद में नहीं है। इनका यह मानना है कि ईश्वर अद्‌भुत चमत्कार दिखाकर जन-मानस को सद्‌बोध का पवित्र पाठ पढ़ाता है। मानव ईश्वर का प्रतिनिधि है। मानव अपने पवित्र-चरित्र से धरती पर एक महान् आदर्श उपस्थित करता है। जिस मानव का आचरण श्रेष्ठ है उसी पर ईश्वर की भी कृपा होती है और वह उस व्यक्ति को हर तरह से सुखी रखता है। जिन मानवों का आचरण श्रेष्ठ नहीं है, जो दुष्ट प्रकृति के धनी हैं उन पर ईश्वर की कृपा नहीं होती।

प्रथम कर्त्तव्य : सेवा

यहूदी धर्म का अत्यधिक बल मानवता पर रहा है। उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि यदि कोई खूँख्वार दुष्ट भी तुम्हारे द्वार पर आ जाये, जो तुम्हारा शत्रु है, यदि वह भूखा-प्यासा है तो तुम उस व्यक्ति को भोजन कराओ, पानी पिलाओ, यह तुम्हारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। घृणा से घृणा बढ़ती है और ईर्ष्या से ईर्ष्या। तुम्हारे अन्तर्मानस में स्नेह की सरस सरिता प्रवाहित होनी चाहिए, जिससे तुम सभी की सेवा का लाभ ले सको। सत्य, ईमानदारी, ब्रह्मचर्य, दया आदि सद्‌गुणों के आचरण करने के लिए प्रबल प्रेरणा दी है।

पारसी धर्म में आचार

पारसी धर्म के प्रवर्तक जरथस्त्र थे। उनका यह अभिमत था कि धर्म चाहे कितना भी उत्तम क्यों न हो, यदि वह शास्त्र और ग्रन्थों में ही लिखा रहे, किन्तु दैनिक व्यवहार में उसका उपयोग नहीं है तो हमारा उससे कल्याण नहीं हो सकता। अतः उन्होंने दैनिक जीवन में आचरण करना योग्य आचरण-संहिता इस प्रकार प्रस्तुत की।

सच्चा और अच्छा पारसी

प्रत्येक व्यक्ति को भलाई करनी चाहिए, ऐसा कोई भी कार्य न किया जाय जिससे हानि हो, दूसरों को कष्ट हो। भलाई का मार्ग ही खुदा का मार्ग है। पारसी धर्म–हुमता, हुबल, हुबरस्त अर्थात् नेक विचार, नेक वचन और नेक कर्म पर आधृत है। जो जन-जन के साथ भलाई और अच्छाई का व्यवहार करता है वही सच्चा और अच्छा पारसी है।

स्नेह की शक्ति

पारसी धर्म ने दूसरा सद्गुण–एकता व स्नेह-सौहार्दपूर्ण सद्व्यवहार पर बल दिया है। एक-दूसरे में परस्पर विवाद और संक्लेश हो सकता है किन्तु स्नेह से, सद्भावना से, उस संक्लेश को मिटाया जा सकता है। विरोध को दूर कर शान्ति स्थापित की जा सकती है। स्नेह में ही वह शक्ति है जो दो विरोधियों को एक बना सकता है।

सहनशीलता

पारसी धर्म ने तीसरा सद्गुण सहनशीलता को अपनाने के लिए प्रेरणा दी। दूसरों के धर्म और विचारों के प्रति प्रत्येक व्यक्ति को सहनशील तथा उदार होना चाहिए।

स्वार्थत्याग : समर्पण

पारसी धर्म ने चौथा सद्गुण–स्वार्थत्याग पर बल दिया है। केवल स्वयं के सुख का ही विचार न कर दूसरों के सुख-दुःख का प्रथम विचार करना चाहिये। हमारे पास जो कुछ भी बुद्धि, शक्ति और अर्थ है, वह दूसरों को समर्पित करना चाहिये। सुख वही है जिससे दूसरों को सुख हो, एतदर्थ ही पारसी धर्म वाले प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं–"उश्ता अहभाय उश्त कमाये चीत।"

अन्तःकरण की पवित्रता

पारसी धर्म में पाँचवाँ सद्गुण बताया है–अन्तःकरण को पवित्र रखा जाये। अन्तःकरण की शुद्धि दया और प्रेम से होती है। इसलिये दूसरे के साथ धूर्त्ततापूर्ण व्यवहार न किया जाये।

सेवा करो

पारसी धर्म में छठा सद्गुण 'सेवा' धर्म को ग्रहण करने के लिए कहा है। उनका अभिमत है 'जैसे परमात्मा हम लोगों की भूल की ओर ध्यान नहीं देता और हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है वैसे ही हमें किसी के दुर्गुण न देखकर परमार्थ का कार्य करना चाहिये। जो गरीब व असहाय व्यक्ति हैं, उनकी सेवा करनी चाहिये।

निष्ठावान् बनो

पारसी धर्म में सातवाँ सद्गुण दृढ़ निष्ठावान् बनना चाहिये, इस पर बल दिया है। प्रत्येक पारसी का यह कर्त्तव्य है कि पैगम्बर जरथुस्त्र को अपना सही पथ-प्रदर्शक माने, उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करे, धन-दौलत हम साथ नहीं लाये थे और न वह हमारे साथ परलोक में जायेगी ही। हम नैतिक आचरण से ही खुदा को प्राप्त कर सकते हैं। एतदर्थ ही पारसी यह प्रार्थना करता है–"ऐ परवरदिगार ! तू हमें पवित्र कर, सदाचारी बना, ये सद्गुण ही हमें स्वर्ग में काम आयेंगे।"

पारसी धर्म में जीवन की उन्नति के लिए तीन मंत्र दिये हैं। हुमता–सद्विचार, हुबल–सत्कथन और हुबरस्ता–सत्कार्य। इन तीनों के पालन से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस तरह पारसी धर्म में नैतिक आचरण के लिए सद्गुणों को धारण करने पर बल दिया गया है।

●

ईसाई धर्म में आचार

मानवतावादी धर्म

ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा थे। ईसा मानवतावादी धर्म के प्रचारक माने जाते हैं। उनके उपदेशों में आचार-संहिता बिखरी पड़ी है। हम यहाँ ईसाई धर्म के कुछ प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत कर रहे हैं–

अहंकार विसर्जन

जिन मानवों के अन्दर दैत्यभाव उत्पन्न हो गया है, वे धन्य हैं क्यों कि भगवान का साम्राज्य उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होगा। इस उपदेश में अहंकार विसर्जन की भावना रही हुई है। जब तक अहंकार रहेगा, वहाँ तक भगवत् चेतना के संदर्शन नहीं हो सकते।

पापों से ग्लानि

उनका दूसरा उपदेश है–जो आर्तभाव से रोते हैं, वे धन्य हैं क्योंकि उन्हें भगवान की ओर से आश्वासन प्राप्त होगा। यहाँ पर आर्तभाव से रोने का तात्पर्य है अपने पापों के प्रति पूर्ण रूप से ग्लानि होना। जब तक पापों के प्रति अन्तर्हृदय से ग्लानि नहीं होती वहाँ तक सहज रूप से अश्रु नहीं आते।

विनय

उनका तीसरा उपदेश है–विनीत पुरुष धन्य हैं क्योंकि वह विनय सद्गुण से विश्व पर विजय प्राप्त कर लेता है।

तीव्र अभिलाषा

चतुर्थ उपदेश है–जिन मानवों में धर्म-आचरण की तीव्र अभिलाषा है, वे धन्य हैं। वे ही धर्म की पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। जब तक तीव्र अभिलाषा नहीं होती वहाँ तक उसकी गति में प्रगति नहीं हो सकती। गति में प्रगति लाने के लिए तीव्र भावना अपेक्षित है।

दया

पाँचवाँ उपदेश है–दयालु व्यक्ति धन्य है क्योंकि वे भगवान की दया को प्राप्त कर सकते हैं। जो स्वयं दयालु है, वही दूसरों की दया को प्राप्त करने का अधिकारी है।

अन्तःकरण की शुद्धि

उनका छठा उपदेश था–जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, वह धन्य है क्योंकि उसी को ईश्वर का साक्षात्कार होता है। जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता उन्हें ईश्वर के दर्शन भी नहीं होते हैं।

शान्ति

उनका सातवाँ उपदेश था–जो शान्ति का प्रचार करते हैं, वे धन्य हैं क्योंकि शान्ति का प्रचार करना भगवान का उत्तराधिकारी कहलाना है।

धैर्य व क्षमा

उनका आठवाँ उपदेश था–धर्म पर दृढ़ रहते हुए यदि कष्ट भी आ जाये तो उन्हें सहन करना चाहिए क्योंकि भगवान के साम्राज्य को प्राप्त करने के वही अधिकारी हैं।

महात्मा ईसा ने नम्रता, क्षमा, दया, त्याग आदि पर विशेष बल दिया। उन्होंने कहा–यदि तुम्हारे दाहिने गाल पर कोई थप्पड़ भी मार दे तो तुम अपना बायाँ गाल उसके सामने कर दो। यदि तुम्हारा कोई कोट छीन ले तो उसे अपना लबादा भी दे दो। तुम अपने शत्रुओं से प्रेम करो। उनसे घृणा नहीं, उन पर उपकार करो। यदि तुम्हें कोई सताये तो तुम उसके कल्याण के लिए प्रभु से प्रार्थना करो। किसी से लेने की अपेक्षा देना अधिक हितावह है। अभिमानी व्यक्ति का सदा पतन होता है और जो अपने आपको लघु मानता है उसकी उन्नति होती है। किसी को भी कटु शब्द न कहो। मन में बुरे विचार मत लाओ। तुम दूसरों की आलोचना-निन्दा न करो जिससे तुम स्वयं भी दूसरों की आलोचना व निन्दा से बच सकोगे। ब्याज का धन्धा मत करो। गरीब व्यक्ति थोड़ा भी दान देता है तो वह धनवानों के दान से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

महात्मा ईसा को जब सूली पर चढ़ाया गया तब उन्होंने प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहा–प्रभो ! इन लोगों को क्षमा कर दो। क्योंकि ये बेचारे नहीं जानते हैं कि हम क्या कर रहे हैं। इस तरह ईसा के उपदेश में प्रेम, स्नेह और सद्भावना आदि सद्गुणों का आचरण करने की प्रबल प्रेरणा दी गई है।

●

इस्लाम धर्म में आचार

परोपकार

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद हैं, उनका अभिमत है कि दयालु व्यक्ति का यह कार्य है कि वह दूसरों की बुराइयाँ और कमियाँ जानने पर भी उन्हें किसी अन्य व्यक्ति के सामने प्रकट नहीं करे। मानव भूल का पुतला है। जिस दिन मानव कोई भी अपराध न करे, वह दिन ईद का दिन है। व्यक्ति को अपने पापों के अतिरिक्त किसी से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। जो खुदा के मार्ग पर चलता है वही सही मार्ग पर चलता है। जो धन परोपकार के लिए खर्च किया गया है, वही धन तुम्हारा है। शेष धन तुम्हारा नहीं।

बिना फूल का वृक्ष

इस संसार में धैर्य से बढ़कर कोई चीज नहीं है। बिना आचरण का उपदेश बिना फूल की वृक्ष है, जिसमें सौरभ और सौन्दर्य नहीं है। जब तुम्हारे में बदला लेने की सामर्थ्य है तो क्षमा करना सीखो और जब बदला लेने की शक्ति न हो तो सहनशील बनो, जिससे तुम्हारा क्रोध नष्ट हो सके। जो तुम्हारे दोषों को निहारता है उसके प्रति तुम रुष्ट न बनो। क्योंकि वही तुम्हें अपनी भूलें सुधारने के लिए उत्प्रेरित करता है।

सद्व्यवहार करो

जो मानव स्वयं के दोषों को निहारता है, उसे दूसरों के दोष देखने का अवकाश नहीं होता। निन्दा करने वाला और सुनने वाला—ये दोनों ही समान रूप से पापी हैं। पेट और उपस्थ (जननेन्द्रिय) को हराम की जगह से बचाओ। क्योंकि इन्हीं के कारण से हराम के कार्य होते हैं। तुम्हारा कर्त्तव्य है कि जिसने तुम्हारे साथ असद्व्यवहार किया हो, उनके साथ तुम सद्व्यवहार करो।

सदाचार की पोशाक

तुम चमकते-दमकते हुए वेश-भूषा को धारण कर अपने आपको रूपवान समझते हो, पर सदाचार ही वह पोशाक है, जिसको धारण करने पर कुरूप व्यक्ति भी रूपवान बन जाता है। यदि तुमने किसी के साथ भलाईपूर्ण व्यवहार किया है तो उसे किसी के सामने प्रगट न करो। यदि तुम्हारे साथ किसी ने सद्व्यवहार किया है तो उसे प्रगट करो। श्रेष्ठ व्यक्ति वही है, जो सम्यक् आचरण को धारण कर दुराचार का परित्याग करता है। एकान्त में भी कभी भी दुराचार को न अपनाओ क्योंकि खुदा से कोई भी बात गुप्त नहीं है।

श्रीमन्त व्यक्ति वह है जिसने इच्छाओं को नष्ट कर दिया है। जिसकी इच्छाएँ बढ़ी हुई हैं, वह व्यक्ति अत्यधिक दुःखी है। जो शान्ति से जीवन व्यतीत करना चाहता है उसे अपनी इच्छाएँ कम करनी चाहिये।

जहाँ तक हो सके सदा दूसरों की भलाई करो। जो भलाई करता है, उसका अन्त सदा भला ही होगा।

कुरान-शरीफ में शराब पीने और जुआ खेलने की मनाई है।[1] यतीमों (अनाथ) की भलाई करने की प्रेरणा दी है।[2] रजस्वला-काल में स्त्री-प्रसंग

---

१. कुरान-शरीफ—आयत २३५ २. वही, आयत २३६

वर्जित है।[1] नम्रता, संयम, दया, क्षमा आदि को आवश्यक माना है।[2] सूदखोरी को निन्द्य बताया है।[3] इस तरह इस्लाम धर्म में संयम, आचरण-शुद्धता व सत्यनिष्ठा पर बल दिया है, सद्गुणों को अपनाने की प्रेरणा दी है और दुराचारियों से बचने का सन्देश दिया है।

●

सूफी धर्म में आचार

सूफी मत इस्लाम का ही एक उप-सम्प्रदाय माना जाता है। उसका मूल आधार भी कुरान-शरीफ है। पर सूफी सन्तों की साधना और आचार परम्परा इस्लामियों से भिन्न है। इसलिये मंसूर जैसे सूफी सन्तों को परम्परावादी इस्लामियों ने मृत्यु-दण्ड दिया। सूफी शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कितने ही विद्वानों का मानना है कि सूफी शब्द सफा (पवित्र) से बना है। जो लोग पवित्र थे, वे सूफी कहलाये।[4] कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि सूफी शब्द ऊन से निर्मित हुआ है।[5] सूफी साधक ऊन का वस्त्र धारण करते थे। इसीलिये उन्हें सूफी कहा गया है। ईसा की नवमी शताब्दी के प्रारम्भ में यह शब्द प्रचलित हो गया।[6] प्रारम्भ में मुसलमान साधक संन्यासी जीवन व्यतीत करते थे। वे अत्यन्त विनम्र थे और गरीबी से अपना जीवनयापन करते थे। वे वैयक्तिक रूप से साधना में रत रहते थे। पहले उनका कोई संगठित रूप नहीं था। वह बाद में विकसित हुआ। उसके सिद्धान्तों पर वेदान्त और बौद्ध दर्शनों का प्रभाव है।

आस्था का केन्द्र–ईश्वर

सूफी-आस्था का केन्द्र ईश्वर है। पर उनका ईश्वर संसार से अलग कहीं सातवें आसमान पर नहीं है। वह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् में है। सारा विश्व उसी का ही प्रदर्शन है। सूफियों का मन्तव्य है कि ईश्वर ही वास्तविक है, वह एक, सर्वत्र, सर्वरूप है।[7] वह अद्वितीय सौन्दर्यवान है, प्रेम स्वरूप है। वह प्रियतम है,

---

१. कुरान-शरीफ, आयत २३८-२४०
२. वही, आयत २६१
३. वही, आयत, ३१५-३३२
४. सूफीमत और हिन्दी साहित्य (डॉ. विमलकुमार जैन), पृ. १
५. सूफीमत–साधना और साहित्य (रामपूजन तिवारी), पृ. १७२
६. वही, पृ. १७३
७. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ. ४७

प्रेम है, और प्रेमी भी है। जामी ने कहा–मैं वही हूँ जिसे मैं प्यार करता हूँ और जिससे मैं प्रेम करता हूँ मैं वही हूँ। एक ही शरीर में वास करने वाले हम दो प्राण हैं।[1]

अल्लाह का रूप–व्यापक

सूफी परमात्मा को अपना माशूक यानी प्रियतम मानते हैं। इस्लाम का कहना है कि जो ईश्वर आराध्य है, उपास्य है–वह माशूक कैसे हो सकता है। इसलिये परम्परावादी इस्लामियों ने उन पर अत्याचार किया। और उनसे बचने के लिए प्रतीकात्मक प्रेम का आश्रय लिया। उनके लिए सांसारिक प्रेम (इश्के-मिजाजी) परमात्म-प्रेम (इश्के-हकीकी) का रास्ता है। उनका मन्तव्य है मानवीय प्रेम से ही आध्यात्मिक प्रेम तक पहुँचा जा सकता है। जो मानव सांसारिक प्रेम को नहीं जानता, वह आदर्श प्रेम को कैसे अपनायेगा। मानवीय प्रेम जो सीमित है, वह बढ़ते-बढ़ते विश्व में छा जाता है। सौन्दर्य की सीमित परिधि अन्त में अनन्त सौन्दर्य तक पहुँच जाती है। इस तरह सूफी धारणा में अल्लाह का रूप इस्लाम की धारणा की अपेक्षा व्यापक और उदात्त है।

नफ्स और रूह

जहाँ सूफी सम्पूर्ण सृष्टि में परमात्म तत्त्व के दर्शन करते हैं, वहाँ वे उससे अभेदत्व भी अनुभव करते हैं। परमात्मा को जानने के लिए आत्मा को जानना आवश्यक है। आत्मा में भेद हैं–नफ्स और रूह। नफ्स निम्न कोटि की आत्मा है जिसमें प्रत्येक बुराइयाँ हैं, रूह उच्च कोटि की आत्मा है। आत्मा पवित्र है। पर नफ्स उसे बुराइयों की ओर प्रेरित करता है। साधना से ही उन बुराइयों को दूर किया जा सकता है। साधक का लक्ष्य उस नफ्स पर विजय प्राप्त करना है।

पथ-प्रदर्शक गुरु

सूफियों का मानना है–साधक को कठोर साधना-पथ पर बढ़ते समय पथ-प्रदर्शक के रूप में गुरु की आवश्यकता है। इसलिये वह अपने गुरु (शेख), पीर (मुर्शीद) को सर्वाधिक प्यार करता है। क्योंकि गुरु में वह सामर्थ्य है कि शिष्य की जो भी आध्यात्मिक-मार्ग में कठिनाइयाँ हैं, उन्हें वह दूर करता है। गुरु की वाणी में परमात्मा का स्वर झंकृत होता है। गुरु आचरण के सारे सोपान बताता है। इस प्रकार आचरण करने से परमात्मा के दर्शन होते हैं। गुरु के मार्ग-दर्शन में सूफी सर्वप्रथम नफ्स से मुक्त होने का प्रयास करता है और उसके लिये आत्म-शुद्धि की आवश्यकता होती है। इस्लाम में आत्म-शुद्धि के लिये पाँच बातें आवश्यक

१. सूफीमत–साधना और साहित्य, पृ. ३१६

मानी हैं[१]–(१) तोहीद (एक ईश्वर पर विश्वास), (२) सलात (प्रार्थना), (३) रोजा (उपवास), (४) जकात (दान), (५) हज (काबे की यात्रा)। पंचकालिक नमाजों के सम्बन्ध में सूफियों की यह धारणा है कि ईश्वर सर्वकालिक और सर्वत्र है अतः कोई एक निश्चित स्थान और समय आवश्यक नहीं। हर क्षण और हर स्थान पर प्रार्थना की जा सकती है। इस्लाम में रमजान के माह में भी रोजा (उपवास) रखने का महत्त्व है। दिन में वे भोजन आदि नहीं करते, पर रात्रि में भोजन आदि किसी भी प्रकार का निषेध नहीं। सूफी साधक उपवास को तो महत्त्व देते हैं, पर रमजान के महीने में बँधकर नहीं। वे कहते हैं, जो सच्चा प्रेमी है उसे भूख-प्यास कहाँ सताती है? उपवास वह स्वयं करता नहीं, हो जाता है।[२] परम्परावादी इस्लामी जकात (दान) करते थे, पर सूफी अपने परम प्रिय परमात्मा के लिए सर्वस्व समर्पण करने में विश्वास करता है। वह अहं का त्याग ही सबसे बड़ा त्याग मानता है। ईश्वर सर्वत्र है अतः 'मक्का' जाने की आवश्यकता नहीं। सार यह है कि इस्लाम की परम्परा से प्रचलित इन पाँचों बातों पर सूफियों को विश्वास नहीं है।

विशिष्ट आचरण

सूफियों के विशिष्ट आचरण होते हैं–(१) वे दुराचार के पाप से मुक्त बनने के लिए पश्चात्ताप करते हैं। पश्चात्ताप में राबिया रोया करती थी।[३] पश्चात्ताप के लिए सूफियों ने जिक्र (जप) एवं ध्यान को अत्यधिक महत्त्व दिया है। जिक्र से तात्पर्य है परमात्मा को स्मरण करना 'ला अल्लाह इल्ल अल्लाह' यह उनका मूल मंत्र है। जिक्र के दो भेद बताये हैं–(१) जिक्र-जली, और (२) जिक्र-खपी। जिक्र-जली यानी उच्च स्वर से नामोच्चारण करना। जिक्र-खपी–एकाग्रता के साथ शान्त भाव से नाम स्मरण करना। जिक्र के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाएँ प्रचलित हैं। कितने ही साधक नेत्रों को बन्द कर श्वास-प्रश्वास के साथ ध्यान करते हैं। जब श्वास बाहर आता है तब उन्हें लगता है कि 'ला-इल्लाह' कहता और जब श्वास भीतर जाता है तब 'इल-अल्लाह' कहता है। कुछ साधकों का यह भी मन्तव्य है कि ज्ञात-अज्ञात स्थिति में 'अल्लाह' का उच्चारण अपने आप चलता रहता है उसके लिए विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं।

साधना पद्धति

सूफी जिक्र के लिए 'माला' (तसबीह) का भी उपयोग करते हैं। जिससे नाम-

---

१. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ. ५५
२. वही, पृ. ५६
३. वही, पृ. ६०

स्मरण की संज्ञा का परिज्ञान हो सके। कौलुल जमील में साधना पद्धति का भी विस्तार से निरूपण है। और श्री रामपूजन तिवारी ने भी 'सूफीमत–साधना और साहित्य' ग्रन्थ में विविध प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। 'जिक्र-जली' का विकसित रूप ही संगीत है। जिसमें समां बँध जाता है। संगीत का ऐसा समस्वर पाठ से सभी के भावनाओं में एकतानता उत्पन्न होती है। सूफियों ने संगीत को अन्तर्दृष्टि खोलने का साधना माना है। सांसारिक सौन्दर्य की प्रशंसा परम सौन्दर्य के लिये 'पुल' का कार्य करती है। संगीत और वाद्य आदि से भावोल्लसित होकर वह नृत्य भी करता था, जिसे 'रक्स' कहते हैं।

कुण्डलिनी चक्र, जो योग-साधना में प्रचलित है, उससे मिलता-जुलता ही सूफीमत में लताइफ का सिद्धान्त है। शेख अहमद ने शरीर के छह स्थानों का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है–

(१) नफ्स–इसका स्थान नाभि के नीचे है।

(२) कल्ब–छाती के बायीं ओर अवस्थित है।

(३) रुह–छाती के दाहिनी ओर अवस्थित है।

(४) सिर्र–कल्ब और रूह के बीच में है।

(५) खफी–इसका स्थान ललाट है।

(६) अख्फा–मस्तिष्क में अवस्थित है।

ज्यों-ज्यों साधक साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता चला जाता है त्यों-त्यों उसके विकार नष्ट होते चले जाते हैं। अन्त में वह उस अवस्था को प्राप्त करता है जिसे सूफी 'आलमे हैरत' कहते हैं।

प्रेम के पथिक होने के कारण सूफी मतावलम्बी मानते हैं कि किसी को कष्ट न दिया जाये और ऐसा सदाचरण किया जाये जिसमें प्रेम का प्राधान्य हो और उसी दृष्टि से उन्होंने अपनी आचार-संहिता पर बल दिया है।

●

सिख धर्म में आचार

सिख धर्म की जन्म-भूमि भारत ही है, किन्तु देश-काल की परिस्थितियाँ विदेशी प्रभाव से संक्रमित थीं, इस्लाम का बढ़ता प्रभाव और भारतीय धर्मों पर होते आक्रमण को रोकने, उसका मुकाबला करने की विशेष भावोत्तेजना में सिख धर्म का उदय हुआ। इसलिए इसमें सदाचार के साथ ही वीरता, बलिदान

और इस्लाम के भाईचारा का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, वैसे गुरु नानकदेव के चिन्तन पर भारतीय उपनिषद् के तत्त्वज्ञान का गहरा प्रभाव है।

सद्गुणों का आचरण

सिखधर्म के आद्य संस्थापक गुरु नानकदेव हैं। उन्होंने कहा–सत्य सबसे श्रेष्ठ है। परन्तु सत्य से भी ऊँचा यदि कोई है तो "आचार" है।[1] जब तक सत्य का आचरण नहीं किया जायेगा तब तक सत्य केवल वाणी का विलास होगा। इसलिये सत्य आदि सद्गुणों का आचरण करना आवश्यक है। आचरण से ही मानव का सामाजिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष हो सकता है। गुरुग्रन्थ साहिब में गुरु नानकदेव ने स्पष्ट कहा है–परमात्मा पर विश्वास रखने से मानव बुरे कार्य करने से रुकता है। काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार, प्रभृति दुर्गुणों पर नियन्त्रण करने से चरित्र उन्नत होता है।[2] निम्न सद्गुणों का आचरण प्रत्येक सिख के लिये आवश्यक है–

(१) सत्य, सन्तोष, विचार।

(२) दया, धर्म, दान।

(३) लगन, सबर, संयम।

(४) क्षमा, निर्धनता, सेवा।

(५) प्रेम, ज्ञान और कर्म करना।

धर्म और सदाचार

सिख धर्म में स्त्री और पुरुष को यह समान अधिकार है कि वह अपने जीवन का सुधार करें। उसे पाठ करना, संगत में जाना तथा जुल्म के विरुद्ध लड़ना आवश्यक है।[3] सिख धर्म में संसार को असार मानकर उसे त्यागने पर बल नहीं दिया किन्तु असार संसार में रहकर सदाचार के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी है। सिख मत में धर्म और सदाचार एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। जैसे धर्म के बिना सदाचार असम्भव है तो सदाचार के बिना धर्म प्राणरहित है।

---

१. सच्चो उरै, समझो ऊपर सच्च आचार। –*गुरुग्रन्थ साहिब, पृ. ६२*

२. काम, क्रोध, लोभ, मोह मिटाये, छुटकै दुरमति अपनी यारी।
–*गुरुग्रन्थ साहिब, पंचम गुरु अर्जुनदेव*

३. चूँकार अज हमा ही लते दर गुजरत।
हलाल असत बुरदनबं समसीर दस्त॥ –*दशम ग्रन्थ–गुरु गोविन्दसिंह*

इस तरह सिख धर्म में आचार पर प्रकाश डाला है और उसे जीवन का मूल मन्त्र कहा है।

संक्षेप में समस्त धर्मों के आचार सम्बन्धी नियमों में ईश्वर-उपासना, सत्य, दया, परोपकार, ब्रह्मचर्य, दान और मैत्री-भाव पर ही विविध रूपों में बल दिया गया है।

●●

आचार-प्रेरक सूत्र

जो मनुष्य बिना पूछे अपने शीलव्रतों की चर्चा करता है, आत्म-प्रशंसा करता है, उसे ज्ञानियों ने निम्न आचरण कहा है। —*सुत्तनिपात ४/४१/३*

पूजा (सत्कार) के बदले में पूजा मिलती है, और वन्दन के बदले में प्रतिवन्दन।
—*जातक २२/५३८/१७*

कोई कैसा ही क्यों न बलवान हो, यदि वह असत्यवादी एवं पापी है, तो उसे सोम देवता किसी महान् कार्य के लिए नियुक्त नहीं करते।
—*ऋग्वेद ७/१०४/१३*

दान कभी नष्ट नहीं होता। —*ऋग्वेद ८/२४/९*

तेरे मन, वाणी, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र सब शान्त तथा निर्दोष हों।
—*यजुर्वेद ६/१५*

सत्पुरुष अपने जीवन के प्रत्येक दिन को विविध सत्कर्मों से सफल बनाते हैं।
—*ताण्ड्य ब्राह्मण २१/९/७*

मनुष्य कभी धन से तृप्त नहीं हो सकता। —*कठ उपनिषद् १/२७*

जो अपने कर्त्तव्यों को अन्त तक पार (पूरा) कर देता है, वही वास्तव में बुद्धिमान है। —*वाल्मीकि रामायण ८/१४*

संसार में मनुष्य को सदाचारी बन्धु तराते हैं, और दुराचारी बन्धु डुबोते हैं।
—*महाभारत-उद्योगपर्व ३९/२५*

दुर्व्यसन एवं मृत्यु इन दोनों में दुर्व्यसन ही अधिक कष्टप्रद है।
—*मनुस्मृति ७/५३*

७. जैन आचार : विहंगम अवलोकन

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

जैनधर्म भारत का एक प्रमुख धर्म और दर्शन है। यह धर्म मानव-मनोविज्ञान के आधार पर चलता है, इसलिए इसका चिन्तन व्यापक व जीवनस्पर्शी है। यह दर्शन के क्षेत्र में जहाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु तक का विवेचन करता है, वहाँ धर्म-आचार के क्षेत्र में जीवन की प्रत्येक गतिविधि, क्रिया, भावना और वृत्तियों का विश्लेषण, समीक्षण, संशोधन और उदात्तीकरण करता है। विचार और आचार को समान महत्त्व देकर दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का मार्ग बताता है, इसीलिए जैन धर्म में आचार और विचार को, ज्ञान और क्रिया को समान महत्त्व दिया है। श्रमण भगवान महावीर ने आचार व नैतिकता का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है; वह बहुत ही अद्‌भुत व अनुपम है।

आचार के भेद-प्रभेद

नवाङ्गी टीकाकार आचार्य अभयदेव[1] ने आचार शब्द के तीन अर्थ किये हैं– (१) आचरण, (२) आसेवन, और (३) व्यवहरण। जैन आगमों में आचार के विभिन्न दृष्टियों से भेद-प्रभेद किये गये हैं। कहीं पर श्रुत धर्म और चारित्र धर्म के रूप में उसके दो भेद हैं।[2] तो कहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप में तीन भेद हैं।[3] तो कहीं ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप–ये चार भेद माने हैं।[4] तो कहीं ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार–ये पाँच भेद किये हैं।[5] हम गहराई से चिन्तन करें तो ज्ञात होगा कि संख्या-भेद होने पर भी सैद्धान्तिक दृष्टि से इनमें कुछ भी मौलिक अन्तर नहीं है। विभिन्न प्रकार से समझाने के लिए भेदों की कल्पना है। श्रुतधर्म में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का

---

१. (क) आचरणमाचारो व्यवहारः। –*स्थानांगवृत्ति, पत्र ६०*
(ख) आचरणमाचारो ज्ञानादि विषयासेवेत्यर्थः। –*वही, पत्र ३०९*

२. स्थानाङ्ग २/७२

३. तत्त्वार्थसूत्र

४. उत्तराध्ययन २८/२

५. स्थानांग ४/१४७

समावेश हो जाता है और चारित्रधर्म में चारित्र का। इसी तरह चारित्र में तप भी समाविष्ट हो जाता है। आचार के जो पाँच भेद किये गये हैं, उनमें प्रथम दो का ज्ञान में और अन्तिम तीन का चारित्र में समाहार किया जा सकता है, क्योंकि तप और वीर्य ये दोनों चारित्र साधना के ही अंग हैं। इस तरह ज्ञान और क्रिया में, आचार और विचार में सभी भेदों का समावेश हो जाता है।

ज्ञानाचार

आचार मानव का क्रियात्मक पक्ष है। समूचे ज्ञान का सार आचार है। आचार के जो पाँच प्रकार हैं उनमें सबसे प्रथम ज्ञानाचार है। ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल–ये पाँच भेद हैं। पाँच भेदों में केवल श्रुतज्ञान ही आचरण का विषय है, वही ज्ञान व्यवहारात्मक है।[1] निशीथभाष्य[2] गाथा ८-९ में आचार्य संघदासगणी ने ज्ञानाचार के आठ प्रकार बताये हैं, वे इस प्रकार हैं–

(१) काल–जिस काल में जो कार्य निर्दिष्ट है, वह कार्य उसी काल में करना।

(२) विनय–ज्ञान प्राप्त करने के लिए विनम्रतापूर्ण सद्-व्यवहार करना।

(३) बहुमान–अन्तर्मानस में ज्ञान के प्रति अनुराग होना।

(४) उपधान–शास्त्र पढ़ने के समय विविध प्रकार के तप का अनुष्ठान करना।

(५) अनिह्नव–जिस गुरु से अध्ययन किया है, उस गुरु के नाम को न छिपाना।

(६) व्यञ्जन–सूत्र का वाचन करना।

(७) अर्थ–अर्थ को समझना।

(८) सूत्रार्थ–सूत्र और अर्थ का साथ में बोध करना।

दर्शनाचार

आचार का द्वितीय भेद दर्शनाचार है जिसका अर्थ है, सम्यक्त्व-विषयक आचरण। सम्यग्दर्शन का अर्थ है सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा। दर्शनाचार के आठ अंग हैं, वे इस प्रकार हैं–

(१) निःशंकित–शंका का अर्थ सन्देह और भय दोनों ही है।

---

१. अनुयोगद्वार २

२. काले विणये बहुमाने, उवधाने तहा अणिण्हवणे।
वंजणअत्थतदुभए, अट्ठविधो णाणमायारो ॥८॥

शान्त्याचार्य ने उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति[1] में, आचार्य हरिभद्र ने श्रावक धर्म प्रकरण वृत्ति (पत्र २०) में, आचार्य अभयदेव ने स्थानाङ्ग वृत्ति (पत्र १७६) में, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र (२/१७) में, आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रवचनसारोद्धार (पत्र ६९) में, आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार (१/११) में, आचार्य शिवकोटि ने मूलाराधना विजयोदया टीका (१/४४) में शंका का अर्थ सन्देह किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार[2] में शंका का अर्थ भय किया है। आचार्य श्रुतसागर ने तत्त्वार्थ वृत्ति (७/२३) में शंका का; भय और शंका दोनों अर्थ किये हैं। इस तरह संक्षेप में निःशंकित का अर्थ है जिनभाषित तत्त्व के प्रति असंदिग्ध होना और सात प्रकार के भयों से भयभीत न होकर अभय होना। यही सम्यग्दर्शन का आचार है।

(२) निष्कांक्षित–कांक्षा के दो अर्थ हैं–(१) एकान्तदृष्टि वाले दर्शनों को स्वीकार करने की इच्छा करना।[3] (२) धर्माचरण के द्वारा सुख समृद्धि पाने की इच्छा करना।[4] इन दोनों प्रकार की इच्छाओं से रहित निष्कांक्षित है। वही सम्यग्दर्शन का आचार है।

(३) निर्विचिकित्सा–आचार्य नेमिचन्द्र[5] ने विचिकित्सा के दो अर्थ किये हैं–(१) धर्म के फल में सन्देह, और (२) जुगुप्सा–घृणा। आचार्य अमृतचन्द्र[6] ने विचिकित्सा का अर्थ किया है–भूख-प्यास, शीत-उष्ण प्रभृति नाना प्रकार के भावों तथा मल आदि पदार्थों से घृणा न करना। आचार्य समन्तभद्र[7] ने निर्विचिकित्सा का अर्थ किया है जो शरीर स्वभावतः अपवित्र है, किन्तु रत्नत्रयी से पवित्र शरीर में ग्लानि न करना और सद्गुणों से प्रीति करना।

(४) अमूढ़-दृष्टि–मूढ़ता का अर्थ है–मोहमयी दृष्टि। आचार्य हरिभद्र[8] ने एकान्तवादी तीर्थिकों की विभूति को देखकर मोह उत्पन्न होने को मूढ़ता कहा है। उस मूढ़ता का अभाव होना अमूढ़दृष्टि है।

---

१. शंकनं शंकितं-देशसर्वशंकात्मकं तस्याभावो निःशंकितम्।
–*उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५६७*

२. सम्मदिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा हु णिस्संका॥ –*समयसार, गाथा २२८*

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २४

४. तत्त्वार्थसूत्र ७/२३ वृत्ति

५. प्रवचनसारोद्धार २६८ वृत्ति, पत्र ६४

६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २५

७. रत्नकरण्ड श्रावकाचार १/१३

८. श्रावकधर्मविधि प्रकरण ५८-६०

(५) उपबृंहण–सम्यग्दर्शन की पुष्टि करना उपबृंहण है। वसुनन्दि श्रावकाचार (४८) में उपबृंहण के स्थान पर 'उपगूहन' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसका अर्थ है–प्रमादवश हुए दोषों का प्रचार न करना व अपने गुणों का गोपन करना। आचार्य अमृतचन्द्र ने उपगूहन को उपबृंहण का ही एक प्रकार कहा है। उनके अभिमतानुसार स्वयं के आत्म-गुणों की वृद्धि करना और दूसरों के दोषों का निगूहन करना–ये दोनों उपबृंहण के अंग हैं।

(६) स्थिरीकरण–आचार्य नेमिचन्द्र, आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य समन्तभद्र[1] ने स्थिरीकरण का अर्थ किया है–धर्म व न्यायमार्ग से विचलित हो रहे व्यक्तियों को फिर उस मार्ग में स्थिर करना, स्थिरीकरण या स्थितिकरण है।

(७) वात्सल्य–मोक्ष में सहायक धर्म, व धार्मिकों में वत्सल-भाव रखना, उनकी यथायोग्य प्रतिपत्ति रखना, साधर्मिक श्रमणों को आहार-वस्त्र आदि देना, गुरु, ग्लान, तपस्वी, शैक्ष तथा अन्य आये हुए श्रमण की विशेष सेवा करना वात्सल्य है।[2]

(८) प्रभावना–जिससे चतुर्विध तीर्थ–श्रमण, श्रमणी, श्रावक व श्राविका की उन्नति हो, उस प्रकार का प्रयत्न करना। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से अपनी आत्मा को प्रभावित करना और जिनशासन की महिमा और गरिमा बढ़ाना, प्रभावना है।[3] आठ प्रकार के व्यक्ति प्रभावक माने गये हैं।[4] वे इस प्रकार हैं–

(१) प्रवचनी–द्वादशांग को धारण करने वाला, युगप्रधान आगमों का ज्ञाता पुरुष।

(२) धर्मकथी–धर्मकथा कहने में कुशल।

(३) वादी–वाद-विद्या कला में निपुण।

(४) नैमित्तिक–निमित्तशास्त्रों का पारंगत।

(५) तपस्वी–तप करने में शूर।

(६) विद्याधर–प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं में पारगामी।

(७) सिद्ध–सिद्धिप्राप्त।

(८) कवि–कवित्व शक्ति से युक्त।

---

१. (क) प्रवचनसारोद्धार २६८ वृत्ति, पत्र ६४ (ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २८
(ग) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, १/१६

२. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५६७

३. वही, पत्र ५६७

४. योगशास्त्र २/१६ वृत्ति, पत्र ६५

आचार्य हरिभद्र ने सिद्ध के स्थान पर अतिशय-ऋद्धि सम्पन्न और कवि के स्थान में राजाओं के द्वारा सम्मत व्यक्ति को प्रभावक माना है।[1]

दर्शनाचार के ये आठों अंग सत्य की आस्था के द्योतक हैं। कोई भी व्यक्ति जब तक शंका आदि दोषों से मुक्त नहीं होता तब तक वह सत्य की आराधना नहीं कर सकता और न उनके प्रति सही रूप में आस्थावान ही रह सकता है। स्वयं ने जिस धर्म को स्वीकार किया है या साधर्मिकों का उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना बिना किये कोई भी व्यक्ति सत्य की उपासना करने में दूसरों का सहयोगी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से इन अंगों का महत्त्व रहा है।

चारित्राचार

आचार का तृतीय भेद चारित्राचार है। चारित्राचार का अर्थ है समिति-गुप्ति रूप आचरण। समिति का अर्थ है सम्यक्-प्रवर्तन। जो प्रवृत्ति अहिंसा से सम्बलित है, वह समिति है और गुप्ति का अर्थ है निवर्तन। समिति-गुप्ति के आठ प्रकार हैं।[2] पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियों का प्रणिधान, जो समस्त चारित्र के उत्पादन, रक्षण और विशोधट में अनन्य साधन रूप है।

तपाचार

आचार का चतुर्थ भेद तप है। भारतीय आचार-पद्धति में तप का प्रमुख स्थान रहा है। जैन और वैदिक महर्षियों ने उसे साधना का अपरिहार्य अंग माना है। जैन साधना के अनुसार तप का अर्थ केवल काय-क्लेश या उपवास ही नहीं है। स्वाध्याय, ध्यान, विनय आदि भी तप हैं। तप के मुख्य दो प्रकार हैं–(१) बाह्य, और (२) आभ्यन्तर। (१) अनशन, (२) अवमोदरिका, (३) भिक्षाचर्या, (४) रस-परित्याग, (५) काय-क्लेश, और (६) प्रतिसंलीनता–ये छह बाह्य तप हैं। इनके आचरण से देहाध्यास छूट जाता है। देहासक्ति साधना का विघ्न है। एतदर्थ ही मनीषियों ने देह के ममत्व के त्याग का उपदेश दिया है। शरीर धर्म-साधना का साधन है। इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जितनी देहासक्ति होगी, उतना ही प्रमाद और विलासिता बढ़ेगी। धर्म साधना के लिए शरीर की सुरक्षा भी आवश्यक है। श्रमण का एक विशेषण 'वोसट्ठचत्तदेहे' यह देहासक्ति के त्याग का प्रतीक है। आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं–(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, और (६) व्युत्सर्ग। इनसे साधना में

---

१. श्रावक धर्म विधि प्रकरण, श्लोक ६७

२. परिधाण जोगजुत्तो, पंचहि समितीहिं तिहिं य गुत्तीहिं ।
एस चरित्ताचारो अट्ठविहो होति णायव्वो ॥ –*निशीथभाष्य, गाथा ३५*

जागरूकता, परस्परोपग्रह की भावना, मानसिक एकाग्रता व इन्द्रियों के नियन्त्रण की क्षमता बढ़ती है और अन्त में पूर्ण ममत्व का विसर्जन किया जाता है। प्रस्तुत आचार से साधक के जीवन में निखार आता है।

वीर्याचार

आचार का पाँचवाँ भेद वीर्याचार है। ज्ञान आदि के विषय में शक्ति का अगोपन तथा अनतिक्रम वीर्याचार है।

ज्ञान और आचार

इस प्रकार भगवान महावीर ने यह स्पष्ट उद्घोषणा की कि ज्ञान स्वयं आचार है, श्रद्धा स्वयं आचार है, नियमों का पालन करना स्वयं आचार है, तप स्वयं आचार है। सत्कर्म करने की शक्ति भी स्वयं में आचार है। यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात ने ज्ञान को ही आचार कहा है। उनके अनुसार आचार ज्ञान से भिन्न नहीं है। ज्ञान ही सद्गुण है। किन्तु भगवान महावीर ने ज्ञान, श्रद्धा, क्रिया, तप और आत्म-शक्ति को आचार की संज्ञा दी है। कितना व्यापक दृष्टिकोण है महावीर का। यदि ज्ञान और आचार विभक्त हैं, एक-दूसरे के पूरक नहीं हैं, एक-दूसरे में समन्वय नहीं है तो वह ज्ञान, ज्ञान नहीं है, आचार भी सही आचार नहीं है। ज्ञान और आचार ये दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं।

जैन आचार का आधार

जैन आचार के मूल में अहिंसा की उदात्त भावना रही हुई है। अहिंसा के आधार पर ही जैन आचार विकसित हुआ है। आचारांगसूत्र में श्रमण भगवान महावीर की जो जीवन-गाथा दी गई है, महावीर ने जो साधना-काल में भयंकर कष्ट व उपसर्ग सहन किये उन सभी कष्टों के सहन करने में अहिंसा की उदात्त भावना ही निहित रही है। भगवान महावीर की भाँति उग्र साधना करना सामान्य साधक के लिए कठिन ही नहीं, अपितु असम्भवप्राय है। अहिंसा का सम्यग् प्रकार से पालन करने के लिए आवश्यक है कि गृहस्थाश्रम का त्याग किया जाये। गृहस्थाश्रम में रहकर अहिंसा का पूर्ण पालन नहीं हो सकता। गृहस्थाश्रम को छोड़कर श्रमण बनना ही पर्याप्त नहीं माना गया किन्तु श्रमण-जीवन ग्रहण करने के पश्चात् भी ऐसी आचार-संहिता निर्माण की गई जिससे उसके जीवन में अधिकाधिक अहिंसा का पालन हो सके। श्रमण के लिए न अशन का निर्माण किया जाय, न वसन का और न भवन का निर्माण किया जाय। यदि श्रमण को यह परिज्ञात हो जाये कि ये मेरे लिए निर्मित हैं, या पुराने में अभिनव संस्कार का नूतन रूप दिया गया है तो उसे भिक्षु ग्रहण नहीं करता। भिक्षु का जीवन निराला

जीवन है। वह उद्दिष्टत्यागी है। जो वस्तु अनुद्दिष्ट है और वह वस्तु उसके उपयोगी है तो उसे वह ग्रहण करता है। दशवैकालिक[1], प्रश्नव्याकरण (१/१५), सूत्रकृताङ्ग (१-९-१४), और उत्तराध्ययन (२०/४७) आदि आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। जो श्रमण औद्देशिक आहार की गवेषणा करता है वह उद्दिष्ट आहार के निर्माण में होने वाली त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा की अनुमोदन करता है। इसलिए उद्दिष्ट आहार हिंसा और सावद्य से युक्त होने से श्रमणों के लिए अग्राह्य है। यही कारण है कि जैन श्रमण किसी भी गृहस्थ के यहाँ भोजन के निमंत्रण को स्वीकार नहीं करता। जबकि वैदिक परम्परा के सन्त और बौद्ध परम्परा[2] के भिक्षु निमंत्रण को स्वीकार कर उद्दिष्ट आहार ग्रहण करते थे।

प्राचीनकाल में वैदिक परम्परा के ऋषियों के लिए आश्रमों की व्यवस्था थी। बड़े-बड़े आश्रमों के उल्लेख मिलते हैं। भगवान महावीर भी अपने साधनाकाल के प्रथम वर्ष में 'दुइज्जंत' तापसों के विशाल आश्रम में ठहरे थे। बौद्ध भिक्षुओं के लिए अनेक विशाल विहार निर्माण किये गये थे। किन्तु जैन श्रमणों के लिए कहीं भी स्थानक या उपाश्रय नहीं बनाये गये थे, क्योंकि श्रमणों के लिए निर्मित भवनों में श्रमण नहीं ठहरा करते थे।

जैन श्रमण वस्त्रों का उपयोग करते थे, पर विशेष मर्यादा के साथ। अत्यन्त बहुमूल्य, रंग-बिरंगे वस्त्र वे धारण नहीं करते थे, जबकि बौद्ध भिक्षु बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। उनके वस्त्र खरीदे हुए भी होते थे। भक्तगणों की ओर से भिक्षुओं के लिए वस्त्रदान की व्यवस्था भी थी। किन्तु इस प्रकार जैन श्रमण वस्त्र आदि नहीं लिया करते थे। वे निर्दोष वस्त्र मिलने पर अपनी मर्यादानुसार ही वस्त्र लेते थे और आवश्यकतानुसार ही उनका उपयोग करते थे। इस तरह जैन श्रमण के प्रत्येक आचरण में अहिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावना परिलक्षित होती है।

अहिंसा आचार है

अहिंसा महाव्रत से ही विकसित होने वाले सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–इन पाँचों महाव्रतों का सम्यग् रूप से पालन करना श्रमण-जीवन के लिए अनिवार्य था। रात्रि-भोजन का परित्याग भी अहिंसा महाव्रत के पालक श्रमण के लिए आवश्यक था। और वह महाव्रत की भाँति ही एक व्रत के रूप में श्रमण-जीवन का आवश्यक अंग बन गया। जैन श्रमण का जीवन भिक्षा पर

१. दशवैकालिक ३/२, ५/१/५५, ६/४८-४९, ८/२३, १०/४
२. विनयपिटक महावग्ग ६/४/३, पृ. २३४

अवलम्बित है। पर वह भिक्षा नवकोटि विशुद्ध होनी चाहिए। सभी वस्तुएँ उसे माँगने से ही प्राप्त होती हैं।[1]

श्रमण को भिक्षा में चाहे इष्ट पदार्थ प्राप्त हो, चाहे अनिष्ट पदार्थ प्राप्त हो, वह उसका समभावपूर्वक उपयोग करता है। उसमें किंचित् मात्र भी आसक्ति और गृद्धि नहीं होनी चाहिए। भगवान महावीर ने उग्र तप की साधना कर अपने साधकों को यह सन्देश दिया कि हे श्रमणो ! यदि किसी भी प्रकार का कोई भी कष्ट आये उसे समभावपूर्वक सहन करो। 'देह दुक्खं महाफलं' समझकर समाधि में लीन रहो। ध्यान व तप की आग में कषायों को जलाकर बन्धनों से मुक्त बनो। निष्कर्ष की भाषा में, अहिंसा आचार है और हिंसा अनाचार है।

आध्यात्मिक चिन्तन

जैन आचार के पीछे मुख्य रूप से आध्यात्मिक चिन्तन रहा हुआ है। उसने बाह्य आचार को भी महत्त्व दिया है पर वह बाह्य आचार आध्यात्मिक आचार को पुष्ट करता है तो उपादेय है। वैदिक आचार-संहिता में बाह्य आचार को अधिक महत्त्व दिया है। स्नान, दन्तधावन, वस्त्र-प्रक्षालन आदि शारीरिक शुद्धि को अत्यधिक आवश्यक माना गया है। बौद्ध भिक्षु भी स्नान करते थे।[2] पर महावीर ने उत्तराध्ययन (२/८, १५/८), दशवैकालिक (३/२), आचारांग (२/२/२/१), सूत्रकृतांग (१/७/२१-२२) में स्नान का निषेध किया और यहाँ तक कहा कि भीष्म ग्रीष्म ऋतु में गर्मी से परेशान होकर भी श्रमण स्नान की इच्छा न करे।[3] जो लोग स्नान से मोक्ष मानते थे उन्हें महावीर ने कहा–प्रातः स्नान आदि से मोक्ष नहीं है।[4] दन्तधावन आदि को भी महावीर ने अनाचीर्ण माना। उनका लक्ष्य 'आत्म-शुद्धि' का विशेष रूप से रहा, उनके समक्ष शरीर-शुद्धि गौण रही। जो आचार केवल शारीरिक शुद्धि तक सीमित रहा, उसे महावीर ने अनाचीर्ण कहा। उन्होंने आत्म-शुद्धि के लिए कषायविजय पर अत्यधिक बल दिया। सूत्रकृतांगसूत्र के सातवें कुशील परिभाषा नामक अध्ययन (गाथा ५ से ८) में लिखा है कि जो श्रमण गृहस्थाश्रम का परित्याग करके भी अग्नि का सेवन करते हैं, या अग्नि व अग्निकाय का आरम्भ करते हैं, अपनी सुख-सुविधा के लिए प्राणियों की हिंसा करते हैं। आग प्रज्वलित करने वाला व्यक्ति भी प्राणियों का हनन करता है और

१. सव्वं से जाइयं होइ नत्थि किंचि अजाइयं। –उत्तराध्ययन २/२८

२. Sacred Book of the Buddhists, Vol. XI, Part II, LVII, pp. 400-405.

३. उण्हाहितत्ते मेहावी सिणाणं वि नो पत्थए ।
गायं नो परिसिंचेज्जा न वीएज्जा य अप्पयं ॥ –उत्तराध्ययन २/९

४. पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो। –सूत्रकृतांग १/७/१३

आग को बुझाने वाला व्यक्ति भी अग्निकाय के जीवों का वध करता है अतः पण्डित पुरुष को अग्निकाय का समारंभ नहीं करना चाहिए। अग्नि प्रज्वलित करने से केवल अग्निकाय के जीवों को ही विराधना नहीं होती अपितु वह अग्नि पृथ्वी, अप् के जीवों को तथा पतंगे आदि उड़कर आने वाले जीवों को तथा ईंधन के आश्रित रहने वाले जीवों को भस्म कर देती है। वनस्पतिकाय भी जीवों का ही पिण्ड है। अपने शरीर-पोषण के लिए उसका छेदन-भेदन करना अनेक प्राणियों का घात करना है। हिंसा करने वाले को तीर्थंकरों ने अनार्य कहा है। जो सचित्त ठण्डे पानी के सेवन से या विराट् यज्ञ आदि में आहुति देकर, या प्रातः व सायंकाल स्नान आदि करने से मोक्ष का विधान करते हैं, उन विज्ञों के सामने यह तर्क प्रस्तुत किया गया–यदि मोक्ष इस प्रकार सीधा और सरल रूप से प्राप्त होता है तो फिर जल में रहने वाली मछलियाँ भी मुक्त हो जायेंगी। वस्तुतः जीवों की विराधना से मुक्ति नहीं होती। मुक्ति के लिए उत्कृष्ट साधना व आराधना करनी होती है। अतः आध्यात्मिक साधना पर सबसे अधिक बल दिया गया है।

श्रावक का आचार

श्रमणों के आचार का जिस विशद रीति से निरूपण हुआ है उसी विशद व व्यापक दृष्टि से जैनागमों में श्रमणोपासक–श्रावक के आचार का विश्लेषण किया गया है। यों अनेक आगमों में यत्र-तत्र श्रावक के आचार के विविध पक्षों का निरूपण हुआ है किन्तु उपासकदशा में वह सबसे अधिक व्यवस्थित व सर्वांग रूप से मिलता है। श्रावक का सबसे पहला कर्तव्य है कि वह निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धाशील हो, उसमें पूर्ण रुचि रखे और उसे अवितथ्य माने। उसके पश्चात् वह अपने सामर्थ्य के अनुसार अणुव्रतों को ग्रहण करता है। वह अहिंसा का पालन अवश्य करता है, पर श्रमण की तरह वह अति सूक्ष्म अहिंसा का पालन नहीं कर पाता, वह जान-बूझकर किसी त्रस प्राणी का वध नहीं करता, उसके अवयव का छेदन नहीं करता, अतिभार नहीं डालता, भोजन-पानी का विच्छेद नहीं करता, इस तरह वह अहिंसा का पालन करता है।

स्थूलमृषावादविरमण व्रत में वह किसी पर भी सहसा दोषारोपण नहीं करता, किसी के गुप्त रहस्य को प्रकट नहीं करता, मिथ्या लेख नहीं लिखता और न मिथ्या साक्षी ही देता है।

स्थूल चोरी त्याग में वह किसी तस्कर द्वारा चुराई हुई वस्तु को नहीं लेता, न तस्कर कृत्य करने की प्रेरणा ही देता है, न नाप-तोल में गड़बड़ करता है और न श्रेष्ठ वस्तु दिखाकर कनिष्ठ वस्तु देता है।

स्थूल ब्रह्मचर्यव्रत में वह अपनी पत्नी से ही सन्तुष्ट रहता है। वह वेश्या आदि किसी भी अन्य स्त्री से सहवास नहीं करता, न अनङ्ग क्रीड़ा करता है और न कामभोग की तीव्र अभिलाषा ही करता है।

परिग्रहपरिमाण व्रत में वह अपने परिग्रह की मर्यादा निश्चित करता है। अपनी अनन्त कृष्णा पर अंकुश लगाता है। अणव्रतों के अतिरिक्त भोगोपभोग की वस्तुओं की मर्यादा करता है, निष्प्रयोजन हिंसादि का त्याग करता है। दिशाओं की मर्यादा करता है, सामायिक की साधना कर समभाव का अभ्यास करता है, पौषधोपवास कर आत्मस्थ होता है और अतिथिसंविभाग कर अतिथियों का हार्दिक सत्कार करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गृहस्थ की आचार-संहिता भी अहिंसा व्रत पर अवलम्बित है। अन्य जितने भी व्रत हैं वे अहिंसा व्रत के संपोषण के लिए ही हैं। ग्यारह प्रतिमाओं की साधना में भी वही दृष्टि रही है। व्रतों के आराधन से केवल श्रावकों का जीवन ही पवित्र नहीं होता अपितु उनके नैतिक जीवन से पूरा समाज और देश प्रभावित होता है। इस प्रकार स्वरूप-साधना करता हुआ श्रावक जीवन के अन्तिम भाग में संलेखना-संथारा व्रत स्वीकार कर विचरता है।

जैन आचार के पुरष्कर्ता

जैन आचार के पुरष्कर्ता तीर्थंकर थे, जिन्होंने केवलज्ञान और केवलदर्शन होने के पश्चात् ही जन-जन के कल्याण हेतु उपदेश प्रदान किया। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होने के कारण उनके उपदेश में किसी भी प्रकार की स्खलनाएँ नहीं हो सकतीं, वह उपदेश सदा-सर्वदा के लिए साधकों के लिए उपयोगी है। जैसा उस समय था, वैसा आज भी है। यह पूर्ण सत्य है कि अलौकिक केवलज्ञानी के द्वारा कथित उपदेश का परीक्षण सामान्य लौकिक अपूर्ण ज्ञानी से कभी भी संभव नहीं है। केवल नुकीले तर्कों से उन सभी बातों की सिद्धि करना असंभव है। ऐसी अनेक बातें हैं, जिनमें तर्क का संचार नहीं हो सकता और न वे तर्क से सिद्ध ही हो सकती हैं अतः जैन आचार में इस बात पर पूर्ण बल दिया है "आणाए धम्मो।"–तीर्थंकर की आज्ञा में ही धर्म है। वहाँ पर किसी भी प्रकार के तर्क को अवकाश नहीं है। "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहि पवेइयं।" हाँ, यह बात भी सत्य है कि सभी नियम और उपनियमों का निर्माण तीर्थंकर ही नहीं करते, बहुत से ऐसे नियम और उपनियम हैं जिनके निर्माता श्रुतकेवली भद्रबाहु और अन्य अनेक गीतार्थ स्थविर भगवान रहे हैं। उन्होंने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को निहारकर मूल नियमों के अनुकूल उनके समर्थक और अविरोधी नियमोपनियम का निर्माण किया है। जैन आगमों के

सर्वप्रथम संस्कृत टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने यह स्पष्ट कहा है कि जो भी नियम संयम-साधना में अभिवृद्धि करते हों और असंयम की प्रवृत्ति का निरोध करते हों वे नियम भले ही किसी के द्वारा निर्मित क्यों न हों, ग्राह्य हैं। हमें शब्द-जाल में न उलझकर भाव को ग्रहण कर मूल सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए विधि-निषेधों का परीक्षण करना चाहिए।

आत्मौपम्य दृष्टि

मेरी दृष्टि से जैन आचार का हार्द 'आत्मौपम्य' दृष्टि में रहा हुआ है।[१] इस विराट् विश्व में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जिसे कष्ट पसन्द हो, दुःख की इच्छा करता हो। जब हमें स्वयं को कष्ट पसन्द नहीं है तो दूसरों को किस प्रकार कष्ट पसन्द होगा। अतः हमें क्या अधिकार है कि हम दूसरों को कष्ट दें। प्रस्तुत आत्मौपम्य दृष्टि से ही सम्पूर्ण जैन आचारशास्त्र का निर्माण किया गया है। आचारांगसूत्र आदि आगमों में सर्वत्र यही ध्वनि मुखरित हुई है। यह आत्मौपम्य दृष्टि ही सामायिक है। समभाव की साधना है। समभावी साधक ही समभाव की सतत साधना करता हुआ सावद्य प्रवृत्ति का परित्याग करता है। सामायिक चारित्र से ही अन्य चार चारित्र विकसित हुए हैं। सामायिक व्रत का विस्तार ही पाँचों महाव्रत हैं। इस तरह आत्मौपम्य दृष्टि या सामायिक जैन आचार की नींव की ईंट के रूप में है। भले ही वह महाव्रतों की भाँति दिखाई नहीं देती हो, पर उसका अपना महत्त्व है।

जिस साधक में आत्मौपम्य दृष्टि विकसित हो चुकी है वह अपने या दूसरों के स्वार्थ के लिए किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं देता। जैन दृष्टि से सम्पूर्ण लोक में जीव भरे पड़े हैं। ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ पर जीव न हो। प्रत्येक व्यक्ति श्वासोच्छ्वास भी ग्रहण करता है। श्वासोच्छ्वास जैसी सामान्य क्रियाओं से भी जीवों को कष्ट होता है। ऐसी स्थिति में आत्मौपम्य दृष्टि वाले साधक को संसार में किस प्रकार रहना, यह ज्वलंत प्रश्न है। इस प्रश्न का समाधान जैन मनीषियों ने किया है कि साधक जो भी कार्य करे, वह कार्य विवेक के साथ करे। यतना के साथ करे। यतना के साथ किये गये कार्य से पाप का अनुबंधन नहीं होता। यतना का ही अपर नाम 'अप्रमाद' है। आचारांग में अनेकों बार यह कहा गया है कि प्रमाद हिंसा है और अप्रमाद अहिंसा है। अप्रमत्त साधक को सतत सावधान रहना चाहिए। जो सतत सावधान रहता है उससे कभी भी स्खलनाएँ नहीं होतीं, भूले नहीं

---

१. जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि य एत्तियगं जिणसासणं॥

होतीं, यदि कदाचित् अप्रमत्त स्थिति में किसी जीव को पीड़ा भी हो जाती है तो भी देने की बुद्धि न होने से वह हिंसा नहीं है, अपितु अहिंसा ही है। इसलिए आत्मौपम्य दृष्टि के साथ ही अप्रमाद को स्थान दिया गया है। जो प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक है, सावधान है, अप्रमत्त है वह आत्मौपम्य दृष्टिसम्पन्न होगा और उसका आचरण सम्यक् आचरण होगा।

समभाव

जैन आचार के मूल में समभाव होने से वह साधक हिंसा से स्वतः ही निवृत्त होता है। उसके जीवन में अहिंसा का विस्तार होता है। कषाय की अत्यधिक अल्पता होने से वह न द्रव्य हिंसा करता है और न भाव हिंसा ही करता है। उसके अन्तर्मानस में अनासक्ति होती है जिससे बाह्य परिग्रह भी उसे प्रभावित नहीं करता। अनासक्ति के कारण वह न स्तेय कृत्य करता है और न कंचन व कांता ही उसके मन को मुग्ध करती है। बाह्य प्रवृत्तियों में स्वतः ही संकोच होने लगता है और वह निवृत्तिप्रधान जीवन जीने लगता है। यह सत्य है कि पूर्णतया निवृत्ति जिनकल्पी श्रमणों में होती है; क्योंकि उन्हें अपनी साधना में ही लगा रहना होता है, संघ आदि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता; पर स्थविरकल्पी श्रमणों को संघ समुत्कर्ष के लिए, उसके प्रचार-प्रसार और उसको सुस्थिर रखने के लिए प्रवृत्ति भी करनी पड़ती है, पर प्रवृत्ति उसका लक्ष्य नहीं है, उसका लक्ष्य तो प्रवृत्ति का परित्याग करना ही है और निवृत्तिमय जीवन जीना है। जिन विषाक्त तत्त्वों से सामाजिक जीवन कटु बनता है, परस्पर संघर्ष व टकराहट पैदा होती है उन सभी जन-जीवन की बुराइयों को नष्ट कर वह एक स्वस्थ सामाजिक जीवन का आधार प्रस्तुत करता है।

चरित्रहीन; समाज के लिए घातक है

भगवान महावीर व्यक्ति-सुधार के महान् पक्षधर थे। व्यक्ति-सुधार की दशा में जब आगे बढ़ता है तब समाज अपने आप सुधरने लगता है। व्यक्ति समाज की प्रथम इकाई है। व्यक्तियों का समूह ही समाज है। समाज को सुधारने के लिए व्यक्ति को पहले सुधारना आवश्यक है। व्यक्तिगत जीवन में जब निवृत्ति का विराट् सागर लहलहाने लगता है तब सामाजिक जन-जीवन की प्रवृत्ति विशुद्ध हो जाती है। व्यक्तिगत जीवन की विशुद्धि के लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि वह राग-द्वेष की विकृतियों से असद्प्रवृत्तियों से निवृत्ति ले, जिससे उसका अन्तःकरण परम विशुद्ध होगा। व्यक्ति अपने स्वार्थ और वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर सकता वह व्यक्ति सामाजिक जीवन जीने का अधिकारी नहीं है।

चरित्रहीन व्यक्ति समाज के लिए घातक है। जैन धर्म में जो सामाजिक स्तर के लिए निवृत्ति का स्वर झंकृत हुआ है, वह इसलिए हुआ है कि आचारनिष्ठ व्यक्ति ही अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर आदर्श समाज का नव्य-भव्य निर्माण कर सकता है। वैयक्तिक जीवन की निवृत्ति ही सामाजिक प्रवृत्ति का मूल आधार है। अशुभ से निवृत्त होकर ही व्यक्ति शुभ में प्रवृत्ति कर सकता है। यह स्पष्ट है कि जैन धर्म का निवृत्तिपरक होना सामाजिक विमुखता का द्योतक नहीं है, अपितु सामाजिक उन्नति का ही प्रतीक है।

लोकहित की भावना

जैन धर्म और दर्शन का गहराई से अध्ययन करने पर यह भी स्पष्ट होता है कि निवृत्तिप्रधान होने पर भी उसमें लोकहित व लोकमंगल की भव्य भावना अठखेलियाँ कर रही है, तीर्थंकर जो जैन संस्कृति के महान् पुरस्कर्ता हैं, उनका जीवन लोकमंगल का ज्वलंत उदाहरण है। शक्रेन्द्रस्तव में तीर्थंकर के लिए 'लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप' प्रभृति विशेषण इस बात के द्योतक हैं कि उनके जीवन के कण-कण में, मन के अणु-अणु में लोकमंगलकारी भावना की स्वर लहरियाँ झंकृत हो रही थीं। तीर्थंकर सभी प्राणियों के अनुग्रह के लिए अपना पावन-प्रवचन करते हैं। लोकहित की उदात्त भावना के कारण ही उनकी पीयूषवर्षी वाणी हजार-हजार धारा के रूप में प्रवाहित होती है। सामान्य केवली में और तीर्थंकर में आध्यात्मिक दृष्टि से परिपूर्णता समान है, पर लोकहितकारी दृष्टि सामान्य केवली से तीर्थंकर में विशेष होती है जिसके कारण वे अन्य सामान्य केवलियों से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ माने गये हैं।

आत्महित और लोकहित

जैन धर्म का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि परार्थ के लिए स्वार्थ का त्याग करना सर्वथा उचित है, किन्तु आत्मार्थ का नहीं। जन-जन के कल्याण के लिए वैयक्तिक, भौतिक उपलब्धियाँ सहर्ष समर्पित की जा सकती हैं, और करना भी चाहिए, पर आध्यात्मिक विकास व वैयक्तिक नैतिकता को लोकहित के नाम पर विसर्जित करना सर्वथा अनुचित है। जो लोकहित व्यक्ति के चारित्रिक समुत्कर्ष को अवरुद्ध करता है, उसके पवित्र चरित्र के प्रभापुञ्जों को आच्छादित करता है, वह लोकहित उसे स्वीकार नहीं है। लोकहित और आत्महित इन दोनों में से प्राथमिकता किसे दी जाये यह प्रश्न समुत्पन्न होने पर वह पहले आत्महित को प्राथमिकता देता है। आत्महित के साथ ही यथाशक्य लोकहित भी करता है। उसका आत्महित स्वार्थवाद पर आधृत नहीं है, वह तो निष्काम है। आत्मार्थी को भौतिक उपलब्धि की

आकांक्षा नहीं होती। वह राग-द्वेष की द्वन्द्वात्मक स्थिति से ऊपर उठा हुआ होता है। उसके उदात्त मानस में मेरे और तेरे की भेद रेखा नहीं होती। जहाँ राग की प्रबलता होती है वहाँ पर यह मेरा है और यह पराया है, यह भावना पैदा होती है। राग की न्यूनता होने पर अपने और परायेपन की विभेद-रेखा धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है। वहाँ आत्महित ही लोकहित होता है और लोकहित ही आत्महित है। यही कारण है कि आचारांगसूत्र में धर्म की परिभाषा करते हुए समता को ही धर्म कहा है।[1] समता धर्म है और विषमता अधर्म है। समता से सामाजिक व वैयक्तिक जीवन सुखी बनता है और विषमता से सामाजिक व वैयक्तिक जीवन दुःखी बनता है।

विषमता का मूल कारण भी राग और द्वेष ही है, जो अधर्म है। लोभवृत्ति के कारण ही संग्रहवृत्ति पनपती है जिससे शोषण, अप्रामाणिकता, क्रूर व्यवहार प्रभृति विकार बढ़ते हैं। क्रोध के कारण आवेश, संघर्ष, युद्ध व हत्याएँ होती हैं। अभिमान के कारण व्यक्ति अपने आपको महान् समझता है और दूसरों के साथ घृणापूर्ण क्रूर व्यवहार करता है। माया के कारण अविश्वास और अमैत्रीपूर्ण व्यवहार किया जाता है। इन्हीं चार कषायों से सामाजिक जीवन दूषित होता है। सामाजिक विषमताओं को समाप्त कर सामाजिक जीवन में समत्व की स्थापना करने के लिए ही समता पर बल दिया गया है।

आधुनिक युग में कार्ल मार्क्स ने आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिए साम्यवादी विचारधारा के रूप में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं वे आर्थिक विषमता को मिटाने में सक्षम तो हैं पर उनमें कमी यही है कि वे थोपे जाते हैं, अन्तर् से उद्‌बुद्ध नहीं होते। जब तक व्यक्ति की अन्तर् चेतना समत्व के लिए तैयार नहीं होती तब तक समानता के नारे सिर्फ नारे मात्र रहते हैं। बाह्य दबाव के कारण सही नैतिकता प्रकट नहीं हो सकती। कानून के दबाव से लादा गया आर्थिक साम्य समत्व को पैदा नहीं कर सकता। इसलिए जैन धर्म ने अपरिग्रह वृत्ति पर बल दिया है और साधकों को संविभाग करने को उत्प्रेरित किया है। जो साधक संविभाग नहीं करता है उसका मोक्ष भी नहीं होता।[2] इसलिए संविभाग की प्रवृत्ति समाज में प्रचलित हो जाये तो आर्थिक वैषम्य कुछ समय के लिए भी ठहर नहीं सकता और स्नेह व सद्‌भावना का सरसब्ज बाग लहरा सकता है।

---

१. समियाए धम्मे आरिये हिं पवेइये। —आचारांग १/८/३

२. असंविभागी णहु तस्स मोक्खो। —दशवै. ९/२/२३

समता और अनेकान्तवाद

समाज में द्रौपदी के दूकुल की तरह जो भ्रष्टाचार पनप रहा है उसका हार्द भी टटोला जाय तो व्यक्ति के अन्तर्मानस में पनपती हुई असीम संग्रहेच्छा व विस्तीर्ण भोगेच्छा रही हुई है। आवश्यकता नहीं; किन्तु तृष्णा इतनी अधिक बढ़ चुकी है कि उसकी पूर्ति कभी भी संभव नहीं है। इसलिए जैन गृहस्थ की जो आचार-संहिता है उसमें पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और आठवाँ व्रत में इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि गृहस्थ अपने नैतिक जीवनोत्कर्ष के लिए इन व्रतों को ग्रहण करे। परिग्रह और उपभोग्य वस्तुओं की सीमा संकुचित करे और साथ ही वैचारिक संघर्ष से मुक्त होने के लिए अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को अपनाये जिससे सर्वत्र समता स्थापित हो सकती है। सच्ची शान्ति और वास्तविक आनन्द प्राप्त हो सकता है।

●●

८. व्यसनमुक्त-जीवन

राष्ट्र की अमूल्य निधि

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् भारतीयों का उत्तरदायित्त्व अत्यधिक बढ़ गया है। देश के सामने अनेक विकट समस्याएँ हैं। उन सभी समस्याओं में सबसे बड़ी समस्या है राष्ट्र की नैतिक, चारित्रिक दृष्टि से रक्षा करना। वही राष्ट्र की अमूल निधि है। राष्ट्र का सामूहिक विकास इसी आदर्शोन्मुखी उत्कर्ष पर निर्भर है। पवित्र चरित्र का निर्माण करना और उसकी सुरक्षा करना, सैनिक रक्षा से भी अधिक आवश्यक है। भौतिक रक्षा की अपेक्षा आध्यात्मिक परम्परा का रक्षण सार्वकालिक महत्त्व को लिए हुए है। आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त समुन्नत राष्ट्र भी नैतिकता व चारित्रिक उत्कर्ष के अभाव में वास्तविक सुख-शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। अर्थमूलक उन्नति से वैयक्तिक जीवन को भौतिक समृद्धि की दृष्टि से समाज में भले ही उच्चतम स्थान प्राप्त हो; किन्तु जन-जीवन उन्नत-समुन्नत नहीं हो सकता।

भौतिक उन्नति से वास्तविक सुख-शान्ति नहीं

भारत में अतीतकाल से ही मानवता का शाश्वत मूल्य रहा है। समाजमूलक, आध्यात्मिक परम्परा के प्रबुद्ध तत्त्व-चिन्तकों ने मानवों को वैराग्यमूलक त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करने की प्रबल प्रेरणा दी जिससे मानवता की लहलहाती लता विश्व मण्डप पर प्रसरित होकर राष्ट्रीय विमल विचारों के तथा पवित्र चरित्र के सुमन खिला सके और उन सुमनों की सुमधुर सौरभ जन-जीवन में ताजगी, स्फुरणा और अभिनव जागृति का संचार कर सके।

राजनैतिक श्रम से अर्जित स्वाधीनता की रक्षा धर्म, नीति, सभ्यता, संस्कृति और आत्मलक्ष्यी संस्कारों को जीवन में मूर्तरूप देने से ही हो सकती है। केवल नव-निर्माण के नाम पर विशाल बाँध, जल से पूरित सरोवर, लम्बे-चौड़े राजमार्ग और सभी सुख-सुविधा सम्पन्न भवनों का निर्माण करना अपर्याप्त है और न केवल यन्त्रवाद को प्रोत्साहन देना ही पर्याप्त है। जब तक जीवन व्यसनों के घुन से मुक्त नहीं होगा, तब तक राष्ट्र का और जीवन का सच्चा व अच्छा निर्माण नहीं हो सकता। एतदर्थ ही गीर्वाण गिरा के एक यशस्वी कवि ने कहा है–

"मृत्यु और व्यसन इन दोनों में से व्यसन अधिक हानिप्रद है। क्योंकि मृत्यु एक बार ही कष्ट देती है, पर व्यसनी व्यक्ति जीवन भर कष्ट पाता है और मरने के पश्चात् भी वह नरक आदि में विभिन्न प्रकार के कष्टों का उपभोग करता है। जबकि अव्यसनी जीते जी भी यहाँ पर सुख के सागर पर तैरता है और मरने के पश्चात् स्वर्ग के रंगीन सुखों का उपभोग करता है।"[1]

व्यसन की परिभाषा

'व्यसन' शब्द संस्कृत भाषा का है जिसका तात्पर्य है 'कष्ट'। यहाँ हेतु में परिणाम का उपचार किया गया है। जिन प्रवृत्तियों का परिणाम कष्टकर हो, उन प्रवृत्तियों को व्यसन कहा गया है। व्यसन एक ऐसी आदत है जिसके बिना व्यक्ति रह नहीं सकता। व्यसनों की प्रवृत्ति अचानक नहीं होती। पहले व्यक्ति आकर्षण से करता है फिर उसे करने का मन होता है। एक ही कार्य को अनेक बार दोहराने पर वह व्यसन बन जाता है।

व्यसन बिना बोये हुए ऐसे विष-वृक्ष हैं जो मानवीय गुणों के गौरव को रौरव में मिला देते हैं। ये विष-वृक्ष जिस जीवन भूमि पर पैदा होते हैं उसमें सदाचार के सुमन खिल ही नहीं सकते। मानव में ज्यों-ज्यों व्यसनों की अभिवृद्धि होती है, त्यों-त्यों उसमें सात्त्विकता नष्ट होने लगती है। जैसे अमरबेल अपने आश्रयदाता वृक्ष के सत्त्व को चूसकर उसे सुखा देती है, वैसे ही व्यसन अपने आश्रयदाता (व्यसनी) को नष्ट कर देते हैं। नदी में तेज बाढ़ आने से उसकी तेज धारा से किनारे नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही व्यसन जीवन के तटों को काट देते हैं। व्यसनी व्यक्तियों का जीवन नीरस हो जाता है, पारिवारिक जीवन संघर्षमय हो जाता है और सामाजिक जीवन में उसकी प्रतिष्ठा धूमिल हो जाती है।

व्यसनों की तुलना

व्यसनों की तुलना हम उस कर्दमयुक्त गहरे गर्त से कर सकते हैं जिसमें ऊपर हरियाली लहलहा रही हो, फूल खिल रहे हों, पर ज्यों ही व्यक्ति उस हरियाली और फूलों से आकर्षित होकर उन्हें प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ता है त्यों ही वह दलदल में फँस जाता है। व्यसन भी इसी तरह व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, अपने चित्ताकर्षक रूप से मुग्ध करते हैं, पर व्यक्ति के जीवन को दलदल में फँसा देते हैं। व्यसन व्यक्ति की बुद्धिमता, कुलीनता, सभी सद्गुणों को नष्ट करने वाला है।

---

१. व्यसनस्य मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मतः॥

व्यसनों के अठारह प्रकार

यों तो व्यसनों की संख्या का कोई पार नहीं है। वैदिक ग्रन्थों में व्यसनों की संख्या अठारह बताई है।[1] उन अठारह में दस व्यसन कामज हैं और आठ व्यसन क्रोधज हैं। कामज व्यसन हैं–(१) मृगया (शिकार), (२) अक्ष (जुआ), (३) दिन का शयन, (४) परनिन्दा, (५) परस्त्री-सेवन, (६) मद, (७) नृत्य-सभा, (८) गीत-सभा, (९) वाद्य की महफिल, (१०) व्यर्थ भटकना।

आठ क्रोधज व्यसन हैं–(१) चुगली खाना, (२) अति साहस करना, (३) द्रोह करना, (४) ईर्ष्या, (५) असूया, (६) अर्थ-दोष, (७) वाणी से दण्ड, और (८) कठोर वचन।

व्यसन के सात प्रकार

जैनाचार्यों ने व्यसन के मुख्य सात प्रकार[2] बताये हैं–(१) जुआ, (२) माँसाहार, (३) मद्यपान, (४) वेश्यागमन, (५) शिकार, (६) चोरी, (७) परस्त्री-गमन। इन सातों व्यसनों में अन्य जितने भी व्यसन हैं उन सभी का अन्तर्भाव हो जाता है।

आधुनिक युग में अश्लील चलचित्र, कामोत्तेजक, रोमांटिक और जासूसी साहित्य, बीड़ी-सिगरेट आदि भी व्यसनों की तरह ही हानिप्रद हैं।

ये व्यसन अन्धकूप के सदृश हैं जिसमें गिरकर मानव सभी प्रकार के पापकृत्य करता है। व्यसन प्रारम्भ में लघु प्रतीत होते हैं, किन्तु धीरे-धीरे हनुमान की पूँछ की तरह बढ़ते चले जाते हैं। आग की नन्हीं-सी चिनगारी घास के विशाल ढेर को नष्ट कर देती है। छोटी-सी ग्रन्थि कैन्सर का भयंकर रूप ग्रहण कर लेती है। बिच्छू का जरा-सा डंक सारे शरीर को तिलमिला देता है, थोड़ा-सा विष प्राणों का अपहरण कर लेता है। वैसे ही थोड़ा-सा भी दुर्व्यसन जीवन की महान् प्रतिष्ठा को धूल में मिला देता है। अतः व्यसनों के सम्बन्ध में सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है।

---

१. दस कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि यत्नेन परिवर्जयेत्॥
मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाऽट्या च कामजो दशको गणः॥
पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्याऽसूयाऽर्थ दूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥

२. द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धि चौर्यं परदारसेवा।
एतानि सप्तव्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति॥

(१) जुआ

बिना परिश्रम के विराट् सम्पत्ति प्राप्त करने की तीव्र इच्छा ने जुआ या द्यूत-क्रीड़ा को जन्म दिया। जुआ एक ऐसा आकर्षण है जो भूत की तरह मानव के सत्त्व को चूस लेता है। जिसको यह लत लग जाती है वह मृग-मरीचिका की तरह धन-प्राप्ति की अभिलाषा से अधिक से अधिक धन बाजी पर लगाता चला जाता है और जब धन नष्ट हो जाता है तो वह चिन्ता के सागर में डुबकियाँ लगाने लगता है। उसके प्रति किसी का भी विश्वास नहीं रहता। भारत के सभी ऋषि और महर्षियों ने जुए की निन्दा की है। ऋग्वेद[1] में भी द्यूत-क्रीड़ा को त्याज्य माना है। वहाँ द्यूत-क्रीड़ा को जीवन को बरबाद करने वाला दुर्गुण बताया गया है। जुआ एक प्रकार की खुजली है, जितना उसे खुजलाओगे उतनी ही वह बढ़ती जाएगी। यह एक छुआछूत की बीमारी है जो दूसरों को भी लग जाती है।

सूत्रकृतांग[2] में भी चौपड़ या शतरंज के रूप में जुआ खेलना मना किया है। क्योंकि हारा जुआरी दुगुना खेलता है। एक आचार्य ने ठीक ही कहा है[3] जहाँ पर आग की ज्वालाएँ धधक रही हों वहाँ पर पेड़-पौधे सुरक्षित नहीं रह सकते, वैसे ही जिसके अन्तर्मानस में जुए की प्रवृत्ति पनप रही हो उसके पास लक्ष्मी रह नहीं सकती। एक पाश्चात्य चिन्तक[4] ने भी लिखा है–जुआ लोभ का बच्चा है पर फिजूलखर्ची का माता-पिता है।

जुआ : असाध्य रोग

अतीतकाल में जुआ चौपड़, पासा या शतरंज के रूप में खेला जाता था। महाभारतकाल में चौपड़ का अधिक प्रचलन था तो मुगलकाल में शतरंज का। अँग्रेजी शासनकाल में ताश के रूप में और उसके पश्चात् सट्टा, फीचर, लाटरी, मटका आदि विविध रूपों में जुए का प्रचलन प्रारंभ हुआ। 'रेस' आदि का व्यसन भी जुआ ही है। एतदर्थ ही गौतम कुलक[5] में कहा है–"जुए में आसक्त व्यक्ति धन का नाश करता है।" एच. डब्ल्यू. बीचर[6] का अभिमत है कि "जुआ चाहे वह ताश के पत्तों के रूप में खेला जाता हो, या घुड़दौड़ अथवा द्वन्द्व-युद्ध या सट्टे के

---

१. अक्षैर्मा दिव्यः। –ऋग्वेद १०/३४/१३
२. अट्ठाए न सिक्खेज्जा। –सूत्रकृतांग ९/१०
३. श्रियस्तत्र न तिष्ठन्ति यत्र द्यूतं प्रवर्तते।
न वृक्षजातयस्तत्र विद्यते यत्र पावकाः॥
४. Gambling is the child of avarice, but the parent of prodigality.
५. जुए पसत्तस्स धणस्स नासो।
६. Gambling with cards, or dice or strokes in all one thing, it is getting money without giving an equivalent for it.

रूप में, सबमें एक ही बात है कि उसमें बिना परिश्रम आदि किये धन प्राप्त करने की इच्छा निहित है। श्रम के बिना जो धन प्राप्त होता है वह बरसाती नदी की तरह आता है और वह नदी के मूल पानी को भी ले जाता है।"

जुआरी के अन्तर्मानस में कभी भी शान्ति नहीं होती। वह रात-दिन चिन्ता में घुलता रहता है। यदि धन प्राप्त हो गया तो वह दुगुना जुआ खेलता है और नहीं प्राप्त हुआ तो प्राप्त करने के लिए चिंतित रहता है। इस प्रकार उसके जीवन में शान्ति का अभाव होता है। जुआरी की केवल जेब ही खाली नहीं होती, उसकी बुद्धि भी खाली हो जाती है। उसमें चिन्तन करने की शक्ति ही नहीं रहती। एक पाश्चात्य चिन्तक ने लिखा है–जुआ एक ऐसा असाध्य रोग है जो पुनः-पुनः आक्रमण करता है। मानसिक संक्लेश में रात-दिन निमग्न रहने पर भी व्यक्ति उसे छोड़ नहीं सकता। जुआ एक ऐसी आवेशात्मक आँधी है जिसमें कुछ भी नहीं सूझता। वह ध्वंस ही करती है, निर्माण नहीं।

जुआरी अन्य व्यसनों को भी अपनाता है

जुआरी किसी के भी तर्क को सुनना पसन्द नहीं करता। वह हारने पर भी जीतने का पाखण्ड करता है। झूठी कसमें खाता है और झूठे वायदे कर दूसरों के साथ वंचना करता है। जुआरी का पारिवारिक जीवन सदा अशान्तिमय होता है। महासती दमयन्ती को राजा नल के द्यूत-प्रेम के कारण ही एक जंगल से दूसरे जंगल में भटकना पड़ा। पाण्डवों के द्यूत-व्यसन के कारण ही द्रौपदी जैसी महासती की भी भरी सभा में चीर-हरण की निन्दनीय घटना हुई। जुआ के कारण ही हजारों घर बरबाद हो गये। जुआरी में एक व्यसन के साथ ही अन्य व्यसन भी धीरे-धीरे स्वयं ही आ जाते हैं। प्राचीन युग में तो राजा, महाराजा व धनाढ्य लोग ही जूआ खेलते थे। यदि कोई उन्हें जुआ खेलने के लिए आह्वान कर देता तो वे सर्वस्व न्योछावर करके भी जुआ खेलना पसन्द करते। "आहूतो न निवर्तेत।" आह्वान करने पर उसे ठुकराना नहीं चाहिए, यह उनकी मिथ्या धारणा थी। पर आज जुआ उच्च पदाधिकारियों से लेकर गरीब से गरीब व्यक्ति भी खेलने लगा है। आचार्य वसुनन्दि ने कहा है–अग्नि, विष, चोर और सर्प अल्प कष्ट देते हैं पर जुआ हजारों-लाखों जन्मों में भी कष्ट देता है।[1] इसलिए सभी चिन्तकों ने जुआ के व्यसन से मुक्त हो जाने का सन्देश दिया है।

---

१. अग्गि-विस-चोर-सप्पा दुक्खं थावं कुवंति इह लोए।
दुक्खं जणेइ जूयं णरस्स भवसयसहस्सेसु॥
पावेण तेण जर मरण वीचि पउरम्मि दुक्खसलिलंमि।
चउगइ गमणावत्तंमि हिंडइ भवसमुद्दंमि॥ —वसुनन्दी श्रावकाचार

(२) माँसाहार

जुए के समान माँसाहार भी एक व्यसन है। माँसाहार मानव प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध है। वह किसी भी स्थिति में मानव के लिए उपयुक्त नहीं है। माँसभक्षी पशुओं के शरीर की रचना और मानव-शरीर की रचना बिलकुल भिन्न है। आधुनिक शरीरशास्त्रियों का भी स्पष्ट अभिमत है कि मानव का शरीर माँसभक्षण के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। मानव में जो माँस खाने की प्रवृत्ति है, वह उसका नैसर्गिक रूप नहीं है, किन्तु विकृत रूप है। प्राचीन आर्य मनीषी तो माँस को स्पष्ट त्याज्य बताते ही हैं। महाभारतकार कहते हैं–माँसाहार प्राणिजन्य होने के कारण त्याज्य है, क्योंकि माँस न पेड़ पर लगता है और न जमीन में पैदा होता है।[1] आचार्य मनु[2] ने कहा–जीवों की हिंसा के बिना माँस उपलब्ध नहीं होता और जीवों का वध कभी स्वर्ग प्रदान नहीं करता; अतः माँसभक्षण त्यागना चाहिए।

हिंसा से पापकर्म का अनुबन्ध होता है। इसलिए उसे स्वर्ग तो मिल ही नहीं सकता। या तो उसे इसी जन्म में उसका फल प्राप्त होता है अथवा अगले जन्म में नरक और तिर्यंच गति के भयंकर कष्ट सहन करने पड़ते हैं। आचार्य हेमचन्द्र[3] ने स्पष्ट रूप से कहा–पंगुपन, कोढ़ीपन, लूला आदि हिंसा के ही फल हैं। स्थानांग[4] में माँसाहार करने वाले को नरकगामी बताया है। आचार्य मनु[5] ने कहा–माँस का अर्थ ही है, जिसका मैं माँस खा रहा हूँ वह अगले जन्म में मुझे खाएगा। माँस शब्द को पृथक्-पृथक् लिखने से "माँ" और "स" यानी मुझे खाएगा। इस प्रकार माँस का अर्थ मनीषियों ने प्रतिपादित किया है। कबीरदास[6] ने भी माँसाहार को अनुचित माना है और माँसाहार करने वाले को नरकगामी कहा है।

---

१. महाभारत–अनुशासनपर्व ११५/२४

२. नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसा, मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्गस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥४८॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥४९॥ –मनुस्मृति, अ. ५

३. पंगु-कुष्टि-कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः।
निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसा संकल्पतस्त्यजेत्॥ –योगशास्त्र २-१९

४. चउहिं ठाणेहिं जीवा नेरइयत्ताए, कम्मं पकरेंति, तं जहा–महारंभयाते, महापरिग्गहयाते, पंचिंदियवहेणं कुणिमाहारेण॥

५. मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ –मनुस्मृति ५५५

६. मांस मछरिया खात है, सुरापान से हेत।
वे नर नरकहिं जाएँगे, माता-पिता समेत॥

माँसाहार और पाप

विपाकसूत्र[1] के प्रथम श्रुतस्कन्ध में माँसाहार करने वालों के जीवन किस प्रकार कष्टमय होते हैं, उसका शब्द-चित्र प्रस्तुत किया गया है।

कुछ सज्जन यह कुतर्क देते हैं कि हम स्वयं पशुओं को नहीं मारते हैं किन्तु हम तो बाजार से खरीदकर माँस लाकर खाते हैं, इसलिए हमें पाप नहीं लगता। किन्तु आचार्य मनु[2] ने कहा है–"जो माँसाहार का अनुमोदन करता है, मृत पशुओं के अंगों का छेदन-भेदन करता है, मारने वाला, माँस आदि खरीदने वाला, बेचने वाला, माँस पकाने वाला, माँस परोसने वाला और माँस खाने वाला–ये सभी घातक हैं। वे सभी प्राणविध के भागी हैं।" यदि माँसाहारी न हों तो मूक जीवों की हिंसा कौन करेगा? माँसाहारी मानवों ने ही परमात्मा या देवी-देवताओं के नाम पर हिंसाएँ प्रारम्भ कीं। पर उन्हें सोचना चाहिए जैसे हमें अपना जीवन प्यारा है वैसे ही अन्य प्राणियों को भी प्यारा है।

एक बार वैज्ञानिकों का सम्मेलन लन्दन में हुआ। सम्मेलन में एक वैज्ञानिक ने यह प्रस्ताव रखा कि जिस प्राणी को हम बना नहीं सकते उसे तोड़ने या बिगाड़ने का हमें अधिकार नहीं है। इस पर अन्य वैज्ञानिकों ने अपने तर्क प्रस्तुत किये। उत्तर में उस वैज्ञानिक ने कहा–आप एक मक्खी पर प्रयोग कर देखिए। सभी के सामने एक मक्खी की पांख काट दी गई जिससे वह मक्खी उड़ न सकी। वैज्ञानिकों ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया और नकली पाँख मक्खी को चिपका दिया गया, तथापि अनेक प्रयास करने पर भी वह उड़ न सकी। अतः सभी ने एक स्वर से प्रस्ताव पारित किया कि जब हमारे अन्दर में किसी प्राणी को बनाने की शक्ति नहीं है तो उसे बिगाड़ने या मारने का अधिकार भी नहीं है। ऐसा करने पर हम स्वतः अपराधी बनते हैं।

शाकाहार और माँसाहार

कुछ लोग यह समझते हैं कि माँस खाने से शरीर में शक्ति का संचार होगा, वे भ्रम में हैं। सत्य तो यह है कि माँस खाने से शक्ति का संचार नहीं होता। प्रारम्भ में कुछ जोश-सा प्रतीत होता है किन्तु वह क्षणिक जोश ही होता है, उसमें शक्ति का अभाव होता है। शाकाहार से जितनी शक्ति प्राप्त होती है उतनी माँसाहार से कभी नहीं हो सकती।

---

१. विपाकसूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अ. ६

२. अनुमन्ता, विशसिता, निहन्ता, क्रय-विक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ –*मनुस्मृति, अ. ५*

सन् १९३२ में 'लीग ऑफ नेशन्स' की कॉन्फरेन्स हुई। उसमें अनुसंधान कर यह निर्णय किया गया कि सैनिकों के लिए माँस आवश्यक नहीं है। इसके अभाव में भी शाकाहार से सैनिकों में शक्ति और स्फूर्ति आ सकती है और वे बुद्धिमान, चतुर और फुर्तीले हो सकते हैं। डॉ. ग्राहम ने अपने अभिभाषण में कहा–जब से रोमन सिपाहियों के भोजन में माँस का प्रवेश हुआ तब से रोमन साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया और अन्त में वह विनष्ट हो गया।

शक्ति का मूल : शाकाहार

महान् दार्शनिक राल्फ वाल्डी इमरसन शाकाहारी था। एक दिन एक किसान ने उससे कहा–"आप माँसाहार का विरोध करते हैं यह सर्वथा अनुचित है। यदि हम माँसाहार करना बन्द कर देंगे तो अवश्य ही अमेरिका कमजोर हो जाएगा। क्योंकि शाकाहार में माँसाहार की तरह हड्डियों को मजबूत करने की शक्ति नहीं है। इसलिए आप शाकाहार के प्रचार को बन्द कर दीजिए।"

इमरसन ने मुस्कराते हुए कहा–"आपकी हड्डियाँ तो बहुत मजबूत होंगी। आप अच्छी तरह से हल चला सकते हैं।" किसान ने कहा–"यह कैसे संभव है?" इमरसन ने कहा–"तुम्हें पता है बैल की हड्डियाँ आदमी की अपेक्षा अधिक मजबूत हैं इसका कारण यह है कि वह केवल घास खाता है। वह तो माँस को छूता भी नहीं है।"

उस किसान को वह बात जँच गई। उसने उसी दिन माँसाहार छोड़ दिया, नियमित जीवन से उसमें इतनी शक्ति पैदा हुई कि उसने ४६ प्रतियोगिताओं में विजय प्राप्त की। विश्व चैम्पियन बना।

रसायनशास्त्रियों के अभिमतानुसार शरीर की पुष्टि के लिए वनस्पतिजनक खाद्य पदार्थ ही अधिक उपयोगी हैं। डॉ. हेग ने लिखा है–शाकाहार से शक्ति समुत्पन्न होती है जबकि माँसाहार से उत्तेजना प्राप्त होती है। माँसाहारी प्रथम शक्ति का अनुभव करता है पर वह शीघ्र ही थक जाता है। किन्तु शाकाहारी की शक्ति और धैर्य स्थायी होता है।

आधुनिक युग में अनेक प्रतियोगिताओं में शाकाहारियों की विजय हुई है।

माँसाहार अपवित्र

माँसाहार अपवित्र है। जो लोग माँस का उपयोग करते हैं वे भी मसजिद, चर्च, गुरुद्वारा, मन्दिर में माँसाहार नहीं करते हैं और वहाँ माँस खाना तो दूर

रहा, माँस लाना भी अपराध माना गया है। इसीलिए आचार्य वसुनन्दी[1] ने तो माँस को विष्टा के समान गन्दा, छोटे-छोटे कीड़ों से युक्त दुर्गन्ध वाला माना है।

माँसाहार से हानि

यू. एस. ए. के कोलगेट यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिक ल्याई ने लिखा है–माँसाहार में कैल्सियम और कार्बोहाइड्रेट्स नहीं होते, एतदर्थ माँस खाने वाले चिड़चिड़े, क्रोधी, निराशावादी और असहिष्णु होते हैं। शाकाहार में ये दोनों तत्त्व अधिक मात्रा में होते हैं जिससे शाकाहारी प्रसन्नचित्त, शान्तिप्रिय, आशावादी और कष्टसहिष्णु होते हैं। हैनरी ब्लेकबर्न ने लिखा है–इन अरबों का मुकाबला फुर्ती, सहनशक्ति, वीरता आदि में बहुत ही कम लोग कर सकते हैं, क्योंकि उनका गुजारा दूध और खजूर पर है।

डॉ. हेग का मन्तव्य है–माँस और शराब के सेवन से मानव के स्नायु इतने अधिक कमजोर हो जाते हैं कि वह जीवन से निराश होकर आत्महत्या करने को भी उतारू हो जाता है।

सभी धर्म-प्रवर्तकों ने नैतिक दृष्टि से माँसाहार को निन्दनीय और हिंसाजनक माना है। माँसाहार करने वाले को जघन्य दृष्टि से देखा है। सामाजिक, नैतिक, धार्मिक व स्वास्थ्य की दृष्टि से भी माँसाहार हानिप्रद है। आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, आर्थिक दृष्टि से भी माँसाहार अनुपयुक्त है। माँसाहार घोर तामसिक आहार है जो जीवन में अनेक विकृतियाँ पैदा करता है। इसीलिए माँसाहार की परिगणना व्यसनों में की गई है।

(३) मद्यपान

जितने भी पेय पदार्थ, जिनमें मादकता है, विवेक-बुद्धि को नष्ट करने वाले हैं या विवेक-बुद्धि पर परदा डाल देते हैं[2] वे सभी 'मद्य' के अन्तर्गत आ जाते हैं। मदिरा एक प्रकार से नशा लाती है। इसलिए भाँग, गाँजा, चरस, अफीम, चुरुट, सिगरेट, बीड़ी, तम्बाकू, ताड़ी, विस्की, ब्रांडी, शेम्पेइन, जिन, रम, पोर्ट, बियर, देशी और विदेशी मद्य हैं, वे सभी मदिरापान में ही आते हैं। मदिरापान ऐसा तीक्ष्ण तीर है कि जिस किसी को लग जाता है उसका वह सर्वस्व नष्ट कर देता है। मदिरा की एक-एक बूँद जहर की बूँद के सदृश है। मानव प्रारम्भ में चिन्ता को

---

१. मंसं असज्झासरिसं किमिकुलभरियं दुगन्ध बीभच्छं।
पाएण छिवेउं जं ण तीरए तं कहं भोत्तं॥ –वसुनन्दी श्रावकाचार ८५

२. बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।

कम करने के लिए मदिरापान करता है पर धीरे-धीरे वह स्वयं ही समाप्त हो जाता है। शराब का शौक बिजली का शॉक है। जिसे तन से, धन से और जीवन के आनन्द से बरबाद होना हो उसके लिए मदिरा की एक बोतल ही पर्याप्त है। मदिरा की प्रथम घूँट मानव को मूर्ख बनाता है, द्वितीय घूँट पागल बनाता है, तृतीय घूँट से वह दानव की तरह कार्य करने लगता है और चौथे घूँट से वह मुर्दे की तरह भूमि पर लुढ़क पड़ता है। आज तक विराट्काय समुद्र ने भी जितने मानवों को नहीं निगला है, उतने मानव मदिरा ने निगल दिये हैं। मदिरापान से नकली प्रसन्नता प्राप्त होती है और वह असली उदासी से भी खराब है।

मदिरालय : दिवालिया बैंक

एक पाश्चात्य चिन्तक ने मदिरालय की तुलना दिवालिया बैंक से की है। मदिरालय एक ऐसे दिवालिया बैंक से सदृश है जहाँ तुम अपना धन जमा करा देते हो और खो देते हो। तुम्हारा समय, तुम्हारा चरित्र भी नष्ट हो जाता है। तुम्हारी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। तुम्हारे घर का आनन्द समाप्त हो जाता है। साथ ही अपनी आत्मा का भी सर्वनाश कर देते हो।[1]

मदिरा एक ऐसा पदार्थ है जो किसी भी दृष्टि से पेय नहीं है। वह सड़ा हुआ पदार्थ है। शर्करायुक्त पदार्थ, जैसे–अंगूर, महुआ, जौ, गेहूँ, मक्का, गुड़ आदि वस्तुओं को सड़ाकर निर्माण किया जाता है। मदिरा का सत्त्व 'अल्कोहल' तथा सड़ा हुआ पदार्थ 'वाइन' कहलाता है। उसे भट्टी में उबालने से 'स्पिरिट' की तरह तेज मदिरा बनती है। मदिरा को ही शराब कहते हैं जो वस्तुतः सड़ाब = सड़ा हुआ पानी है। शराब का साड़ खमीर पैदा करने के लिए उपयोग में लिया जाता है जिसमें अत्यन्त दुर्गन्ध आती है। उस साड़ में बारीक कीड़े कुलबुलाते रहते हैं और उन कीड़ों का अर्क मदिरा है। एतदर्थ ही आचार्य मनु[2] ने कहा–मदिरा किसी मानव के पीने योग्य नहीं है।

मदिरा पोषक नहीं, शोषक

शरीर को टिकाने के लिए आहार की आवश्यकता है। किन्तु मदिरा में ऐसा कोई पोषक तत्त्व नहीं है जो शरीर के लिए आवश्यक हो। अपितु उसमें सड़ाने से

---

१. The bar-room as a bankrupt bank, you deposit your money and lose it; your time and lose it; your character and lose it; your manly independence and lose it; your home comfort and lose it; your self-control and lose it; your children's happiness and lose it; your own soul and lose it."

२. सुरा वै मलमन्नानां, पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मण-राजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥ —*मनुस्मृति, अ. ११/९३*

ऐसे जहरीले तत्त्व प्रविष्ट हो जाते हैं जिनसे शरीर पर घातक प्रभाव पड़ता है। मदिरा में अल्कोहल होता है। वह इतना तेज होता है कि सौ बूँद पानी में एक बूँद अल्कोहल मिला हो और उसमें एक छोटा-सा कीड़ा गिर जाए तो शीघ्र ही मर जाता है।

डॉ. सफेनकी का अभिमत है कि मानव के रक्त की हजार बूँदों में मदिरा की दो बूँद मिलते ही उसकी बोली बन्द होने लगती है। यदि हजार बूँदों में केवल छह बूँद अल्कोल की हों तो आदमी मर जाता है। बैजनाथ का अभिमत है–मदिरा की एक घूँट मुँह में लेकर कुछ समय तक रखते ही उस व्यक्ति की जीभ और मुँह चरचराने लगेंगे और मुँह का सारा भीतरी हिस्सा सफेद हो जाएगा। उसके पश्चात् कोई भी पदार्थ खाने पर उसके स्वाद का किंचित् भी पता न लगेगा।

मदिरा टॉनिक नहीं

कितने ही लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि मदिरा एक टॉनिक है जो शारीरिक थकान को दूर करती है, सुस्ती मिटाकर शरीर में चुस्ती पैदा करती है। इस प्रकार के मिथ्या विज्ञापन से लोगों को मदिरा पीने के लिए प्रेरणा दी जाती है। किन्तु वस्तुतः मदिरा पीने वालों में प्रारम्भ में जोश आता है, पर वे बहुत ही शीघ्र थक जाते हैं। उनकी शारीरिक शक्ति नष्ट हो जाती है। क्योंकि मदिरा चाहे किसी भी किस्म की हो उसमें किसी भी प्रकार का पोषक पदार्थ नहीं है। वेरन लिविंग का मानना है कि बियर, वाइन या अन्य मदिरा शरीर में जाकर रक्त का रूप ग्रहण नहीं कर सकते, स्नायुओं को किसी भी प्रकार का सहारा नहीं दे सकते।

मदिरा से उत्तेजना

कितने ही व्यक्तियों का यह मन्तव्य है कि भोजन से पूर्व मदिरा का पान कर लिया जाय तो भूख मिट जाती है। पर सत्य तथ्य यह है कि मदिरापान से पेट की ज्ञानवाही और क्रियावाही नाड़ियाँ निश्चेष्टित हो जाती हैं जिसके कारण उसे भूख का भान नहीं रहता। लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। मदिरा-सेवन करने वाले का पाचन संस्थान विकृत हो जाता है। मदिरा से शरीर पुष्ट नहीं होता। किन्तु शरीर में ऊष्मा बढ़ जाती है। आहार का शरीर में पाचन होता है, पर मदिरा का पाचन नहीं होता, वह ज्यों की त्यों निकल जाती है। आहार से रक्त शुद्ध होता है और मदिरा से विकृत होता है। मदिरापान से क्षणिक उत्तेजन होती है। जैसे कोई व्यक्ति चल रहा हो और उसे यह ज्ञात हो कि पीछे से पागल कुत्ता दौड़ा हुआ आ रहा है तो वह दौड़ने लगेगा। पर उसका दौड़ना क्षणिक उत्तेजनायुक्त होगा। जब उसे ज्ञात हो जाएगा कि कुत्ता इधर नहीं आ रहा है तो वह स्थिर हो जाएगा। वैसे

ही नशीले पदार्थों के सेवन से उत्तेजना आती पर ज्यों ही नशा कम होता है त्यों ही उसके समस्त अंगोपांग शिथिल हो जाते हैं।

मदिरापान सन्निपात के समान

भल्लट नामक विद्वान् ने मदिरापान करने वाले की तुलना सन्निपात से ग्रसित व्यक्ति से की है। जैसे उसमें विकलता होती है, वह भूमि पर लुढ़क पड़ता है, अनुचित बोलता है, सन्निपात के सभी लक्षण मदिरापान करने वाले में पाये जाते हैं।[1]

मदिरा के नशे में व्यक्ति की दशा पागल व्यक्ति की तरह होती है। वह पागल की तरह हँसता है, गाता है, बोलता है, नाचता है, घूमता है, दौड़ता है और मूर्च्छित हो जाता है। कभी वह विलाप करता है, कभी रोता है, कभी अस्पष्ट गुनगुनाते लगता है, कभी चीखता है, कभी मस्तक धुनने लगता है। इस तरह शताधिक क्रियाएँ वह पागलों की तरह करने लगता है।[2] इसीलिए कहा है–मद्यपान से मानवों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। एक पाश्चात्य चिन्तक ने भी लिखा है–जब मानव में मद्यपान का दुर्व्यसन प्रविष्ट होता है तो उसकी बुद्धि उससे विदा ले लेती है।[3]

मदिरा के दोष

आचार्य हरिभद्र[4] ने मद्यपान करने वाले व्यक्ति में सोलह दोषों का उल्लेख किया है। वे दोष इस प्रकार हैं–(१) शरीर विद्रूप होना, (२) शरीर विविध रोगों का आश्रयस्थल होना, (३) परिवार से तिरस्कृत होना, (४) समय पर कार्य करने की क्षमता का न रहना, (५) अन्तर्मानस में द्वेष पैदा होना, (६) ज्ञानतन्तुओं का धुँधला हो जाना, (७) स्मृति का लोप हो जाना, (८) बुद्धि भ्रष्ट होना, (९) सज्जनों से सम्पर्क समाप्त हो जाना, (१०) वाणी में कठोरता आना, (११) नीच कुलोत्पन्न व्यक्तियों से सम्पर्क, (१२) कुलहीनता, (१३) शक्ति ह्रास, (१४) धर्म, (१५) अर्थ, (१६) काम–तीनों का नाश होना।

महाकवि कालिदास ने एक मदिरा बेचने वाले से पूछा–तुम्हारे पात्र में क्या है ? मदिरा बेचने वाला महान् दार्शनिक था। उसने दार्शनिक शब्दावली में कहा–

---

१. वैकल्यं धरणीपातमयथोचितजल्पनम्।
सन्निपातस्य चिह्नानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत ॥

२. हसति, नृत्यति, गायति, वल्गति, भ्रमति, धावति, मूर्च्छति, शोचते।
पतति, रोदिति, जल्पति गद्गदं, धमनि धाम्यति, मद्यमवातुरः ॥

३. When drink enters, wisdom departs.

४. हरिभद्रीय अष्टक १४-१५-१६

कविवर ! मेरे प्रस्तुत पात्र में आठ दुर्गुण हैं–(१) मस्ती, (२) पागलपन, (३) कलह, (४) धृष्टता, (५) बुद्धि का नाश, (६) सच्चाई और योग्यता से नफरत, (७) खुशी का नाश, और (८) नरक का मार्ग।

एक मनोवैज्ञानिक ने बताया है कि मदिरापान से असन्तुष्ट व्यक्ति सुख प्राप्त करने का प्रयास करता है, निरुत्साही व्यक्ति साहस, दुलमुल मनोवृत्ति वाला आत्म-विश्वास और इसी तरह उदास व्यक्ति सुख की खोज करता है; किन्तु सभी को मिलता है, इसके विपरीत। उनका सब कुछ नष्ट हो जाता है।[1]

जितने भी दुर्गुण हैं वे मदिरापान से अपने आप चले आते हैं। ऐसा कोई दुर्गुण और अपराध नहीं है जो मदिरापान से उत्पन्न न होता हो।[2]

महात्मा गाँधी ने कहा–मैं मदिरापान को तस्कर कृत्य और वेश्यावृत्ति से भी अधिक निन्दनीय मानता हूँ; क्योंकि इन दोनों कुकृत्यों को पैदा करने वाला मद्यपान है।

मदिरापान और शुद्धि

मदिरा के सेवन से स्वास्थ्य चौपट होता है। मन, मस्तिष्क और बुद्धि का विनाश होता है। मदिरापान से उन्मत्त होकर मानव निन्दनीय कार्यों को करता है जिससे उसका वर्तमान लोक और परलोक दोनों ही विकृत हो जाते हैं। आचार्य मनु[3] ने मदिरा को अन्न का मल कहा है। मल को पाप भी कहा है। मल-मूत्र जैसे अभक्ष्य पदार्थ हैं, खाने-पीने के लिए अयोग्य हैं, वैसे ही मदिरा भी है। व्यास ने[4] कहा है–मदिरा का जो मानव सेवन करता है वह पापी है। यदि वह पाप से मुक्त होना चाहता है तो मदिरा को तेज गरम करके पिये जिससे उसका सारा शरीर जलकर नष्ट हो जाएगा।

ब्राह्मण के लिए यह निर्देश है[5] कि यदि ब्राह्मण मदिरापान करने वाले व्यक्ति की गन्ध ले ले तो उसे शुद्ध होने के लिए तीन दिन तक गरम जल पीना चाहिए,

---

१. "In the bottle, discontent seeks for comfort, cowardice for courage, bashful for confidence, sad for joy and all find ruin."

२. Habitual intoxication is the epitome of every crime. —*Gerrold*

३. सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मण राजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ —*मनुस्मृति* ११/९३

४. महाभारत, शान्तिपर्व, १६५/४७-४८
द्रष्टव्य–याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चिताध्याय १६५/४७-४८

५. महाभारत, शान्ति पर्व १६५/७६-७७

उसके बाद तीन दिन गरम दूध का सेवन करे और उसके बाद तीन दिन तक केवल वायु का सेवन करे, तब वह शुद्ध होगा।

बौद्ध साहित्य में

बौद्ध जातकों[1] में मदिरा को विषैले सर्प के सदृश माना है। जैसे विषैले सर्प से लोग दूर भागते हैं वैसे ही मदिरा से दूर भागना चाहिए। सुरापान के दुष्परिणाम के बारे में जातक[2] में वर्णन है कि कुछ बौद्ध श्रमण जहाँ मदिरापान चल रहा था वहाँ पर पहुँच गये। उन्होंने मदिरा को ग्रहण कर लिया जिसके फलस्वरूप वे उन्मत्त होकर नाचने लगे। श्रमणचर्या को विस्मृत हो गये। जब उन्हें होश आया तब वे मन ही मन में अत्यन्त व्यथित हुए–अरे, हमने यह अनुकूल नहीं किया। वे दुःखी होकर रोने लगे।[3]

सुरापान प्रत्येक दृष्टि से निन्दनीय है। कुम्भ जातक में उल्लेख है–देवराज इन्द्र[4] ने मदिरा के घड़े को हाथ में लिया और घड़े का परिचय देते हुए कहा–इसमें वह अद्‌भुत वस्तु है जिसको पीने के पश्चात् पैर लड़खड़ाते हैं, गड्ढे में, तालाब में और गन्दे स्थान पर गिरने पर भी मन में आह्लाद का अनुभव किया जाय जिसके कारण अनेक अभक्ष्य पदार्थ खाये जायें, उस पेय का नाम है मदिरा। तुम इसे ग्रहण करो। इसका पान कर मानव धधकती हुई ज्वाला में गिर पड़ते हैं। इस प्रकार वे बेमौत मरते हैं। शृगाल उसे चीरकर खा लेते हैं। सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। अतः इसे ग्रहण करो।

इससे स्पष्ट है कि मदिरा सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त बनाने वाली है। बौद्ध जातक से यह भी ज्ञात होता है कि बुद्ध-युग में मदिरापान का सामूहिक प्रचार था। एक बार बुद्ध संघ की प्रमुख श्राविका विशाखा की पाँच सौ सखियों[5] ने मदिरा का पान किया। विशाखा उन सभी सखियों के साथ तथागत के दर्शन करने पहुँची। मदिरा से उन्मत्त बनी हुई सखियाँ कुछ नाचने लगीं, परस्पर झगड़ने लगीं, अभद्र व्यवहार करने लगीं। जिससे विशाखा का सिर लज्जा से नत हो गया।

---

१. जातक, पंचम खण्ड, गा. ५६, पृ. १०७
२. वही, प्रथम खण्ड, पृ. ४७१
३. वही, प्रथम खण्ड, पृ. ४७१
४. गलेय्ये यं पीत्वा पते पपातं सोब्भं गुहं चन्दनियोलिगल्लं।
वहुंपि भुंजेय्य अभोजयेय्यं तस्सा पुण्ण कुम्भमिमं किणाथ ॥
–जातक, पंचम खण्ड, गा. ३७, पृ. १०२
५. जातक, पंचम खण्ड, पृ. ९८

जातक में यह भी लिखा है–जो मदिरापान करते हैं उनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। वे गलियों में घूमने वाले बैल की भाँति इधर-उधर कुछ भी खाते फिरते हैं। अनियन्त्रित होकर नाचते-गाते हैं। निर्वस्त्र होकर ग्राम और गलियों में भटकते फिरते हैं और मूढ़ होकर अति आलसी बन जाते हैं।[1]

आधुनिक सभ्य कहलाने वाले जब मदिरा का पान करते हैं तो वे पागल बनकर एक-दूसरे के साथ जैसा अमानवीय व्यवहार करते हैं उसे देखकर किसे खिन्नता नहीं होती ? कुम्भ जातक[2] में बताया है कि हजारों व्यक्ति, जिनके पास सम्पत्तियाँ अठखेलियाँ कर रही थीं, वे भी मदिरा के नशे में उन्मत्त होकर दरिद्र बन गये। वे बरबाद हो गये। जो व्यक्ति कैसी भी परिस्थिति हो धर्म से विमुख नहीं हो सकता, कर्त्तव्य से च्युत नहीं सकता, नीति का परित्याग नहीं कर सकता; यदि उस व्यक्ति को मदिरा पिला दी जाय तो वह धर्म का भी परित्याग कर देता है कर्त्तव्य को भी विस्मृत हो जाता है और नीति को भी छोड़ देता है। ऐसा कौन-सा अकार्य है जिसे मदिरा पीने वाला न करे।[3]

मदिरा न पियो

मदिरापान एक भीषण दुर्व्यसन है। मानव सोचता है कि इसमें रस है इसलिए वह उसका पान करता है पर वह ऐसा रस है कि जीवन के समग्र रस को निचोड़ लेता है। इसलिए भ. महावीर ने कहा–"उसे न पीओ।"[4] तथागत बुद्ध ने पंचशील में 'मज्जं न पायव्व' मद्यपान न करो–यह सन्देश दिया है। ऋग्वेद के ऋषि ने कहा–मदिरा पीने वाला पापी बन जाता है। इस्लाम धर्म के पैगम्बर हजरत मुहम्मद ने कहा है–"अल्लाह ने शराब पर, शराब पीने वालों पर, पिलाने वाले और किसी तरह उसमें सहयोग देने वालों पर लानत फरमाई है।" महात्मा गाँधी ने अपने रचनात्मक कार्यों की सूची में नशाबन्दी को भी रखा था।

मदिरापान : महान् पाप

डॉ. हार्वर्ड ने लिखा है–"यह अत्यन्त मिथ्या धारणा है कि शराब औषध है और उससे शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है वस्तुतः शराब किसी रोग की दवा नहीं है, चिकित्सा में उसका कोई स्थान नहीं है।" शेक्सपीयर ने लिखा है–"मद्य का एक प्याला बुद्धिहीन, दूसरा प्याला पागल और तीसरा प्याला मूर्च्छित कर देता

---

१. जातक, पंचम खण्ड, गा. ३९, पृ. १०३
२. कुम्भ जातक, जातक, पंचम खण्ड, गा. ४५, पृ. १०४
३. वही, गा. ५१, पृ. १०६
४. दशवैकालिक ५/२/३६

है।" सेनेका ने कहा–"शराब पीना कुछ नहीं है, स्वेच्छा से पागल बनना है–यह महान् दुर्गुण है, महापाप है।" इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री लायड जॉर्ज ने कहा–शराब ने देश को इतनी हानि पहुँचाई है जितनी हानि दुश्मनों की हजारों पनडुब्बियों ने भी नहीं पहुँचाई है। हमारे दुश्मन हैं–जर्मन, आस्ट्रिया और शराब; जिसमें शराब सबसे बड़ा दुश्मन है। जिन घरों में मदिरा ने प्रवेश कर दिया वे घर कभी भी आबाद नहीं हो सकते, वे तो बरबाद ही होंगे। मदिरा मानवता की जड़ों को जर्जरित कर देती है। मदिरा पीने वाले के पास बिना निमन्त्रण के भी हजारों दुर्गुण स्वतः ही चले जाते हैं।

कालिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है–आग की नन्हीं-सी चिनगारी विराट्काय घास के ढेर को नष्ट कर देती है वैसे ही मदिरापान से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, क्षमा आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।[1]

पापों की जड़

भौतिकवाद की चकाचौंध में पले पुसे मानव कहते हैं कि यदि दवा के रूप में किंचित् मदिरा सेवन कर लें तो कोई दोष नहीं है। पर उन्हें पता नहीं है कि मदिरापान जहाँ प्रारम्भ होता है वहाँ पर सर्वनाश हो जाता है। एतदर्थ ही स्कन्द पुराणकार ने मद्यपान को सभी पापों से महान् माना है। उसने कहा है–एक ओर तराजू के पलड़े में वेदों को रख दो, दूसरी ओर ब्रह्मचर्य को तो दोनों बराबर होंगे। एक ओर संसार के सारे पापों को रख दो और दूसरी ओर मदिरापान को रख दो तो दोनों बराबर होंगे।[2]

इस समानता का कारण क्या है ? इस पर चिन्तन करते हुए एक विचारक[3] ने लिखा–मदिरापान से चित्त में भ्रांति पैदा होती है और भ्रान्त चित्त वाला व्यक्ति विविध प्रकार के पापों का आचरण करता है। इसलिए मदिरापान कभी नहीं करना चाहिए।

विनाश का कारण

लीडिया, बेबिलोनिया और रोम राज्य की बरबादी का मूल कारण मदिरापान

---

१. विवेकः संयमो ज्ञान, सत्यं शौचं दया क्षमा।
मद्यात् प्रलीयते सर्वं, तृण्यां वह्निकणादिव ॥ –योगशास्त्र ३/१६

२. एकतश्चतुरोवेदा, ब्रह्मचर्यं तथैकतः।
एकतः सर्वपापानि मद्यपानं तथैकतः ॥

३. चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानात् भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढास्तस्मान्मद्यं नैव पेयं, न पेयम् ॥

और वेश्यागमन ही था। ग्रीस के महान् तत्त्वचिन्तक पाइथागोरस के शिष्य माइलो ने जनता को कहा था–यदि तुम अपने जीवन को शान्तिमय व्यतीत करना चाहते हो तो मदिरापान से बिलकुल दूर रहो। शिवाजी का पुत्र शंभाजी जो महान् वीर था, मदिरापान से वह राज्य से च्युत हो गया। स्वर्णपुरी द्वारिका का विनाश भी मदिरापान से ही हुआ। एक बार सुकरात से पूछा गया–ऐसा उपाय बताइये जिसमें बिना शस्त्र उठाये ही किसी जाति, देश या सम्प्रदाय को नष्ट किया जा सके। सुकरात ने कहा–यदि मदिरापान, मुक्त यौनाचार आदि का प्रबन्ध कर दिया जाय तो वह राज्य आदि जो दो वर्ष के पश्चात् नष्ट होने वाला है वह दो सप्ताह में ही नष्ट हो जाएगा। रोमन साम्राज्य, यवन सभ्यता, नन्द आदि हिन्दू राज्यों के विनाश का कारण मदिरापान ही है।

सामाजिक अप्रतिष्ठा

कुरान-शरीफ में कहा है–"ऐ ईमान वाले लोगो ! शराब, जुआ और बुतपरस्ती नापाक हैं। ये शैतान के हथियार हैं। इनसे दूर रहोगे तो तुम्हें जन्नत मिलेगा।" हदीस में तो यहाँ तक कहा है–"ऐ मुसलमानो ! शराबी को सलाम न करना। यदि वह बीमार हो जाय तो उसका कुशलक्षेम पूछने मत जाना। उसकी मौत के पीछे नमाज न पढ़ना।" शराबी व्यक्ति का इस्लाम धर्म ने इतना बहिष्कार कर रखा है कि उसे किसी प्रकार की सामाजिक प्रतिष्ठा न दी जाय।

इसी प्रकार सभी धर्म-प्रवर्तक, दार्शनिक और चिन्तकों ने मदिरापान की निन्दा की है और उसे पाप का मूल माना है तथा सामाजिक अप्रतिष्ठा का कारण बताया है।

(४) वेश्यागमन

मदिरापान की तरह वेश्यागमन को भी विश्व के चिन्तकों ने सर्वथा अनुचित माना है क्योंकि वेश्यागमन ऐसा दुर्व्यसन है जो जीवन को कुपथ की ओर अग्रसर करता है। वह उस जहरीले साँप की तरह है जो चमकीला, लुभावना और आकर्षक है किन्तु बहुत ही खतरनाक है। वैसे ही वेश्या अपने शृंगार से, हावभाव और कटाक्ष से जनता को आकर्षित करती है। जिस प्रकार मछली को पकड़ने वाले काँटे में जरा-सा मधुर आटा लगा रहता है जिससे मछलियाँ उसमें फँस जाती हैं, चिड़ियों को फँसाने के लिए बहेलिया जाल के आसपास अनाज के दाने बिखेर देता है, दानों के लोभ से पक्षीगण आते हैं और जाल में फँस जाते हैं, वैसे ही वेश्या मोहजाल में फँसाने के लिए अपने अंगोपांग का प्रदर्शन करती है, कपट अभिनय करती है जिससे कि वेश्यागामी समझता है, यह मेरे पर न्योछावर हो रही है, और वह अपना यौवन, बल, स्वास्थ्य धन सभी उस नकली सौन्दर्य की अग्नि ज्वाला में होम देता है।

वेश्या : प्रज्वलित दीपशिखा

वेश्याओं के पीछे बड़े-बड़े धनियों ने अपना धन, वैभव, स्वास्थ्य, बल आदि सर्वस्व समाप्त किया और फिर उन्हें दर-दर के भिखारी बनना पड़ा। बड़े-बड़े वैभवशाली परिवार भी वेश्यासक्ति के कारण तबाह और निराधार हो गये। एतदर्थ ही भर्तृहरि[1] ने कहा–"वेश्या कामाग्नि की ज्वाला है जो सदा रूप-ईंधन से सुसज्जित रहती है। इस रूप-ईंधन से सजी हुई वेश्या कामाग्नि ज्वाला में सभी के यौवन, धन आदि को भस्म कर देती है।"

वेश्या वह प्रज्वलित दीपशिखा है जिस पर हजारों लोग शलभ की तरह पड़-पड़ कर भस्म हो गये। वह एक जलती मशाल है जिसने हजारों परिवारों को जलाकर साफ कर दिया। समाज की अर्थव्यवस्था और पारिवारिक जीवन को अव्यवस्थित करने वाली वेश्या है। वेश्या आर्थिक और शारीरिक शोषण करने वाली जीती-जागती प्रतिमा है। वह समाज का कोढ़ है, मानवता का अभिशाप है, समाज के मस्तक पर कलंक का एक काला टीका है। समस्त नारी जाति का लांछन है।

वेश्या में स्नेहाभाव

प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी की गौरव गरिमा का चित्रण करते हुए कहा गया है–वह समुद्र के समान गम्भीर है, पानी के समान मिलनसार है, गाय के समान वात्सल्य की मूर्ति है, वह महान् उदार, स्नेह सद्भावना और सेवा की साक्षात् प्रतिमा है। वह सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा–तीनों के सद्गुणों से समलंकृत है। पर वेश्या में नारी होने पर भी इन सभी सद्गुणों का अभाव है। लज्जा नारी का आभूषण है। शील सौन्दर्य है। पर वेश्या इस सौन्दर्य और आभूषण से रहित होने के कारण कुरूप है। वेश्याओं से स्नेह की इच्छा करना बालू से तेल निकालने के समान है।[2]

जो भी पुरुष वेश्या के सामने जाता है तो वह उससे कहती है–"हे हृदयेश्वर! आपके अतिरिक्त मेरा कोई प्यारा नहीं है। मैं सबसे अधिक आपको ही प्यार करती हूँ।" इस प्रकार कामान्ध व्यक्तियों को वह अपने चंगुल में फँसाती है। वेश्या संसार का जूठन है।[3] अनेक गुप्त व्याधियों का पिण्ड है। वेश्या केवल पैसे से प्यार करती

---

१. वेश्याऽसौ मदनज्वाला रूपेन्धन समेक्षिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥

२. कः प्राज्ञो वांछति स्नेहं वेश्यासु सिकतासु च। –कथा सरित्सागर

३. वेश्याविश्वकलत्रमत्र तदहो पानीयशालाजले।
यद्वत् कान्दविकाशने च शुचिता का प्रायशस्तादृशी॥
तस्मात् सा कृतपुण्यवत् कृतक मुच्छोकोदया किं प्रिया।
पूर्णेऽलं विशदा स्वभावकलुषा दोषाऽपिनेन्दो कृशे ॥ –कर्पूर प्रकरण ११११

है। जो भी उसे पैसा देता है उसे वह अपना शरीर बेच देती है। इसलिए सभी चिन्तकों ने वेश्यागमन को एक बहुत बड़ा दुर्व्यसन माना है।

(५) शिकार

शिकार मानव के जंगलीपन की निशानी है। शिकार मनोरंजन का साधन नहीं अपितु मानव की क्रूरता और अज्ञता का विज्ञापन है। क्या संसार में सभ्य मनोरंजनों की कमी है जो शिकार जैसे निकृष्टतम मनोरंजन का मानव सहारा लेता है? शिकार करना वीरता का नहीं, अपितु कायरता और क्रूरता का द्योतक है। शिकारी अपने आप को छिपाकर पशुओं पर शस्त्र और अस्त्र का प्रयोग करता है। यदि पशु उस पर झपट पड़े तो शिकारी की एक क्षण में दुर्दशा हो जायेगी। वीर वह है जो दूसरों को जख्मी नहीं करता। दूसरों को मारना, उनके जीवन के साथ खिलवाड़ करना यह तो हृदयहीनता की निशानी है। भोले-भाले निर्दोष पशुओं के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करना मानवता नहीं दानवता है।

शिकारी के पास धर्म नहीं

शिकार को जैन ग्रन्थों में 'पापर्द्धि' कहा है। पापर्द्धि से तात्पर्य है पाप के द्वारा प्राप्त ऋद्धि। क्योंकि शिकारी के पास धर्म नाम की कोई चीज होती ही नहीं, वह तो पाप से ही अपनी आय करता है। इसलिए आचार्य ने शिकारी की मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए कहा है–जिसे शिकार का व्यसन लग जाता है वह मानव प्राणी-वध करने में दया को तिलांजलि देकर हृदय को कठोर बना देता है। वह अपने पुत्र के प्रति भी दया नहीं रख पाता।[1] शिकार के व्यसन ने अनेकों के जीवन को कष्टमय बनाया है। शिकारी एक ही पशु का वध नहीं करता, वह अहंकार के वशीभूत होकर अनेकों जीवों को दनादन मार देता है। इसलिए आचार्य वसुनन्दी[2] ने कहा–मधु, मद्य, माँस का दीर्घकाल तक सेवन करने वाला जितने महान् पाप का संचय करता है उतने सभी पापों को शिकारी एक दिन में शिकार खेलकर संचित कर लेता है।

शिकार में आनन्द कहाँ ?

श्रीमद्भागवत[3] में व्यास ने कहा है–"जो शिकार के शौकीन हैं, पशुघातक हैं उन प्रेतों के सदृश नर-पिशाचों को यमदूत अपना निशाना बनाकर समाप्त करते

---

१. पापर्द्धी तनुमद्यधोज्झितघृणः पुत्रैऽपि दुष्टाशयः। —कर्पूर प्रकरण

२. महुमज्जमंससेवी पावइ पावं चिरेण जं घोरं।
तं एयदिणे पुरिसो लहेइ पारद्धिरमणेण ॥ —वसुनन्दी श्रावकाचार ९९

३. मृगयारसिका नित्यं अरण्ये पशुघातकाः।
परेतांस्तान् यमभटा लक्ष्मीभूतान् नराधमान् ॥ —श्रीमद्भागवत ८-२२-४६

हैं।" जो व्यक्ति दूसरों के प्राणों का अपहरण कर कष्ट देते हैं उन्हें सुख कहाँ प्राप्त हो सकता है ? जो अपनी विलासिता, स्वार्थ, रसलोलुपता, धार्मिक अन्ध-विश्वास अथवा मनोरंजन के लिए पशु-पक्षियों के रक्त से अपने हाथ को रँगते हैं, उन्हें आनन्द कहाँ ?[1]

शिकार में भयंकर विपत्तियाँ

शिकारी व्यक्तियों को शिकार करते समय भयंकर आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। कभी वह शिकार के लिए तेज वाहन को दौड़ता है, कभी सँकरी पगडण्डियों से गुजरते समय चट्टान से टकराता है, तो कभी उसे गहरे गर्त में गिरने का भय रहता है, कभी-कभी शिकार के पीछे दौड़ते समय तीव्र क्षुधा-पिपासा, सर्दी-गर्मी और थकान से भी व्यथित होना पड़ता है। कभी तीक्ष्ण काँटों से पैर विंध जाते हैं। कभी पहाड़ी, नदी-नाले पार करने पड़ते हैं। कभी जंगली भालू, अजगर, जंगली हाथी, वन सूकर, सिंह, बाघ आदि मिल जाने पर स्वयं के प्राणों के भी लाले पड़ जाते हैं। कभी जंगल में अग्नि लग जाने से प्राण बचाना कठिन हो जाता है। कभी रास्त भूल जाने से जंगल में इधर-उधर भटकना पड़ता है। इस प्रकार मनोरंजन तो छूट जाता है और स्वयं का जीवन भयंकर विपत्तियों में घिर जाता है।

पशुओं को मारना कहाँ का न्याय ?

ऋषियों के आश्रमों में और उसके आसपास शिकार करना निषिद्ध था। एक कवि[2] ने मृग के द्वारा कहलाया–हे राजन् ! युद्ध में कदम-कदम पर वीर योद्धा प्राप्त हो सकते हैं। उनके सामने अपने प्रबल पौरुष को आप क्यों नहीं बताते ? हमारे जैसे दीन मृगों पर अपना पराक्रम दिखा रहे हैं। आपके इस पुरुषार्थ को धिक्कार है। क्षत्रिय वह है जो शत्रु मुँह में तृण ले लेता है उसे जीवित छोड़ देता है। फिर इन तृणाहारी पशुओं को मारना कहाँ का न्याय है ?[3]

इसी प्रकार अंग-शृंगार, फैशन, विलासिता के लिए चिड़िया, झींगुर, भेड़ आदि निरीह और निर्दोष प्राणियों के प्रति जितनी भी हिंसक प्रवृत्तियाँ हैं, जिनमें

---

१. लाटी संहिता २/१४१-१४८

२. पदे पदे सन्ति भटा रणोत्सुका, न तेषु हिंसारस एष पूर्यते।
धिगीदृशं ते नृपते ! कुविक्रमं कृपायते यः कृपणे मृगे मयि ॥

३. वैरिणोऽपि हि मुच्यन्ते, प्राणान्ते तृणभक्षणात्।
तृणाहारा सदैवेते, हन्यन्ते पशवः कथम् ? –धनपाल-तिलकमंजरी

प्राणियों की घात होती है वे सभी शिकार के अन्तर्गत आ जाती हैं। इसलिए शिकार भयंकर पाप का कारण है।

(६) चोरी

शिकार की तरह चोरी भी सप्त व्यसनों में एक व्यसन है। चोरी का धन कच्चे पारे को खाने के सदृश है। जैसे कच्चा पारा खाने पर शरीर में से फूट निकलता है, वैसे ही चोरी का धन भी नहीं रहता। जो व्यक्ति चोरी करता है वह अपने जीवन को तो जोखिम में डालता ही है साथ ही वह अपने परिवार को भी खतरे में डाल देता है। चोरी करने वाला धन तो प्राप्त कर लेता है किन्तु उसका शान्ति, सम्मान और सन्तोष नष्ट हो जाता है। चोरी करने वाले के मन में अशान्ति की ज्वालाएँ धधकती रहती हैं। उसका मन सदा भय से आक्रान्त रहता है। उसका आत्म-सम्मान नष्ट हो जाता है, उसमें आत्म-ग्लानि पनपने लगती है।

चोरी का प्रारम्भ छोटी वस्तुओं से होता है और वह आदत धीरे-धीरे पनपने लगती है। जैसे साँप का जहर धीरे-धीरे सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है वैसे ही चोरी का व्यसनरूपी जहर भी जीवन में परिव्याप्त होने लगता है। इसीलिए सभी धर्म-प्रवर्तकों ने चोरी को त्याज्य माना है। वे उसे असामाजिक कृत्य, राष्ट्रीय अपराध और मानवता के विरुद्ध उपक्रम मानते हैं। भगवान महावीर ने कहा–बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ग्रहण न करो।[१] यहाँ तक कि दाँत कुरेदने के लिए एक तिनका भी न लो।[२] कोई भी चीज आज्ञा लेकर ग्रहण करनी चाहिए।[३] वैदिक धर्म में भी चोरी का स्पष्ट निषेध है।[४] किसी की भी कोई चीज न ग्रहण करें। महात्मा ईसा ने भी कहा–"तुम्हें चोरी नहीं करनी चाहिए।"[५]

चोरी का केन्द्र : लोभ

चोरी का वास्तविक अर्थ है जिस वस्तु पर अपना अधिकार न हो उसके मालिक की बिना अनुज्ञा, अनुमति के, उस पर अधिकार कर लेना, उसे अपने काम में लेना, उससे लाभ उठाना अदत्तादान है। चोरी का मूल केन्द्र लोभ है। लोभ के कारण मनुष्य दूसरों की वस्तु को हथियाने और अपने अधिकार में करने का

---

१. अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा। –सूत्रकृतांग १०/२
२. दन्तसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं। –उत्तरा. १९/२८
३. अणुन्नविय गेण्हियव्व। –प्रश्न. २/३
४. कस्यचित् किमपि नो हरणीयम्। –यजुर्वेद ३६/२२
५. Thou shall not steal. —Bible

प्रयास करता है। चोरी करना एक प्रकार का सामाजिक अपराध है। जिस मानव को समाज और राष्ट्र के प्रति अपना क्या कर्तव्य है यह भान नहीं है वह चोरी जैसा जघन्य कार्य करता है। चोरी के द्वारा वह समाज में अशान्ति-अराजकता फैलाता है। जिसे समाज और राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य का भान है वह कदापि चोरी नहीं करेगा। उसे क्षुधा से छटपटाते हुए प्राण त्यागना स्वीकार होगा किन्तु चोरी करना मान्य नहीं। वह चोरी को बहुत अधर्म कार्य मानता है।

चोरी के प्रकार

प्रश्नव्याकरण सूत्र में चोरी के तीस नाम बताकर कहा है कि चोरी का कार्य अपकीर्ति को करने वाला अनार्य कर्म है, वह प्रियजनों में भेद उत्पन्न करने वाला है। चोरी विविध रूप से की जाती है। मालिक की अनुपस्थिति में, उसकी उपस्थिति में भी, असावधानी से उसकी वस्तु को ग्रहण करना, सेंध लगाकर, जेब काटकर, ताला या गठरी खोलकर अथवा पड़ा हुआ, भूला हुआ, खोया हुआ, चुराया हुआ, कहीं पर रखा हुआ दूसरे के धन पर अधिकार करना चोरी है।[1]

एक चिन्तन ने चोरी के छह प्रकार बताये हैं–(१) छन्न चोरी, (२) नजर चोरी, (३) ठगी करके चोरी, (४) उद्घाटक चोरी, (५) बलात् चोरी, (६) घातक चोरी।

छिपकर या गुप्त रूप से मालिक की दृष्टि चुराकर वस्तु को लेना छन्न चोरी है। देखते ही देखते वस्तु को चुरा लेना, जैसे–दर्जी, सुनार आदि नजर चोरी है। किसी को कपट से धोखा देकर ठगना, मिथ्या विज्ञापन देकर लोगों से पैसा ले लेना ठगी चोरी है। गाँठ, ताला, कपाट, तिजोरी आदि का द्वार खोलकर चुपके से सामान लेकर भाग जाना उद्घाटक चोरी है। रास्ते में चलते हुए यात्री की सम्पत्ति को भय दिखाकर लूट लेना बलात् चोरी है। हमला करके या मानवों को घायल करके किसी के घर, दुकान आदि में घुस जाना और सब कुछ लेकर भाग जाना घातक चोरी है।

सभ्य चोरियाँ

संसार में ज्यों-ज्यों चौर्य-कर्म बढ़ रहा है, त्यों-त्यों एक-दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा हो रहा है। आज सफेदपोश और सभ्य दिखने वाले व्यक्तियों पर भी लोगों का विश्वास नहीं है कि कब वे जेब साफ कर दें। आधुनिक युग में

---

१. पतितं विस्मृतं नष्टं, स्थितं स्थापितमाहितम् ।
अदत्तं नाददीत एवं परकीयं क्वचित् सुधी ॥ –*योगशास्त्र* २/६६

असभ्य चोरियों के स्थान पर विविध प्रकार की सभ्य चोरियाँ पनप रही हैं। कितने ही बार लोभ के अधीन होकर व्यापारी ग्राहकों से कहता है–यदि मैं अधिक लेता हूँ तो बालक-बालिका खाएँगी या गाय खाएगी। ग्राहक समझता है कि यह अपने बाल-बच्चों की या गाय की कसम खा रहा है। यह मेरे से एक पैसा भी अधिक न लेगा। पर, वह अधिक राशि लेकर अपने लड़के-लड़कियों के व्यवहार में, पढ़ाई में या अपने यहाँ रखी हुई गाय आदि के पालन में खर्च करता है। यह एक प्रकार से वंचना है। अनपढ़ व्यक्तियों से झूठे दस्तावेज लिखाकर, छलकर, अंक बढ़ाकर, रिश्वत आदि लेकर जो धन एकत्रित किया जाता है, वे सभी चोरियाँ हैं।

वस्तुओं में मिलावट करना, बढ़िया बताकर घटिया देना, विभाग करते समय पक्षपात करना, अपने लिए या अपने पारिवारिकजनों के लिए अच्छी चीजें रखकर दूसरों को रद्दी चीजें दे देना, किसी को भी फुसलाकर शब्द-छल द्वारा अर्थ की चोरी करना, नाम की चोरी करना, उपकार की चोरी करना, या उपयोगी वस्तुओं को ले लेना ये सभी क्रियाएँ चोरियाँ ही हैं।

चोरी, चरित्र धन की नाशक

इस प्रकार चोरी एक ऐसा दुर्गुण है जिससे मानव के, दया, अहिंसा, क्षमा, सत्य आदि सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। चोरी से प्राप्त धन, जीवन में शान्ति नहीं देता। भारतीय चिन्तकों ने धन को इतना महत्त्व नहीं दिया है, जितना कि चरित्र और नैतिकता व प्रामाणिकता को दिया है। चोरी करने वाला उस चरित्र धन को नष्ट कर देता है।

चोरी के कारण

चोरी एक ऐसा व्यसन है जो एक बार लग जाने पर छूटता नहीं है। चोरी के आभ्यन्तर कारण ये हैं[1]–जो व्यक्ति सुन्दर वस्तुओं पर आकर्षित होता और उन्हें प्राप्त करने के लिए लालायित होता है, वह लोभ के वशीभूत होकर दूसरों की वस्तुओं को ग्रहण करता है। जैसे रूप कारण है वैसे शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श के अधीन होकर भी वस्तुओं को हथियाने की कोशिश की जाती है। सभी चोरियों का मूल केन्द्र मनुष्य की पर-द्रव्य के प्रति आसक्ति है।

चोरी के बाह्य कारण भी हैं–(१) बेकारी, (२) दरिद्रता या निर्धनता, (३) फिजूलखर्ची, (४) यशःकीर्ति की लालसा, (५) स्वभाव या कुसंस्कार, और (६) अराजकता।

---

१. रूवे अतित्ते य परिग्गहंमि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययइ अदत्तं॥ –उत्तराध्ययन सूत्र ३२/२९

जो व्यक्ति संस्कारी होगा वह कैसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय तथापि चोरी जैसे निकृष्टतम पाप को करना पसन्द नहीं करेगा। जब भी उसके मन में चोरी के विचार उद्‌बुद्ध होंगे तो वह जागरूक द्वारपाल की तरह उस विचार को अपने मन में प्रवेश होने नहीं देगा।

(७) परस्त्री-सेवन

भारत के तत्त्वदर्शियों ने कामवासना पर नियन्त्रण करने हेतु अत्यधिक बल दिया है। कामवासना ऐसी प्यास है, जो कभी भी बुझ नहीं सकती। ज्यों-ज्यों भोग की अभिवृद्धि होती है त्यों-त्यों वह ज्वाला भड़कती जाती है और एक दिन मानव की सम्पूर्ण सुख-शान्ति उस ज्वाला में भस्म हो जाती है।

गृहस्थ साधकों के लिए कामवासना का पूर्ण रूप से परित्याग करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि जो महान् वीर हैं मदोन्मत्त गजराज को परास्त करने में समर्थ हैं, सिंह को मारने में सक्षम हैं, वे भी कामवासना का दमन नहीं कर पाते। एतदर्थ ही अनियन्त्रित कामवासनाओं को नियन्त्रित करके समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने हेतु मनीषियों ने विवाह का विधान किया। विवाह समाज की नैतिक शान्ति, पारिवारिक प्रेम और प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने वाला एक उपाय है। गृहस्थ के लिए विधान है कि वह अपनी विधिवत् विवाहित पत्नी में सन्तोष करके शेष सभी परस्त्री आदि के साथ मैथुन विधि का परित्याग करे।[1] विराट् रूप में फैली हुई वासनाओं को जिसके साथ विधिपूर्वक पाणिग्रहण हुआ है उसमें वह केन्द्रित करे। इस प्रकार असीम वासना को प्रस्तुत व्रत के द्वारा अत्यन्त सीमित करे।

परस्त्री से तात्पर्य अपनी धर्मपत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों से है। चाहे थोड़े समय के लिए किसी को रखा जाय या उपपत्नी के रूप में, किसी परित्यक्ता, व्यभिचारिणी, वेश्या, दासी या किसी की पत्नी अथवा कन्या–वे सभी स्त्रियाँ परस्त्रियाँ हैं। उनके साथ उपभोग करना अथवा वासना की दृष्टि से देखना, क्रीड़ा करना, प्रेम पत्र लिखना या अपने चंगुल में फँसाने के लिए विभिन्न प्रकार के उपहार देना, उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास करना, उसकी इच्छा के विपरीत काम-क्रीड़ा करना, वह बलात्कार है; और इसकी इच्छा से करना परस्त्री-सेवन है।

परस्त्री-सेवन : अवैध पापाचार

सामाजिक, धार्मिक और नैतिक सभी दृष्टियों से परस्त्री-सेवन हानिप्रद है। पर पाश्चात्य देशों में एक विचाराधारा पनप रही है कि विवाह करना अनुपयुक्त है।

---

१. सदारसंतोसिए अवसेसं सव्वं मेहुणाविहिं पच्चक्खाइ। —*उपासकदशांग*

क्योंकि विवाह के बन्धन में बँधने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और उस पर अनेक जिम्मेदारियाँ आ जाती हैं। यदि विवाह न किया जाय तो उन सभी जिम्मेदारियों से मुक्त रहकर अपनी इच्छाओं की तृप्ति की जा सकती है। क्योंकि विवाह करने पर जब चाहे तब खुले रूप में उपभोग कर सकते हैं, पर विवाह न करने पर बहुत अंशों में कामेच्छा पर नियन्त्रण रखा जा सकता है।

प्रस्तुत तर्क युक्तियुक्त नहीं है। यह निरंकुश स्वच्छन्द कामवासना पूर्ति की जो विचारधारा है, वह अनुचित है। वे विषय-भोग में आसक्त बनकर स्वच्छन्तापूर्वक काम-सेवन करना चाहते हैं। वे विवाह के मूल उद्देश्य को भूल जाते हैं कि विवाह का उद्देश्य केवल विषय वासनाओं का सेवन ही नहीं है। यही कारण है पत्नी को भोग-पत्नी न कहकर धर्मपत्नी कहा गया है। विवाह द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छाओं को नियन्त्रित करता है और स्वयं को धर्म-मार्ग में उत्प्रेरित करता है। विवाह-बंधन में बँधे हुए पति और पत्नी में हार्दिक प्रेम होता है, उनमें एक-दूसरे की सेवा और सद्भावना रही हुई होती है। किन्तु परपुरुष या परस्त्री-सेवन में उस प्रकार के प्रेम का अभाव होता है। उससे केवल अवैध पापाचार पनपता है। विवाहिता जीवन में रुग्णावस्था, वृद्धावस्था या अन्य किसी भी प्रकार की शारीरिक स्थिति होने पर पति पत्नी की और पत्नी पति की सेवा करती है। इसके अतिरिक्त सन्तान भी अपने माता-पिता की सेवा करती है। पत्नी गृहलक्ष्मी के रूप में रहती है। वह मंत्री की तरह सलाह देती है, सेवा करने में वह दासी की भूमिका अदा करती है। धर्म कृत्यों के आचरण करने के लिए पुरुष को उत्प्रेरित करती है। उसकी क्षमा पृथ्वी के समान अनूठी होती है और वह माँ के समान स्नेह से भोजन कराती है।

किन्तु परस्त्रियों में यह विशेषताएँ नहीं होतीं। कई बार परस्त्रीगामियों का अपना जीवन भी संकट में पड़ जाता है। यदि उसके पति को ज्ञात हो जाय या वह कुँआरी कन्या हो। इन सभी कार्यों में बदनामी के साथ ही मन में सदा अशान्ति बनी रहती है। इसीलिए वाल्मीकि ऋषि[1] ने लिखा–परस्त्री से अनुचित सम्बन्ध रखने जैसा कोई पाप नहीं है। कविकुल गुरु कालिदास[2] ने परस्त्री-सेवन को अनार्यों का कार्य कहा है। आचार्य मनु[3] ने कहा है–इस विश्व में पुरुष के आयुष बल को क्षीण करने वाला परस्त्री-सेवन जैसा अन्य कोई निकृष्ट कार्य नहीं है। बाइबिल में भी कहा है–जो व्यक्ति परस्त्री के साथ व्यभिचार करता है वह विवेकशून्य है और स्वयं अपनी आत्मा का हनन करता है। 'ओल्ड टेस्टमेंट' में

१. परदाराभिमर्शात्तु नान्यत् पापतरं महत्। —वाल्मीकि रामायण ३३८/३०
२. अनार्यः परदार व्यवहारः। —अभिज्ञान शाकुन्तल
३. नहीदृशमनायुष्यं लोके किंचित् दृश्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्॥ —मनुस्मृति ४/१३४

कहा है–"पराई स्त्री की सुन्दरता देखकर उसकी अभिलाषा मत कर। कहीं ऐसा न हो कि वह तुम्हें अपने कटाक्षों में फँसा ले।"

परस्त्रीगामी सदा अविश्वसनीय

परस्त्रीगामी अत्यन्त निन्दा का पात्र बनता है। उस पर कोई भी विश्वास नहीं करता। उसकी पत्नी भी उससे सदा रूठी रहती है। परस्त्रीगामी का मन सदा कलुषित रहता है। वह जिस किसी भी नारी को देखता है, उस पर आकर्षित हो जाता है। उसकी अनियन्त्रित वासनाएँ उसको सदा पथभ्रष्ट बनाए रखती हैं। उसका धर्म व कर्त्तव्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता; केवल वासना से सम्बन्ध रहता है। इसलिए परस्त्रीगामी का जीवन सदा असंतुष्ट रहता है। वह कुत्ते की तरह इधर-उधर की जूठन चाटता फिरता है।

परस्त्रीगमन के कारण

समाजशास्त्रियों ने परस्त्रीगमन के मुख्य कारण बताये हैं–(१) क्षणिक आवेश, (२) अज्ञानता, (३) बुरी संगति, (४) पति के परस्त्रीगमन को देखकर उसकी पत्नी भी पथ-भ्रष्ट होती है, (५) विकृत साहित्य-पठन, (६) धन मद के कारण, (७) धार्मिक अन्ध-विश्वास, (८) सहशिक्षा, (९) अश्लील चलचित्र, (१०) अनमेल विवाह, (११) नशीले पदार्थ सेवन।

जिस प्रकार पुरुष के लिए परस्त्री-सेवन व्यसन है उसी तरह स्त्री के लिए परपुरुष-सेवन भी निन्दनीय है। ये सातों व्यसन केवल पुरुष जाति के लिए ही नहीं हैं महिलाओं के लिए भी हैं। उन्हें भी इन व्यसनों से मुक्त होना चाहिए।

जैन साधना पद्धति में व्यसन-मुक्ति साधना के महल में प्रवेश करने का प्रथम द्वार है। जब तक व्यसन से मुक्ति नहीं होती, मनुष्य में गुणों का विकास नहीं हो सकता। इसलिए जैनाचार्यों ने व्यसन-मुक्ति पर अत्यधिक बल दिया है। व्यसन से मुक्त होने पर जीवन में आनन्द का सागर ठाठें मारने लगता है।

कथनी करनी में एकरूपता

भारतीय सन्त परम्परा का झुकाव सदा से गुणों के प्रति रहा है। व्यक्ति की बाह्य प्रतिष्ठा केवल सामाजिक वैषम्य का प्रतीक है। उसकी पावन प्रतिष्ठा साधनागर्भित विश्व-कल्याणकारी जीवन प्रणाली पर अवलम्बित है। आज का राजनैतिक जीवनयापन करने वाले सच्चरित्रता को, जो राष्ट्र के यश को संवर्द्धित करने वाली शक्ति है, उसकी उपेक्षा कर रहा है। वह अपनी दुर्बलता को 'यह मेरे

व्यक्तिगत जीवन का प्रश्न है' कहकर टालना चाहता है। पर भारत में यह यह कथनी और करनी का वैषम्य कभी पनपा नहीं है। आचार और विचार का साम्य ही जन-जीवन को उद्दीप्त कर प्रशस्त पथ का प्रदर्शन कर सकता है।

जनतन्त्रमूलक युग के लिए व्यसन-मुक्ति एक ऐसी विशिष्ट आचार पद्धति है जिसके परिपालन से गृहस्थ अपना सदाचारमय जीवन व्यतीत कर सकता है और राष्ट्रीय विकास के कार्यों में भी सक्रिय योगदान दे सकता है। दर्शन के दिव्य आलोक में ज्ञान के द्वारा चारित्र की सुदृढ़ परम्परा स्थापित कर सकता है। यह ऐसी एक आचार-संहिता है जो केवल जैन गृहस्थों के लिए ही नहीं किन्तु मानव-मात्र के लिए उपयोगी है। वह नागरिक जीवन को समृद्ध और सुखी बना सकती है तथा निःस्वार्थ कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर वह राष्ट्र में अनुपम बल और ओज का संचार कर सकती है, सम्पूर्ण मानव समाज में सुख-शान्ति और निर्भयता भर सकती है। अतः व्यसन-मुक्त जीवन सभी दृष्टियों से उपयोगी और उपादेय है।

● ●

९. सदाचार की पृष्ठभूमि : मार्गानुसारी के गुण

मूल आधार

एक भव्य भवन, जो अनन्त आकाश को छू रहा है, जिस पर चमकते हुए स्वर्ण कलश जन-जन के मन को आकर्षित कर रहे हैं, दर्शक के मन को मुग्ध कर रहे हैं और वह उसकी प्रशंसा करते हुए अघाते नहीं हैं, कितनी सुन्दर चमक-दमक है भव्य भवन की; पर उन्हें पता नहीं कि इस भव्य भवन का मूल आधार सुदृढ़ नींव की ईंट है। बिना नींव के भव्य भवन का अस्तित्व ही कहाँ है? हवा में फेंकी गई ईंटों से भवन का निर्माण नहीं होता। वे तो पुनः लौटकर निर्माता की जीवन-लीला को ही समाप्त कर देती हैं।

मानवता की नींव

आध्यात्मिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन-प्रासाद का निर्माण भी मानवता की गहरी नींव पर ही हो सकता है। आज के जाने हुए विश्व में ४ अरब से अधिक मनुष्य हैं किन्तु उनमें से अधिकांश शरीर की अपेक्षा ही मानव हैं, उनके मन में मानवता नहीं है। उनके मन में पशुवृत्ति पनप रही है, कभी वे अपने भाई को निहारकर कुत्ते की तरह भौंकते हैं तो कभी बिल्ली की तरह घुर्राते हैं, कभी लोमड़ी की तरह काली करतूत का परिचय देते हैं तो कभी भेड़िये की तरह अपनी दुष्ट प्रकृति का प्रभाव दिखाते हैं। ऐसा पशुवृत्ति वाला मनुष्य इन्सानी-चोले में क्या नहीं करता, वह स्वयं आबाद रहकर दूसरों की बर्बादी के सपने सँजोता रहता है। हर किसी के पथ पर क्रोध और अहंकार के काँटे बिछाता रहता है। इसका मूल कारण है मानवता का अभाव ! बिना मानवता के नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक जीवन-निर्माण नहीं हो सकता। जन-जीवन में जो विसंगतियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, उनका मूल कारण मानवता का अभाव ही है। जब तक इस कारण को नष्ट न किया जाये, तब तक साधना में प्राणों का संचार नहीं हो सकता।

मार्गानुसारी के दिव्य गुण

जैन दर्शन के मूर्धन्य मनीषी आचार्यों ने श्रावकधर्म और श्रमणधर्म ग्रहण करने के पूर्व मानवता के दिव्य गुणों को धारण करना आवश्यक माना। सामान्य

मानव से विशिष्ट मानव बनने के लिए आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम मार्गानुसारी के दिव्य गुणों को अपनाये।

आगम व आगमेतर साहित्य का गम्भीर अध्ययन कर सर्वप्रथम 'धर्मबिन्दु प्रकरण' ग्रन्थ में मार्गानुसारी के पैंतीस बोल पर आचार्य हरिभद्र ने चिन्तन प्रस्तुत किया। उसके पश्चात् अनेक आचार्यों ने अपनी कमनीय कल्पना से उन गुणों पर अधिक विस्तार से प्रकाश डाला। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र ग्रन्थ में उन गुणों पर अत्यन्त गहराई से भाष्य प्रस्तुत किया। ये पैंतीस गुण जीवन के लिए इतने अधिक उपयोगी हैं कि मानव के जीवन में सद्गुणों का सरसब्ज बाग लहलहाने लगता है। ये गुण मनुष्य को तन से ही नहीं मन से भी मानव बनाने में पूर्ण सक्षम हैं।

धर्म का निवास, शुद्ध हृदय में

धर्म अमृत है। उस अमृत को धारण करने की योग्यता उसी में आती है, जिसके कण-कण में मानवता भरी हो। यदि कच्चे घड़े में अमृत भर दिया जाये तो घड़ा भी नष्ट होगा और अमृत भी। कहा जाता है कि सिंहनी का दूध स्वर्णपात्र में ही टिकता है, सामान्य पात्र में नहीं। एक महान् कलाकार जिसकी तूलिका में जादू है, वह ऐसे सुन्दर चित्र अंकित करता है कि दर्शक उन्हें ठगा-सा देखता रह जाता है। पर वह उसी दीवार पर चित्र अंकित कर सकता है जो दीवार पूर्ण रूप से स्वच्छ और चिकनी है; धूल से सनी हुई और भद्दे रंगों से पुती हुई दीवार पर वह मनमोहक चित्र अंकित नहीं कर सकता। एक कुशल कलम कलाधर है जिसकी लेखनी कागज पर सरपट दौड़ती है पर तेल से स्निग्ध बने हुए कागज पर वह लिख नहीं सकता। वैसे ही मानवतारहित हृदय पर धर्म अंकित नहीं किया जा सकता। इसीलिए भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में यह उद्घोष किया कि "धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।"–धर्म शुद्ध हृदय में ठहरता है। यदि हृदय शुद्ध नहीं है तो कितनी ही धार्मिक साधना की जाये, राख में घी डालने के सदृश होगी।

यदि मकान के एक कोने में गन्दगी का ढेर लगा हुआ हो, उसकी भयंकर दुर्गन्ध चारों ओर व्याप्त हो, उस समय कोई व्यक्ति उस दुर्गन्ध से बचने के लिए अगरबत्तियाँ जला दे और चाहे कि मधुर सुगन्ध से सारा वातावरण महक उठे तो यह कदापि सम्भव नहीं है। यही स्थिति जीवन की है। मन विषय-कषायों से कलुषित है, विकारों की गन्दगी से संत्रस्त है तो धर्म जीवन को पवित्र नहीं बना सकता। उस जीवन में धर्म का दिव्य तेज प्रगट नहीं हो सकता। एतदर्थ ही आचार्यों ने सर्वप्रथम सद्गुणों के आचरण पर बल दिया है।

आत्मा की पाँच श्रेणियाँ

भारत के तत्त्व महर्षियों ने आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया है। आध्यात्मिक उन्नति और आत्मिक उत्थान की क्षमता की दृष्टि से उन्होंने आत्मा की पाँच श्रेणियाँ प्रतिपादित की हैं। वे इस प्रकार हैं–(१) प्रसुप्त आत्मा, (२) सुप्त आत्मा, (३) जाग्रत आत्मा, (४) उत्थित आत्मा, (५) समुत्थित आत्मा।

(१) प्रसुप्त आत्मा–जो आत्मा मोह की गाढ़ निद्रा में सोया हुआ है, वह प्रसुप्तात्मा कहलाता है। मोह के सघन आवरण को नष्ट करने में वह आत्मा कभी भी सक्षम नहीं होता। अभव्य आत्मा इसी कोटि के अन्तर्गत है जो व्यवहार दृष्टि से उग्र तपश्चरण करने पर भी मोह का विलय न कर सकने के कारण तीन काल में भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता।

(२) सुप्त आत्मा–अभव्य आत्मा की भाँति मोह का अत्यन्त सघन और कभी भी न टूट सकने वाला आवरण इस आत्मा पर नहीं होता, प्रयत्न करने पर वह आत्मा जाग्रत भी हो सकती है। किन्तु इस आत्मा में इतनी सुषुप्ति होती है कि सत्य को समझने की भावना ही उसमें उद्‌बुद्ध नहीं होती। यह स्थिति प्रथम गुणस्थानवर्ती भव्य आत्मा की होती है।

(३) जाग्रत आत्मा–यह वह आत्मा है जिस पर अनन्तकाल से चढ़ी हुई मिथ्यात्व की परतें हटने लगती हैं, अज्ञान की दुर्भेद्य ग्रन्थियाँ खुलने लगती हैं, जिससे जीवन में सत्य के संदर्शन होते हैं। आत्मानुभव का अपूर्व आह्लाद जगमगाने लगता है। यह अवस्था चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव की होती है।

(४) उत्थित आत्मा–जगने के पश्चात् प्रमाद का परिहार कर धर्माचरण की ओर इस श्रेणी के आत्मा की गति और प्रगति होती है। वह प्रबल पराक्रम कर श्रावक के अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत तथा एकादश प्रतिमाओं को धारण करता है। यह अवस्था पंचम गुणस्थानवर्ती देशविरत श्रावक की होती है।

(५) समुत्थित आत्मा–यह आत्मा पूर्ण रूप से जाग्रत होकर दृढ़ संकल्प के साथ साधना के महापथ पर बढ़ता है। चाहे कितनी भी विघ्न और बाधाएँ आयें, उनसे जूझता हुआ आगे बढ़ता है, उसके कदम पीछे नहीं हटते, यह भूमिका छठे और सातवें गुणस्थानवर्ती श्रमण साधक की होती है।

प्रसुप्त और सुप्त आत्मा में मानवता का अभाव होता है। जाग्रत आत्मा ही मानवता के पथ पर अपने कदम बढ़ाती है। वही मार्गानुसारी गुणों को अपनाती है। मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों में सर्वप्रथम गुण है न्यायसम्पन्न विभवता अर्थात् न्याय से उपार्जित धन से आजीविका करना।

(१) न्यायसम्पन्न विभव

एक सद्गृहस्थ श्रमण की तरह भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह नहीं करता, वह न्याय और नीतिपूर्वक अर्थ का उपार्जन करता है। आचार्य हरिभद्र[१] ने, आचार्य हेमचन्द्र[२] ने और पण्डित आशाधर[३] ने एक स्वर से इस बात का समर्थन किया है कि गृहस्थ न्याय और नीतिपूर्वक ही अर्थोपार्जन करे। आगम साहित्य में भी गृहस्थ का विशेषण 'धम्माजीवी' आया है। न्याय और नीतिपूर्वक वह आजीविका चलाता है। तथागत बुद्ध ने भी अष्टाङ्गिक मार्ग में पाँचवाँ मार्ग 'सम्यग् आजीव' बताया है। अन्याय और अनीति से जो धन कमाया जाता है, वह धन धर्मयुक्त नहीं है। जैसे जहरीले भोजन से जीवन के लिए खतरा पैदा हो जाता है, वैसे ही अन्याय और अनीति से प्राप्त धन भी शान्ति प्रदान नहीं करता। सम्पत्ति का अर्थ है–सम्यग प्रतिपत्तिः–सम्पत्तिः। जो न्यायपूर्ण, शुद्ध और सम्यक् प्रकार से प्राप्त होती है, वह सम्पत्ति है। अन्याय और गलत तरीके से प्राप्त सम्पत्ति, सम्पत्ति नहीं विपत्ति है।

(२) शिष्टाचार-प्रशंसक

मार्गानुसारी का द्वितीय गुण शिष्टाचार-प्रशंसक है, श्रेष्ठ आचार की प्रशंसा करना है। शिष्ट शब्द का अर्थ व्याकरण की दृष्टि से अनुशासित है। जो गुरुजनों के अनुशासन में रहता है, वह शिष्ट है। शिष्ट को ही वर्तमान भाषा में "करेक्टर" (Character) या 'मोरल' (Moral) कहते हैं। जिसमें यह होता है, वह व्यक्ति समाज का शृंङ्गार है। दूध में शक्कर मिल जाने से उसका स्वाद बढ़ जाता है, वैसे ही सदाचार से जीवन में निखार आ जाता है। शिष्टाचार की प्रशंसा करने से समाज में सदाचार की प्रतिष्ठा होती है। गीताकार ने भी कहा है–श्रेष्ठ व्यक्तियों के आचरण का अनुसरण समाज के अन्य लोग करते हैं। जिसके मन में श्रेष्ठाचार के प्रति आस्था होगी वही शिष्टाचार की प्रशंसा कर सकता है। सर्वोदयी सन्त विनोबा ने कहा है–"यह मत भूलो कि जनता थर्मामीटर है, हमारे आचरणों की नाप-जोख जितनी जल्दी वह कर सकती है, हम स्वयं भी नहीं कर सकते।"

आचार्य मुनिचन्द्र[४] ने शिष्टाचार के अठारह सूत्र दिये हैं, वे इस प्रकार हैं–

१–लोकापवाद का भय।

२–दीन और गरीबों के प्रति सहयोग की भावना।

---

१. न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोकहितायेति। –*धर्मबिन्दु प्रकरण, १*

२. न्यायसम्पन्नविभवः। –*योगशास्त्र १/४७*

३. न्यायोपात्त धनोयजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गभजन्। –*सागारधर्मामृत*

४. धर्मबिन्दु की टीका

३–कृतज्ञता।

४–निन्दा का परित्याग।

५–विज्ञजनों की प्रशंसा।

६–आपत्ति की घड़ियों में धैर्य।

७–धन-वैभव की प्राप्ति होने पर भी विनम्र रहना।

८–समय पर औचित्यपूर्ण और परिमित वाणी बोलना।

९–किसी के साथ कदाग्रह और विरोध न करना।

१०–जिस कार्य को स्वीकार किया है, उस कार्य को पूर्ण करना।

११–कुलधर्म का सम्यग् प्रकार से पालन करना।

१२–अर्थ का अपव्यय न करना।

१३–आवश्यक कार्य को सम्पन्न करने के लिए यत्न करना।

१४–श्रेष्ठ कार्य में सदा संलग्न रहना।

१५–प्रमाद का परिहार करना।

१६–लोकाचार का पालन करना।

१७–जहाँ तक हो सके अनुचित कार्य से बचकर उचित कार्य करना।

१८–निम्नस्तरीय कार्यों से सदा बचना।

ये अठारह सूत्र केवल संकेत मात्र हैं, इन संकेतों के आधार पर अन्य शताधिक ऐसे सूत्र व्यवहार तथा शिष्टाचार के सम्बन्ध में हो सकते हैं जिनका पालन सद्गृहस्थ के लिए आवश्यक है। कौन-सा व्यवहार शिष्टाचार है और कौन-सा नहीं है? इसका निर्णय विवेक के आधार पर किया जा सकता है।

(३) काम-संयम

गृहस्थ पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। इसलिए उसके अनियन्त्रित जीवन को नियन्त्रित करने हेतु विवाह का विधान किया है। विवाह का अर्थ है–स्त्री-पुरुष का जीवन भर के लिए स्नेह और सहयोग के सूत्र में बंध जाना। उस बंधन में केवल काम-भावना की प्रमुखता नहीं होती किन्तु उच्च संकल्प और उच्च ध्येय के साथ जीवन के क्षेत्र में अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने की होती है। इसीलिए विशिष्टता के साथ वहन करने को विवाह कहा है। वह विवाह हरेक के साथ न किया जाये, इसके लिए प्रस्तुत मार्गानुसारी गुण में दो बातें बताई हैं–(१) समान कुल शील, और (२) अन्य गोत्र।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार–समान कुल-शील वाले तथा अन्य गोत्र में उत्पन्न हुए परिवार के साथ वैवाहिक सम्बन्ध किया जा सकता है।[1] अन्य कुल में समुत्पन्न हुई कन्या के यदि आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान पृथक् हैं तो न कन्या प्रसन्न रह सकती है, और न अन्य पारिवारिक जन ही। अतः आचार्य ने समान कुल और समान शील पर बल दिया, जिससे एक-दूसरे के जीवन में विषमता न आये।

भगवती[2] और ज्ञाताधर्मकथा[3] आदि में महाबल और मेघकुमार के विवाह-प्रसंग हैं, वहाँ यह स्पष्ट बताया है कि कन्या और वर परस्पर वय की दृष्टि से, रूप की दृष्टि से, सुन्दरता की दृष्टि से, यौवन की दृष्टि से समान थे। जिससे उनके जीवन में परस्पर स्नेह सम्बन्ध बना रहता। धार्मिक समानता भी थी जिससे पति-पत्नी के जीवन में कलह नहीं होता।

विवाह के लिए सगोत्र कन्या का जो निषेध किया गया है, उसके पीछे शारीरिक और मनोवैज्ञानिक कारण रहे हुए होंगे। सगोत्रज कन्या की अपेक्षा अन्य गोत्रज कन्या की सन्तान संभव है अधिक प्रतिभाशाली और शारीरिक-मानसिक दृष्टि से अधिक विकसित होती होगी।[4]

समान कुल और शील वाली पत्नी ही धर्म में सहायता करने वाली, धर्म में अनुरक्त और सुख-दुःख में साथ देने वाली होती है।[5]

आगम साहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि विवाह योग्य वय में ही किया जाता था। इस सम्बन्ध में आगमों में कहा गया है–बालभाव से उन्मुक्त होने पर[6], नौ अंग प्रतिबुद्ध होने पर[7] और गृहस्थ सम्बन्धी भोग भोगने में समर्थ होने पर।[8]

इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह उस समय अयोग्य माने जाते थे।

---

१. कुलशीलसमैः सार्धकृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः ! –*योगशास्त्र १/४७*

२. सरिसयाणं सरिसव्वयाणं सरिसत्ताणं सरिसलावण्णरूवजोवणगुणोववेयाणं सरिसएहिंतो। –*भगवतीसूत्र ११/११*

३. ज्ञातासूत्र १/१

४. साधना के सूत्र, पृष्ठ ९९, प्रथम संस्करण, श्री मधुकर मुनि

५. उपासकदशांग सूत्र, ७/२२७

६. उम्मुक्क बालभावे। –*भगवतीसूत्र ११/११*

७. णवंग सुत्त पडिबोहिए। –*ज्ञातासूत्र १/१*

८. अलं भोगेसमत्थे। –*भगवतीसूत्र ११/११*

(४) पाप का भय

जो आत्मा को पतन की ओर ले जाता है, वह पाप है।[१] दूसरे शब्दों में जो पुण्य का शोषण करता है, वह पाप है।[२] अथवा–जीव रूपी वस्त्र को जो मलिन करता है, वह पाप है।[३] पाप वह परिणाम है, जिससे आत्मा का बन्धन और पतन होता है।[४] जिसके करने से मन शंकित-संत्रस्त होता है, वह पाप है।

यद्यपि गृहस्थ सर्वथा पाप का वर्जन नहीं कर सकता तथापि विवेक के कारण वह पाप में मन्दता तो ला ही सकता है क्योंकि पाप में तीव्रता और मन्दता भावों के कारण ही होती है। पाप करते समय यदि मन में पाप के प्रति घृणा नहीं है, संकोच नहीं है तो वह उत्कृष्ट पाप का बन्धन करता है। यदि मन में यह विचार है कि परिस्थितिवश मुझे पाप करना पड़ रहा है, मेरे में इतना सामर्थ्य नहीं कि मैं इस पाप से बच सकूँ। इस प्रकार कार्य करते हुए पाप का तीव्र बन्धन नहीं होगा। मार्गानुसारी का चतुर्थ गुण 'पापभीरु' बताया गया है। गृहस्थ अन्य किसी भी चीज से भयभीत नहीं होता, किन्तु पाप से भयभीत होता है।

पाप का भय रखना एक बात है और पाप करके भय लगना दूसरी बात है। पाप करने पर व्यक्ति का कलेजा थर-थर काँपता है। कहावत भी है–पाप किसी का बाप नहीं है। जो भी पाप करेगा उसे उसका कड़वा फल अवश्य ही मिलेगा। पाप करने के पूर्व यदि मन में भय है तो वह कभी भी पाप नहीं करेगा। जो पाप से डरता है वह पण्डित है। चूर्णिकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कहा है–"पापात्डीनः पण्डितः।"[५] केवल पढ़ने-लिखने से कोई पण्डित नहीं होता, पर पण्डित वह होता है–जो पाप से दूर रहता है। पाप पशु है। उस अशुभ पाप से गृहस्थ को बचना चाहिए। इसीलिए सद्गृहस्थ का पापभीरु[६] गुण बताया गया है।

(५) देश-प्रसिद्ध आचार का पालक[७]

गृहस्थ का जीवन समाज और राष्ट्र से सम्बन्धित होता है। वह अपने देश और राष्ट्र की संस्कृति व सभ्यता का समुचित पालन करता है। ज्ञान-विज्ञान,

---

१. पातयति आत्मानं इति पापम्।
२. पातयति–शोषयति पुण्य इति पापम्।
३. पाशयति–गुण्डयति जीव वस्त्रमिति पापम्।
४. पाशयति पातयति वा पापम्। –उत्तरा. चूर्णि २
५. उत्तराध्ययन १ चूर्णि
६. योगशास्त्र १/४८
७. प्रसिद्धं च देशाचार समाचरन्। –योगशास्त्र १/४८

अनुभव और चिन्तन के फलस्वरूप जो महान् आचार-विचार की सम्पत्ति उसे प्राप्त हुई है, उसके संरक्षण, संवर्धन और संचालन का महान् उत्तरदायित्व उस पर है। प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है कि जीवन को संस्कारित बनाने वाले आचार और विचार का आदर करे। जिसे अपने देश और राष्ट्र के प्रति गौरव है, वह देशाचार का उल्लंघन नहीं करता। वह पवित्र चरित्र को अपनाने में ही गौरव की अनुभूति करता है।

(६) निन्दा नहीं करना

गृहस्थ किसी की भी निन्दा न करे और विशेष रूप से राजा, मन्त्री आदि शासन के अधिकारी तथा धर्मगुरुओं की कभी भी निन्दा न की जाये।

निन्दा जीवन का बहुत बड़ा दुर्गुण है। निन्दक व्यक्ति की दृष्टि गुण पर नहीं, दोष पर रहती है, उसमें कषाय की तीव्रता रहती है जिससे वह दूसरों के गुणों में भी दोषों को निहारता है। सौ सद्गुणों की उपेक्षा कर एक दुर्गुण पर ही उसकी दृष्टि केन्द्रित होती है।

भगवान महावीर ने निन्दा को पीठ का माँस खाने के सदृश कहा है।[1] तथागत बुद्ध ने कहा–जो व्यक्ति दूसरों की निन्दा करता है, वह अपने मुख से पाप एकत्र करता है।[2] इस्लाम धर्म में भी कहा है–"गीबत (निन्दा) जिना (व्यभिचार) से भी संगीन है। यदि कोई मानव व्यभिचार का सेवन कर ले तो वह पश्चात्ताप करके उस पाप से मुक्त हो सकता है; किन्तु निन्दा की माफी तब तक नहीं होती जब तक वह इन्सान माफ न करे जिसकी उसने निन्दा की है।[3]

आचार्यों ने निन्दा का निषेध करते हुए प्रस्तुत गुण में एक बात पर विशेष बल दिया है कि राजा, मन्त्री आदि की निन्दा न की जाये क्योंकि राजा, मन्त्री आदि राष्ट्र के गौरव होते हैं, उनका चरित्र राष्ट्र का प्रतीक होता है। इसलिए राष्ट्र के प्रतीक राजा व राज्य के अधिकारी व्यक्ति पर लांछन लगाने से न केवल उसका चारित्र लांछित होता है अपितु राष्ट्र भी लांछित होता है। इसके अतिरिक्त उन राज्याधिकारियों की दृष्टि वक्र हो सकती है जिससे गृहस्थ के स्वयं के जीवन में अशान्ति छा सकती है। अतः निन्दा से दूर रहकर, किसी के भी सद्गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए। इस सद्गुण का मूल हार्द है कि गुणानुरागी बना जाये।

---

१. पिट्ठिमंसं न खाइज्जा। –*दशवैकालिकसूत्र ८/४७*

२. विचिनाति मुखेन सो कलिं
कलिना तेन सुखं न विन्दति॥ –*सुत्तनिपात ३/३६/२*

३. इस्लाम धर्म क्या कहता है?, पृष्ठ ५६

(७) आदर्श घर

गृह में रहने के कारण मनुष्य गृहस्थ कहलाता है–"गृहे तिष्ठति गृहस्थः।" इसीलिये उसे आगारी भी कहते हैं और सागारी भी। भारतीय जन-जीवन के ज्ञाता आचार्य ने कहा–गृहस्थ का आवास न एकदम खुला हो और न एकदम गुप्त ही हो।[1]

मार्गानुसारी का यह सातवाँ गुण इस बात पर प्रकाश डालता है कि घर ऐसे स्थान पर होना चाहिए, जहाँ पर आबादी हो, क्योंकि गृहस्थ के पास माया-धन आदि भी होता है। उसकी सुरक्षा की दृष्टि से बिलकुल एकान्त स्थान खतरे से खाली नहीं है। और ऐसी गली में भी मकान नहीं होना चाहिए, जहाँ शुद्ध हवा और धूप का अभाव हो, अशुद्ध हवा से प्राणों में स्फूर्ति का संचार नहीं होता, एतदर्थ ही कहा जाता है–सौ दवा एक हवा। गृहस्थ को अपना घर स्वच्छ रखने का ध्यान भी रखना चाहिए। मल-मूत्र, खँखार आदि से संमूर्च्छिम् जीवों की उत्पत्ति तो होती ही है, साथ ही भयंकर रोगों के कीटाणु भी फैलते हैं। इसीलिए एक प्राचीन आचार्य ने कहा है–जिस घर में स्वच्छता और सफाई रहती है, वहाँ देवता भी रमण करते हैं।

जैसे श्रमणों के लिए भण्डोपकरण इधर-उधर बिखरे हुए रखना अनुचित माना गया है, वैसे ही गृहस्थ को भी इधर-उधर बिखरी हुई वस्तुएँ रखना अनुचित है। एतदर्थ ही प्रस्तुत विधान किया गया है।

(८) घर के अनेक द्वार न हों

प्रस्तुत गुण भी गृह से ही सम्बन्धित है। इस गुण में इस बात पर बल दिया गया है कि मकान के अनेक द्वार न हों। मकान चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो पर बाहर आने-जाने के रास्ते अधिक न हों। अधिक रास्ते होने से गृह की सुरक्षा नहीं रह पाती। तस्करों का भय सदा बना रहता है। गृहस्थ सोने के पूर्व सभी द्वार सँभालता है, कहीं कोई द्वार खुला रह जाये तो तस्कर से हानि होने की संभावना है।

(९) सत्पुरुषों की संगति

सद्गृहस्थ को उत्तम आचारनिष्ठ एवं सद्विचारवान् व्यक्तियों की संगति करनी चाहिये। क्योंकि जैसे व्यक्तियों के साथ वह रहता है, वैसा उसका जीवन बनता है। सदा-सर्वदा ऐसे व्यक्तियों की ही संगति करनी चाहिए; जो हमारे से ज्ञान में, विनय में, साधना में और अनुभव में विशिष्ट हों। भगवान महावीर ने स्पष्ट

---

१. अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रातिवेश्मिके। —योगशास्त्र १/४९

शब्दों में कहा[1]–"अलं बालस्स संगेण, वैरं वड्ढइ अप्पणो।" अज्ञानी व्यक्ति की कभी भी संगति नहीं करनी चाहिए; क्योंकि उससे वैर बढ़ता है। तथागत बुद्ध ने भी कहा[2]–अपने से जो शील और प्रज्ञा में हीन है उस व्यक्ति के संग से मानव हीन बन जाता है। अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों के संग से मानव का विकास होता है।

बहुमूल्य वस्त्र पर जरा-सा गन्दगी का दाग लग जाये तो उस वस्त्र की शोभा न्यून हो जाती है वैसे ही कुसंगति के दाग से जीवन मलिन बन जाता है। जल की एक बूँद साँप के मुँह में जाने से विष बन जाती है, वही बूँद सीप के मुँह में जाने से मोती बन जाती है। वैसे ही कुसंगति के कारण जीवन दूषित बन जाता है। एतदर्थ ही भारत के ऋषियों ने कहा–"संसर्गजना दोष गुणा भवन्ति।" शेखसादी ने कहा–तुख्मे तासीर, सोहबते असर। आधुनिक मनोविज्ञान का भी मन्तव्य है कि वातावरण (environment) का गहरा असर होता है। घर के पश्चात् सत्संगति का जो गुण बताया है, उसका अर्थ यह भी हो सकता है कि घर के आसपास का वातावरण ऐसा उत्तम हो जिससे कि जीवन में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सके।

(१०) माता-पिता की सेवा

मार्गानुसारी के गुणों में दसवाँ गुण माता-पिता की सेवा का है। अन्य सम्बन्धों की अपेक्षा माता-पिता का सम्बन्ध जीवन में निकटतम है। सन्तान पर उनका उपकार अपरिमेय और असीम होता है। जैसे माली पौधों की देखभाल करता है, उससे भी अधिक देखभाल माता-पिता अपनी सन्तान की करते हैं। उसके विकास का हर तरह से प्रयास करते हैं।

एक कवि ने तो कहा है–पृथ्वी के समस्त रजकण एवं समुद्र के समस्त जलकणों से भी अनन्त गुणा उपकार माता-पिता का होता है। आचार्य मनु[3] का मन्तव्य है–दस उपाध्यायों से एक आचार्य श्रेष्ठ है, सौ आचार्यों से भी एक पिता अधिक योग्य शिक्षक है और हजार पिताओं से भी माता की शिक्षा बढ़कर है।

माता सन्तान में संस्कारों के बीज वपन करती है तो पिता उन संस्कारों का संरक्षण और संवर्धन करता है। एतदर्थ ही ऋषियों ने माता को पृथ्वीरूप और पिता को परमेश्वररूप कहा है। नीतिशास्त्र का कथन है कि पुत्र का कर्त्तव्य है कि बिना माता-पिता की सलाह के कोई भी कार्य न करे। जो कुछ भी पुत्र अर्जित करे वह माता-पिता को समर्पित करे और उनके आशीर्वाद को प्राप्त करे।

---

१. आचारांगसूत्र।

२. (क) अंगुत्तरनिकाय ३/३/६ (ख) जातक, २२/५४१/४३९

३. उपाध्यायान् दशाचार्या आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता, गौरवेणातिरिच्यते॥ –मनुस्मृति २/१४५

जैन आगम साहित्य में भी माता का स्थान देव-गुरु के समान बताया है। माता पर देव के समान श्रद्धा करनी चाहिए और गुरु के समान उसका आदर करना चाहिये–"देवगुरुसमा माया।". भारतीय साहित्य में माता और पिता के प्रति सेवानिष्ठ रहने वाली सन्तानों के अनेक उदाहरण हैं। प्रस्तुत गुण के द्वारा आचार्य ने सद्गृहस्थ को प्रेरणा दी है कि वह माता-पिता की सेवा करने वाला बने।

(११) कलह से दूर रहे

गृहस्थ ऐसे स्थान पर रहे, जो उपद्रव से ग्रसित न हो। जहाँ पर उपद्रव हो रहे हों, वहाँ सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन के अनुकूल वातावरण नहीं रहता। प्राचीन युग में मुख्य रूप से दो प्रकार के उपद्रव थे–एक, युद्ध और दूसरा, संक्रामक रोग। युद्ध की ज्वालाओं से हजारों निरपराध प्राणियों के जीवन संकटमय हो जाते थे और प्लेग आदि महामारियों के कारण कुछ ही क्षणों में लाखों प्राणी मृत्यु को वरण कर लेते थे। अतः निरुपद्रव स्थान आवश्यक है।

(१२) निन्दनीय आचरण न करे[1]

गृहस्थ ऐसी कोई प्रवृत्ति और आचरण नहीं करता है, जिससे समाज में निन्दा और घृणा हो। प्रत्येक व्यक्ति की यह इच्छा होती है कि उसकी सभी प्रशंसा करें। पर वह प्रशंसा मिलती है, व्यक्ति को अपने सुन्दर आचरण से और भद्र व्यवहार से। कस्तूरी की गन्ध बताने के लिए सौगन्ध खाने की आवश्यकता नहीं है, वह तो अपने आप प्रकट होती है। यदि छिपकर के भी निन्दनीय आचरण किया जाये, तो वह अपने आप प्रकट हो जायेगा। कौन-सा कार्य निन्दनीय है और कौन-सा कार्य निन्दनीय नहीं है? इसका निर्णय व्यक्ति अपने ज्ञानचक्षु से कर सकता है। अतः आचार्य ने निन्दनीय आचरण करने का निषेध किया है।

(१३) आय के अनुसार व्यय करे

गृहस्थ को अपने आय और व्यय का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। यदि आय कम है और व्यय अधिक है तो जीवन अस्त-व्यस्त बन जाता है और केवल आय ही आय है, व्यय का पूर्ण अभाव है तो भी जीवन में सन्तुलन नहीं रहता। एतदर्थ ही इस मार्गानुसारी गुण में बताया गया है कि आय के अनुसार ही व्यय किया जाये। क्योंकि गृहस्थ की जीवन धुरी अर्थ पर अवस्थित है। बिना अर्थ के उसका जीवन चल नहीं सकता। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि चार पुरुषार्थों में धर्म के पश्चात् अर्थ को रखा गया है। धर्मरहित अर्थ अनर्थ है।

---

१. योगशास्त्र १/५०

अतीतकाल में अर्थ की व्यवस्था गृहस्थ चार प्रकार[1] से करता था–(१) अर्थ का एक विभाग व्यापार में लगा रहता था। (२) एक विभाग से घर की सम्पूर्ण व्यवस्था–अतिथिसेवा, दान आदि के कार्य किये जाते थे। (३) एक विभाग अपने आश्रित व्यक्तियों के भरण-पोषण में लगाया जाता था। (४) एक विभाग भविष्य के लिये निधि के रूप में भूमि में सुरक्षित रखा जाता था।

दीघनिकाय[2] में कहा है–गृहस्थ धन का एक विभाग स्वयं के खर्च के लिये उपयोग करे, दो विभाग व्यापार आदि कार्यक्षेत्र में लगाये और चतुर्थ विभाग भविष्य में यदि विपत्ति आदि आ जाये तो उसका उपयोग किया जाये, अतः उसे सुरक्षित रखा जाता था। "आपदर्थं धनं रक्षेत्।" नीति का यह वचन भी गृहस्थ के लिये प्रेरणादायी रहा है।

यदि खर्च कम है और आमदनी अधिक है तो किसी भी प्रकार की चिन्ता की बात नहीं है। किन्तु खर्च अधिक हो और आमदनी के स्रोत बन्द हों तो एक दिन कुबेर भी दरिद्रनारायण की तरह भीख माँगने लगेगा, कारूँ का खजाना भी रिक्त हो जायेगा तो सामान्य मानव की तो बात ही क्या? लोकोक्ति भी है–

आय कम और खर्चा ज्यादा, ये हैं लक्षण मिटने के।
ताकत कम और गुस्सा ज्यादा, ये हैं लक्षण पिटने के॥

आय से अधिक व्यय होने पर प्रायः तस्कर वृत्ति पनपती है और अन्यान्य अन्याय के मार्ग अपनाये जाते हैं। इसीलिये गृहस्थ को प्रस्तुत गुण को अपनाने की प्रेरणा दी है।

(१४) आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहने[3]

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का अभिमत है कि अन्यान्य देशों की अपेक्षा भारत की आर्थिक स्थिति कमजोर है। साथ ही भारतीयों का जीवन-स्तर और रहन-सहन की पद्धति में व्यय भी कम है जिससे यहाँ उतनी विषमता नहीं है। अन्य देशों (अमेरिका आदि) की अपेक्षा व्यर्थ अपव्यय भी कम है। किन्तु भारत में भी शनैः-शनैः फैशन आदि के कारण व्यय की मात्रा बढ़ रही है जिससे जीवन अस्त-व्यस्त हो रहा है।

यह स्मरण रखना होगा कि कंजूसी और किफायतशारी में बहुत अन्तर है। कंजूसी एक दुर्गुण है तो किफायतशारी एक सद्गुण है। आज प्रदर्शन का रूप बढ़

१. (क) उपासकदशांग–आनन्द अधिकार
(ख) राजप्रश्नीयसूत्र–प्रदेशी अधिकार
२. दीघनिकाय ३/८/४
३. योगशास्त्र १/५१

रहा है। आमदनी न होने पर भी बहुमूल्य तथा चटकीले-भड़कीले वस्त्रों को पहनने में मानव गौरव का अनुभव करता है। खाने को अन्न भी नहीं है; किन्तु घर फूँककर झूठी शान दिखाना आवश्यक समझा जा रहा है, यह सर्वथा अनुचित है। इसलिए मार्गानुसारी के इस गुण में यह संकेत किया गया है कि आर्थिक स्थिति के अनुसार ही वस्त्र आदि धारण किये जायें। वस्त्रों के साथ ही अन्य व्यर्थ खर्चों से बचने की प्रेरणा भी इस सूत्र द्वारा दी गई है।

(१५) धर्मश्रवण[1]

संसार में बुद्धि-बल, शरीर-बल और धन-बल, ये तीन प्रकार के बल हैं। इनमें बुद्धि-बल सबसे बढ़कर है। बुद्धिमान व्यक्ति अपने बुद्धि-कौशल से असंभव कार्य को भी संभव कर देता है। व्यास ने कहा है–बुद्धिमान की भुजाएँ अत्यधिक लम्बी होती हैं–"दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू।" शरीर-बल पशुता का प्रतीक है, तो बुद्धि-बल मानव की विशेषता है। बुद्धि के कारण ही मानव-मस्तिष्क को हिरण्यकोष कहा है। जिसके पास बुद्धि है, वही संसार का सर्वश्रेष्ठ बलवान है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि सद्गृहस्थ को आठ प्रकार की बुद्धियों से युक्त होना चाहिए। उनके नाम इस प्रकार हैं–

(१) सुश्रूषा (जिज्ञासा)
(२) श्रवण
(३) ग्रहण
(४) धारणा
(५) विज्ञान
(६) ऊहा
(७) अपोहा
(८) तत्त्वाभिनिवेश

गृहस्थ इन बुद्धियों से युक्त होकर धर्म को श्रवण करता है। वह बुद्धि से निर्णय लेता है कि किन शब्दों को श्रवण करने से आत्मा में निर्मलता आती है; मन शान्त और प्रशान्त होता है। जैसे पौष्टिक भोजन से शरीर में बल का संचार होता है वैसे ही धर्मश्रवण से सद्विचार पुष्ट होते हैं। इसलिए प्रस्तुत गुण में बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होकर धर्मश्रवण की प्रेरणा दी गई है।

(१६) अजीर्ण होने पर भोजन न करे[2]

भारतीय चिन्तकों ने शरीर को धर्म का मुख्य साधन माना है–"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।" इसलिए प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है–शरीर को स्वस्थ रखे। अजीर्ण हो जाने पर भोजन का त्याग कर दे और भूख लगने पर भोजन करे।

---

१. योगशास्त्र १/५१ २. वही १/५२

कितने ही व्यक्ति स्वाद के लिए भोजन करते हैं, कितने ही स्वास्थ्य के लिए तो कितने ही साधना के लिए। स्वाद के लिए भोजन करना भोजन का निकृष्टतम उद्देश्य है। वह स्वाद को ही प्रमुखता देता है। स्वाद के लिए स्वास्थ्य को भी दाँव पर लगा देता है। ऐसे लोग विविध रोगों से संत्रस्त होते हैं। भयंकर पीड़ाएँ सहते हुए तड़प-तड़पकर प्राण गँवाते हैं।

भोजन का दूसरा उद्देश्य स्वास्थ्य है। कब खाना और कैसे खाना? वह इन बातों पर चिन्तन करके ही भोजन करता है। अत्रि नामक ऋषि ने आयुर्वेद का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा, जिसमें एक लाख श्लोक थे। राजा की जिज्ञासा पर संक्षेप में उसने कहा–"जीर्णे भोजन मात्रेयः।" भोजन हजम हो जाने के पश्चात् ही दूसरा भोजन करना, बस यही सम्पूर्ण आयुर्वेद का मूल सूत्र है। पहले किया गया भोजन हजम नहीं हुआ है और नया भोजन किया जा रहा है, तो वह भोजन रोगों को निमन्त्रण देगा। जितने भी रोग हैं उन सबकी जड़ 'अजीर्ण' है–"अजीर्ण संभवा रोगः।" सद्गृहस्थ भोजन हजम होने पर ही भोजन करता है।

स्वास्थ्य विशेषज्ञों का कथन है कि अजीर्ण होने पर पानी पीना अमृत के सदृश है और भोजन करना विष के सदृश है। अब प्रश्न है कि पचन हो जाने पर कैसा भोजन करना चाहिए। इसके लिए आचार्य ने कहा–जिस आहार से स्वास्थ्य पर बुरा असर न हो, बुद्धि निर्मल और स्वस्थ बनी रहे, वही भोजन उपयुक्त है। कितने ही व्यक्ति स्वास्थ्य के नाम पर अण्डे, माँस, मछली तथा कन्दमूल आदि अभक्ष्य पदार्थों के सेवन पर बल देते हैं, किन्तु उन्हें तामसिक और अभक्ष्य आहार से बचना चाहिए। यह भी इस गुण में बताया गया है।

वस्तुतः भोजन के सम्बन्ध में विवेकी पुरुष को इस सूत्र को सदैव स्मृति में रखना चाहिए–"हितभुक्, ऋतुभुक्, मितभुक्।" उसे सदा ऐसा भोजन करना चाहिए जो स्वास्थ्य के अनुकूल हो, मन और बुद्धि में सात्त्विकता लाए, ऋतु के अनुकूल हो और परिमित मात्रा में खाया जाये अर्थात् भूख से अधिक भोजन कभी न करना चाहिए।

(१७) नियत समय पर संतोष के साथ भोजन करे[1]

पूर्व गुण में भोजन के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है और इस गुण में भी नियत समय पर भोजन करने के लिए कहा गया है। यह स्मरणीय है कि भोजन करते समय मन प्रसन्न रहना चाहिए, स्वास्थ्य के साथ ही उसे साधना का भी लक्ष्य रखना चाहिए। पशु भी स्वास्थ्य का ध्यान रखता है, वह भी सूँघ-सूँघकर खाता है।

---

१. योगशास्त्र १/५२

यदि उसका पेट भर जाये तो चाहे कितना भी अनुकूल भोजन क्यों न हो, वह नहीं खाता। तामसिक भोजन से बुद्धि सात्त्विक नहीं रह सकती। कहावत भी है–जैसे खाये अन्न, वैसा होवे मन। जैसे पीवे पानी, वैसी बोले वाणी। वैज्ञानिक भी इस सत्य को स्वीकार करते हैं।

भोजन के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए जैनाचार्यों के "अप्पपिण्डासि-पाणासि अप्पाहारस्स मियं भुंजे।" आदि वाक्य अल्पाहार का सूचन करते हैं। जो अल्पाहारी होता है, वह दीर्घजीवी होता है। जो हिताहारी, मिताहारी, अल्पाहारी होता है, उसे कभी भी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती है, वह स्वयं ही चिकित्सक है।[1] सद्गृहस्थ को अपने जीवन में धर्म, अर्थ और काम की साधना करनी है। इसलिए स्वस्थ रहना आवश्यक है। स्थानांग में दस प्रकार के सुखों में आरोग्य को पहला स्थान दिया है।[2] चरकसंहिता[3] में भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मूल का आरोग्य ही माना है। बुद्ध[4] ने भी कहा–आरोग्य ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है। इसलिए समय पर सन्तुलित और सात्त्विक भोजन करना, यह मार्गानुसारी का गुण माना गया है।

(१८) अविरोधी भाव से त्रिवर्ग की साधना करे

भारतीय मनीषियों ने गृहस्थ जीवन को सुन्दर और सुव्यवस्थित बनाने के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय पर बल दिया। धर्म, अर्थ और काम का यह त्रिवर्ग माना है। त्रिवर्ग में मोक्ष को धर्म के साथ मिला दिया गया है। गृहस्थ को घर, परिवार और समाज का भी उत्तरदायित्त्व सँभालना पड़ता है। अर्थ के बिना उसका जीवन नहीं चल सकता। वंश और परिवार की वृद्धि के लिए काम को भी पुरुषार्थ में गिना है। अर्थ और काम यदि धर्म के साथ हैं तो उन्हें पुरुषार्थ गिना गया है। जब तक न्याय-नीतिपूर्वक अर्थ का उपार्जन नहीं होता, वहाँ तक वह अर्थ परोपकार आदि के कार्यों में व्यय नहीं होता।

फ्रायड ने काम को जीवन का आवश्यक अंग माना है। जैन दर्शन की दृष्टि से भी मैथुन संज्ञा सभी प्राणियों में होती है। जिस तरह से आहार, भय और परिग्रह संज्ञा सभी में है, वैसे ही मैथुन संज्ञा भी है। कामवासना का सम्बन्ध मोहनीय कर्म से है जिसका सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से है। किन्तु अनादिकाल से सम्बद्ध होने के कारण वह वृत्ति अच्छी हो, यह बात नहीं है। अनादि वृत्ति को खुली छोड़ने में समझदारी नहीं है। जैसे भूख लग गई तो इसका यह अर्थ नहीं कि

---

१. ओघनिर्युक्ति ५७८
२. स्थानांगसूत्र १०
३. धर्मार्थकाममोक्षणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। –चरकसंहिता, १५
४. आरोग्गा परमा लाभा। –धम्मपद

जो भी मन में आये वही उदरस्थ कर लिया जाय। भूख की तरह काम भी सहज है किन्तु वह काम्य नहीं, दम्य है। यदि उसके ऊपर नियन्त्रण नहीं होगा तो पशु और मानव में कोई अन्तर ही नहीं रह जायेगा। काम पर धर्म का नियन्त्रण होना अतीव आवश्यक है।

जैसे ट्रेन के आगे इन्जिन होता है और उसके बाद डिब्बे होते हैं, और अन्त में गार्ड। पुरुषार्थ चतुष्टय का इन्जिन धर्म है और मोक्ष उसका गार्ड है। बीच में अर्थ और काम के डिब्बे हैं। जो काम और अर्थ के डिब्बों पर नियन्त्रण करते हैं। यही चार पुरुषार्थों का अविरोधी रूप है। जिसे आचार्य हेमचन्द्र ने मार्गानुसारी के गुणों में अविरोधी रूप के द्वारा प्रगट किया है।[1]

(१९) अतिथि-सेवा

गृहस्थ व्यर्थ अपव्यय नहीं करता किन्तु अपने अर्थ का उपयोग अतिथि, साधु एवं दीन व्यक्तियों की सेवा में करता है। उनका योग्य स्वागत व सत्कार करता है। अतीतकाल में आचार्य शिष्य को अपने दीक्षान्त भाषण में यह शिक्षा प्रदान करते हुए कहता था–वत्स ! तू गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने जा रहा है, वहाँ पर अतिथि भी आयेंगे, उनकी देवता की तरह अर्चना करना।[2] अतिथि का अर्थ है–जो आया और चला गया और पूरी तिथि अर्थात् रात्रि भर घर में नहीं रुकता। आचार्य मनु ने भी अतिथि की परिभाषा करते हुए लिखा है[3]–जिसका रुकना अनिश्चित है, वह अतिथि है। सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि उसके घर पर चाहे परिचित आये, चाहे अपरिचित आये वह उसका यथायोग्य स्वागत करे। व्यास ने कहा है[4]–जैसे वृक्ष जल सींचने वाले को भी छाया प्रदान करता है और काटने वाले को भी, वैसे ही सद्गृहस्थ घर पर आये हुए अतिथि का स्वागत करता है, भले ही उसका कोई शत्रु ही क्यों न हो। ब्रह्मपुराण[5] में लिखा है कि यदि किसी के घर से अतिथि निराश होकर लौटता है तो वह अपने सभी पाप गृहस्थ के सिर पर डालकर और उसके पुण्य लेकर चला जाता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[6] में लिखा है कि अतिथि की पूजा करने से मन को शान्ति प्राप्त होती है और परलोक में स्वर्ग मिलता है।

अतिथि-सत्कार में गृहस्थ की उदात्त भावना परिलक्षित होती है। जो भी द्वार

---

१. योगशास्त्र १/५२

२. अतिथि देवो भव
–तैत्तिरीय उपनिषद् १/११/२

३. अनित्यास्थितिर्यस्मात्
तस्मादतिथिरुच्यते।

४. महाभारत *–शान्तिपर्व १४६/५*

५. ब्रह्मपुराण, ११४/३६

६. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २/३/६/६

पर आया है, उसकी वह समान रूप से सेवा करता है। वायुपुराण[1] में कहा गया है कि मानवों के कल्याण के लिए योगी और सिद्ध पुरुष विभिन्न रूप धारण कर विचरण करते हैं। अतिथि-सत्कार करने वाला यह नहीं देखता कि मैं जिसका सत्कार कर रहा हूँ, वह कैसा है? उसकी तो यही भावना रहती है कि घर पर जो भी आ जाये, उसका यथोचित सत्कार किया जाये। वृहद्पाराशरस्मृति[2] में और महाकवि तुलसीदास जी[3] ने भी इस बात का समर्थन किया है।

आगम साहित्य[4] के अध्ययन से स्पष्ट है कि जब गृहस्थ के घर कोई अतिथि पहुँचता तो गृहस्थ हर्ष से फूल उठता। वह आसन से उठकर सात-आठ कदम सामने जाता, उसका मधुर शब्दों से स्वागत करता और कहता कि मुझे अनुगृहीत कीजिये। जब अतिथि कुछ ग्रहण कर लेता, तब वह अपनी भव्य भावना इस रूप में व्यक्त करता कि मैं आज धन्य हूँ, कृतपुण्य हूँ। और अतिथि के लौटने पर वह उसे पहुँचाने के लिये जाता। यह थी अतिथि-सत्कार की पावन परम्परा। इसीलिये मार्गानुसारी के गुणों में अतिथि-सत्कार को एक गुण माना है।

(२०) दुराग्रह के वशीभूत न हों[5]

नशे में चूर व्यक्ति को भान नहीं रहता कौन-सा कार्य कृत्य है, और कौन-सा अकृत्य है। इसी प्रकार दुराग्रही व्यक्ति में भी एक प्रकार का उन्माद होता है। जिससे उसके विवेक पर पर्दा गिर जाता है। दुराग्रह कई प्रकार का होता है। सम्प्रदायगत कदाग्रह में व्यक्ति यह मानता है कि मेरा ही सम्प्रदाय सर्वश्रेष्ठ है। इस कदाग्रह के वशीभूत होकर कुछ कट्टर मुस्लिम धर्मान्धों ने हजारों लोगों को कत्ल करा दिया था। उनका यह अभिमत था कि संसार में केवल कुरान की ही आवश्यकता है, अन्य किसी भी धर्मग्रन्थ की नहीं। जो कुछ भी सत्य है, वह इसी में ही है। जो इसमें नहीं है, उसकी हमें आवश्यकता नहीं। कुछ कट्टर मुसलमान एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में तलवार लेकर आक्रमण करते थे। अपने धर्म और धर्मग्रन्थों के प्रति यह स्पष्ट दुराग्रह था।

धर्म और सम्प्रदाय की तरह जाति का भी दुराग्रह होता है। मेरी जाति महान् है और दूसरों की जाति हीन है। काले-गोरे के संघर्ष में भी यही भावना काम कर रही है।

सभी प्रकार के दुराग्रह से गृहस्थ को मुक्त होना चाहिये।

---

१. वायुपुराण ७१/१४४
२. वृहद् पाराशरस्मृति, पृष्ठ ९९
३. ना जाने किस वेश में, नारायण मिल जाये।
४. विपाकसूत्र, सुबाहुकुमार
५. योगशास्त्र १/५३

(२१) गुणानुरागी बनें[1]

यह हम किसी फूलों के बगीचे में पहुँचें तो वहाँ मन को मुग्ध करने वाली सौरभ मिलेगी। किन्तु रंग-बिरंगे फूल जहाँ दृष्टिगोचर होते हैं, वहाँ काँटे भी टहनी पर लगे हुए दिखाई देंगे। वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में सद्गुणों के फूल भी होते हैं और दुर्गुणों के काँटे भी। मक्खी गन्दगी पर बैठती है, वह मिठाई को छोड़कर भी गन्दगी पर बैठना पसन्द करती है। वैसे ही कितने ही व्यक्ति मक्खी के साथी होते हैं। वे सद्गुणों को छोड़कर दुर्गुणों को ग्रहण करते हैं। इसीलिये आचार्यश्री ने कहा है– गुणग्राही बनो। जहाँ भी गुण दिखाई दे, उसे ग्रहण करो। "शत्रोरपि गुणा वाच्याः।" यदि किसी शत्रु में सद्गुण हों, तो उसकी भी प्रशंसा करनी चाहिये। उसके गुणों को देखकर मन में प्रफुल्लित और आनन्दित होना चाहिये। यदि परमाणु जितना भी दूसरे में गुण हो तो पर्वताकार के रूप में उसकी प्रशंसा करनी चाहिये। ऐसे व्यक्ति का हृदय सद्गुणों को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

(२२) देश-कालोचित आचरण[2]

सद्गृहस्थ की जीवनचर्या देश और काल के अनुसार होती है। वह भावावेश में आकर अन्धानुकरण नहीं करता। वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता जिससे सामाजिक नियम भंग होते हों, व्यावहारिक जीवन विकृत होता हो और गलत परम्पराएँ पनपती हों तथा गलत उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हों। जो इस प्रकार परम्पराओं को तोड़ता है, वह अविवेकी और स्वच्छन्द आचारी कहलाता है।

आचार्यों ने स्वच्छन्दता का निषेध किया है। जो परम्पराएँ शुद्ध हैं, उनका अपनाना और जो परम्पराएँ शास्त्रविरुद्ध हैं, उन्हें ग्रहण न करना सद्गृहस्थ का कर्त्तव्य है। देश और काल के योग्य उचित कार्य करता हुआ सद्गृहस्थ कभी दुःखी नहीं होता।

(२३) शक्ति के अनुसार कार्य करे

देश और काल के परिज्ञान के साथ ही सद्गृहस्थ को अपने सामर्थ्य के अनुसार कार्य करना चाहिए। यदि स्वयं में उस कार्य को करने के सामर्थ्य का अभाव है तो कोई चाहे कितनी ही प्रेरणा क्यों न दे, उस कार्य में हाथ नहीं डालना चाहिए। कार्य प्रारम्भ करने के पश्चात् बीच में ही छोड़ देना सर्वथा अनुचित और अपयश का कारण है। नीतिकारों ने भी कहा है–"ते ते पाँव पसारिए, जेती लांबी सोड़।" जितनी अपनी शक्ति है, उतना ही कार्य करना चाहिए। घर फूँककर तमाशा दिखाना अनुचित है। सद्गृहस्थ अपना सामर्थ्य देखकर ही प्रत्येक कार्य करता है।

---

१. योगशास्त्र १/५३ २. वही १/५४

(२४) व्रती और ज्ञानी जनों की सेवा करे

सद्गृहस्थ व्रतधारियों का आदर करता है। प्राचीन युग में ऋषियों की भारत में प्रधानता थी। चक्रवर्ती सम्राटों के सिर भी उनके चरणों में नत होते थे। आज ऋषियों के स्थान पर ऋद्धि और सिद्धि की प्रतिष्ठा बढ़ रही है। पर व्रतों को ग्रहण करना अत्यधिक कठिन है, जो महान् आत्मबली साधक होते हैं, वे ही इस अग्निपथ पर कदम बढ़ा सकते हैं। व्रतियों की सेवा करना त्याग की भावना को बढ़ावा देना है। दूसरा कारण यह भी है कि व्रतियों की सेवा करने से सातावेदनीयकर्म का अनुबन्ध होता है, जिससे इस जन्म में और अगले जन्म में भी साता होती है। पर उस सेवा में भावना की प्रमुखता होनी चाहिए। जितनी भावों की प्रमुखता होगी, उतना ही पुण्य का बंध और निर्जरा होगी।

प्रस्तुत गुण में व्रतियों के साथ ज्ञानवृद्ध को भी लिया गया है। शारीरिक दृष्टि से बहुत से वृद्ध हो सकते हैं पर ज्ञानवृद्ध होना अधिक महत्त्वपूर्ण है। जैन परम्परा में भी ज्ञानस्थविर कहा है। उसके लिये अवस्था का कोई नियम नहीं होता। एक दिन का दीक्षित भी अपने विशिष्ट ज्ञान से ज्ञानस्थविर हो सकता है। जिसमें ज्ञान की वृद्धि यथेष्ट हो चुकी हो, वह ज्ञानवृद्ध है। उन ज्ञानियों का सत्कार करना उनके ज्ञान-ध्यान के प्रति मन में आदर रखना, गृहस्थ का कर्त्तव्य है; क्योंकि ज्ञान प्राप्त करने के लिये उनका विनय अपेक्षित है। यही इस गुण का हार्द है।

(२५) उत्तरदायित्व निभाना

गृहस्थ पर परिवार, समाज और राष्ट्र की महान् जिम्मेदारी होती है। वह उन सभी जिम्मेदारियों को सम्यक् प्रकार से वहन करता है। उसका जीवन घटादार और छायादार वृक्ष की भाँति होता है, जिस पर शताधिक पक्षीगण विश्राम लेते हैं उसी प्रकार गृहस्थ के आश्रित सभी आश्रम रहे हुए होते हैं। वह स्वयं भी अपना विकास करता है और अपने आश्रित जो भी हैं, उनका भी वह विकास करता है। जैसे विराट् सागर में बहते हुए प्राणी को द्वीप सहारा देता है वैसे ही दुःख के सागर में निमग्न व्यक्तियों को सद्गृहस्थ सहारा देता है। वह अपने उत्तरदायित्व को टालने का प्रयास नहीं करता। इसीलिए मार्गानुसारी के गुणों में इसे स्थान दिया गया है।

(२६) दीर्घदर्शी

सद्गृहस्थ तीक्ष्ण बुद्धि का धनी होता है। वह अपनी प्रतिभा द्वारा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रहस्य को पकड़ लेता है। वह अपनी बुद्धि से शीघ्र निर्णय कर लेता है कि कौन-सा कार्य उसके लिये लाभप्रद है, किससे समाज और राष्ट्र का उत्थान होगा। उसी दीर्घदृष्टि से वह प्रत्येक पहलू पर चिन्तन करता है। समाज में, परिवार में

पनपती हुई बुराइयों को वह नजरअन्दाज नहीं करता। वह जानता है कि यह छोटे-छोटे छिद्र भविष्य में बड़े होकर हानिप्रद होंगे। अतः प्रारम्भ से ही उस पर अंकुश लगा देता है। वह कोई भी कार्य हो, गम्भीरतापूर्वक चिन्तन कर निर्णय लेता है जिससे समाज और देश में अशान्ति और क्षोभ पैदा नहीं होता।

यह स्मरण रखना होगा कि दीर्घदृष्टि अलग चीज है और दीर्घसूत्रता अलग चीज है। दीर्घसूत्री व्यक्ति आलसी और पुरुषार्थहीन होता है।

(२७) विशेषज्ञ

गृहस्थ अपने व्यवसाय में विशेषज्ञ होता ही है। व्यावसायिक ज्ञान उसे पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिलता है। यहाँ जो विशेषज्ञ कहा गया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि वह धर्म और विधि में विशेषज्ञ होता है। वह उन ग्रन्थों का अध्ययन करके जो सारतत्त्व है, उसे लेता है।

(२८) कृतज्ञ

सद्गृहस्थ अपने ऊपर माता-पिता, गुरुजन, परिवार आदि का जो भी उपकार है, उस उपकार को वह विस्मृत नहीं होता है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमारे ऊपर उपकार होते रहते हैं और सद्गृहस्थ उन उपकारियों के उपकार को विस्मृत नहीं हो सकता। महाभारतकार ने भी कहा है—जो अपकार करने वालों के प्रति भी उपकार करे, वह महामानव है; उपकारी के प्रति उपकार की भावना रखे, वह सामान्य मानव है और जो उपकारी के उपकार को भुलाकर अपकार करता है, वह अधमाधमी है।

(२९) लोकप्रिय

गृहस्थ जीवन की महत्ता प्रतिपादित करते हुए आचार्य ने एक गुण 'लोकप्रिय' बताया। प्रत्येक व्यक्ति लोकप्रिय बनना चाहता है, और उसके लिये वह प्रयास भी करता है। अथर्ववेद[1] में अनेक बार लोकप्रिय बनने के लिये प्रार्थनाएँ की गई हैं—"मुझे सज्जनों का प्रिय बनाओ। मुझे सभी का प्यारा बनाओ। मुझसे कोई भी ईर्ष्या, द्वेष और डाह न करे। मैं संसार में मधु से भी अधिक मीठा बनकर रहूँ। मेरा सर्वत्र सम्मान हो। आदर हो।"

---

१. (क) प्रियं मा कृणु देवेषु ..... प्रियं सर्वस्य पश्यतः। —अथर्ववेद १९/६२/१
(ख) मा नो द्विक्षत कश्चन। —वही १२/१/२४
(ग) मधोरस्मि मधुतरो। —वही १/३४/४

लेकिन लोकप्रियता केवल स्तुति और प्रार्थना करने से प्राप्त नहीं होती। उसके लिए तो प्रयत्न करना पड़ता है। प्रयत्न से ही व्यक्ति लोकप्रिय बनता है। राम के लिए प्रियदर्शन और सम्राट् अशोक के लिए प्रियदर्शी शब्द व्यवहृत हुआ है। जब व्यक्ति सद्गुणों से मण्डित होता है तभी उसे लोकप्रियता प्राप्त होती है।

लोकप्रिय बनने के लिये सेवा, सहयोग, मधुर व्यवहार, नम्रता आदि अपेक्षित है। लोकप्रियता न पैसों से खरीदी जा सकती है और न सत्ता से ही प्राप्त होती है। किन्तु वह सद्गुणों से और समर्पण से प्राप्त होती है।

(३०) लज्जाशील

लज्जा एक प्रकार का मानसिक संकोच है। किसी व्यक्ति का जीवन, परम्परा, कुल आदि अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा हो, वह व्यक्ति कभी कोई अनुचित कार्य करने के लिए तत्पर होता है, उस समय उसके अन्तर्मानस में ये विचार लहरियाँ उद्बुद्ध होती हैं कि यह कार्य मेरे गौरव के प्रतिकूल है। इस प्रकार दुष्कर्म अथवा पापकृत्य करते समय उसे लज्जा आती है।

भगवान महावीर ने यह स्पष्ट कहा है–श्रमण वेश धारण कर धर्म के नाम पर हिंसा करते हैं, जीवों की विराधना करते हैं, उन्हें देखकर हमारे मन में लज्जा आती है। देखो ! यह धर्म के नाम पर किस प्रकार जीवों की विराधना कर रहा है।

लज्जा जिसे लाज भी कहा जाता है, वह बुरे कार्यों से होनी चाहिए। जिसकी आँख में लाज है, वह कभी भी बुरे कार्य नहीं करता। बेशर्म, निर्लज्ज व्यक्ति घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। 'लाज सुधारे काज' जो कहावत है, वह बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है।

(३१) दयावान

जो सद्गृहस्थ लज्जावान होगा, उसके हृदय में दया की भावना भी होगी। सन्त तुलसीदास जी ने दया को धर्म का मूल कहा है। दयारूपी नदी के किनारे ही धर्मरूपी वृक्ष लहलहाते हैं। दयालु व्यक्ति किसी दुःखी पुरुष को देखकर सोचता है– जैसी पीड़ा इसे हो रही है, वैसी ही मुझे भी होती है। इसलिए मैं दूसरों को क्यों कष्ट दूँ। सद्गृहस्थ दूसरे को दुःखी देखकर काँप उठता है। वह स्वयं आकुल-व्याकुल हो जाता है। उसका सम्पूर्ण सामर्थ्य उसी कार्य में लग जाता है। वह उसकी रक्षा और सेवा के लिये तत्पर हो जाता है।

सम्यक्त्व के लक्षण में अनुकम्पा एक मुख्य लक्षण है। जिसका हृदय दयालु है उसी में सम्यक्त्वरूपी पुष्प खिल सकता है।

(३२) सौम्यता

सद्गृहस्थ के जीवन में शान्ति, शीतलता और शालीनता होती है। जिस सरोवर में जल भरा हुआ है उसके किनारे पर हमेशा शीतलता रहती है। जिसके हृदय में दया है, उसके मन और वाणी में सौम्यता होती है। वह महादेव की भाँति संकटों के गरल को भी पीकर मुस्कराता है। मन में हजार गम हों, मगर शिकन न हो चेहरे पर। और वह तभी संभव है जब आपके मन में धैर्य, समता और सौम्यता हो। चेहरा हृदय का दर्पण है। मुँह के आईने में हृदय की तस्वीर झलकती है। जिसकी प्रकृति तमोगुण प्रधान है, उसकी आकृति भी डरावनी होगी किन्तु जिसका हृदय सौम्य है, उसकी आकृति भी सौम्य होगी। इसीलिए आचार्य ने कहा कि सद्गृहस्थ के चेहरे पर शान्ति और प्रसन्नता झलकनी चाहिए।

(३३) परोपकारी

गृहस्थ अपने सुख-दुःख की चिन्ता न कर दूसरे के सुख-दुःख की चिन्ता करता है। वह अपना बलिदान करके भी दूसरों की भलाई करना चाहता है। अपना पेट तो सभी भर लेते हैं, पर दूसरों का जो पेट भरता है, वह इन्सान है। सद्गृहस्थ के मानस में यह उमंग होती है–कब मुझे ऐसा सुनहरा अवसर प्राप्त हो कि मैं दूसरों के लिए कुछ कर सकूँ। वह दूसरों का उपकार करके भूल जाता है, किन्तु यदि उस पर कोई उपकार करता है तो वह उसे जीवन भर स्मरण रखता है। उसमें प्रतिफल की कामना नहीं होती और न अहंकार ही होता है। केवल कर्तव्य भावना ही प्रमुख होती है।

(३४) षड्रिपुओं को जीतने वाला

शत्रु दो प्रकार के हैं–एक बाह्य और दूसरा अन्तरंग। अन्तरंग शत्रुओं से ही बाह्य शत्रु पैदा होते हैं। अन्तरंग शत्रु छह हैं–काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। ये ही मुख्य शत्रु हैं। जो विजय का इच्छुक है, जिसके अन्तर्मानस में विजय की भावना लहरा रही है उसे इन अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये।

काम यह दुर्जेय शत्रु है। यह शत्रु मन में रहता है जिससे व्यक्ति सत्कर्म की ओर अग्रसर नहीं हो पाता। काम शूल की तरह चुभने वाला तथा विष की तरह मारने वाला है और आशीविष की तरह क्षणमात्र में भस्म करने वाला है।[1] थेरीगाथा[2] ग्रन्थ में लिखा है कि विष-बुझे बाण के सदृश और तीखे भालों के सदृश कोई

---

१. सल्लं कामा, विसं कामा, कामा आसीविसोवमा। —उत्तराध्ययन ९/५३

२. सत्तिसूलूपमा कामा। —थेरीगाथा

पीड़ादायक वस्तु है तो काम है। काम ऐसा भस्म रोग है जिससे कभी भी तृप्ति नहीं होती। जिसने काम पर विजय की है, उसने अन्तरंग शत्रु पर विजय की है।

काम से ही द्वितीय अन्तरंग शत्रु क्रोध उत्पन्न होता है। काम अन्दर ही अन्दर जलाता है तो क्रोध अन्दर और बाहर दोनों को जलाता है। क्रोधी व्यक्ति स्वयं की शान्ति को तो नष्ट करता ही है, किन्तु परिवार, समाज और राष्ट्र की शान्ति को भी नष्ट करता है। क्रोध में विवेक नष्ट हो जाता है जिससे वह निर्णय नहीं कर पाता। क्रोधी की शक्ति और प्रतिभा अग्नि पर पड़े हुए नमक की तरह चर-चर करके जलती है।[1] क्रोध मन का धुँआ है। क्रोध से मोह की भी उत्पत्ति होती है। गीताकार ने भी कहा है–"क्रोधाद् भवति संमोहः।" मोह बुद्धि पर आवरण डाल देता है। उससे स्मृति-विभ्रम हो जाता है। स्मृति-विभ्रम से बुद्धि का नाश होता है। मानव पतित हो जाता है। आचार्य अक्षपात ने भी न्याय-दर्शन में कहा है–राग-द्वेष आदि विकारों में मोह अधिक दुष्ट और हानिकारक है। मोह के पश्चात् लोभ है। लोभ को पाप का बाप बताया है। लोभ के कारण व्यक्ति बड़े से बड़े दुष्कृत्य करता है। कुछ पैसों के लोभ से ही कसाई निरपराधी पशुओं को मार देता है। इसलिए लोभरूपी अन्तरंग शत्रु पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। लोभ की तरह मद यानी अहंकार भी पतन का कारण है। अहंकार पुण्य के रस को सोख लेता है। अहंकार के लिए जो साधना की जाती है, वह साधना राख में घी डालने के सदृश है।

छठा अन्तरंग शत्रु मात्सर्य है। मात्सर्य का अर्थ ईर्ष्या है। दूसरे की अभिवृद्धि को निहार कर मन में आनन्द होना चाहिए पर उसके स्थान पर होती है मन में ईर्ष्या और डाह।

सद्गृहस्थ इन षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त करता है।

(३५) इन्द्रिय-विजेता

अन्तरंग शत्रुओं पर विजय वैजयन्ती फहराने के पश्चात् आचार्य ने पैंतीसवाँ गुण इन्द्रिय-विजय बताया है। इन्द्रियाँ अन्तरंग शत्रुओं के द्वारा बहकाने पर ऐसा आचरण करती हैं जिस आचरण से आत्मा का पतन होता है। इन्द्रियों को नष्ट न कर उनके जो विकार हैं, उन विकारों के परिहार हेतु प्रयास करने की प्रेरणा दी गई है। इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने से वे आत्मा का अहित नहीं कर पातीं। यदि उन पर नियन्त्रण न रखा जाय तो अत्यन्त अहित कर सकती हैं। महाभारतकार ने भी यह स्वीकार किया है कि इन्द्रियाँ अत्यन्त ही चंचल हैं, पवन की तरह अस्थिर हैं; जरा-सी भी ढील दे दी जाये तो वे विषयों की ओर लपकती हैं और आत्मा को पतन

---

१. नीतिवाक्यामृत–आचार्य सोमदेवसूरि

के महागर्त में गिरा देती हैं। इन्द्रियों का समूह अत्यन्त बलवान् है। विद्वान् और ज्ञानियों को भी वे चुम्बक की तरह खींचकर ले जाती हैं। जो इन्द्रियों के अधीन व दास बन जाता है, उसका शीघ्र ही पतन हो जाता है। जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है, वह सम्पूर्ण शत्रुओं पर सहज रूप से विजय प्राप्त कर सकता है।

सद्गृहस्थ पूर्ण रूप से इन्द्रिय-विजेता नहीं बन सकता। हाँ, वह इन्द्रिय-विजेता बनने का अभ्यास कर सकता है। और निरन्तर अभ्यास करने से एक दिन वह उस दिशा में भी आगे बढ़ जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों पर चिन्तन करते हुए अन्त में लिखा कि "गृहीधर्माय कल्पते।" इन गुणों को जो धारण करता है, वह सद्गृहस्थ की भूमिका पर प्रतिष्ठित होता है। इन गुणों में कितने ही गुण ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध केवल लोक जीवन से है। ये गुण श्रावकधर्म की पृष्ठभूमि के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि जीवन एक अखण्ड वस्तु है। वह धर्मस्थानकों में अलग रूप से रहे, घर और दुकान में तथा सामाजिक जीवन में अलग रूप से रहे, यह जीवन का दुहरा रूप एक आत्म-प्रवंचना है। श्रावकधर्म और श्रमणधर्म की भूमिका सद्गृहस्थ के जीवन से बहुत ही ऊपर उठी हुई होती है। सद्गृहस्थ का जीवन मानवता का पुनीत प्रतीक है। वह यह भूमिका है। जैसे सूर्योदय के पूर्व उषा सुन्दरी मुस्कराती है, और उसका सुनहरी आलोक जगमगाने लगता है, किन्तु सूर्य का अभी उदय नहीं हुआ है। वैसे ही सम्यक्त्वरूपी सूर्य के उदित होने के पूर्व जो उषा की स्थिति है, वही सद्गृहस्थ की स्थिति होती है। सामान्य गृहस्थ में मिथ्यात्व का इतना गहन अन्धकार होता है कि उसमें मानवता की भूमिका भी नहीं होती है। सद्गृहस्थ में मानवता के गुण होते हैं और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यक्दृष्टि में सम्यक्त्व का दिव्य आलोक होता है। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक में देशरूप से व्रतों का आचरण होता है और छठे गुणस्थान से लेकर अगले गुणस्थानों में महाव्रतों का पूर्णरूप से पालन होता है।

श्राद्ध विधि आदि ग्रन्थों में मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों के स्थान पर संक्षेप में इक्कीस गुण भी बताये हैं। वे इस प्रकार हैं-(१) उदार-हृदयी, (२) यशवन्त, (३) सौम्य प्रकृति वाला, (४) लोकप्रिय, (५) अक्रूर प्रकृति वाला, (६) पापभीरु, (७) धर्म के प्रति श्रद्धावान, (८) चतुर, (९) लज्जावान, (१०) दयाशील, (११) मध्यस्थ वृत्तिवान, (१२) गम्भीर, (१३) गुणानुरागी, (१४) धर्मोपदेशक, (१५) न्यायी, (१६) शुद्ध विचारक, (१७) मर्यादायुक्त व्यवहार करने वाला, (१८) विनयशील, (१९) कृतज्ञ, (२०) परोपकारी, (२१) सत्कार्य में दक्ष।

इन गुणों का धारक श्रावक निश्चित रूप से अपने जीवन-निर्माण के साथ समाज और राष्ट्र का भी उत्थान करता है। ● ●

१०. जैन आचार का आधार : सम्यग्दर्शन

जैन आचार का मूलाधार

किसी भी महल या भवन की सुन्दरता, विशालता व कलात्मकता को देखकर दर्शक प्रायः मुग्ध होकर उसकी प्रशंसा करने लगते हैं, पर भवन-निर्माण की कला–वास्तुकला का विशेषज्ञ सिर्फ उसकी बाहरी विशालता व रमणीयता पर रीझ कर ही नहीं रह जाता, वह उसके निर्माण के मूलाधार–नींव (फाउंडेशन) तथा निर्माण में प्रयुक्त सामग्री आदि के विषय में गहराई से देखता है और उसी आधार पर उसकी सराहना करता है।

जैन दर्शन, धर्म व आचार का विशाल भव्य प्रासाद सभी को मुग्ध व प्रभावित करने में समर्थ है, पर इस विषय का विशेषज्ञ जानना चाहेगा कि इस दर्शन व धर्म का आधार क्या है? किन महत्त्वों के आधार पर यह भव्य प्रासाद टिका है? यह जिज्ञासा सहज है, उपयोगी भी है।

प्रस्तुत जिज्ञासा पर जैन मनीषियों ने विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया है। कहीं पर जैन आचार का मूल आधार विनय[1] माना है, कहीं पर दया[2] को, तो कहीं पर दान को; और अन्य जितने भी मानवीय सद्गुण हैं उनको भी अपेक्षादृष्टि से मूल आधार कहा गया है। अध्यात्म जगत् के एक महान् तत्त्वचिन्तक ने कहा कि जैन धर्म, दर्शन और आचार व संस्कृति का मूल है 'सम्यग्दर्शन'–दमसण मूलो धम्मो।[3] जैन आचार का प्राण सम्यग्दर्शन है, उसका हृदय श्रद्धा में रहा हुआ है। जितनी हमारी निष्ठा, सद्भावनाएँ पवित्र आचारण के प्रति होंगी, लक्ष्य के प्रति होंगी, उतना ही जीवन चमक उठेगा, साधना खिल उठेगी।

सम्यग्दर्शन में सत्य तत्त्व का बोध भी रहता है और उस पर आस्था भी। बोध विचार है, विचार परिपक्व होने पर, आचार का रूप लेता है, इसलिए सत्योन्मुखी

---

१. (क) विणओ धम्मस्स मूलो –दशवै. ९/२/२
(ख) ज्ञाताधर्मकथा ५

२. जिनसेन महापुराण २१/५/९२

३. आचार्य कुन्दकुन्द–दर्शन पाहुड

विश्वास को आचार का आधार मानना दर्शन और मनोविज्ञान की दृष्टि से सर्वथा संगत है। आगे हम इसी तथ्य पर चिन्तन करेंगे।

जैन-साधना का लक्ष्य

आज का युग वैज्ञानिक युग है। भौतिकवाद की चकाचौंध में मानव सुख-शांति और सन्तोष को प्राप्त करने के लिए लक्ष्यहीन व्यक्ति की तरह भटक रहा है। वैभव विलास में अटक रहा है। जैन-साधना का लक्ष्य भोग नहीं त्याग है, संघर्ष नहीं शांति है, विषमता नहीं समता है, विषाद नहीं आनन्द है; और वह तभी प्राप्त हो सकता है जब जीवन में विमल विचार हों, पवित्र आचार हो। अध्यात्म के अभाव में भौतिक उन्नति वरदान के रूप में न होकर प्रलयंकारी अभिशाप बन जाती है। सत्ता और संपत्ति के स्थान पर यदि मानवता से प्रेम किया जाए तो विश्व में अपूर्व शांति हो सकती है।

विश्वास की आवश्यकता

यह सत्य है कि विज्ञान एक महान शक्ति है; पर उसका उपयोग किस तरह से किया जाय इसका समाधान अध्यात्म और दर्शन ही दे सकता है। विज्ञान ने भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण तो किया है, किन्तु आन्तरिक सत्य की उपेक्षा की है। अतः वह ज्ञान होते हुए भी सम्यग्ज्ञान नहीं है। जब तक ज्ञान को सम्यग्दर्शन का वरदान प्राप्त न हो, वहाँ तक उसमें परिपूर्णता नहीं आती। सम्यग्दर्शनरहित ज्ञान और विज्ञान अमानवीय पाशविक प्रवृत्तियों को बढ़ाता है, घृणा, प्रतिशोध और प्रतिस्पर्धा की भावना को उभारता है। रूढ़िवाद, परंपरावाद और अन्ध-विश्वास का पोषण करता है। वह अनास्था, अनाचार और अशान्ति से जन-जीवन को पीड़ित करता है। ज्यों ही सम्यग्दर्शन का संस्पर्श होता है त्यों ही अज्ञान ज्ञान के रूप में, असदाचार-सदाचार के रूप में और मिथ्याचार सम्यक् आचार के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

आज आवश्यकता है आध्यात्मिक सत्य को उजागर करने की। भौतिकवादी अविवेक के घने कुहरे को हटाने की। वह कुहरा हटते ही ज्ञात होगा कि जीवन क्या है? जगत् क्या है? बंध और मुक्ति क्या है? क्यों आत्मा इस विराट् विश्व में परिभ्रमण कर रहा है? सबसे पहले आवश्यकता है–विश्वास की, उसके बाद विचार की और उसके पश्चात् आचार की। बिना सम्यक्विश्वास के विचारों में निर्मलता व दृढ़ता नहीं आ सकती, विचारों के निर्मल बने बिना आचार में पवित्रता नहीं आ सकती। जब स्वयं की आत्म-शक्ति पर सर्वप्रथम विश्वास होता है तभी विचार को जीवन की धरती पर उतारा जा सकता है। आचार बनता है

विचार से और विचार बनता है विश्वास से। पर विश्वास, विचार और आचार–ये कहीं बाहर से नहीं आते। वे तो आत्मा के निजगुण हैं। उन गुणों का विकास करना, जो गुण आच्छन्न हैं उन्हें प्रकाश में लाना ही स्वरूप की उपलब्धि है; और जब स्व-स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है तब साधना सिद्धि में बदल जाती है।

शक्ति की अभिव्यक्ति

भारतीय मूर्धन्य मनीषियों का यह अभिमत है कि आत्मा सूर्य के समान तेजस्वी है; किन्तु वह कर्म की घटाओं से घिरा हुआ है जिससे उसके दिव्य प्रकाश पर आवरण आ चुका है। उसका विशुद्ध स्वरूप लुप्त हो चुका है। आत्मा केवल आत्मा ही नहीं, स्वयं परमात्मा है, परब्रह्म है, ईश्वर है। 'अप्पा सो परमप्पा', 'तत्त्वमसि' और 'सोऽहं' उसी विराट् सत्य को व्यक्त कर रहे हैं। विश्व की प्रत्येक आत्मा में शक्ति का अनन्त स्रोत प्रवाहित है। जो आत्माएँ हमें दिखाई दे रही हैं वह मूल स्वरूप में वैसी नहीं हैं। वे बद्ध अवस्था में हैं। पर एक दिन वे मुक्त होंगी क्योंकि मुक्त होने की वे पूर्ण अधिकारी हैं। अधिकारी वह कहलाता है जिसे अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास हो। भिखारी को अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं होता। वह तो दूसरों की करुणा पर पनपता है। वह सतत चिन्तन करता रहता है–मुझे दूसरे से ज्योति प्राप्त होगी। आवश्यकता शक्ति की प्राप्ति की नहीं है, जो अनन्त शक्ति हम में छिपी हुई है उसे अभिव्यक्त करने की है। निज शक्ति को अभिव्यक्त करने की कला ही सम्यग्दर्शन है। यह हम जानते हैं कि एक नन्हें-से बीज में विराट् वृक्ष के रूप में पनपने की शक्ति रही हुई है। उस शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल धरती, पानी, पवन और प्रकाश की आवश्यकता है। साधना के क्षेत्र में भी साधक को अपनी आत्म-शक्ति व्यक्त करने के लिए अशुभ से, शुभ में, शुभ से शुद्ध में जाना होता है। स्व-स्वरूप में रमण करने के लिए मूल सत्ता पर उसे विश्वास करना होता है।

सम्यग्दर्शन की परिभाषा

आचार्य उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन की परिभाषा करते हुए लिखा है–'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'[1] तत्त्वों का सही श्रद्धान् सम्यग्दर्शन है। तत्त्वों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्य एकमत नहीं हैं। कहीं पर नौ पदार्थ[2] बताये गये हैं,

---

१. तत्त्वार्थसूत्र १-२

२. (क) ठाणांग ९
   (ख) उत्तराध्ययन २८/१४
   (ग) पंचास्तिकाय २/१८

कहीं पर सात तत्त्वों[1] का निरूपण है तो कहीं पर दो तत्त्वों में ही सबका समावेश किया गया है।[2]

विवक्षा की दृष्टि से नौ, सात और दो का विभाजन है, पर वास्तविक दृष्टि से तत्त्व दो ही हैं–जीव तत्त्व और अजीव तत्त्व। पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध इन चार तत्त्वों का समावेश अजीव तत्त्व के अन्तर्गत किया जा सकता है। संवर, निर्जरा और मोक्ष ये जीव तत्त्व के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं। इस प्रकार मुख्य रूप से दो तत्त्व हैं–चेतन और जड़। आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। उन असंख्य प्रदेशों में एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्मों की वर्गणाएँ लगी हुई हैं, जो जड़ हैं। उन वर्गणाओं के कारण आत्मा अपने निजस्वरूप को नहीं पहचान पाता। जैसे स्फटिक के पास गुलाब का फूल रखने से वह स्फटिक गुलाबी रंग का प्रतीत होता है वैसे ही आत्मा शुद्ध स्फटिक के सदृश निर्लेप है। किन्तु कर्मरूपी फूल के संसर्ग के कारण उसके शुद्ध स्वरूप को पहचान पाना कठिन हो रहा है। प्राणी जड़ और चेतन के स्वरूप में भेद नहीं कर पा रहा है। वह जड़ को ही चेतन समझ रहा है। जड़ और चेतन में भेदविज्ञान करना ही सम्यग्दर्शन है। वही तत्त्व का यथार्थ शब्दार्थ है। स्व और पर का, आत्मा और अनात्मा का, चैतन्य और जड़ का, जब तक भेदविज्ञान नहीं होता वहाँ तक स्व-स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। जब स्व-स्वरूप की उपलब्धि होती है तभी उसे यह भान होता है कि "मैं शरीर नहीं हूँ, इन्द्रियाँ नहीं हूँ, और न मन ही हूँ। ये तो सभी भौतिक हैं, पुद्गल हैं और जो पुद्गल हैं, वे जड़ हैं। पुद्गल अलग है, मैं अलग हूँ। पुद्गल की सत्ता अनन्त काल से रही है, वर्तमान में है, भविष्य में भी रहेगी। पर वे अनन्तानन्त पुद्गल ममता के अभाव में आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते और आत्मा एवं पुद्गल–ये दोनों ही पृथक् हैं," यह पूर्ण निष्ठा ही सम्यग्दर्शन है, उसको जानना सम्यग्ज्ञान है और उस पुद्गल की पर्यायों को आत्मा से पृथक् कर देना सम्यक्चारित्र है।

सम्यग्दर्शन अंक है

गणितशास्त्र में अंक और शून्य ये दो चीजें हैं। अंकरहित शून्य का कोई मूल्य नहीं होता, चाहे कितने भी शून्य हों पर अंक न होने से उनका महत्त्व नहीं होता।

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र १-४
   (ख) सप्ततत्त्वप्रकरणं–आचार्य हेमचन्द्र

२. (क) स्थानांग २-४-९५
   (ख) समवायांग २-१४९
   (ग) भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
   तस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन॥ –आचार्य अमृतचन्द्र

यदि एक अंक भी शून्य के साथ हो तो अंक का महत्त्व बढ़ जाता है; और शून्य का भी। दोनों के समन्वय में ही दोनों का गौरव रहा हुआ है। सम्यग्दर्शन अंक है और सम्यक्चारित्र शून्य है। सम्यग्दर्शन से ही सम्यक्चारित्र में तेज प्रकट होता है और वह विकास के पथ पर बढ़ता है। सम्यग्दर्शनरहित चारित्र उस अन्धे व्यक्ति की तरह है जो निरन्तर चलना तो जानता है; पर लक्ष्य का पता नहीं है। बिना लक्ष्य वह भटकता है। लक्ष्यस्थान पर नहीं पहुँचता। यदि मानव के सामने कोई लक्ष्य नहीं है तो उसकी साधना का कोई प्रयोजन भी नहीं है।

परभाव और परभव

सम्यग्दर्शन का अर्थ है सम्यक्त्व–सत्यदृष्टि। दूसरे शब्दों में कहें, आत्म-विश्वास, श्रद्धा, आस्था और निष्ठा। निश्चयदृष्टि से "मैं शरीर से भिन्न आत्मा हूँ, इन्द्रियों और मन से भी भिन्न हूँ, मैं चिद्रूप हूँ, जड़ रूप नहीं हूँ। अपने इस विशुद्ध आत्म-स्वरूप को समझकर जब साधक उसमें स्थिर होता है तब उसे सच्चे सुख का अनुभव होता है। एक व्यक्ति व्यापारार्थ विदेश जाता है। वहाँ पर वह अपार धन कमाता है। किन्तु उसके जीवन का उद्देश्य विदेश में रहना नहीं है। वह विदेश से घर आता है। वहाँ पर शांति का अनुभव करता है। वैसे ही संसार में भौतिक वैभव को प्राप्त करके भी आत्मा जब तक निज स्वरूप में नहीं आता वहाँ तक उसे सही आनन्द का अनुभव नहीं होता। जब स्व-दर्शन होता है तो उसे प्रदर्शन की इच्छा नहीं होती। परभाव मिटते ही परभव भी समाप्त हो जाता है। यदि एक बार भी आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को समझ ले तो वह परित संसारी बन जाता है। उसका भव-भ्रमण रुक जाता है।

सम्यग्दर्शन और साधना

मोती हजारों वर्षों तक समुद्र में रहते हैं। पानी में रहकर के भी मोती गलते नहीं, सड़ते नहीं; किन्तु वे मोती हंस के मुँह में जाते ही गल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही सम्यग्दृष्टि साधक जो हंस के सदृश है वह अपनी लघुक्रिया से कर्मरूपी मोती को गला देता है। एक मजदूर है। दूसरा कारीगर है। मजदूर कठिन श्रम करके भी जितना पैसा कमा नहीं पाता उतना कारीगर कुछ क्षणों में कमा लेता है। वैसे मिथ्यादृष्टि वर्षों तक साधना करके भी उतने कर्मों को नष्ट नहीं कर पाता जितने कर्म सम्यग्दृष्टि कुछ क्षणों की साधना से नष्ट कर लेता है।

आध्यात्मिक साधना का द्वार

आध्यात्मिक साधना के भव्य भवन में प्रवेश करने के लिए द्वार के सदृश सम्यग्दर्शन है। बिना सम्यग्दर्शन के साधना के भव्य भवन में प्रवेश नहीं हो सकता।

दर्शन आत्मा का गुण है। सम्यक् और मिथ्यात्व के दोनों पर्याय हैं। अनन्तकाल से दर्शन मिथ्यात्व के साथ होने से वह मिथ्यादर्शन–ये रूप में रहा। जब उसका संस्पर्श सम्यक्त्व के साथ होता है तो वही दर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है। मिथ्यादर्शन का फल संसार है और सम्यग्दर्शन का फल मोक्ष है। जैसे अंधकार में कुछ भी दिखायी नहीं देता पर ज्यों ही प्रकाश जगमगाने लगता है त्यों ही सारे पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन का प्रकाश होते ही जड़-चेतन का भेद स्पष्ट दिखाई देता है।

सम्यग्दर्शन की निधि

एक भिखारी भीख माँग रहा था। एक-एक पैसे के लिए हाथ पसार रहा था, पर उसे पता नहीं था कि वह जहाँ बैठा है उसके नीचे विराट् संपत्ति है, अक्षय निधि है। भिखारी की तरह अनन्त सुख की निधि स्वयं के पास होने पर भी मिथ्यात्वी आत्मा उस दरिद्र भिखारी की तरह पर-पुद्गलों को प्राप्त करने लिए लालायित रहता है। पर यह नहीं सोचता कि सम्यग्दर्शन की निधि के सामने इसका क्या महत्त्व है?

सम्यग्दर्शन चिन्तामणि

ज्ञातासूत्र में सम्यग्दर्शन को 'चिन्तामणि रत्न' की उपमा दी है। जिस व्यक्ति के पास चिन्तामणि रत्न हो उसे कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। वह चिन्तामणि रत्न के दिव्य प्रभाव से चाहे जो वस्तु प्राप्त कर सकता है। वैसे ही सम्यग्दर्शन से आध्यात्मिक उन्नति जो भी करना चाहे कर सकता है। सम्यग्दर्शन जिसे प्राप्त हो चुका है वह नरक में रहकर के भी स्वर्ग से भी अधिक सुख का अनुभव करता है। बाह्य वेदनाएँ होने पर भी निज स्वरूप में रमण करता है। वह प्रतिकूलता में भी अनुकूलता को निहारता है। उसका चिन्तन अधोमुखी न होकर ऊर्ध्वमुखी होता है। वह संयोग में हर्षित नहीं होता और वियोग में खिन्न नहीं होता। उसका सम्बन्ध आत्म-केन्द्र से होता है। रणक्षेत्र में वही सेना विजय-वैजयन्ती फहरा सकती है जिसका सम्बन्ध मूल केन्द्र से रहता है। भले ही वह सेना कितनी भी दूर क्यों न चली जाय, वह कभी पराजित नहीं होती। चतुर सेनापति वही है जो मूल केन्द्र से सदा सम्बन्ध बनाए रखे। जिसका सम्यग्दर्शनरूपी मूल केन्द्र से सम्बन्ध है, वह संसार में रहकर भी संसार से उसी तरह अलग-थलग रहता है जैसे कीचड़ के बीच कमल रहता है। कमल कीचड़ में ही पैदा होता है, कीचड़ में रहता है। उसके चारों ओर पानी होता है। पर वह पानी से अलग-थलग रहता है। वैसे ही सम्यग्दृष्टि संसार से उपरत रहता है।[1]

---

१. जहा पोमं जलेजायं नोवलिप्पइ वारिणा। –उत्तराध्ययन २५-२७

बत्तीस दाँतों के बीच जीभ

एक बार विभीषण से हनुमान ने यह जिज्ञासा प्रस्तुत की कि आप लंका में कैसे रहते हैं, यहाँ तो राक्षसों का साम्राज्य है। जो बड़े ही उच्छृंखल प्रकृति के हैं। उत्तर में विभीषण ने कहा–पवनसुत ! मैं उसी तरह सावधान रहता हूँ जैसे बत्तीस दाँतों के बीच जीभ सावधानी से रहती है।[1] सम्यग्दृष्टि संसार में इसी प्रकार रहता है।

अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्रभाव नहीं

सम्यग्दृष्टि का शरीर संसार में रहता है, किन्तु मन मोक्ष की ओर रहता है। सम्यग्दर्शन वह अद्‌भुत शक्ति है जिसके संस्पर्श से अनुकूलता व प्रतिकूलता में हर्ष-विवाद नहीं होता। अनन्त गगन में उमड़-घुमड़कर घटाएँ आती हैं किन्तु उन घटाओं का गगन पर असर नहीं पड़ता। वैसे सम्यग्दृष्टि के मानसरूपी गगन पर अनुकूलता और प्रतिकूलता का प्रभाव नहीं पड़ता। वह उस शिव की तरह होता है जो दुःख के जहर को पीकर भी अचल, अडोल व अडिग रहता है। वह विष उस पर कोई प्रभाव नहीं डालता। वह कष्टों का अनुभव करते हुए भी यह सोचता है कि ये दुःख के काँटे मैंने ही बोये हैं, मेरे कर्म का फल है। फिर मैं क्यों घबराता हूँ। जो व्यक्ति सरोवर में गहरी डुबकी लगाता है उस व्यक्ति को उस समय गर्म लू का असर नहीं होता। जो साधक सम्यग्दर्शनरूपी सरोवर में अवगाहन करता हो उस पर भवताप का असर नहीं होता।

ममता की मुद्रा

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में दो नदियों का उल्लेख आता है। एक उन्मग्नजला नदी है और दूसरी निमग्नजला नदी है। उन्मग्नजला नदी अपने पास कुछ भी नहीं रखती। जो कुछ भी वस्तु उसमें गिरती है उसे वह उछालकर बाहर फेंक देती है। पर निमग्नजला नदी उससे बिलकुल विपरीत स्वभाव की है। उसमें जो भी वस्तु पड़ जाती है वह उस वस्तु को अपने में समा लेती है। किनारे पर जो भी वस्तु हो, उसे भी खींच लेती है। सम्यग्दृष्टि उन्मग्नजला नदी के सदृश होता है। उसके अन्तर्मानस में जो भी रागात्मक और द्वेषात्मक विकल्प उठते हैं वह उन्हें बाहर निकालकर फेंक देता है, पर मिथ्यादृष्टि निमग्नजला नदी का साथी है। वह उन्हें ग्रहण कर उन पर ममता की मुद्रा लगा देता है। नौका जल पर चलती है, उसके नीचे विराट् सागर का अथाह जल रहता है, पर नौका में नहीं। बाहर का जल नौका को कोई

---

१. सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन बिच जीभ बिचारी॥ –*रामचरितमानस*

क्षति नहीं पहुँचाता। पर वही जल जब नौका में प्रविष्टि हो जाय तो नौका को ले डूबता है। जो जल नौका का उद्धारक था वही संहारक बन जाता है।

भव परम्परा का उच्छेद

रात्रि के सघन अन्धकार में विद्युत् की रेखा चमकती है तो एक क्षण में अंधकार नष्ट हो जाता है। वैसे ही सम्यग्दर्शन के अल्प प्रकाश से भी अनन्तकाल से घहराया हुआ मिथ्यात्व का अंधकार क्षण भर में विनष्ट हो जाता है और जिसने एक क्षण के लिए भी सम्यग्दर्शन का अनुभव कर लिया वह निश्चय ही मुक्त होता है। अनादिकाल से जो जन्म-मरण की परम्परा चल रही है उस परम्परा को सम्यग्दर्शन नष्ट कर देता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में भव-परम्परा का कभी उच्छेद नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के कारण

सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के दो कारण हैं—नैसर्गिक और आधिगमिक।[1] निसर्ग का अर्थ स्वभाव है। जब कर्मों की स्थिति न्यून होते-होते एक कोटाकोटि सागरोपम से भी कम रहती है और दर्शनमोह की तीव्रता में कमी आ जाती है तब बिना परोपदेश के ही जो तत्त्वरुचि समुत्पन्न होती है, यथार्थ दर्शन होता है, वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है। श्रवण, मनन, अध्ययन या परोपदेश से सत्य के प्रति जो निष्ठा जाग्रत होती है, वह आधिगमिक सम्यग्दर्शन है। ये दोनों भेद बाह्य निमित्तविशेष के कारण ही हैं। दर्शनमोह का विलय दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन में अनिवार्य है।

एक यात्री यात्रा के लिए प्रस्थित हुआ। मार्ग भूल गया, वह इधर से उधर भटकने लगा, अन्त में स्वतः ही पथ पर आ गया, यह नैसर्गिक पथ लाभ हुआ। एक दूसरा यात्री यात्रा के लिए चला; पथभ्रष्ट होकर इधर-उधर भटकता रहा। पथ-प्रदर्शक से मार्ग पूछकर वह उस पर आरूढ़ हुआ। वह आधिगमिक पथ लाभ हुआ। ठीक इसी तरह नैसर्गिक और आधिगमिक सम्यग्दर्शन है।

आचार्य जिनसेन के अभिमतानुसार[2] देशनालब्धि, काललब्धि—ये सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के बहिरंग कारण हैं और कारणलब्धि अन्तरंग कारण है। जब दोनों की प्राप्ति होती है तभी भव्य जीव सम्यग्दर्शन को धारण करते हैं।

---

१. तन्निसर्गादधिगमाद्वा। —*तत्त्वार्थसूत्र* १/३

२. देशनाकाललब्ध्यादि बाह्यकारणसम्पदि।
अन्तःकरण सामग्र्यां भव्यात्मा स्याद् विशुद्धिकृत्॥ —*महापुराण* ११६/९/१९९

तीन आत्माएँ

संसार में जितनी आत्माएँ हैं, उन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा पूर्ण रूप से बहिर्मुखी होता है। मिथ्यात्व मोहनीयकर्म की प्रबलता से वह आत्मदेव के दर्शन नहीं कर पाता। वह पररूप को स्वरूप समझता है। जैसे दिग्भ्रान्त मानव पश्चिम को पूर्व मानकर चलता है और अपनी मंजिल से दूर होता चला जाता है वैसे ही भ्रमग्रस्त बहिरात्मा भी सुख-प्राप्ति के स्थान पर दुःख के दलदल में फँसता चला जाता है। सभी बहिरात्माओं में मोह की मात्रा एक सदृश नहीं होती। उसमें असंख्य प्रकार का तारतम्य होता है। इस विराट् विश्व में परिभ्रमण करते हुए भयानक कष्टों को सहन करते हुए कभी ऐसा अवसर आता है जिसमें मोह का आवरण शिथिल हो जाता है, अकाम-निर्जरा से अन्य कर्मों की स्थिति भी न्यून हो जाती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है। नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है। आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम की है और मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की है।

तीन करण

आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति जब एक कोटाकोटि सागरोपम से भी कुछ न्यून रह जाती है तब आत्मा में एक सहज वीर्य शक्ति उल्लसित होती है। ऐसे अवसर पर आत्मा में जो विशिष्ट परिणाम उत्पन्न होता है वह यथाप्रवृत्तिकरण है।

उपाध्याय विनयविजय जी[1] ने 'करण' शब्द पर चिन्तन करते हुए कहा है–जीव का परिणाम ही करण है।

यथाप्रवृत्तिकरण के दो भेद हैं–सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण और विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण। सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीव को भी हो सकता है; किन्तु विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण भव्य को ही होता है। जब राग-द्वेष का बन्धन शिथिल हो जाता है तब ऐसा विशुद्ध परिणाम पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ, वह प्राप्त होता है। इसलिए इसे अपूर्वकरण कहते हैं। राग-द्वेष के अत्यन्त मलिन परिणाम ग्रन्थि कहलाते हैं। उस ग्रन्थि का भेदन अपूर्वकरण के बिना नहीं होता। आचार्य जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण[2] ने कहा है–सघन राग-द्वेष रूप आत्म-परिणाम ही ग्रन्थि है। प्रस्तुत

---

१. परिणाम विशेषोऽत्रकरणं प्राणिनां मतम्। –*लोकप्रकाश*

२. गन्थि त्ति सुदुब्भेओ कक्खडघणरूढ़ गूढगंठिव्व।
जीवस्स कम्म जणिओ, घणरागद्दोस परिणामो॥ –*विशेषावश्यकभाष्य*

ग्रन्थि अत्यन्त कठिनाई से भेदन की जा सकती है। गुप्त बाँस की ग्रन्थि के समान इस ग्रन्थि का भेदन करना सरल नहीं है। अपूर्वकरण के द्वारा ही ग्रन्थि-भेदन होता है। ग्रन्थि-भेदन होते ही भ्रांति की सघन घटाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और अनिर्वचनीय अननुभूत लोकोत्तर निर्मलता व्याप्त होती है। वह अनिवृत्तिकरण है।[1] यही सम्यक्त्व-प्राप्ति का द्वार है।

सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षण

सम्यग्दर्शन की ज्यों ही उपलब्धि होती है त्यों ही उस आत्मा में नवीन आलोक उत्पन्न होता है। जिससे उसके जीवन और व्यवहार में भी आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। मनीषियों ने सम्यग्दर्शन की पहिचान कराने वाले पाँच लक्षण बताये हैं। वे हैं–प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य।

प्रशम–अनादिकाल से आत्मा में कषाय की आग धधक रही है। मिथ्यात्व स्थिति में कषाय तीव्रतम होता है पर मिथ्यात्व का अन्त होते ही अनन्तानुबन्धी कषायों का भी अन्त हो जाता है और उसके द्वारा उत्पन्न संताप भी नष्ट हो जाता है। आत्मा में अनिर्वचनीय शांति की अनुभूति होती है। तत्त्वों के असत् पक्षपात से होने वाला कदाग्रह प्रभृति दोषों का उपशमन ही प्रशम है।

संवेग–सांसारिक बन्धनों का भय संवेग है। सम्यक्त्वी जीव में किसी भी प्रकार का भय नहीं होता। उसके रग-रग में निर्भयता होती है; निर्द्वन्द्वता होती है। यों कभी भी उसके कदम लड़खड़ाते नहीं पर पापकारी प्रवृत्ति करते समय वह हिचकिचाता है, भयभीत होता है। सम्यग्दर्शन से जो सात्त्विकता उत्पन्न हुई है उससे उसके वेग में परिवर्तन हो जाता है। पहले जो वेग सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने की ओर था, वह मोक्ष मार्ग की ओर हो जाता है, वही संवेग है।

निर्वेद–विषयों में आसक्ति का न्यून होना निर्वेद है। सम्यग्दृष्टि का आत्मस्वरूप में आकर्षण होता है। चक्रवर्ती का साम्राज्य और इन्द्रों के कमनीय भोगों को भी वह काक वीट के समान समझता है। इसीलिए कवि ने कहा है–

चक्रवर्ती की संपदा, इन्द्र सरीखा भोग।
काक-वीट सम गिनत हैं, सम्यक्दर्शी लोग॥

---

१. (क) आवश्यक मलयगिरि, गाथा १०६-१०७ टीका
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १२०२ से १२१८ तक
(ग) प्रवचनसारोद्धार २२४, गाथा १३०२ टीका
(घ) कर्मग्रन्थ, द्वितीय भाग, गाथा २

भ्रमर सुगन्धित सुमनों पर मँडराता है, उनका रसास्वादन करता है, मगर वह फूलों का नहीं होता। जब भी उसकी उड़ने की इच्छा होती है, वह उड़ जाता है। उसके लिए कोई बन्धन नहीं होता। सम्यग्दृष्टि भी भ्रमर के समान होता है। एतदर्थ ही वह पाप से लिप्त नहीं होता।

"सम्मत्तदंसी न करेई पावं।" –आचारांगसूत्र

सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कषाय से प्रेरित पाप नहीं करता और न उसकी आन्तरिक रुचि ही पापाचरण की ओर होती है। वह अन्तर् से निर्लेप रहता है। यही उसका निर्वेद भाव है।

अनुकम्पा–दुःखी प्राणियों के दुःख दूर करने की इच्छा अनुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि का चित्त इतना सात्त्विक और कोमल होता है कि वह किसी दुःखी को देखकर आँखें मूँद नहीं सकता। वह उसे दूर करने का प्रबल प्रयास करता है। 'मेत्ति मे सव्व भूएसु' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उदात्त स्वर उसके अन्तर्मानस में झंकृत होता है। वह किसी भी प्राणी को कष्ट में देखकर आकुल-व्याकुल हो जाता है और उसके कष्ट को निवारण करने के लिए पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है। जिसके हृदय में अनुकम्पा की भावना अठखेलियाँ करती है–वह संकटग्रस्त प्राणियों के संकट को दूर करने का प्रयास करता है, वही अनुकम्पा है।

आस्तिक्य–सम्यग्दर्शन का पाँचवाँ लक्षण आस्तिक्य है। आत्मा आदि परोक्ष तत्त्वों पर युक्ति प्रमाण से सिद्ध पदार्थों को स्वीकार करना। आस्तिक व नास्तिक शब्दों के प्रयोग के अर्थ के सम्बन्ध के दार्शनिक चिन्तकों में मतभेद रहा है, संस्कृत व्याकरण के प्रौढ़ आचार्य पाणिनि के अष्टाध्यायी ग्रन्थ में "अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः"[1]–लिखा है। भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी में इसका अर्थ किया है– "अस्ति परलोक इत्येव मतिर्यस्य स अस्तिकः, नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।"–जो निश्चित रूप से परलोक, पुनर्जन्म स्वीकार करता है वह आस्तिक है और जो उसे स्वीकार नहीं करता वह नास्तिक है। 'अस्ति' शब्द सत्ता का वाचक है और 'नास्ति' शब्द निषेध-वाचक है। जो पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म और आत्मा के नित्यत्व में विश्वास करता है, वह आस्तिक है। जो केवल वर्तमान दृष्टि पर ही केन्द्रित है, वह नास्तिक है।[2]

सम्यग्दृष्टि आत्मा में आस्तिकता का गहरा भाव होता है। वह केवल वर्तमान दृष्टि पर ही केन्द्रित नहीं होता अपितु त्रैकालिक अखण्ड सत्ता का अनुभव करता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के साथ ही ये पाँच लक्षण स्वतः प्रकट हो जाते हैं।

---

१. अष्टाध्यायी, अ. ४, पाद ३, सूत्र ६०
२. वर्तमान दृष्टिपरो हि नास्तिकः।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं जिन्हें 'आचार' भी कहा जाता है। जिन आचार के कारण सम्यग्दर्शन का पालन, संरक्षण और संवर्द्धन होता है वे आठ आचार ये हैं[1]–(१) निश्शंकता, (२) निष्कांक्षता, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ़दृष्टित्व, (५) उपबृंहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य, और (८) प्रभावना।

जैसे मानव शरीर में आठ अंग प्रमुख होते हैं वैसे ही सम्यग्दर्शन के ये आठ अंग या आचार प्रमुख हैं–

(१) निश्शंकता–सर्वज्ञ और वीतराग द्वारा प्ररूपित सत्य-तथ्य के सम्बन्ध में शंका न करना निश्शंकता है। आचार्य मानविजय जी ने लिखा है–जिनोक्त[2] तत्त्वों पर दृढ़ निष्ठा होना श्रद्धा है और श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन अन्ध-श्रद्धा नहीं किन्तु प्रज्ञायुक्त-श्रद्धा होती है जिसमें किसी भी प्रकार का आन्तरिक विकार नहीं होता। जो सर्वज्ञ हैं, उनके वचनों पर दृढ़ आस्था स्थापित करना, चाहे कैसा भी प्रलोभन आये, किन्तु वह किंचित् मात्र भी विचलित नहीं होता। उसका यह दृढ़ मन्तव्य है–वही सत्य है, वही असंदिग्ध है जो जिनेश्वर देव ने कहा है। जिस श्रद्धा में प्रज्ञा का प्रकाश नहीं है वह अन्ध-श्रद्धा है, वह नवीन स्फूर्ति व चेतना प्रदान नहीं कर सकती। श्रद्धा विवेक की सुपुत्री है। विवेक की छाया में ही श्रद्धा परिपुष्ट होती है। विवेकयुक्त निश्शंकता ही सम्यग्दर्शन का प्रथम अंग है और आचार है।

(२) निष्कांक्षता–भौतिक वैभव की चकाचौंध में कितनी ही बार सही मार्ग को मानव विस्मृत हो जाता है। सांसारिक सुख, सौन्दर्य, वैभव के लोभ को संवरण नहीं कर पाता जिससे वह आत्मधर्म को भूलकर उन्हें अपनाने के लिए ललक उठता है। उसकी साधना का लक्ष्य भौतिक वैभव व इहलौकिक चमत्कार प्रदर्शन नहीं है। सम्यग्दृष्टि साधक इस प्रकार की आकांक्षा नहीं करता। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के अतिरिक्त वह उन सभी भौतिक पदार्थों को निस्सार मानता है। वह स्वकीय आनन्द में ही इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे परभाव में किंचित् मात्र भी रुचि नहीं होती। यह सम्यग्दर्शन का दूसरा अंग है।

(३) निर्विचिकित्सा–साधक का लक्ष्य है आत्मस्वरूप को आच्छादित करने वाले आवरणों को हटाकर आत्मस्वरूप की उपलब्धि करना। वह बाह्य सिद्धियों के लिए साधना नहीं करता। उसकी सम्यक् साधना से सिद्धियाँ उसके चरण चूमने को

---

१. निस्संकिय-निक्खंकिय निव्वितिगिंच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे वच्छल्ल-पभावणा अट्ठ॥ –उत्तराध्ययन २८/३१

२. जिनोक्ततत्त्वेषु रुचिः श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते। –धर्मसंग्रह

लालायित रहती हैं। पर वह धूलि-कण के समान उन्हें निस्सार मानता है। जिन साधकों में दृढ़-निष्ठा का अभाव है, वे सोचते हैं, मैं जो साधना कर रहा हूँ उसका फल मुझे मिलेगा या नहीं। मेरा यह कष्टपूर्ण अनुष्ठान कहीं निरर्थक तो नहीं हो जाएगा? इस प्रकार की आशंका विचिकित्सा है और इस प्रकार की शंका न होना निर्विचिकित्सा है।

निर्विचिकित्सा का दूसरा अर्थ संयमी श्रमणों के वेष या शरीर को निहारकर ग्लानि न करना, उनके देह, वस्त्र आदि उपकरणों की मलिनता को देखकर मन में घृणाभाव न होना निर्विचिकित्सा है। श्रमणों के सद्गुणों पर ही दृष्टि जानी चाहिए उनके बाह्य सौन्दर्य पर नहीं। श्रमण आत्म-भाव में रहता है। इसलिए उसका लक्ष्य सामान्य मानवों की भाँति शरीर को सजाना सँवारना नहीं है। वह केवल शरीर को धर्म का उपकरण समझकर एक सीमा तक उसका संरक्षण करता है।

आचार्य समन्तभद्र[1] ने लिखा है–शरीर तो स्वभाव से अपवित्र है। उसकी पवित्रता रत्नत्रय से है। अतः शरीर की ओर साधक लक्ष्य न देकर; गुणी के शरीर से घृणा न कर गुणों से प्रेम करता है।

(४) अमूढ़दृष्टित्व–मूढ़ता का अभिप्राय अज्ञान, भ्रम, संशय और विपर्यास है। जब तक मानव में सम्यक्त्व नहीं आता तब तक दुर्गुणों से पिण्ड नहीं छूटता। सम्यक्त्व आते ही अनादिकालीन भ्रम नष्ट हो जाता है। वह देवमूढ़ता (यानी काम-क्रोध से ग्रसित अदेव को देव मानना, लोकमूढ़ता (नदी, सागर आदि में स्नान करने से आत्म-शुद्धि मानना, धर्म समझकर पर्वत से गिरकर प्राण-विसर्जन करना, अग्नि में जलकर या पानी में डूबकर मरना आदि), समयमूढ़ता (शास्त्र व धर्म के सम्बन्ध में होने वाली बुद्धि को भ्रांति)। इन सभी मूढ़ताओं से सम्यग्दृष्टि विमुक्त होता है। उसका मस्तिष्क सुलझा हुआ होता है, उसमें विवेक जाग्रत होता है। इसलिए वह अभ्रान्त निर्णय करता है। वह किसी भी प्रकार की रूढ़ि, परम्परा तथा गलत राह पर नहीं चलता। उसका निर्णय सत्य पर अवलंबित होता है।

(५) उपबृंहण–'उवऊह' का संस्कृत शब्द उपबृंहण है। बृंह धातु के साथ 'उप' उपसर्ग लगने से यह शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है वृद्धि करना, बढ़ाना, पोषण करना। अन्य व्यक्तियों के सम्यक्त्व रूप चारित्र के गुणों में वृद्धि करना, प्रशंसा करके उन गुणों को बढ़ावा देना उपबृंहण है। सत्पुरुष वह है जो स्वयं गुणों का वहीं पर दूसरे के गुणों का उत्कीर्तन करता है। उनका बहुमान, सन्मान और

---

१. स्वभावतोऽशुची काये, रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता॥ –*रत्नकरण्ड श्रावकाचार*

अनुराग प्रदर्शित कर स्वयं के गुणों को भी बढ़ाता है। सद्गुणों के प्रति उत्कृष्ट अनुराग होने से साधक की आत्मा में आध्यात्मिक शक्ति का अभ्युदय होता है, उसके अशुभ संस्कार क्षीण होते हैं और उसमें शुभ संस्कारों के बीज वपन होते हैं।

(६) स्थिरीकरण–जीवन में जब आपत्तियाँ उमड़-घुमड़कर आती हैं तब मानव की बौद्धिक शक्ति कुंठित हो जाती है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि सही मार्ग कौन-सा है। कदाचित् वह निर्णय भी कर लेता है, किन्तु सही राह पर वह चल नहीं पाता। बाह्य कठिनाइयों और आन्तरिक दुर्बलता के कारण वह असत् मार्ग पर चलने के लिए बाध्य हो जाता है। सम्यग्दृष्टि साधक दूसरे व्यक्तियों को पतनोन्मुख जानकर भी स्वयं में स्थिर रहता है। जो सम्यग्दर्शन से पतित होता है उसको तत्त्व का वास्तविक बोध प्रदान कर उसका स्थिरीकरण करता है। यदि कोई चारित्र से स्खलित हो रहा हो तो उसके कारण की अन्वेषणा कर उसमें वह स्थिर करता है। जैसे राजमती ने रथनेमि मुनि को स्थिर किया था। जो साधक आध्यात्मिक जीवन की महत्ता को विस्मृत होकर उसकी पवित्रता से पराङ्मुख हो रहा हो, उसे समझा-बुझाकर धर्म-मार्ग में स्थिर करना स्थिरीकरण है। यह अंग स्वयं के लिए भी और दूसरों के लिए भी समान उपकारक है।

(७) वात्सल्य–जिनमें समान शील और आचरण होता है, उनमें सहज प्रीति होती है। समान धर्मियों में परस्पर स्नेह स्वाभाविक होता है। आचार्य समन्तभद्र[1] कहते हैं–स्वधर्मियों के प्रति सदृश सद्गुणियों के प्रति निष्कपट भाव से प्रीति रखना यथोचित अशन-पान से उसकी सेवा-शुश्रूषा करना वात्सल्य है। जिस स्नेह में स्वार्थ होता है वह स्नेह वास्तविक स्नेह नहीं होता। स्वार्थलिप्सा उस स्नेह को मलिन बना देती है। पर वात्सल्य में स्वधर्मी के प्रति वास्तविक प्रेम होता है। अन्तःकरण में अनुराग होता है। वात्सल्य अंग, संघ व समाज का प्राण है। उसके अभाव में संघ सजीव नहीं रह सकता। जैसे गाय अपने वत्स से प्रेम करती है वैसे सम्यग्दृष्टि स्वधर्मियों से स्नेह करता है। उनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों को भी न्योछावर कर देता है। यही वात्सल्य है।

(८) प्रभावना–सम्यग्दृष्टि साधक का जीवन सामान्य मानव की तरह नहीं होता। उसके जीवन में सदाचार और सद्विचार की सौरभ होती है। इसलिए जो भी उसके सम्पर्क में आता है, वह अनूठे आनन्द व अपूर्व माधुर्य का अनुभव करता है। वह जिस धर्म का प्रतिनिधित्व करता है वह धर्म उसके जीवन के कण-कण से प्रस्फटित होता है। सामान्य व्यक्ति धर्म के गहरे रहस्यों को नहीं

---

१. स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथाऽपेतकेतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं, वात्सल्यमभिलप्यते॥ –रत्नकरण्ड श्रावकाचार

जानता। उनका तलस्पर्शी अध्ययन भी उसको नहीं होता। पर वे धार्मिकों के सद्व्यवहार से प्रभावित होते हैं और उनके जीवन-व्यवहार को देखकर धार्मिक महत्ता का अनुभव करते हैं। सम्यग्दृष्टि साधक शासन-प्रभावना के कार्य में सदा अग्रसर रहता है। मन से, वचन से, प्रवचन से, धन से, जिस किसी भी प्रकार से शासन की प्रभावना हो वह उस कार्य को सहर्ष करता है।

ये आठ आचार अन्तश्चेतना को जाग्रत करने वाले हैं। आत्मशक्तियों को प्रबल और परिपुष्ट बनाने वाले हैं और विशेष रूप से सम्यग्दर्शन को समृद्ध बनाने वाले हैं।

सम्यग्दर्शन के भेद

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय–ये मोहनीय कर्म सात प्रकृतियाँ बाधक हैं। सम्यक्त्वमोहनीय के अतिरिक्त छह प्रकृतियाँ जब तक उदय में रहती हैं, वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यक्त्वमोहनीय सम्यक्त्व में बाधक नहीं है, पर जब वह उदय में रहती है तो सम्यक्त्व में निर्मलता नहीं आती। उस प्रकृति के कारण सम्यग्दर्शन में चंचलता, मलिनता और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं। जब मोहनीयकर्म की सातों प्रकृतियों का उपशमन होता है तब औपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है और सातों प्रकृतियों के क्षय होने पर क्षायिक सम्यग्दर्शन पैदा होता है। इन सातों प्रकृतियों में से जो उदय में आने वाली हों, उनका क्षय होता है और जो अनुदित प्रकृतियाँ हैं, उनका उपशम होता है; अथवा छह प्रकृतियों का क्षय या उपशम और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय होने पर जो सम्यग्दर्शन का उदय होता है वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है।

इन तीन प्रकार के सम्यग्दर्शन के जो भेद बताये गये हैं उसमें क्षायिक सम्यग्दर्शन पूर्ण रूप से निर्मल होता है। वह सम्यग्दर्शन एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् कभी नष्ट नहीं होता। उपशम सम्यक्त्व एक अन्तर्मूहूर्त तक रहता है, उसके बाद वह विलीन हो जाता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन अधिक से अधिक छियासठ सागरोपम से कुछ अधिक समय तक रह सकता है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के क्रम में कोई निश्चित मत नहीं है, तथापि यह स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से सर्वप्रथम क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। आचार्य जिनसेन[1] और आचार्य देवेन्द्रचन्द्र के अनुसार औपशमिक सम्यग्दर्शन

---

१. क्षयाद् दर्शनमोहस्य सम्यक्त्वादानमादितः।
जन्तोरनादि मिथ्यात्वकलंककलिलात्मनः॥ –महापुराण ११७/९/२००

होता है। कितने ही आचार्य दोनों विकल्पों को मान्य करते हैं और कितने ही आचार्यों का यह भी अभिमत है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन भी पहले-पहल प्राप्त हो सकता है। वे इसका आधार सादि अनन्त विकल्प मानते हैं।

सम्यक्त्व के अमृत रस का पान करने के पश्चात् जीव पुनः मिथ्यात्व की ओर झुकता है तो उस परिवर्तन में कुछ समय लगता है। सम्यक्त्व के उच्चतम शिखर से गिरकर जब तक जीव मिथ्यात्व के गहरे गर्त में नहीं पहुँचता तब तक उसमें वान्त सम्यक्त्व का कुछ संस्कार अवशेष रहता है। उस समय जीव की श्रद्धारूप परिणति सास्वादन सम्यक्त्व कहलाती है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व की निर्मल भूमिका पर आरूढ़ होने योग्य विशुद्धता को प्राप्त करता है। जब वह सम्यक्त्वमोहनीय के अन्तिम कर्मदलिकों का अनुभव करता है उस समय उसका सम्यक्त्व वेदक सम्यक्त्व कहलाता है। वेदक सम्यक्त्व के पश्चात् ही जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

सम्यग्दर्शन के पृथक्-पृथक् पहलुओं का बोध कराने हेतु अन्य अनेक प्रकार से भेद-प्रभेद किये गये हैं। उनके चार प्रकार से दो-दो भेद इस प्रकार हैं–

(१) द्रव्य सम्यक्त्व और भाव सम्यक्त्व।[१]

(२) निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व।[२]

(३) पौद्गलिक सम्यक्त्व और अपौद्गलिक सम्यक्त्व।[३]

(४) निसर्गज सम्यक्त्व और अधिगमज सम्यक्त्व।[४]

विशुद्ध रूप में परिणत किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गल द्रव्य सम्यक्त्व कहलाते हैं और उन पुद्गलों के निमित्त से होने वाली तत्त्वश्रद्धा भाव सम्यक्त्व कहलाती है।

राग, द्वेष और मोह का अत्यन्त मन्द हो जाना, आत्मिक गुणों में रमण करना, पर-पदार्थों से आत्मीय भाव मिट जाना, देह में रहते हुए भी देहातीत स्थिति में रहना निश्चय सम्यक्त्व है। अरिहन्त भगवान ही मेरे देव हैं; पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति को पालन करने वाले श्रमण ही मेरे गुरु हैं; जिनेश्वरदेव प्ररूपित धर्म ही वास्तविक धर्म है–ऐसी दृढ़ श्रद्धा व्यवहार सम्यक्त्व है।

---

१. प्रवचनसारोद्धार द्वार १४९, गा. ९४२ टीका
२. (क) वही, १४९, गा. ९४२ टीका (ख) कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, गा. १५
३. प्रवचनसारोद्धार
४. (क) स्थानांग २-१-७० (ख) प्रज्ञापना, प्रथम पाद, सूत्र ३७
(ग) तत्त्वार्थसूत्र १-३

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को पौद्गलिक सम्यक्त्व भी कह सकते हैं। क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व को अपौद्गलिक सम्यक्त्व कह सकते हैं। क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था में कर्म-पुद्गलों का प्रदेशानुभव होता है, पर क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व में न प्रदेशानुभव होता है न विपाकानुभव ही।

निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व के सम्बन्ध में पूर्व प्रकाश डाला जा चुका है।

अपेक्षा-भेद से सम्यक्त्व के तीन भेद और भी होते हैं–कारक सम्यक्त्व, रोचक सम्यक्त्व और दीपक सम्यक्त्व।

कारक सम्यक्त्व–इस सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर जीव सम्यक्चारित्र के प्रति विशेष रुचिवान बनता है। स्वयं भी चारित्र का पालन करता है और दूसरों से भी चारित्र का पालन करवाता है। उसमें ज्ञान और क्रिया का सुमेल होता है।

रोचक सम्यक्त्व–जिस सम्यक्त्व के प्राप्त होने के पश्चात् प्राणी संयम पालन में रुचि तो रखता है, पर चारित्रमोह के उदय से रुचि के अनुरूप चारित्र का पालन नहीं कर सकता, जैसे–एक रुग्ण व्यक्ति अपनी बीमारी को जानता है, उस बीमारी की औषध भी जानता है, वह अपनी बीमारी से मुक्त होना भी चाहता है तथापि वह औषध ग्रहण नहीं कर पाता वैसे ही रोचक सम्यक्त्व वाला संसार के वास्तविक स्वरूप को जानता है, उससे मुक्त होना चाहता है, उसे मोक्ष-मार्ग का परिज्ञान भी है तथापि सम्यक्चारित्र का पालन नहीं कर पाता। उस साधक की स्थिति वैसी है जैसी महाभारत में दुर्योधन की थी जो धर्म को जानता था पर उसका आचरण नहीं कर पाता था और अधर्म को जानकर भी छोड़ नहीं पाता था।

दीपक सम्यक्त्व–जिस जीव की रुचि सम्यक् नहीं होती, पर वह अपने उपदेश से दूसरों में रुचि उत्पन्न करता है। उसकी परिणति दीपक की तरह होती है। यह सम्यक्त्व दूसरों के सम्यग्दर्शन का कारण होने से सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यग्दर्शन केवल उपचार मात्र है। अनेक जीव ऐसे होते हैं जो दूसरों को तो तार देते हैं पर स्वयं नहीं तिरते।

सम्यक्त्व की दस रुचि

उत्तराध्ययनसूत्र (२८/१६) में सम्यक्त्व की दस रुचियों का वर्णन है। वह इस प्रकार है–

(१) निसर्ग रुचि–परोपदेश के बिना ही सम्यक्त्व-आवरण करने वाले कर्मों की विशिष्ट निर्जरा होने से समुत्पन्न होने वाली तत्त्वार्थ श्रद्धा।

(२) उपदेश रुचि–अरिहन्त के अद्‌भुत अतिशय को देखकर और उनके अनुगामी श्रमणों के पावन उपदेश को श्रवण कर उत्पन्न होने वाली तत्त्व रुचि।

(३) आज्ञा रुचि–अरिहन्त भगवान की आज्ञा की आराधना करने से उत्पन्न होने वाली तत्त्व रुचि।

(४) सूत्र रुचि–द्वादशांग रूप श्रुत का अभ्यास करते-करते उत्पन्न होने वाली रुचि या ज्ञान-रस-सरोवर में आत्मा को निमग्न करने की रुचि।

(५) बीज रुचि–बीज से विशाल वट-वृक्ष उत्पन्न होता है और तैल बिन्दु जल में पड़ने पर फैल जाता है वैसे ही एक शास्त्रीय पद का अनेक पदों के रूप में परिणत हो जाना।

(६) अभिगम रुचि–अंगोपांगों के अर्थरूप ज्ञान की विशेष शुद्धि होने से और अन्यों को ज्ञानाभ्यास कराने से होने वाली रुचि।

(७) विस्तार रुचि–षट्‌द्रव्य, नौ तत्त्व, द्रव्य-गुण-पर्याय, प्रमाण, नय, निक्षेप आदि का विस्तारपूर्वक अभ्यास करने से उत्पन्न होने वाली रुचि।

(८) क्रिया रुचि–विशेष रूप से क्रिया करने से उत्पन्न होने वाली रुचि।

(९) संक्षेप रुचि–स्वल्प ज्ञान से उत्पन्न होने वाली रुचि।

(१०) धर्म रुचि–वीतरागप्ररूपित धर्म श्रवण करने से होने वाली रुचि।

सम्यग्दर्शन रूप विराट् वृक्ष की अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं। किन्तु यहाँ पर संक्षेप में ही उल्लेख किया गया है।

सम्यक्त्व के आभूषण

जैसे मणि-मुक्ताओं से स्वर्णमण्डित आभूषणों की शोभा होती है और उन आभूषणों को धारण करने पर सामान्य व्यक्ति का व्यक्तित्व निखर उठता है उसी तरह सम्यक्त्व के भी कुछ ऐसे विशिष्ट आभूषण हैं जिनको धारण करने से सम्यक्त्व में नया निखार आ जाता है। आचार्यों ने वे आभूषण[1] निम्न प्रकार बताये हैं–

(१) स्थिरता–स्वयं जिनशासन में स्थिर होना और दूसरों को स्थिर करने का प्रयास करना।

---

१. स्थैर्यं प्रभावना भक्ति कौशलं जिनशासने।
तीर्थसेवा च पंचस्य भूषणादि प्रचक्षते॥ –*धर्मसंग्रह, अधिकार २, श्लोक २२ टीका।*

(२) प्रभावना–जिनशासन के सम्बन्ध में फैले हुए अज्ञान का निवारण करना और सम्यग्दर्शन के लौकिक और लोकोत्तर माहात्म्य का प्रकाशित करना।

(३) भक्ति–गुरुजनों की भक्ति करना, विनय वैयावृत्य करना, अपने से जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र में श्रेष्ठ हैं, उनका सम्मान करना।

(४) कौशल–सर्वज्ञ के सिद्धान्त को समझने में कुशल होना, उसके बाह्य शाब्दिक रूप में न उलझकर धर्म के मर्म को समझना, जो भी धार्मिक विधि-विधान हैं उनके हार्द को समझना और उनके रहस्य को व्यक्त करना।

(५) तीर्थ-सेवा–श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका, इन चतुर्विध तीर्थ की यथानुरूप सेवा करना।

इन ५ आभूषणों से सम्यक्त्व में अपूर्व चमक-दमक आ जाती है।

सम्यग्दर्शन की भावनाएँ

सम्यग्दर्शन को परिपुष्ट बनाने के लिए, आन्तरिक क्षमता का विकास करने के लिए आचार्यों ने भावना के महत्त्व का भी उल्लेख किया है। भावना में एक ही विचार पर पुनः-पुनः चिन्तन होता है। उससे विचारों में सशक्तता आती है और उसके अनुसार व्यवहार करने की भी प्रेरणा उद्‌बुद्ध होती है। अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों की पाँच-पाँच भावनाएँ बताई गई हैं; किन्तु सम्यग्दर्शन की छह भावनाएँ हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) धर्म एक विराट् वृक्ष है तो सम्यक्त्व उसका मूल है। मूल के अभाव में वृक्ष चिरस्थायी नहीं रह सकता, आँधी और तूफान में वह धराशायी हो जाता है; वैसे ही सम्यग्दर्शन के अभाव में धर्म की स्थिति है। यदि सम्यग्दर्शनरूपी मूल सुस्थिर है तो कितनी भी विघ्न-बाधाएँ आयें, उसे डिगा नहीं सकतीं। उस मूल के सुरक्षित होने से सुरभित सुमन खिल सकते हैं, सद्‌भावनारूपी फल विकसित हो सकते हैं और मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है–इस प्रकार का चिन्तन।

(२) सम्यक्त्व धर्मरूपी विराट् नगर का विशाल प्राकार है। प्राकार से नगर सुरक्षित रहता है। शत्रु उस पर हमला नहीं कर सकते। यदि सम्यक्त्वरूपी प्राकार सुरक्षित है तो किसी भी दुर्गुणरूपी शत्रु की शक्ति नहीं कि उसमें प्रविष्ट हो सके। प्राकारयुक्त नगर में प्रवेश करने के लिए द्वार होता है तो सम्यक्त्व धर्मरूपी नगर का द्वार भी है। उसी से धर्म में प्रवेश भी किया जाता है।

(३) सम्यक्त्व धर्मरूपी प्रासाद की नींव है। नींव जितनी मजबूत होगी उतना ही प्रासाद स्थिर होगा। वैसे ही सम्यग्दर्शन जितना सुदृढ़ होगा उतना ही साधक धर्म में स्थिर होगा–इस प्रकार चिन्तन करना।

(४) सम्यक्त्व धर्मरूपी रत्न की मंजूषा है। मूल्यवान रत्न की रक्षा के लिए मंजूषा होती है वैसे ही धर्म-रत्न की सुरक्षा के लिए सम्यक्त्व मंजूषा की आवश्यकता है। लौकिक रत्न जड़ है। इससे आत्म-हित नहीं हो सकता, पर धर्म ऐसा अमूल्य रत्न है जिससे इहलोक-परलोक दोनों का लाभ होता है, अतः धर्म की रक्षा के लिए सम्यक्त्व की रक्षा आवश्यक है।

(५) सम्यक्त्व धर्मरूपी श्रेष्ठ भोजन का पात्र है। पात्र के अभाव में भोजन नहीं रह सकता, वैसे ही सम्यक्त्व के अभाव में धर्म नहीं रह सकता।

(६) सम्यक्त्व धर्मरूपी किराने का कोठा है। कोठा छिद्ररहित होता है। उसमें आँधी से धूल प्रविष्ट नहीं होती, पानी का भी भय नहीं रहता और न अन्य जीव-जन्तुओं का प्रवेश होता है। वैसे ही धर्म-किराने को निश्छिद्र, निरतिचार सम्यक्त्व की विद्यमानता में विकृत या नष्ट होने का भय नहीं रहता।

अधिकार-पत्र

सम्यक्त्व मोक्ष-प्राप्ति का अधिकार-पत्र है। उसकी प्राप्ति के लिए और प्राप्त हुए पत्र की सुरक्षा के लिए चिन्तन आवश्यक है–इस प्रकार के चिन्तन से सम्यक्त्व के प्रति एक आदर भाव जाग्रत होता है और वह उसे निर्दोष बनाने का उपक्रम करता है।

सम्यक्त्व का आधार

सम्यक्त्व का आधार आत्मा है। जिसे आत्मतत्त्व पर निष्ठा नहीं है वह सम्यक्त्व से कोसों दूर रहता है। इसी दृष्टि से सम्यग्दर्शन के छह स्थान बताये हैं–

(१) आत्मा है।

(२) आत्मा द्रव्यतः नित्य है।

(३) आत्मा स्वयं के कर्मों का कर्ता है।

(४) आत्मा अपने किये हुए कर्मों का भोक्ता है।

(५) आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

(६) मुक्ति का उपाय है।

ये छह स्थान साधना और आराधना के केन्द्र-बिन्दु हैं। सम्यग्दृष्टि साधक गहराई से प्रज्ञा द्वारा विश्लेषण करता है और आत्मा का निश्चय करता है।

सम्यग्दर्शन के अतिचार

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं–शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, पर-पाषण्ड प्रशंसा और पर-पाषण्ड संस्तव। ये पाँच अतिचार सम्यक्त्व में मलिनता उत्पन्न करते हैं। यदि प्रारम्भ में ही इन पर रोक न लगायी जाय तो ये दोष धीरे-धीरे बढ़कर सम्यक्त्व को ही निगल सकते हैं। अतएव सम्यग्दृष्टि को सतत सावधानी रखनी चाहिए कि इन दोषों का प्रादुर्भाव भी न हो सके।

शंका–यह जीवन की महान् दुर्बलता है जिसके रहते सम्यक्त्व स्थिर नहीं रहता। जो व्यक्ति लड़खड़ाते कदम से चलता है, वह कभी भी मंजिल पर नहीं पहुँच सकता। शंका से संकल्प में दृढ़ता नहीं आती और बिना दृढ़ता के लक्ष्य पर पहुँचने के लिए आन्तरिक बल प्राप्त नहीं होता और बिना आन्तरिक बल के साध्य की सिद्धि नहीं होती। अतः आवश्यक है कि अपने साध्य और साधनों पर पूर्ण निष्ठा रखी जाय। उसमें किसी प्रकार की शंका न की जाय। शंका विवेकशक्ति व विश्वास को नष्ट करती है, एतदर्थ ही 'संशयात्मा विनस्यति' कहा गया है। हमें यह स्मरण रखना होगा एक शंका वह है जिसके पीछे आस्था का आलोक है। गणधर गौतम ने अनेकों शंकाएँ उपस्थित कीं। केवल एक भगवती सूत्र में ही उनके छत्तीस हजार प्रश्न हैं। आगम साहित्य में 'अपृष्ठ वागरणा' की अपेक्षा 'पृष्ठ वागरणा' (व्याकरण) अधिक है। गौतम के मन में किसी भी तत्त्व के सम्बन्ध में सन्देह होता तो प्रश्न और प्रतिप्रश्न करते थे। एतदर्थ ही आगमों में गौतम के लिए 'जायसंसए', 'संजायसंसए', 'उप्पण्णसंसए' विशेषण हैं। यहाँ शंकायसंस सम्यग्दर्शन का अतिचार नहीं है, क्योंकि वह श्रद्धामूलक है। वह जिज्ञासा अविश्वास पर नहीं, श्रद्धा पर स्थिर है। जो जिज्ञासा अश्रद्धा पर आधारित हो, वह अतिचार है।

भगवान महावीर ने जहाँ श्रद्धा को महत्ता दी है, वहाँ साथ ही तर्क को भी महत्ता दी है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा–"पन्ना समिक्खए धम्मं"–प्रज्ञा से, तर्क और बुद्धि से धर्म की परीक्षा करनी चाहिए। विवेक-विकल श्रद्धा अंध-श्रद्धा है। उसमें हेय-उपादेय, ग्राह्य-अग्राह्य का परिज्ञान नहीं होता। तर्क और श्रद्धा का जब समन्वय होता है तो वह तर्क सम्यक्त्व का दूषण न होकर भूषण बन जाता है। जब गणधर गौतम की शंका का समाधान हो जाता तो वे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं–"मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर विश्वास करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ। यह निर्ग्रन्थ प्रवचन तथ्य है, अवितथ्य है। मुझे इष्ट है, अभीष्ट है, इष्टाभीष्ट है। जैसे आप कहते हैं, वैसा ही है।" इस प्रकार श्रद्धा पर अवलंबित शंका सम्यग्दर्शन की बाधक नहीं अपितु साधक है, वृद्धि करने वाली है।

कांक्षा–कांक्षा का सामान्य अर्थ है–इच्छा या अभिलाषा। यहाँ पर कांक्षा का अर्थ है–पाखंडियों के आडम्बर या दम्भ से अकृष्ट होकर आत्म-शोधन करने वाले सही पथ से विचलित होना, बाह्याडंबर को देखकर उन विभूतियों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना। भगवान ने किसी भी आकांक्षा से की गई साधना को दूषित माना है। कामना, अभिलाषा, मूर्च्छा, लोभ, आसक्ति, लोकेषणा, भोगेषणा, वित्तेषणा–ये सभी कांक्षा के रूप हैं। अतः सम्यग्दृष्टि वीतरागोपदिष्ट मार्ग के अतिरिक्त किसी की भी कामना नहीं करता।

विचिकित्सा–विचिकित्सा का अर्थ है–फल-प्राप्ति में सन्देह करना। 'मैं जो साधना कर रहा हूँ, उसका फल मिलेगा या नहीं'–इस प्रकार डगमगाती चित्तवृत्ति ही विचिकित्सा है। उसमें निर्णायक बुद्धि नहीं होती। जिसकी बुद्धि अस्थिर है, यही विचिकित्सा है।

पर-पाषण्ड प्रशंसा–मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना। मिथ्यात्वियों की प्रशंसा करने से मिथ्यात्व की प्रशंसा होती है। अतः साधक मिथ्यात्वियों की प्रशंसा नहीं करता।

पर-पाषण्ड संस्तव–मिथ्यात्वियों की संगति करना। सभी साधक तत्त्वनिष्णात नहीं होते। प्रतिकूल संगति से उनमें मिथ्यात्व की उत्पत्ति होना सम्भव है। वे संसर्ग से पथभ्रष्ट भी हो सकते हैं। "संसर्गजा दोषगुणा भवंति" अच्छी संगति से सद्गुण पैदा होते हैं तो कुसंगति से दुर्गुण। शेखसादी ने गुलिस्ताँ में कहा है–"फरिश्ता शैतान के साथ रहने लगे तो वह कुछ दिनों में शैतान बन जाएगा।" अतः साधक को सतत सावधानी रखने की आवश्यकता है। जो साधक विशिष्ट हैं, वे अपने दिव्य प्रभाव से बुरे व्यक्तियों को भी अच्छे व्यक्ति बना सकते हैं। उनके लिए यह अतिचार नहीं है। पर जो प्राथमिक स्थिति में हैं, उन साधकों को इन पाँचों अतिचारों से बचना चाहिए। ये पाँच अतिचार ज्ञातव्य हैं, पर आचरण करने योग्य नहीं हैं। जब तक साधक इन्हें न जानेगा और उनके दुष्परिणाम से परिचित न होगा तब तक वह उन्हें त्याग भी नहीं सकता। इसीलिए अतिचारों को जानना चाहिए पर आचरण नहीं करना चाहिए।

साधना का प्राण-तत्त्व

इस प्रकार हम देखते हैं, सम्यग्दर्शन जैन साधना का प्राण-तत्त्व है। कितने ही चिन्तकों ने 'दर्शन' शब्द को ज्ञान से पृथक् करते हुए दर्शन का अर्थ 'अन्तर्बोध' किया है। नैतिक जीवन की दृष्टि से 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'दृष्टिकोण' भी है। 'दर्शन' शब्द के स्थान पर 'दृष्टि' शब्द का व्यवहार दृष्टिकोण वाले अर्थ को पुष्ट

करता है। 'दर्शन' का अर्थ 'तत्त्वश्रद्धा' भी है। साथ ही 'देव-गुरु-धर्म के प्रति निष्ठा व भक्ति' के अर्थ में भी दर्शन शब्द व्यवहृत हुआ है। तो सम्यग्दर्शन तत्त्व-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा, भक्ति प्रभृति विभिन्न अर्थ अपने आप में समेटे हुए है। बौद्ध दर्शन की भाषा में सम्यग्दर्शन को समाधि कह सकते हैं और श्रद्धा भी। उपनिषदों में वह श्रवण है और गीता की भाषा में श्रद्धा और प्रणिपात है। पाश्चात्य चिन्तकों ने सम्यग्दर्शन को 'एक्सेप्ट दाइसेल्फ' (आत्म-स्वीकृति) कहा है।

सत्य का साक्षात्कार

जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो अनन्तकाल से रहा हुआ अज्ञान उसी क्षण ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। उस अज्ञान में से आग्रह बुद्धि निकल जाती है जिससे उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है और परम सत्य का उसे साक्षात्कार हो जाता है। जो अज्ञान वैचारिक आग्रह से आध्यात्मिक विकास को कुंठित करता था और सामाजिक जीवन में विग्रह और वैमनस्य के बीज वपन करता था, पर सम्यग्दर्शन होते ही उसका ज्ञान अनाग्रही हो जाता है। अज्ञानी स्वयं के मत की प्रशंसा करता है और दूसरे के मत की निंदा करने में अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करता है।[1] किन्तु सम्यग्ज्ञानी वीतराग-मार्ग को उपलब्ध करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग कर अनाग्रही होता है। जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्ज्ञान में आत्मा और अनात्मा का विवेक है। जब ज्ञान आचरण के रूप में आता है तभी वह फलवान् होता है। ज्ञान का फल विरति है।[2] उससे मन, वचन और आचरण में शुद्धि होती है। उसे व्यवहारचारित्र कहा है। निश्चयदृष्टि से सम्यक्त्व के कारण जीवन में समत्व उपलब्ध होता है। वह आत्म-भाव में रमण करता है। जब राग-द्वेष, विषय व कषाय की अग्नि पूरी शान्त हो जाती है तब साधक के जीवन में स्वतः ही सही आचरण आता है और वही चारित्र है।

दर्शन और ज्ञान

ज्ञान पहले है या दर्शन पहले है? इस प्रश्न पर जैन दार्शनिक अतीतकाल से ही चिन्तन करते रहे हैं। कितने ही आचार्यों ने दर्शन को प्राथमिकता दी तो कितने ही आचार्यों ने ज्ञान को तो कितने ही आचार्यों ने दर्शन और ज्ञान को युगपत् माना। आचार-मीमांसा की दृष्टि से सर्वप्रथम दर्शन है क्योंकि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता। यहाँ पर ज्ञान की अपेक्षा दर्शन को प्राथमिकता दी है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में पहले सूत्र में ज्ञान और चारित्र के पहले दर्शन को

---

१. सूत्रकृतांग १/१/२/२३ २. णाणस्स फलं विरइ।

स्थान दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी 'दर्शनपाहुड' (गाथा २) में दर्शन को ही प्रधानता दी है।

आगम साहित्य में ऐसे अनेक संदर्भ हैं जिसमें ज्ञान को प्राथमिकता दी गई है। उत्तराध्ययन में 'मोक्ष-मार्ग' का विवेचन करते हुए ज्ञान को प्रथम स्थान दिया है। हमें इस सम्बन्ध में परस्पर दार्शनिक विवाद में न उलझकर यह समझना है कि दर्शन का अर्थ है यथार्थ दृष्टिकोण और श्रद्धा। बिना यथार्थ दृष्टिकोण के न ज्ञान सम्यक् हो सकता है, न चारित्र। यथार्थ दृष्टिकोण के अभाव में न वह सत्य को जान सकता है, न सत्य का आचरण ही कर सकता है। वह तो दिग्भ्रान्त व्यक्ति की तरह होता है। यदि हम दर्शन का अर्थ केवल श्रद्धा लेते हैं तो उसे ज्ञान के बाद में भी स्थान दे सकते हैं। क्योंकि बिना ज्ञान के श्रद्धा अन्ध-श्रद्धा होगी। उत्तराध्ययन में भी श्रद्धापरक अर्थ में ज्ञान के बाद ही दर्शन को स्थान दिया है। पहले ज्ञान से पदार्थ के स्वरूप को जानो, फिर दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करो।

जिनेश्वरदेव के वचनों पर भी सही श्रद्धा तभी होगी जब साधक तार्किक बुद्धि से उसे समझेगा। आचरण की विशुद्धि के लिए श्रद्धा एक अनिवार्य तत्त्व है और वह श्रद्धा ज्ञान से समुत्पन्न होनी चाहिए। इस दृष्टि से दर्शन से पहले ज्ञान को ले सकते हैं।

प्रज्ञा और श्रद्धा

जैन दर्शन की भाँति बौद्ध दर्शन में भी श्रद्धा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। सुत्तनिपात में आलवक यक्ष के प्रति बुद्ध कहते हैं–मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धन श्रद्धा है।[1]

यदि हम बुद्ध की श्रद्धा को आस्था के अर्थ में लेते हैं तो बुद्ध के चिन्तन के अनुसार प्रज्ञा प्रथम है और श्रद्धा का स्थान दूसरा है। क्योंकि संयुक्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं–श्रद्धा पुरुष का साथी है और प्रज्ञा उस पर नियंत्रण करती है।[2] इस तरह बुद्ध ने भी श्रद्धा पर विवेक को स्वीकृत किया है और संयुक्तनिकाय में श्रद्धा से ज्ञान को बड़ा माना है।[3]

सारांश यह है कि तथागत बुद्ध ज्ञानविहीन श्रद्धा को उचित नहीं मानते, वह अंध-श्रद्धा मानव को स्वविवेकरूपी चक्षु प्रदान नहीं कर सकती और श्रद्धाविहीन ज्ञान तर्क की कँटीली झाड़ी में उलझ जाता है। इसलिए विसुद्धिमग्गो में स्पष्ट कहा है–जिसकी श्रद्धा बलवती है पर प्रज्ञा मंद है वह हर किसी बात पर विश्वास कर

---

१. सुत्तनिपात १०/२ २. संयुक्तनिकाय १/१/५९ ३. वही ४/४१/८

लेता है, किन्तु जिसकी प्रज्ञा बलवती है और श्रद्धा मन्द है वह कुतार्किक बन जाता है। विसुद्धिमग्गो के अनुसार जैसे औषध से समुत्पन्न रोग की चिकित्सा कठिनतर होती है वैसे ही मन्द-श्रद्धा के अभाव में बलवती प्रज्ञा से व्यक्ति धूर्त बन जाता है। अतः प्रज्ञा और श्रद्धा दोनों में समन्वय अपेक्षित है।

श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान को भी अत्यधिक महत्त्व दिया है 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहविद्यते' कहकर ज्ञान को सबसे पवित्र माना है पर वहाँ साथ ही यह भी बता दिया है कि वह ज्ञान उसी को प्राप्त होता है जो श्रद्धावान है– "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।"

इस प्रकार श्रद्धा और ज्ञान दोनों को ही गीताकार ने महत्त्व दिया है। गीताकार की दृष्टि से श्रद्धा इतनी महान् है कि वह उपासक के हृदय में ज्ञान की दिव्य ज्योति प्रकट करती है।

श्रद्धा और क्रिया

जिस प्रकार ज्ञान और दर्शन के पूर्वापर को लेकर चिन्तकों में मतभेद रहा वैसा मतभेद ज्ञान और चारित्र को अथवा दर्शन और चारित्र को लेकर नहीं है। यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता। जो साधक दर्शन से भ्रष्ट है वह वास्तविक भ्रष्ट है। किन्तु जो चारित्र से भ्रष्ट है पर दर्शन से युक्त है तो उसका उत्थान हो सकता है। दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति कभी मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि दर्शन ही ज्ञान और चारित्र को सही मार्गदर्शन देता है। जो सम्यक्दृष्टि है उसी का तप वास्तविक तप है, उसी का ज्ञान सही ज्ञान है और उसी का आचरण सम्यक्आचरण है। आनन्दघन जी[1] ने भी दर्शन की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा–बिना दर्शन की जो क्रियाएँ हैं वह राख (भस्म) पर लेपन के सदृश हैं।

ज्ञान और चारित्र

चारित्र का स्थान ज्ञान के पश्चात् है। जो जीव-अजीव को नहीं जानता वह धर्म की साधना सम्यक् प्रकार से नहीं कर सकता, उसका आचरण विशुद्ध नहीं हो सकता। "नाणेण विणा न हुंति चरण गुणा"–बिना सम्यग्ज्ञान के सम्यक्चारित्र नहीं होता। आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार (टीका १५३) में ज्ञान की अत्यधिक महत्ता प्रतिपादित की और ज्ञान को मोक्ष का हेतु माना है। उन्होंने लिखा है–ज्ञान के अभाव में अज्ञानियों में अन्तरंग व्रत, नियम, सदाचरण, तप आदि होते हुए भी

---

१. शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी, छार पर लीपणुं तेह जाणोरे।

मोक्ष नहीं; क्योंकि अज्ञान ही बन्ध का हेतु है। पर जैन आगम साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट है कि ज्ञान के साथ आचरण को भी उतना ही महत्त्व दिया है जितना दर्शन को। यह स्पष्ट कहा गया है, केवल शास्त्रों का ज्ञान शरणभूत नहीं होता, जो दुराचरण में अनुरक्त है और अपने आपको पण्डित मानता है, वह वस्तुतः मूर्ख है। आचरणविहीन अनेक शास्त्रों का मर्मज्ञ विज्ञ भी संसार समुद्र से पार नहीं हो सकता। जैसे एक चक्र से रथ नहीं चल सकता, एक पंख से पक्षी अनन्त आकाश में उड़ नहीं सकता; वैसे ही केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं मिल सकती। मुक्ति के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता है।

सम्यग्दर्शन की पूर्णता चतुर्थ गुणस्थान में हो सकती है किन्तु सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में और सम्यक्चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में पूर्णता आती है तो उसी क्षण मुक्ति हो जाती है।

●●

११. आत्मिक विकास की सीढ़ियाँ : गुणस्थान

चारित्रिक विकास की पृष्ठभूमि के रूप में सम्यग्दर्शन का वर्णन पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। सम्यग्दर्शन से आत्मा के गुणों का विकास होता है और आत्म-गुणों का प्रतिविम्ब प्राणी के चरित्र पर अवश्य पड़ता है। प्रत्येक प्राणी में चारित्रिक विकास की समान स्थिति नहीं रहती, जिस आत्मा में मोह की, विकार व कषायों की प्रबलता रहती है, उसके आत्म-गुण आच्छादित रहते हैं, और तदनुसार उसका चारित्रिक विकास बहुत अल्प, अल्पतर रहता है। जैसे-जैसे मोह की सघनता कम होती है, वैसे-वैसे सम्यग्दर्शन का विकास होता है और चारित्रिक गुणों का प्रकाश चमकने लगता है।

जैन सिद्धान्त में आत्मा के चारित्रिक गुणों के विकास की तरतमता को बताने के लिए 'गुणस्थान' शब्द व्यवहृत हुआ है। यह एक प्रकार का थर्मामीटर है, जिससे आत्मा के विकास की स्थिति व मोह की तरतमता का दिग्दर्शन होता है। यहाँ चारित्रिक विकास को समझने के लिए 'गुणस्थान' का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

जीवस्थान : गुणस्थान

प्राचीन श्वेताम्बर आगम साहित्य में कहीं भी गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। समवायांग (१४) में गुणस्थान के स्थान पर जीवस्थान शब्द आता है। सर्वप्रथम गुणस्थान शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार'[1] तथा 'प्राकृत पंचसंग्रह' (१/३-५) व 'कर्मग्रन्थ' (४/१) में मिलता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार[2] में जीवों को गुण कहा है। उनके अभिमतानुसार चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि की भावाभावजनित अवस्थाओं से निष्पन्न होते हैं। परिणाम और परिणामी का अभेदोपचार करने से जीवस्थान को गुणस्थान कहा है। गोम्मटसार में गुणस्थान को जीव-समास भी कहा है।[3] षट्खण्डागम की

१. गुणट्ठाणा य जीवस्स। —समयसार, गाथा ५५

२. जेहिं तु लक्खिज्जंते उदयादिसु सम्भवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं॥ —गोम्मटसार, गाथा ७

३. चउद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा यं णादव्वा। —वही, गाथा १०

धवलावृत्ति के अनुसार जीव गुणों में रहते हैं, एतदर्थ उन्हें जीव-समास कहा है। कर्म के उदय से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे औदयिक हैं। कर्म के उपशम से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे औपशमिक हैं। कर्म के क्षयोपशम से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे क्षायोपशमिक हैं। कर्म के क्षय से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे क्षायिक हैं। कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के विना जो गुण स्वभावतः पाया जाता है, वह पारिणामिक है। इन गुणों के कारण जीव को भी गुण कहा जाता है।[1] जीवस्थान को पश्चात्वर्ती साहित्य में इसी दृष्टि से गुणस्थान कहा गया है।

नेमिचन्द्र ने संक्षेप और ओघ ये दो गुणस्थान के पर्यायवाची माने हैं।[2]

कर्मग्रन्थ (४/२) में जिन्हें चौदह जीवस्थान बताया है[3] उन्हें ही समवायांगसूत्र (१४) में चौदह भूत-ग्राम की संज्ञा प्रदान की गयी है। जिन्हें कर्मग्रन्थ में गुणस्थान कहा गया है उन्हें समवायांग में जीवस्थान कहा है। इस प्रकार कर्मग्रन्थ और समवायांग में सिर्फ संज्ञाभेद है।

गुणस्थान का आधार

समवायांग में जीवस्थानों की रचना का आधार कर्मविशुद्धि बताया गया है।[4] टीकाकार आचार्य अभयदेव ने भी गुणस्थानों को ज्ञानवरण प्रभृति कर्मों की विशुद्धि से निष्पन्न बताया है।[5] दिगंबराचार्य नेमिचन्द्र का अभिमत है कि प्रथम चार गुणस्थान दर्शनमोह के उदय आदि से होते हैं और आगे के आठ गुणस्थान चारित्रमोह के क्षयोपशम आदि से निष्पन्न होते हैं।[6]

---

१. जीवसमास इति किम्? जीवाः सम्यगासतेऽस्थिन्निति जीव समासः।
क्वा सते? गुणेषु। के गुणाः? औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिका इति गुणाः। अस्य गमनिका, कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः तेषामुपशमादौपशमिकः क्षयात्क्षायिकः तत्क्षयादुपशमाच्योत्पन्नो गुणः क्षायोपशमिकः। कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नः पारिणामिकः। गुणसहचरितत्त्वादात्मापि गुण संज्ञा प्रतिलभते।
—*षट्खण्डागम, धवलावृत्ति, प्रथम खण्ड, २-१६-६१*

२. संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोह जोगभवा— —*गोम्मटसार, गाथा ३*

३. इह सुहुमबायरेगिंदिबितिचउ असन्निसन्नि पंचिंदी।
अपज्जत्ता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा॥ —*कर्मग्रन्थ ४/२*

४. कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवठाणा पन्नता। —*समवायांग १४/१*

५. कर्मविशोधिमार्गणां प्रतीत्य—ज्ञानावरणादिकर्मविशुद्धि गवेषणामाश्रित्य।
—*समवायांगवृत्ति, पत्र २६*

६. एदे भावा णियमा, दंसणमोहं पडुइच्च भणिदा हु।
चारित्तं णत्थि जदो अविरद अन्तेसु ठाणेसु॥
देसविरदे पमत्ते, इदरे य खओ वसमियमानो दु।
सो खलु चरित्तमोहं पडुच्च भणियं तहा उवरिं॥ —*गोम्मटसार, गाथा १२-१३*

जैन दर्शन का मन्तव्य है कि आत्मा का सही स्वरूप शुद्ध ज्ञानमय और परिपूर्ण सुखमय है। आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य युक्त है। कर्मों ने उसके स्वरूप को विकृत या आवृत कर दिया है। जब कर्मावरण की घनघोर घटाएँ गहरी छा जाती हैं तब आत्म-ज्योति मन्द और मन्दतम हो जाती है, पर ज्यों-ज्यों कर्मों का आवरण छँटता है अथवा उसका बन्धन शिथिल होता है त्यों-त्यों आत्मा की शक्ति प्रकट होने लगती है। प्रथम गुणस्थान में आत्म-शक्ति का प्रकाश अत्यन्त मन्द होता है। अगले गुणस्थानों में वह प्रकाश अभिवृद्धि को प्राप्त होता है और अन्त में चौदहवें गुणस्थान में आत्मा विशुद्ध अवस्था में पहुँच जाती है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय–ये आत्म-शक्ति को आच्छादित करने वाले आवरण हैं। इन चार प्रकार के आवरणों में मोहनीय रूप आवरण मुख्य है। मोह की तीव्रता और मन्दता पर अन्य आवरणों की तीव्रता और मन्दता अवलम्बित है। एतदर्थ ही गुणस्थानों की व्यवस्थाओं में मोह की तीव्रता और मन्दता पर अधिक ध्यान दिया गया है।

मोहनीयकर्म के दो मुख्य भेद हैं–दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के उदय से आत्मा यथार्थश्रद्धान् नहीं कर पाता। उसका विचार, चिन्तन और दृष्टि उसके कारण सम्यक् नहीं हो पाती। चारित्रमोहनीय के कारण विवेकयुक्त आचरण में प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार मोहनीयकर्म के कारण न सम्यग्दर्शन होता है और न सम्यक्चारित्र ही। सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता।

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

दर्शनमोहनीय के आधार पर ही प्रथम गुणस्थान का नाम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान रखा गया है। यह आत्मा की अधस्तम अवस्था है। इसमें मोह की अत्यधिक प्रबलता होती है जिससे उस व्यक्ति की आध्यात्मिक शक्ति पूर्ण रूप से गिरी हुई होती है। विपरीत दृष्टि (श्रद्धा) के कारण वह राग द्वेष के वशीभूत होकर अनन्त आध्यात्मिक सुख से वंचित रहता है।

प्रथम गुणस्थान में दर्शनमोह और चारित्रमोह इन दोनों की प्रबलता होती है, जिससे वह आत्मा आध्यात्मिक दृष्टि से दरिद्र है। प्रस्तुत भूमिका वाला व्यक्ति आधिभौतिक उत्कर्ष चाहे कितना भी कर ले, किन्तु उसकी सारी प्रवृत्तियाँ संसाराभिमुखी होती हैं, मोक्षाभिमुखी नहीं। जैसे दिग्भ्रम वाला मानव पूर्व को पश्चिम मानकर चलता है, किन्तु चलने पर भी वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर

सकता। मदिरा पिये हुए व्यक्ति को हिताहित का ध्यान नहीं रहता वैसे ही मोह की मदिरा से उन्मत्त बने हुए मिथ्यात्वी को हिताहित का भान नहीं होता है।[1]

मिथ्यात्व के विविध भेद

मिथ्यात्व के अनेक भेद-प्रभेद बताये हैं। तत्त्वार्थभाष्य (८/१) में अभिगृहीत और अनभिगृहीत ये दो मिथ्यात्व के भेद बताये हैं। आवश्यकचूर्णि (६/१६५८) और प्राकृत पंचसंग्रह (१/७) में संशयित, आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक ये तीन मिथ्यात्व के भेद बताये हैं। गुणस्थान क्रमारोह की स्वोज्ञवृत्ति (गाथा ६) में एवं कर्मग्रन्थ (भाग ४, गाथा ५१) में आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक ये मिथ्यात्व के पाँच भेद बताये हैं। धर्मसंग्रह (पृष्ठ ४०) कर्मग्रन्थ (४ पृष्ठ १७६) व लोकप्रकाश (सर्ग ३, गाथा ६८९) में उनका परिचय दिया गया है। संक्षेप में सारांश इस प्रकार है–

आभिग्रहिक–बिना तत्त्व की परीक्षा किये किसी एक बात को स्वीकार कर दूसरों का खण्डन करना यह आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। जो साधक स्वयं परीक्षा करने में असमर्थ है, किन्तु परीक्षक की आज्ञा में रहकर तत्त्व को स्वीकार करते हैं जिस प्रकार 'मापतुष मुनि' उनको आभिग्रहिक मिथ्यात्व नहीं लगता।

अनाभिग्रहिक–बिना गुण-दोष की परीक्षा किये ही सभी मन्तव्यों को एक ही समान समझना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व उन जीवों में होता है जो परीक्षा करने में असमर्थ तथा मन्द बुद्धि हैं, जिससे वे किसी भी मार्ग में स्थिर नहीं रह सकते।

आभिनिवेशिक–अपने पक्ष को असत्य समझकर भी उस असत्य से चिपका रहना आभिनिवेशिक मिथायत्व है। इसी का अपर नाम एकान्त-मिथ्यात्व भी है।

संशय–देव, गुरु और धर्म के तत्त्व के स्वरूप में संशय रखना संशय-मिथ्यात्व है। आगमों के गुरु-गम्भीर रहस्यों को समझने में कभी-कभी गीतार्थ श्रमण भी यह विचारने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि यह समीचीन है या वह समचीन है? किन्तु अन्त में निर्णायक स्थिति न हो तो जिनेश्वरदेव ने जो कहा है वही पूर्ण सत्य है, यह विचार कर जिन-प्ररूपित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखते हैं। केवल संशय या शंका हो जाना संशय-मिथ्यात्व नहीं है। किन्तु जो तत्त्व-अतत्त्व आदि के सम्बन्ध में दोलायमान चित्त रखते हैं उन्हें संशय-मिथ्यात्वी कहा है।

---

१. मद्यमोहायथा जीवो न जानाति हिताहितम्।
धर्माधर्मो न जानाति तथा मिथ्यात्वमोहितम्॥ *–गुणस्थान क्रमारोह, गा. ८*

अनाभोगिक–विचार और विशेष ज्ञान का अभाव, अर्थात् मोह की प्रबलतम अवस्था, यह अनाभोगिक मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय आदि जीवों में होता है।

इन पाँच प्रकार के मिथ्यात्वों में एक अनाभोगिक मिथ्यात्व अव्यक्त है, शेष चारों मिथ्यात्व व्यक्त हैं।[1]

अपेक्षा की दृष्टि से मिथ्यात्व के दस भेद[2] भी बनते हैं। ये इस प्रकार हैं–

(१) अधर्म में धर्मसंज्ञा
(२) धर्म में अधर्मसंज्ञा
(३) अमार्ग में मार्गसंज्ञा
(४) मार्ग में अमार्गसंज्ञा
(५) अजीव में जीवसंज्ञा
(६) जीव में अजीवसंज्ञा
(७) असाध में साधसंज्ञा
(८) साध में असाधसंज्ञा
(९) अमुक्त में मुक्तसंज्ञा
(१०) मुक्त में अमुक्तसंज्ञा

यह दस प्रकार के मिथ्यात्व व्यक्त हैं। शब्दों के परिवर्तन के साथ बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय (१/१० तथा १/१७-१८) में भी मिथ्यात्व का निरूपण किया गया है। जो अधर्म को धर्म, अविनय को विनय, अभाषित को भाषित, अनाचीर्ण को आचीर्ण, आचीर्ण को अनाचीर्ण, अप्रज्ञत्व को प्रज्ञत्व, और प्रज्ञत्व को अप्रज्ञत्व कहते हैं, जो बहुत व्यक्तियों के लिए अहितकर्ता, असुखकर्ता और अनर्थ को उत्पन्न करने वाले होते हैं, वे पापों का उपार्जन कर सद्धर्म का लोप करते हैं। वे अकुशल धर्म का संचय करते हैं और कुशल धर्म का नाश करते हैं।

दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र ने एकान्त, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान ये पाँच मिथ्यात्व के भेद बताये हैं।[3] धवला में कहा है कि मिथ्यात्व के ये पाँच ही भेद हैं ऐसा नियम नहीं है, जो पाँच भेद कहे गये हैं वे केवल उपलक्षण मात्र हैं।[4]

---

१. इत्यत्रापि येदकमनाभोगिक मिथ्यात्वं तदव्यक्तं शेषमिथ्यात्वचतुष्टयं तु व्यक्तमेव।
–गुणस्थान क्रमारोह, स्वोपज्ञवृत्ति ६

२. दसविहे मिच्छत्ते पन्नते, तं जहा–अधम्मे धम्मसन्ना, धम्मे अधम्मसन्ना, उम्मग्गो मग्गसन्ना, मग्गे उम्मग्गसन्ना, अजीवेसु जीवसन्ना, जीवेसु अजीवसन्ना, असाहु सुसाहुसन्ना, साहुसु असाहुसन्ना, अमुक्तेसु मुत्तसन्ना, मुक्तेसु अमुक्तसन्ना। इत्येवमादिकपि यन्मिथ्यात्वं तद्व्यक्तमेव अपरं तु यदनादिकालं यावन्मोहनीयप्रकृतिरूपं मिथ्यात्वं सद्दर्शनरूपात्यगुणाच्छादकं जीवेन सह सदाऽविनाभावि भवति, तदव्यक्तं मिथ्यात्वमिति। *–वही, वृत्ति, पृष्ठ ४*

३. मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं।
–गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १५

४. न मिथ्यात्व पंचक नियमोऽस्ति किन्तूपलक्षणमात्रमेतदभिहितं पंचविधं मिथ्यात्वमिति।
–धवला टीका

आगम साहित्य में बिखरे हुए सभी मिथ्यात्व के भेदों को एकत्रित करने पर पच्चीस मिथ्यात्व होते हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) अभिगृहीत, (२) अनभिगृहीत, (३) आभिनिवेशिक, (४) संशयित, (५) अनाभोगिक, (६) लौकिक, (७) लोकोत्तर, (८) कुप्रावचनिक, (९) अविनय, (१०) अक्रिया, (११) अशातना, (१२) आउया (आत्मा को पुण्य-पाप नहीं लगता, (१३) जिनवाणी की न्यून प्ररूपणा, (१४) जिनवाणी की अधिक प्ररूपणा, (१५) जिनवाणी से विपरीत प्ररूपणा, (१६) धर्म को अधर्म, (१७) अधर्म को धर्म, (१८) साध को असाध, (१९) असाध को साध, (२०) जीव को अजीव, (२१) अजीव को जीव, (२२) मोक्षमार्ग को संसारमार्ग, (२३) संसारमार्ग को मोक्षमार्ग, (२४) मुक्त को अमुक्त, (२५) अमुक्त को मुक्त कहना। तथ्य यह है कि यों मिथ्यात्व के अनेक भेद हो सकते हैं जिनकी परिगणना करना भी सम्भव नहीं है।

जब तक अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय नहीं हो जाता तब तक कोई भी जीव प्रथम गुणस्थान छोड़ नहीं सकता। इन प्रकृतियों के उदयभाव में प्रथम गुणस्थान है, अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय का उदय जब तक जीव में बना रहता है तब तक वह मिथ्यात्वी बना रहता है।

प्रथम गुणस्थान के तीन रूप

काल की दृष्टि से प्रथम गुणस्थान के तीन रूप बनते हैं–(१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सान्त, और (३) सादि-सान्त।[1] प्रथम रूप के अधिकारी अभव्य जीव अथवा जाति-भव्य (भव्य होने पर भी जो जीव कभी मुक्त नहीं होते), जीव होते हैं। द्वितीय रूप उन जीवों की अपेक्षा से है, जो अनादिकालीन मिथ्य-दर्शन की गाँठ खोलकर सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं। तृतीय रूप उनकी अपेक्षा से है, जिन्होंने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, किन्तु फिर से मिथ्यात्वी हो गये हैं। प्रथम गुणस्थान की आदि तभी होती है जब कोई जीव सम्यक्त्व से गिरकर पुनः प्रथम गुणस्थान में आ जाय। जिस जीव को एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी है वह निश्चय ही मोक्षगामी है। जिस जीव के मिथ्यात्व की आदि हो गयी उसका अन्त अवश्यम्भावी है।

कर्मप्रकृतियाँ : चिन्तन

आठों कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ १४८ हैं। उनमें से एक समय में बँधने योग्य

---

१. अभव्याश्रित मिथ्यात्वे अनाद्यनन्ता स्थितिर्भवेत्।
सा भव्याश्रिता मिथ्यात्वे अनादि सान्ता पुनर्भता॥ –*गुणस्थान क्रमारोह* ९

१२० हैं। शेष २८ का बन्ध न होने का कारण यह है कि वर्णादि चतुष्क के उत्तरभेद जो बीस बताये गये हैं, उनमें से एक जीव एक समय में वर्णपंचक में से किसी एक वर्ण का, रसपंचक में से किसी एक रस का, गन्धद्वय में से किसी एक गन्ध का, और स्पर्शाष्टक में से किसी एक स्पर्श का ही बन्ध करता है, अवशेषों का बन्ध नहीं करता। इसलिए सोलह प्रकृतियाँ वर्णचतुष्क की नहीं बँधतीं और पाँच बन्धन तथा पाँच संघात का अन्तर्भाव पाँच शरीरों में कर लिया जाता है। अतः इन दस का भी बन्ध नहीं होता। दर्शनमोहनीय की अनादि मिथ्यात्वी में एक मिथ्यात्वी की ही सत्ता रहती है। उनके तीन भेद तो सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् होते हैं। अतः मिश्र और सम्यक्प्रकृति इन दोनों का भी बन्ध नहीं होता। इस प्रकार (१६ + ५ + ५ + २ = २८) ये अट्ठाईस प्रकृतियाँ बन्ध के योग्य न होने से इनको एक सौ अड़तालीस में से कम करने पर शेष पर एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी गयी हैं। यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि सादि मिथ्यादृष्टि के दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों की सत्ता हो जाती है और उनमें से मिश्रप्रकृति का उदय तीसरे और सम्यक्प्रकृति का उदय चौथे गुणस्थान में होता है, अतः इन दोनों प्रकृतियों को एक सौ बीस में मिला देने पर एक सौ बाईस प्रकृतियाँ उदय-योग्य कही गयी हैं। उनमें भी मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थंकर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों को छोड़कर शेष एक सौ सत्रह प्रकृतियों का बन्ध करता है। उक्त प्रकृतियों को छोड़ने का कारण यह है कि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्वी जीव ही करता है और आहारकद्विक् का बन्ध अप्रमत्त साधु करता है।

आहारक अंगोपांग नाम आदि प्रकृतियों का बन्ध भी प्रथम गुणस्थान में नहीं होता।[1]

उदय प्रायोग्य एक सौ बाईस कर्मप्रकृतियों में से पाँच प्रकृतियों के अतिरिक्त सभी प्रकृतियाँ प्रथम गुणस्थान में उदय आती हैं। अनुदयशील पाँच प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं–(१) मिश्रमोहनीय, (२) सम्यक्त्वमोहनीय, (३) आहारक शरीर, (४) आहारक अंगोपांग, और (५) तीर्थंकर नाम। इन पाँचों प्रकृतियों में से सम्यक्त्वमोहनीय का उदय क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की विद्यमानता में चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक रहता है। आहारकद्विक् का उदय छठे गुणस्थानवर्ती आहारकलब्धि वाले संयती में होता है, अन्य में नहीं। तीर्थंकर नाम का उदय तेरहवें गुणस्थान में होता है। जो अनादि मिथ्यादृष्टि हैं उनके सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रकृति के विना एक सौ छियालीस कर्मप्रकृतियों

---

१. कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा ३ —आचार्य देवचन्द्र

की सत्ता रहती है और सादि मिथ्यादृष्टि के उक्त दोनों का सद्भाव हो जाने के कारण उसमें एक सौ अड़तालीस कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है।

करण के तीन प्रकार

उक्त मिथ्यादृष्टि जीव के उदय में आने वाली कर्मप्रकृतियों में से जब तक मिथ्यात्वमोहनीय का तीव्र उदय रहता है तब तक उस जीव का आकर्षण आत्म-स्वरूप की प्राप्ति की ओर नहीं होता। जब उसका मन्दोदय होता है उसके साथ ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि शेष कर्मों का भी मन्दोदय होता है और सभी कर्मों की उत्कृष्ट सप्तस्थिति न्यून होकर एक कोटाकोटि सागरोपम के अन्तर्गत होती है तथा इसी अन्तःकोटाकोटि सागरोपम प्रमाण वाले नवीन कर्म का बन्ध होता है तब वह आत्म-स्वरूप को पाने के लिए उत्सुक होता है। उस समय में जीव के जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उन्हें शास्त्रीय भाषा में 'करण' कहा है।[1] करण के तीन प्रकार हैं–(१) यथाप्रवृत्तिकरण (अधःप्रवृत्तिकरण), (२) अपूर्वकरण, और (३) अनिवृत्तिकरण।

यथाप्रवृत्तिकरण से जीव राग-द्वेष की ऐसी गाँठ, जो कर्कश, दृढ़ और रेशम की गाँठ के समान है[2], जिसका भेदन सहज नहीं है, वहाँ तक आता है, किन्तु उस गाँठ को भेद नहीं सकता। इसी को जैन-कर्मसाहित्य में ग्रन्थि-देश की प्राप्ति कहा है, अभव्य जीव भी यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रन्थि-देश की प्राप्ति कर सकता है। अर्थात् कर्मों की बहुत लम्बी स्थिति को न्यून कर अन्तःकोटाकोटि सागरोपम प्रमाण कर सकता है। किन्तु वह राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि का भेदन कदापि नहीं कर सकता।[3]

भव्य जीव के यह यथा-प्रवृत्तिकरण एक अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है और प्रतिसमय वह उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होता है। उसके पश्चात् वह अपूर्वकरण अर्थात् विशुद्धि के अनन्तगुणित क्रम से बढ़ने पर उन अपूर्व परिणामों को प्राप्त करता है जो इसके पूर्व संसारी अवस्था में कभी भी प्राप्त नहीं हुए हैं। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त है। उस समय में जीव प्रतिसमय उत्तरोत्तर अल्प स्थिति वाले कर्मों का बन्ध करता है और कर्मों की उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित क्रम से निर्जरा करता है। इस समय आत्मा के अन्दर और भी अनेक सूक्ष्म क्रियाएँ प्रारम्भ

---

१. परिणाम विशेषोऽत्र करणं प्राणिनां मतम्। —*लोकप्रकाश–उपा. विनयविजय*

२. गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणसूण गूढ गंठिव्व।
जीवस्स कम्म जणिओ, घणरागदोस परिणामो। —*विशेषावश्यकभाष्य*

३. (क) विशेष विवरण के लिए देखिए–विशेषावश्यकभाष्य १२०२ से १२१८
(ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार २२४, गा. १३०२ टीका
(ग) कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा २

होती हैं। उनके द्वारा जीव उत्तरोत्तर विशुद्ध एवं कर्म भार से हल्का होता जाता है। इसके पश्चात् अनिवृत्तिकरण का प्रारम्भ होता है। इस करण के समय भी जीव के विशुद्धि आदि अपूर्वकरण से भी अत्यधिक मात्रा में सम्पन्न होती है। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण की स्थिति में से जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते हैं और एक भाग मात्र अवशेष रहता है उस समय अन्तरकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है। अनिवृत्तिकरण की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति का अन्तिम एक भाग जिसमें अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ होती है वह भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। अन्तर्मुहूर्त के असंख्य प्रकार हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त की अपेक्षा उसके अन्तिम भाग का अन्तर्मुहूर्त जिसको अन्तरकरण क्रियाकाल कहते हैं, लघु होता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम भाग में अन्तरकरण की क्रिया होती है। इसका सारांश यह है कि अभी जो मिथ्यात्वमोहनीयकर्म उदयमान है उसके उन दलिकों को जो कि अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त तक उदय में आने वाले हैं, उन्हें आगे-पीछे करना। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल में मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के जितने दलिक उदय में आने वाले हों उनमें से कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक उदय में आने वाले दलिकों को रखा जाता है और कुछ दलिकों को उस अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् उदय में आने वाले दलिकों के साथ मिला देते हैं जिससे अनिवृत्तिकरण के पश्चात् का एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल ऐसा होता है कि जिसमें मिथ्यात्वमोहनीयकर्म का दलिक किंचित् मात्र भी नहीं रहता। अतः जिस नवीन बन्ध का अबाधाकाल पूर्ण हो चुका है ऐसे मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह है जो अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक उदयमान रहता है और दूसरा भाग वह है जो अनिवृत्तिकरण के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल व्यतीत होने पर उदय में आता है। इन दो भागों में से प्रथम भाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और द्वितीय भाग को द्वितीय स्थिति कह सकते हैं। जिस समय में अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ होती है अर्थात् उदय-योग्य दलिकों का निरन्तर व्यवधान किया जाता है उस समय से अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक पूर्व बताये हुए दो भागों में से प्रथम भाग का उदय रहता है। अनिवृत्तिकरण का अन्तिम समय पूर्ण हो जाने पर मिथ्यात्व का किसी भी प्रकार का उदय नहीं रहता। चूँकि उस समय जिन दलिकों के उदय की सम्भावना है, वे सभी दलिक अन्तरकरण क्रिया से आगे-पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक मिथ्यात्व का उदय रहता है। इसीलिए उस समय तक जीव मिथ्यात्वी कहलाता है।

अनिवृत्तिकरण का समय पूर्ण होने पर जीव को औपशमिक सम्यक्त्व उपलब्ध होता है। उस समय मिथ्यात्वमोहनीयकर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार का उदय नहीं होता जिससे जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है और वह औपशमिक सम्यक्त्वी कहलाता है। औपशमिक सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहता है। जिस प्रकार एक जन्मान्ध व्यक्ति को नेत्रज्योति प्राप्त होने पर उसे अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है वैसे ही जीव को औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होने पर अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का काल उपशान्ताद्धा या अन्तरकरण काल कहलाता है। प्रथम स्थिति के अन्तिम समय में अर्थात् उपशान्ताद्धा के पूर्व समय में जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुञ्ज करता है जो उपशान्ताद्धा के पूर्ण हो जाने के पश्चात् उदय में आने वाला है। जैसे–कोद्रव नामक धान्य विशेष प्रकार की औषध से साफ करते हैं तब उसका एक भाग इतना निर्मल हो जाता है कि उसके खाने वाले को उसका नशा नहीं आता; दूसरा भाग कुछ साफ होता है कुछ साफ नहीं होता, वह अर्धशुद्ध कहलाता है; और कोद्रव का कुछ भाग बिलकुल ही अशुद्ध रह जाता है जिसको खाने से नशा आ जाता है। इसी तरह द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के तीन पुञ्जों में से एक पुञ्ज तो इतना विशुद्ध हो जाता है कि उसमें सम्यक्त्वघातक रस का अभाव हो जाता है। द्वितीय पुञ्ज अर्धशुद्ध होता है और तृतीय पुञ्ज अशुद्ध होता है। उपशान्ताद्धा पूर्ण हो जाने के पश्चात् उपर्युक्त तीन पुञ्जों में से कोई एक पुञ्ज जीव के परिणाम के अनुसार उदय में आता है। यदि जीव विशुद्ध परिणामी ही रहे तो शुद्ध पुञ्ज उदय में आता है। शुद्ध पुञ्ज के उदय होने से सम्यक्त्व का घात तो नहीं होता किन्तु उस समय जो सम्यक्त्व उपलब्ध होता है वह क्षायोपशमिक कहलाता है। यदि जीव का परिणाम पूर्ण शुद्ध नहीं रहा और न अशुद्ध ही रहा उस मिश्रस्थिति में अर्धविशुद्ध पुञ्ज का उदय होता है। उस समय जीव तृतीय गुणस्थानवर्ती कहलाता है। यदि परिणाम पूर्ण अशुद्ध ही रहा तो अशुद्ध पुञ्ज उदय में आयेगा। अशुद्ध पुञ्ज के उदय होने पर जीव पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा, जिसमें जीव निर्मल स्थिति में होता है उसका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिकाएँ जब शेष रह जाती हैं तब किसी-किसी औपशमिक सम्यक्त्वी जीव को विघ्न उपस्थित होता है, उसकी निर्मल अवस्था में बाधा उत्पन्न होती है; क्योंकि उस समय अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो जाता है। अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय होने पर जीव सम्यक्त्व परिणाम का परित्याग कर मिथ्यात्व की ओर बढ़ता है। जब तक वह मिथ्यात्व को नहीं पा लेता तब तक वह सासादनभाव का अनुभव करता है। इसलिए उस जीव को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के काल में जितना काल शेष रहने पर

किसी एक अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से वह उपशमसम्यक्त्व से गिरता है उतने ही (एक समय से लेकर छह आवलिका) समय तक वह सासादनसम्यग्दृष्टि नामक दूसरे गुणस्थान में रहता है। उक्त काल के पूर्ण होते ही मिथ्यात्व कर्म का उदय हो जाता है और वह प्रथम गुणस्थान को प्राप्त होकर मिथ्यादृष्टि बन जाता है।[1]

(२) सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

द्वितीय गुणस्थान का नाम सास्वादन सम्यग्दृष्टि है। प्राकृत भाषा में 'सासायण' शब्द है। उसके संस्कृत में दो रूप मिलते हैं–सास्वादन और सासादन। जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है किन्तु मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् मिथ्यात्वाभिमुख जीव के समयक्त्व का आंशिक आस्वादन शेष रहता है उसकी अवस्था को सास्वादन गुणस्थान कहा है।[2]

औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत होता हुआ जीव सम्यक्त्व का आसादन (विराधन) करता है एतदर्थ उसे सासादन कहा गया है।[3] यह प्रतिपाती सम्यक्त्व की अवस्था है। औपशमिक सम्यक्त्व के काल में अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क में से किसी एक कषाय का उदय होते ही जीव सम्यक्त्व से नीचे गिरता है। किन्तु मिथ्यात्वमोहनीय का जब तक उदय न हो तब वह मिथ्यादृष्टि नहीं है, अर्थात् वह द्वितीय गुणस्थानवर्ती है। इसका उत्कृष्ट कालमान छह आवलिका मात्र है। जैसे किसी ने खीर का भोजन किया और तत्काल किसी कारणवश वमन हो गया, उसमें खीर निकल गयी। पर खीर का आस्वादन कुछ समय के लिए अवश्य रहता है। यह स्थिति प्रस्तुत गुणस्थान की है। सम्यक्त्व की खीर का तो वमन हो गया, किन्तु कुछ आस्वादन बने रहने से इसे सास्वादन कहते हैं और सम्यक्त्व की विराधना होने से यह सासदन सम्यक्त्वी भी कहलाता है।

---

१. (क) सह्येष तत्त्वश्रद्धान रसास्वादनेन वर्तते इति सास्वादनः घण्टालालान्यायेन प्रायः परित्यक्त-सम्यक्त्वः तदुत्तरकालं षडावलिकः तथा चोक्तम्–
उवसमसंमत्ताओ चयओ मिच्छं अपानमाणस्स।
सासायणसंमत्तं तदंतरालंमि छावलियं॥१॥
इति सास्वादनस्वासौ सम्यग्दृष्टिश्चेति विग्रहः। –समवायांगवृत्ति, पत्र २६
(ख) समयादवली षट्कं, यावन्मिथ्यात्वभूतम्।
नासादयति जीवोऽसं, तावत्सास्वादनो भवेत्॥ –गुणस्थान क्रमारोह १२

२. आसादनं सम्यक्त्व विराधनम्, सह आसादनेन वर्तते इति सासादनो विनाशित-सम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्व कर्मोदयजनित परिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते।
–षट्खंडागम, धवलावृत्ति, प्रथम खण्ड, पृ. १६३

३. गुणस्थान क्रमारोह ११

यद्यपि द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव पतनोन्मुख है, तथापि मिथ्यात्वमोहनीय के निमित्त से बँधने वाली सोलह प्रकृतियों का उसके बन्ध नहीं होता, अर्थात् जहाँ मिथ्यात्वी एक सौ सत्रह कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है वहाँ सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव निम्नलिखित कर्मप्रकृतियों के बिना एक सौ एक कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है। वे सोलह[1] इस प्रकार हैं-(१) नरकगति, (२) नरकायु, (३) नरकानुपूर्वी, (४) एकेन्द्रिय जाति, (५) द्वीन्द्रिय जाति, (६) त्रीन्द्रिय जाति, (७) चतुरिन्द्रिय जाति, (८) स्थावर नामकर्म, (९) सूक्ष्म नामकर्म, (१०) अपर्याप्त नामकर्म, (११) साधारण नामकर्म, (१२) आतप नामकर्म, (१३) हुण्डक संस्थान नामकर्म, (१४) सेवार्त संहनन नामकर्म, (१५) मिथ्यात्व, (१६) नपुंसक वेद।

(३) सम्यक्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

जिसकी दृष्टि मिथ्या और सम्यक् दोनों परिणामों से मिश्रित है वह सम्यक्मिथ्यादृष्टि या मिश्रदृष्टि कहलाता है।[2]

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि जीव ने उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने के समय जो मिथ्यात्वमोहनीय के तीन खण्ड किये थे, उनमें से मिश्र अर्थात् सम्यक्त्वमिश्र प्रकृति के उदय आने पर वह चतुर्थ गुणस्थान से गिरता है और तृतीय गुणस्थानवर्ती हो जाता है। इस जीव के परिणाम मिश्रप्रकृति के उदय होने से न केवल सम्यक्त्वरूप ही रहते हैं और न केवल मिथ्यात्वरूप ही; किन्तु दोनों के मिले हुए परिणाम रहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो इस जीव को न जिनोक्त वाणी पर श्रद्धा होती है और न अश्रद्धा ही। जैसे दही और मिश्री के मिश्रण से निर्मित हुए श्रीखण्ड का स्वाद न केवल दहीरूप होता है, न मिश्रीरूप होता है; किन्तु दोनों के स्वाद से पृथक् तृतीय खट्टामिट्ठा स्वाद होता है।[3] इसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीव

---

१. (क) नरयतिग जाइथावरचउ, हुंडायवछेवट्ठ पुंमिच्छं।
सोलं तो इगहि असयं, सासणि तिरिथीण दुहगतिगं॥ —*कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा ४*
(ख) गुणस्थान क्रमारोह, स्वोपज्ञवृत्ति।

२. (क) मिश्रकर्मोदयाज्जीवे, सम्यक्मिथ्यात्वमिश्रितः।
यो भावोऽन्तर्मुहूर्तं स्या-त्तन्मिश्रस्थानमुच्यते॥ —*गुणस्थान क्रमारोह १३*
(ख) तथा सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यक्मिथ्यादृष्टिः तस्य गुणस्थानं सम्यक्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानम्। —*कर्मग्रन्थ २, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. ७०*
(ग) सम्मामिच्छुदयेण व जत्तंतर सव्वघादिकज्जेण।
णय सम्मं मिच्छंपि य सम्मिस्सो होदि परिणामो॥ —*गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २१*

३. जात्यन्तर समुद्भूतिर्वंडवारवरयोर्यथा।
गुडदध्नोः समायोगे रसभेदान्तरं यथा॥ —*गुणस्थान क्रमारोह १४*

के सम्यक्त्वमिथ्यात्व के सम्मिश्रणरूप एक भिन्न ही प्रकार का परिणाम होता है, जो परिणाम प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानों के परिणामों से पृथक् है। अतएव उन गुणस्थानों की अपेक्षा इसे एक स्वतन्त्र गुणस्थान माना गया है। इस गुणस्थान का काल जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त ही है। इसके पूर्ण होने पर यह जीव ऊपर चढ़कर सम्यक्दृष्टि भी बन सकता है या नीचे गिरकर मिथ्यात्वी भी हो सकता है।

इस गुणस्थान में एक विलक्षण अवस्था रहती है। अतः इस गुणस्थान में न आयुष्य का बन्ध होता है, न मरण ही होता है। अतः इस गुणस्थान को अमर गुणस्थान भी कहा गया है।[1]

दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र के अभिमतानुसार तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव सकलसंयम या देशसंयम को ग्रहण नहीं करता और न इस गुणस्थान में आयुकर्म का बन्ध ही होता है। यदि इस गुणस्थान वाला जीव मरता है तो नियम से सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप परिणामों को प्राप्त करके ही मरता है किन्तु इस गुणस्थान में मरता नहीं है; अर्थात् तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव ने तृतीय गुणस्थान को प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप जिस जाति के परिणाम में आयुकर्म का बन्ध किया हो, उन्हीं परिणामों के होने पर उसका मरण होता है।[2] किन्तु मिश्र गुणस्थान में मरण नहीं होता और न इस गुणस्थान में मारणांतिक समुद्घात[3] ही होता है।

तीसरे गुणस्थान की विशेषता–दूसरे गुणस्थान की अपेक्षा तीसरे गुणस्थान में एक विशेषता है कि दूसरे गुणस्थान में केवल अपक्रान्ति ही होती है किन्तु तृतीय गुणस्थान में अपक्रान्ति तथा उत्क्रान्ति दोनों होती हैं। कोई आत्मा मिथ्यादर्शन को छोड़कर सीधा इस अवस्था को प्राप्त होती है, अतः पूर्व की अपेक्षा यह उत्क्रान्ति स्थान कहलाता है और जो आत्मा अधःपतनोन्मुख होता है। तो चतुर्थ गुणस्थान से वह इस अवस्था को प्राप्त होता है, अतः वह अपक्रान्ति स्थान है। यहाँ यह रहस्य

---

१. आयुर्बध्नापि नो जीवो मिश्रस्थो म्रियते न वा।
सद्दृष्टिर्वा कुदृष्टिर्वा भूत्वा मरणमश्नुते॥ –*गुणस्थान क्रमारोह, गाथा १६*

२. (क) सो संजयं ण गिण्हदि, देसजयं वा ण बंधदे आउं।
सम्मं वा मिच्छं वा, पडिवज्जिय मरदि णियमेण॥
सम्मत्तमिच्छपरिणामेसु जहिं आउगं पुरा बद्धं।
तहिं मरणं मरणंतसमुग्घादो वि य ण मिस्सम्मि॥ –*गोम्मटसार २३-२४*

(ख) सम्यक्मिथ्यात्वयोर्मध्ये, ह्यायुर्येनार्जितं पुरा।
म्रियते तेन भावेन, गतिं याति तदाश्रिताम्॥ –*गुणस्थान क्रमारोह १७*

३. मूल शरीर को बिना छोड़े ही आत्मा के प्रदेशों का बाहर निकलना समुद्घात है। उसके सात भेद हैं–वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणांतिक, तैजस, आहार और केवल। मरण से पूर्व होने वाले समुद्घात को मारणांतिक समुद्घात कहते हैं। –*बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा १०*

भी समझना आवश्यक है कि जो आत्मा सर्वप्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान को छोड़ती है वह आत्मा चतुर्थ गुणस्थान को स्पर्श करती है और चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थबोध को प्राप्त कर पुनः पतित होकर प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करती है, उस समय अपक्रान्ति काल में तृतीय गुणस्थान को भी स्पर्श कर सकता है और जिस आत्मा ने एक बार चतुर्थ गुणस्थान को स्पर्श लिया है और पुनः मिथ्यात्वी बन गया वह आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकलकर चतुर्थ गुणस्थान को स्पर्श करने की स्थिति में भी तृतीय गुणस्थान को स्पर्श कर सकती है। क्योंकि संशय उसे ही हो सकता है, जिसने यथार्थता का कुछ अनुभव किया हो। यह एक अनिश्चय की अवस्था है जिसमें साधक यथार्थता के बोध के पश्चात् संशयावस्था को प्राप्त हो जाने से वह सत्य और असत्य के बीच झूलता रहता है। वह सत्य और असत्य में से किसी एक का चुनाव न कर अ-निर्णय की अवस्था में रहता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तृतीय गुणस्थान–आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तृतीय गुणस्थान की स्थिति का चित्रण हम इस प्रकार कर सकते हैं। प्रस्तुत अवस्था पाशविक एवं वासनात्मक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाली अबोधात्मा तथा आदर्श एवं मूल्यात्मक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाला नैतिक मन (आदर्शात्मा) के मध्य संघर्ष की अवस्था है, जिसमें बोधात्मा निर्णय न ले पाता और निर्णय को कुछ समय के लिए स्थगित कर देता है। यदि बोधात्मा (Ego) वासना का पक्ष लेता है तो व्यक्ति भोगमय जीवन को अपनाता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यदि चेतन मन आदर्श एवं नैतिक मूल्यों का पक्ष लेता है तो व्यक्ति आदर्श की ओर झुकता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो जाता है। यह मिश्र गुणस्थान जीवन के संघर्ष की अवस्था का द्योतक है जिसमें मानव की पाशविक वृत्ति एवं आध्यात्मिक वृत्ति के बीच संघर्ष चलता है। यदि आध्यात्मिक वृत्ति की जीत हुई तो व्यक्ति आध्यात्मिक विकास करके यथार्थ दृष्टिकोण को प्राप्त कर लेता है। यदि पाशविक वृत्ति विजयी हुई तो व्यक्ति वासनाओं के प्रबल आवेगों के कारण यथार्थ दृष्टिकोण से वंचित होकर पतित होता है और प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है। नैतिक प्रगति की दृष्टि से देखा जाय तो यह तीसरा गुणस्थान भी अविकास की अवस्था ही है क्योंकि जब तक यथार्थबोध का सम्यक् विवेक जाग्रत नहीं होता तब तक व्यक्ति नैतिक शुभाचरण नहीं कर पाता। तीसरे गुणस्थान में शुभ-अशुभ के बारे में अनिश्चितता या सन्देहशीलता की स्थिति होती है अतः इसमें नैतिक शुभाचरण की सम्भावना नहीं है। गीता में भी वीर अर्जुन के अन्तर्मानस में जब संशयात्मक स्थिति समुत्पन्न हुई तो श्रीकृष्ण ने उस स्थिति के निराकरण हेतु उसे उपदेश दिया कि यह संशयात्मक स्थिति उचित नहीं है।

प्रस्तुत गुणस्थान में ७४ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। (१) तीर्थंकर नामकर्म, (२) आहारक शरीर, (३) आहारक अंगोपांग, (४) नरक त्रिक, (५) तिर्यञ्चत्रिक, (६) चार जाति, (७) स्थावर, (८) सूक्ष्म, (९) अपर्याप्त, (१०) साधारण, (११) समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर पाँच संस्थान, (१२) वज्रऋषभनाराच संहनन को छोड़कर शेष पाँच संहनन, (१३) आतप, (१४) उद्योत, (१५) स्त्रीवेद, (१६) नपुंसकवेद, (१७) मिथ्यात्व-मोहनीय, (१८) अनन्तानुबन्धी चतुष्क, (१९) स्त्यानर्द्धित्रिक, (२०) दुर्भगत्रिक, (२१) नीच गोत्र, (२२) अशुभविहायोगति, (२३) मनुष्य आयु, (२४) देवायु। इस प्रकार ४६ प्रकृतियों को छोड़कर एक सौ बीस प्रकृतियों में से ७४ प्रकृतियों को इस गुणस्थान वाला जीव बाँधता है।[1]

(४) अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर आत्मा में विवेक की ज्योति जाग्रत हो जाती है। वह आत्मा और अनात्मा के अन्तर को समझने लगता है। अभी तक पर-रूप में जो स्वरूप की भ्रान्ति थी, वह दूर हो जाती है। उसकी गति अतथ्य से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अबोधि से बोधि की ओर, अमार्ग से मार्ग की ओर हो जाती है। उसका संकल्प ऊर्ध्वमुखी और आत्मलक्ष्यी हो जाता है।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि दर्शनमोह के परमाणुओं के विलय होने से होती है। दर्शनमोह के परमाणुओं का विलय ही इस दृष्टि की प्राप्ति का हेतु है। वह विलय निसर्गजन्य और आधिगमिक (ज्ञान-जन्य) दोनों प्रकार से होता है। नैसर्गिक सम्यग्दर्शन बाहरी किसी भी प्रकार के कारण के बिना अन्तरंग में दर्शनमोहनीय के उपशमादि से होने वाले सम्यक्त्व को कहते हैं। आधिगमिक सम्यग्दर्शन अन्तरंग में दर्शनमोह के उपशमादि होने पर बाहरी अध्ययन, पठन, श्रवण तथा उपदेश से जो सत्य के प्रति आकर्षण पैदा होता है, वह है। दोनों में दर्शनमोह का विलय मुख्य रूप से रहा हुआ है। यह भेद केवल बाहरी प्रक्रिया से है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के तीन कारण हैं–

१. दर्शनमोह के परमाणुओं का पूर्ण रूप से उपशमन होना।

२. दर्शनमोह के परमाणुओं का अपूर्ण विलय होना।

३. दर्शनमोह के परमाणुओं का पूर्ण विलय होना।

---

१. (क) कर्मग्रन्थ, भाग २, गा. ४-५
(ख) गुणस्थान क्रमारोह, गाथा १७

इन तीन कारणों में से प्रथम कारण से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन औपशमिक है, दूसरे कारण से उत्पन्न होने वाला क्षायोपशमिक है और तीसरे कारण से उत्पन्न होने वाला क्षायिक सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के भेद–औपशमिक सम्यग्दर्शन अन्तर्मुहूर्त की स्थिति वाला होता है। जिस प्रकार दबा हुआ रोग पुनः उभर आता है, इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त के लिए निरुद्धोदय किये हुए दर्शनमोह के परमाणु काल मर्यादा समाप्त होते ही पुनः सक्रिय हो जाते हैं। किंचित् समय के लिए जो सम्यग्दर्शनी बना, वह पुनः मिथ्यादर्शनी बन जाता है। बीमारी के कीटाणुओं को निर्मल नष्ट करने वाला सदा के लिए पूर्ण स्वस्थ बन जाता है। उन कीटाणुओं का शोधन करने वाला भी उनसे ग्रस्त नहीं होता किन्तु उन कीटाणुओं को दबाने वाला प्रतिक्षण खतरे में रहता है। औपशमिक सम्यग्दर्शनी भी तृतीय कोटि के समान है।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था में साधक कभी सम्यक् मार्ग से परांगमुख भी हो सकता है। इसकी तुलना बौद्ध स्थविरवादी श्रोतापन्न अवस्था से की जा सकती है। श्रोतापन्न साधक भी औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की तरह मार्ग से च्युत और परांगमुख हो सकता है। महायानी बौद्ध वाङ्मय में इस अवस्था की तुलना बोधि-प्रणिधिचित्ति से कर सकते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि आत्मा यथार्थ को जनता है और उस पर चलने की भव्य भावना भी रखता है, किन्तु उस पर चल नहीं सकता, वैसे ही बोधिप्रणिधिचित्ति में भी यथार्थ मार्ग और लोक-परित्राण की भावना होने के बावजूद भी वह मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता। योगबिन्दु में आचार्य हरिभद्र ने सम्यग्दर्शन प्राप्त साधक की तुलना महायान के बोधिसत्व से भी की है।[1] बोधिसत्व का सामान्य अर्थ है ज्ञान प्राप्ति का जिज्ञासु साधक।[2] इस दृष्टि से उसकी तुलना सम्यग्दृष्टि के साथ हो सकती है। यदि बोधिसत्व का विशिष्ट अर्थ लोक-कल्याण की मंगलमय भावना में रखकर तुलना करें तो भी हो सकती है, क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान वाला साधक तीर्थंकर नामकर्म का भी उपार्जन कर सकता है।[3]

---

१. अयमस्यामवस्थायां बोधिसत्वोऽभिधीयते।
अन्यैस्तल्लक्षणं यस्मात् सर्वमस्योपपद्यते॥ –*योगबिन्दु ३१०*

२. बोधो ज्ञाने सत्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्वः।
–*बोधिपंजिका ४२१, उद्धृत–बौद्ध दर्शन, पृ. ११७*

३. यत्सम्यग्दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः।
सत्वोऽस्तु बोधिसत्वस्तद्धन्तैषेऽन्वर्थतोऽपि हि॥
वरबोधि समेतो वा तीर्थकृती यो भविष्यति।
तथा भव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्वः सतां मतः॥ –*योगबिन्दु २७३-२७४*

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव देव-गुरु-संघ की सद्भक्ति करता है, शासन की उन्नति करता है, अतः वह शासन प्रभावक श्रावक कहा जाता है।[1]

कर्मग्रन्थ (भाग २, गाथा ६) के अनुसार चतुर्थ गुणस्थान में ७७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। तृतीय गुणस्थान में जो ४६ कर्मप्रकृतियाँ नहीं बाँधता है उनमें से मनुष्यायु, देवायु, तीर्थंकर नामकर्म इन कर्मप्रकृतियों को कम कर देना चाहिए। अर्थात् ४३ प्रकृतियों का बन्ध नहीं करता है। शेष ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

जिसकी दृष्टि सम्यक् होती है पर जिसमें व्रत की योग्यता प्राप्त नहीं होती उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहा गया है। दिगम्बर आचार्य भूतबलि व नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अविरत सम्यग्दृष्टि के स्थान पर असंयत सम्यग्दृष्टि 'असंजदसम्माइट्ठी' शब्द का प्रयोग किया है।[2]

चतुर्थ गुणस्थान में रहे हुए जीव का दृष्टिकोण समीचीन होता है। किन्तु चारित्रमोह के उदय के कारण वह इन्द्रिय आदि विषयों से और हिंसा आदि पापों से विरत नहीं हो पाता।

(५) देशविरति गुणस्थान

देशविरत सम्यग्दृष्टि नामक पाँचवें गुणस्थान में व्यक्ति की आत्मशक्ति और विकसित होती है। वह पूर्ण रूप से तो सम्यक्चारित्र की आराधना नहीं कर पाता किन्तु आंशिक रूप से उसका पालन अवश्य करता है। इस गुणस्थान में जो व्यक्ति हैं उन्हें जैन आचार शास्त्रों में उपासक और श्रावक कहा है।

जैनागम गृहस्थ के लिए बारह व्रतों का विधान करते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार-सन्तोष और इच्छा परिमाण ये पाँच अणुव्रत हैं। अणुव्रत का अर्थ है आंशिक चारित्र की साधना।

दिगविरति, भोगोपभोगविरति और अनर्थदण्डविरति–ये तीनों व्रत अणुव्रतों के पोषक हैं, एतदर्थ इन्हें गुंणव्रत कहा गया है।

सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग–ये चार शिक्षाव्रत हैं। ये चारों व्रत अभ्यासात्मक या बार-बार करने योग्य हैं, एतदर्थ इन्हें शिक्षाव्रत कहा गया है। इन व्रतों का अधिकारी देशव्रती श्रावक कहलाता है।

---

१. जो अविरओऽविसंघे, भत्ति तित्थुण्णइं सया कुणइ।
अविरय सम्मद्दिट्ठी, पभावगो सावगो सोवि॥ *–गुणस्थान क्रमारोह वृत्ति, गा. २३ की वृत्ति*

२. (क) षट्खण्डागम १/१/१२
(ख) गोम्मटसार, गा. २९

देशविरत को आगमों में विरताविरत भी कहा गया है। षट्खण्डागम (१/१०/१३) में इसे संयतासंयत लिखा है।

विरताविरत जीव त्रस जीवों की हिंसा से विरत हो जाता है किन्तु स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं हो पाता।[1]

इस गुणस्थान में एकादश प्रतिमाओं का भी आराधन किया जाता है। प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञाविशेष, व्रतविशेष, तपविशेष अथवा अभिग्रहविशेष है।

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ न्यून करोड़ पूर्व वर्ष की है।

पाँचवें गुणस्थान में ६७ कर्मप्रकृतियाँ बँधती हैं। चतुर्थ गुणस्थान में जो ७७ कर्मप्रकृतियाँ बँधती हैं, उनमें से निम्न दस कर्मप्रकृतियाँ इस गुणस्थान में नहीं बँधती हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) वज्रऋषभनाराच संहनन, (२) मनुष्यत्रिक (मनुष्यजाति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु, (३) अप्रत्याख्यानी कषायचतुष्क, (४) औदारिक शरीर, और (५) औदारिक अंगोपांग।[2]

छठी भूमिका से लेकर अगली सारी भूमिकाएँ मुनि-जीवन की हैं।

(६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान

छठे गुणस्थान में साधक कुछ और आगे बढ़ता है। वह देशविरत से सर्वविरत हो जाता है। वह पूर्ण रूप से सम्यक्चारित्र की आराधना प्रारम्भ कर देता है। अतः उसका व्रत अणुव्रत नहीं, किन्तु महाव्रत है। उसका हिंसा का त्याग अपूर्ण नहीं, पूर्ण होता है। अणु नहीं महान् होता है। इतना होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस अवस्था में रहे हुए साधक का चारित्र पूर्ण विशुद्ध होता ही है। यहाँ पर प्रमाद की सत्ता रहती है। अतएव इस गुणस्थान का नाम प्रमत्तसंयत रखा गया है। गोम्मटसार में प्रमाद के पन्द्रह भेद बताये हैं।[3] (१-४) चार विकथा–स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा, राजकथा, (५-८) चार कषाय–क्रोध, मान, माया, लोभ, (९-१३) पाँच इन्द्रियाँ–स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, (१४) निद्रा, और (१५) प्रणय–स्नेह।

---

१. जो तसवहाउविरदो, अविरदो तहय थावरवहादो।
एक्क समयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई॥ –गोम्मटसार, गा. ३१

२. कर्मग्रन्थ, भाग २, गा. ६

३. विकहा कहा कसाया इंदिय णिद्दा तहेव पणयो य।
चदु चदु पणमेगेगं, होंति पमाया हु पण्णरस॥ –गोम्मटसार, गा. ३४

साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थिति के अनुसार इस भूमिका से नीचे भी गिर सकता है और ऊपर भी चढ़ सकता है।

छटे गुणस्थान में तिरेसठ (६३) कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। पाँचवें गुणस्थान में जो सरसठ (६७) कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है, उनमें से प्रत्याख्यानीचतुष्क का इस गुणस्थान में बन्ध नहीं होता।[1]

प्रमत्तसंयत गुणस्थान की स्थिति कर्मस्तव, योगशास्त्र,[2] गुणस्थान क्रमारोह,[3] सर्वार्थसिद्धि[4] आदि ग्रन्थों में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त लिखी है। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् प्रमत्तसंयती एक बार अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पहुँचता है और वहाँ भी अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहकर पुनः प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आ जाता है। यह चढ़ाव और उतार देशोन कोटि पूर्व तक होता रह सकता है, अतएव छठे और सातवें दोनों गुणस्थान की स्थिति मिलाकर देशोन करोड़ पूर्व की है।[5]

भगवतीसूत्र में मंडितपुत्र ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि भगवान, प्रमत्तसंयत में रहता हुआ सम्पूर्ण प्रमत्तकाल कितना होता है? जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान ने कहा–एक जीव की अपेक्षा से जघन्य एक समय, उत्कृष्ट देशन्यून करोड़ पूर्व और सभी जीवों की अपेक्षा से सर्वकाल है।[6]

इसी प्रकार अप्रमत्तसंयत के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर भगवान ने कहा–एक जीव की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट देशन्यून करोड़ पूर्व है।

---

१. कर्मग्रन्थ, गाथा ७

२. प्रमत्तसंयतः प्राप्तसंयतः प्राप्तसंयमो यः प्रमाद्यति ॥
सोऽप्रमत्तसंयतो यः संयमी न प्रमाद्यति।
उभावपि परावृत्या स्यातामान्तर्मुहूर्तिकौ ॥ *–योगशास्त्र, प्रथम प्रकाश, ३४-३५*

३. इत्येतैः प्रमादैर्युक्तत्वात् क्व सति ? चतुर्थानां कषायाणं संज्वलनाख्यकषायाणं तीव्रोदये सति, अयमर्थः यदा मुनेर्महाव्रतिनोऽपि संज्वलन कषायस्तीव्रो भवति, तदाऽवश्यमन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्सप्रमादत्वात् प्रमत्त एव भवति यदा अन्तर्मुहूर्तादुपरि सप्रमादो भवति तदा प्रमत्त गुणस्थानदधस्तात्पतति, यदा त्वन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमपि प्रमादरहितो भवति तदा पुनरपि, अप्रमत्तगुणस्थानमारोहतीति। *–गुणस्थान क्रमारोह, स्वोपज्ञ वृत्ति २७, पृ. २०*

४. प्रमत्तसंयतादि क्षीण कषायान्तानामुत्कृष्टः कालः अन्तर्मुहूर्तः। *–सर्वार्थसिद्धि वृति*

५. पमत्तसंजयस्स णं भंते ! पमत्तसंजये वट्टमाणस्स सव्वावि य णं पमत्तद्धा कालओ केवच्चिरं होइ ?
मंडियपुत्ता ! एगजीवं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं उकोसेण देसूणा पुव्वकोडी, णाणा जीवे पडुच्च सव्वद्धा। *–भगवती ३/४/१५३, सुत्तागमे, पृ. ४५८*

६. भगवती ३/४/१५३

यहाँ पर प्रश्न में 'सव्वावि णं पमत्तद्धा' शब्द का प्रयोग हुआ है जो इस बात का सूचक है कि प्रमत्तसंयत काल सम्पूर्ण कितना है अतः प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन दोनों गुणस्थानों में एक जीव आते-जाते सम्पूर्ण काल मिलाकर कितना रहता है ? तो उत्तर में देशन्यून करोड़ पूर्व बताया है। आचार्य अभयदेव ने प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति में इस बात को स्पष्ट किया है।[1]

मोक्षमार्ग ग्रन्थ[2] में श्री रतनलाल दोषी ने तथा अन्य अनेक लेखकों ने एवं स्तोक संग्रहों में प्रमत्तसंयत गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति देशोन करोड़ पूर्व की लिखी है; पर यह भ्रम है, चूँकि उपर्युक्त सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों के हमने जो प्रमाण दिये हैं उससे यही स्पष्ट है कि छठे और सातवें दोनों गुणस्थानों में उतार-चढ़ाव को मिलाकर देशोन करोड़ पूर्व की स्थिति कही है, न कि यह केवल छठे गुणस्थान की ही स्थिति है।

(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

इस गुणस्थान में अवस्थित साधक प्रमाद से रहित होकर आत्म-साधनां में लीन रहता है, इसलिए इसे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहा गया है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि छठे और सातवें गुणस्थान का परिवर्तन पुनः-पुनः होता रहता है। जब साधक में आत्म-तल्लीनता होती है तब वह सातवें गुणस्थान में चढ़ता है और प्रमाद का उदय आने पर छठे गुणस्थान में चला जाता है।

वर्तमान काल में कोई भी साधु सातवें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ नहीं सकता। चूँकि ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ने के लिए जो उत्तम संहनन तथा पात्रता चाहिए उसका वर्तमान काल में अभाव है। सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक का काल परम समाधि का काल है। यह परम समाधि की दशा छद्मस्थ जीव को अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक नहीं रह सकती। अतः सातवें, आठवें आदि एक-एक गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त है और सभी का सामूहिक काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

सातवें गुणस्थान के दो भेद हैं–(१) स्वस्थान अप्रमत्त, (२) सातिशय अप्रमत्त। सातवें गुणस्थान से छठे गुणस्थान में और छठे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में आना-जाना स्वस्थान अप्रमत्तसंयत में होता है किन्तु जो श्रमण मोहनीयकर्म का उपशमन या क्षपण करने को उद्यत होते हैं, वे सातिशय अप्रमत्त हैं। उस समय

---

१. भगवती, अभयदेववृत्ति, श. ३, उ. ३३, सू. १४४, पृ.१८५, आगमोदय समिति

२. (क) मोक्षमार्ग, पृ. ८१, जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना।
(ख) सम्यग्दर्शन–डॉ. एल. के. गाँधी, पृ. ६३, शामजी वेलजी वीराणी, राजकोट

ध्यानावस्था में चारित्रमोहनीयकर्म के उपशमन या क्षपण के कारणभूत अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम वाले एक विशिष्ट जाति के परिणाम जीव में प्रकट होते हैं जिनके द्वारा वह जीव चारित्रमोहनीयकर्म का उपशमन या क्षय करने में समर्थ होता है। इनमें से अधःकरण रूप विशिष्ट परिणाम सातिशय अप्रमत्तसंयत में प्रकट होते हैं। इन परिणामों से वह संयत मोहकर्म के उपशमन या क्षपण के लिए उत्साहित होता है।

सातवें गुणस्थान में आहारकद्विक का बन्ध होने लगता है। अतः छठे गुणस्थान में बँधने वाली ५७ में इन दो के मिला देने पर ५९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। कुछ आचार्यों की यह मान्यता है कि जिस जीव ने छठे गुणस्थान में देवायु का बन्ध प्रारम्भ कर दिया है, उसकी अपेक्षा ही सातवें में देवायु का बन्ध होने पर ५९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। किन्तु जिसने छठे गुणस्थान में देवायु का बन्ध प्रारम्भ नहीं किया है उसके सातवें में चढ़ने पर देवायु का बन्ध नहीं होता। अतः ऐसे जीव की अपेक्षा ५८ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। उक्त दोनों विवक्षाओं से इस गुणस्थान में ५८ या ५९ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है।

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

(८) निवृत्तिबादर (अपूर्वकरण) गुणस्थान

इस गुणस्थान में जो निवृत्ति शब्द आया है, उसका अर्थ 'भेद' है।[1] निवृत्तिबादर गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। उसके असंख्यात समय है। इसमें भिन्न समयवर्ती जीवों की परिणामविशुद्धि तो एक सदृश नहीं होती, किन्तु एक समयवर्ती जीवों के अध्यवसायों में भी असंख्यातगुणी न्यूनाधिक विशुद्धि होती है।[2] एतदर्थ यह विसदृश परिणामविशुद्धि का गुणस्थान है।[3]

निवृत्तिबादर का दूसरा नाम अपूर्वकरण भी है। यहाँ यह ज्ञातव्य है हम जिन यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीन करण परिणामों का निरूपण सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय कर आये हैं वे ही तीनों करण चारित्रमोहनीय के उपशमन एवं क्षपण के समय भी होते हैं। उनमें से प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण सातिशय अप्रमत्तसंयत में होता है और दूसरा करण आठवें गुणस्थान में होता है। इसी कारण इस गुणस्थान का

---

१. निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः। —*षट्खण्डागम, प्रथम भाग, धवला वृत्ति, पृ. १८३*

२. निवृत्ति–यद्गुणस्थानकं समकालप्रतिपन्नानां जीवानामध्यवसायभेदः तत्प्रधानो बादरो बादरसम्यपरायो निवृत्ति बादरः। —*समवायांग वृत्ति, पत्र २६*

३. भिन्नसमयट्ठिएहिं दु जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो।
करणेहिं एक्क समयट्ठिएहिं सरिसो विसरिसो वा ॥ —*गोम्मटसार, पृ. ५२*

नाम अपूर्वकरण भी है। तीसरा करण नौवें गुणस्थान में होता है। अतः इसकी अपेक्षा इस गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिकरण रखा है। आचार्य हरिभद्र ने इसे द्वितीय अपूर्वकरण कहा है।[1] इस गुणस्थान में अपूर्व विशुद्धि, पूर्व गुणस्थानों में जो परिणाम अभी तक प्राप्त नहीं हुए, ऐसे विशुद्ध परिणाम होते हैं। एतदर्थ इसका नाम अपूर्वकरण है।

इस गुणस्थान में पहले कभी न आया हो वैसा विशुद्ध भाव आता है जिससे आत्मा गुणश्रेणी पर आरूढ़ होने की तैयारी करने लगता है। आरोह की दो श्रेणियाँ हैं–(१) उपशम, और (२) क्षपक। मोह को उपशान्त कर आगे बढ़ने वाला जीव ११वें गुणस्थान तक मोह का सर्वथा उपशम कर वीतराग बन जाता है। उपशम अल्पकालीन होता है, इसलिए मोह के उभरने पर वह पुनः नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। क्षपकश्रेणी प्रतिपन्न जीव मोह को खपाकर दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में चला जाता है और वीतराग बन जाता है। क्षीणमोह का अवरोह नहीं होता।

आठवें गुणस्थान के सात भाग हैं। उनमें प्रथम भाग में सातवें गुणस्थान वाली ५९ प्रकृतियों में से देवायु को घटा देने पर शेष ५८ प्रकृतियाँ बँधती हैं। द्वितीय भाग से लेकर छठे भाग तक ५६ प्रकृतियाँ बँधती हैं। क्योंकि वहाँ निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियाँ नहीं बँधती हैं।

सातवें भाग में २६ प्रकृतियाँ बँधती हैं। पूर्व की प्रकृतियों में से (१) देवगति, (२) देवानुपूर्वी, (३) पंचेन्द्रिय जाति, (४) शुभ विहायोगति, (५) त्रस, (६) बादर, (७) पर्याप्त, (८) प्रत्येक, (९) स्थिर, (१०) शुभ, (११) सुभग, (१२) सुस्वर, (१३) आदेय, (१४) वैक्रियशरीर, (१५) आहारकशरीर, (१६) तेजसशरीर, (१७) कार्मणशरीर, (१८) समचतुरस्र संस्थान, (१९) वैक्रिय अंगोपांग, (२०) आहारक अंगोपांग, (२१) निर्माण नाम, (२२) तीर्थंकर (जिन) नाम, (२३) वर्ण, (२४) गन्ध, (२५) रस, (२६) स्पर्श, (२७) अगुरुलघु, (२८) उपघात, (२९) पराघात, (३०) श्वासोच्छ्वास; इस प्रकार ३० कर्मप्रकृतियाँ कम करने से २६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है।[2]

(९) अनिवृत्तिबादर गुणस्थान

अनिवृत्ति का अर्थ 'अभेद' है। अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के एक समयवर्ती

---

१. द्वितीयापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत्।
आयोज्य करणादूर्ध्वं द्वितीया इति तद्विदः॥ —*योगदृष्टि समुच्चय १०*

२. कर्मग्रन्थ, भाग २, गा. ९-१०

जीवों की परिणामविशुद्धि सदृश ही होती है। इसलिए यह सदृश परिणामविशुद्धि का गुणस्थान है। इस कारण इस गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिबादर गुणस्थान है। इसे अनिवृत्तिबादर सम्पराय अथवा बादर सम्पराय (कषाय) भी कहते हैं।

पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थानों की अपेक्षा से उत्तर-उत्तरवर्ती गुणस्थानों में कषाय के अंश कम होते जाते हैं, वैसे-वैसे परिणामों की विशुद्धि भी बढ़ती जाती है। आठवें गुणस्थान के परिणामों की विशुद्धि की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में परिणामों की विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक है। इस गुणस्थान में होने वाले परिणामों द्वारा आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गुण श्रेणी निर्जरा, गुण संक्रमण, स्थिति-खण्डन होता है। अभी तक करोड़ों सागर की स्थिति वाले कर्म बँधते थे, उनका स्थितिबन्ध उत्तरोत्तर कम होता जाता है। यहाँ तक कि इस गुणस्थान के अन्तिम समय में पहुँचने पर मोहनीयकर्म की जो जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति बतायी गयी है तत्प्रमाण स्थिति का बन्ध होता है। कर्मों के सत्त्व का भी अत्यधिक परिमाण में ह्रास होता है। प्रति समय कर्म-प्रदेशों की निर्जरा भी असंख्यातगुणी बढ़ती जाती है। यह स्थिति-खण्डन आठवें गुणस्थान से ही प्रारम्भ हो जाता है और इस गुणस्थान में उसकी मात्रा पहले से अधिक बढ़ जाती है। इस गुणस्थान में उपशमश्रेणी वाला जीव मोहकर्म की एक सूक्ष्म लोभवृत्ति को छोड़कर शेष सर्व प्रकृतियों का उपशमन कर लेता है और क्षपकश्रेणी वाला उन्हीं प्रकृतियों का क्षय करता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि क्षपकश्रेणी वाला मोहनीयकर्म की प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है।

नौवें गुणस्थान के पाँच भाग हैं। उनमें से प्रथम भाग में २२ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। आठवें गुणस्थान में जो २६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है उनमें से हास्य, रति, दुर्गुच्छा, भय–ये चार कर्मप्रकृतियाँ कम करने से शेष २२ का बन्ध होता है।

द्वितीय भाग में २१ प्रकृतियाँ बँधती हैं, यहाँ पूर्व प्रकृतियों में से पुरुषवेद कम करना चाहिए।

तृतीय भाग में २० का बन्ध होता है, संज्वलन क्रोध कम करना चाहिए।

चतुर्थ भाग में १९ प्रकृतियाँ बँधती हैं, संज्वलन मान कम करना चाहिए।

पाँचवें भाग में १८ प्रकृतियाँ बँधती हैं। उपरोक्त में से संज्वलन माया कम करनी चाहिए।

(१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान

इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभरूप कषाय का ही उदय रहता है। अन्य कषायों का

उपशम या क्षय हो जाता है। जैसे धुले हुए कुसुमी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है। इसी प्रकार इस गुणस्थान में लोभ कषाय सूक्ष्म रूप से रह जाता है। इसी कारण इस गुणस्थान को सूक्ष्म सम्पराय (कषाय) गुणस्थान कहा है। दसवें गुणस्थान के प्रारम्भ में १७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है, किन्तु उसके अन्त में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, उच्च गोत्र और यशःकीर्ति इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है। अतः ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में केवल एक सातावेदनीय का ही बन्ध होता है। चूँकि इन गुणस्थानों में कषाय का अभाव रहता है इसलिए सातावेदनीय की स्थिति अधिक नहीं बँधती। किन्तु योग का सद्भाव होने से एक समय की स्थिति वाला ही सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। कुछ आचार्य दो समय की स्थिति का बन्ध मानते हैं। उनके मतानुसार प्रथम समय में सातावेदनीय कर्म के परमाणु आते हैं और दूसरे समय में निर्जीर्ण हो जाते हैं।

(११) उपशान्तमोह गुणस्थान

दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का उपशमन होते ही वह जीव ग्यारहवें गुणस्थान में आता है। जैसे गँदले जल में कतक फल या फिटकरी आदि फिराने पर उसका मल भाग नीचे बैठ जाता है और स्वच्छ जल ऊपर रह जाता है, वैसे ही उपशमश्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीयकर्म जघन्य एक समय और उत्कृष्ट एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है जिससे कि जीव के परिणामों में एकदम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आ जाती है। एतदर्थ इसे उपशान्तमोह या उपशान्तकषाय गुणस्थान कहते हैं।[1]

इस गुणस्थान में वीतरागता तो आ जाती है किन्तु ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म विद्यमान रहते हैं। अतः वीतरागी बन जाने पर भी वह जीव छद्मस्थ या अल्पज्ञ है, सर्वज्ञ नहीं।

मोहकर्म का उपशमन एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिए होता है। उस काल के समाप्त होने पर राख से दबी हुई अग्नि की भाँति वह पुनः अपना प्रभाव दिखाता है। परिणामतः आत्मा का पतन होता और वह जिस क्रम से ऊपर चढ़ता है उसी क्रम से नीचे के गुणस्थानों में आ जाता है। यहाँ तक कि इस गुणस्थान से गिरने वाला आत्मा कभी-कभी प्रथम गुणस्थान तक पहुँच जाता है। इस प्रकार की आत्मा पुनः प्रयास कर प्रगति-पथ पर बढ़ सकता है।

---

१. गोम्मटसार, गा. ६१-६२

इस सम्बन्ध में गीता का अभिमत है कि दमन के द्वारा विषय-कषाय का निवर्तन तो हो जाता है, किन्तु उसके पीछे रहे हुए अन्तर्मानस की विषय सम्बन्धी भावनाएँ नष्ट नहीं होतीं जिससे समय पाकर वे पुनः उद्‌बुद्ध हो जाती हैं। अतः दमन द्वारा उच्चतम स्थिति पर पहुँचा हुआ साधक पुनः पतित हो जाता है।

ग्यारहवें गुणस्थान में मृत्यु प्राप्त करने वाला मुनि अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है।

(१२) क्षीण मोह गुणस्थान

इस भूमिका में मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है। कषायों को नष्ट कर आगे बढ़ने वाला साधक दसवें गुणस्थान के अन्त में लोभ के अन्तिम अवशेष को नष्ट कर मोह से सर्वथा मुक्ति पा लेता है। इस अवस्था का नाम क्षीणमोह, क्षीणमोह वीतराग या क्षीणकषाय है।[1] इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का पतन नहीं होता।

भगवान ने कहा–कर्म का मूल मोह है। सेनापति के भाग जाने पर सेना स्वतः भाग जाती है। वैसे ही मोह के नष्ट होने पर एकत्व-विचार शुक्लध्यान के बल से एक अन्तर्मुहूर्त में ही ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय–ये तीनों कर्म-बन्धन टूट जाते हैं और साधक अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तशक्ति से युक्त हो जाता है।

(१३) सयोगी केवली गुणस्थान

चार घातिक कर्मों–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय के क्षय होने पर जिसके शरीर आदि की प्रवृत्ति शेष रहती है, उसे सयोगी केवली कहा जाता है। अर्थात् जो विशुद्ध ज्ञानी होने पर भी यौगिक प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं होता, वह सयोगी कहलाता है। घातीकर्मों के नष्ट होने पर जीव समस्त चराचर तत्त्वों को हस्तामलकवत् देखता है। वह विश्वतत्त्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। इस अवस्था में जीव कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक एक करोड़ पूर्व वर्ष तक रहता है। वह सर्वज्ञ और केवली कहलाता है और उसे ही वेदान्त ने 'जीवन्मुक्ति' अथवा 'सदेह मुक्ति' की अवस्था कहा है।

जब तेरहवें गुणस्थान के काल में एक अन्तर्मुहूर्त समय अवशेष रहता है, उस समय यदि आयुकर्म की स्थिति कम और शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक रहती है तो उसकी स्थिति के समीकरण के लिए केवली समुद्‌घात करते हैं, अर्थात् मूल शरीर को छोड़े बिना ही अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकाल देते हैं। प्रथम समय में चौदह रज्जू प्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्म-प्रदेश फैलते हैं। उन आत्म-प्रदेशों का आकार दण्ड जैसा होता है। ऊँचाई में लोक के ऊपर से नीचे तक

होता है किन्तु उसकी मोटाई शरीर के बराबर होती है। दूसरे समय में जो दण्ड के समान आकृति थी उसे पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण में फैलाकर उसका आकार कपाट (किवाड़) के सदृश बनाया जाता है। तीसरे समय में कपाट के आकार वाले उन आत्म-प्रदेशों को मन्थाकार बनाया जाता है। अर्थात् पूर्व, पश्चिम उत्तर और दक्षिण दोनों तरफ आत्म-प्रदेशों को फैलाने से उनका आकार मथनी के जैसा हो जाता है। चौथे समय में विदिशाओं में आत्म-प्रदेशों को पूर्ण करके सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। इसे आचार्य ने लोकपूरण समुद्घात कहा है। इसी प्रकार चार समयों में आत्म-प्रदेश पुनः संकुचित होते हुए पहले आकारों को धारण करते हुए शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसे केवली-समुद्घात कहते हैं। इस क्रिया से जिस प्रकार गीले वस्त्र को फैलाने से उसकी आर्द्रता शीघ्र नष्ट हो जाती है उसी प्रकार आत्म-प्रदेशों को फैलाने से उनमें संसक्त कर्म-प्रदेशों का स्थिति व अनुभागांश क्षीण होकर आयु-प्रमाण हो जाते हैं।

केवली-समुद्घात में आत्मा की व्यापकता का प्रतिपादन किया गया है। उसकी तुलना श्वेताश्वतरोपनिषद्[1], भगवद्गीता[2] में जो आत्मा की व्यापकता का विवरण है, उससे की जा सकती है।

जिस प्रकार जैन साहित्य में वेदनीय आदि कर्मों को शीघ्र भोगने के लिए समुद्घात क्रिया का उल्लेख है वैसे ही योग-दर्शन[3] में बहुकाय-निर्माण क्रिया का वर्णन है जिसे तत्त्व साक्षात् करने वाला योगी स्वोपक्रम कर्म को शीघ्र भोगने के लिए करता है।

षट्खण्डागम में सयोगी केवली के स्थान पर सयोग केवली शब्द का प्रयोग हुआ है।[4]

ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, पाँच अन्तराय, उच्च गोत्र और यशः नाम इन सोलह प्रकृतियों को छोड़कर शेष एक सातावेदनीय कर्म प्रकृति का ही बन्ध होता है।

---

१. विश्वतश्चक्षुरत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरत विश्वतस्यात्।
–श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-३, ११-१५

२. सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ *–भगवद्गीता १३, १३*

३. पातंजल योग-दर्शन, पाद ३, सूत्र २२ का भाष्य और वृत्ति तथा पाद ४, सूत्र ४ का भाष्य और वृत्ति

४. सजोग केवली/अजोग केवली। *–षट्खण्डागम १/१/२१-२२*

(१४) अयोगी केवली गुणस्थान

इस गुणस्थान में प्रवेश करते ही शुक्लध्यान का चतुर्थ भेद समुच्छिन्नक्रिय-अनिवत्ति प्रकट होता है। उसके द्वारा योगों का निरोध होता है। मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों का सर्वथा निरोध करने के कारण ही इस गुणस्थान को अयोगी केवली कहा गया है। यह चारित्र-विकास और आत्म-विकास की चरम अवस्था है। इसमें आत्मा उत्कृष्टतम शुक्लध्यान के द्वारा सुमेरु पर्वत की तरह निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त कर अन्त में देह त्यागकर सिद्धावस्था को प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्व अक्षरों को बोलने में जितना समय लगता है उतने ही समय में वह मुक्त हो जाता है, जिसे परमात्मपद, स्वरूपसिद्धि, मुक्ति, निर्वाण, अपुनरावृत्ति-स्थान और मोक्ष आदि नामों से कहा जाता है। यह आत्मा की सर्वांगीण पूर्णतः पूर्णकृतकृत्यता एवं परमपुरुषार्थसिद्धि है।

षट्खण्डागम में अयोगी केवली के स्थान पर अयोग केवली शब्द व्यवहृत हुआ है।

आत्मा के इस विकास क्रम से स्पष्ट है कि जैन धर्म में कोई अनादि सिद्ध, परमात्मा नहीं माना गया है। प्रत्येक प्राणी अपने पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है।

आत्मा के तीन रूप

इस विराट् विश्व में अनन्त आत्माएँ हैं, चाहे वे त्रस हैं या स्थावर। जैन-दर्शन में अध्यात्म-विकास की दृष्टि से उनका तीन भागों में वर्गीकरण किया है– बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।[1]

प्रारम्भ के तीन गुणस्थान वाले जीवों की बहिरात्मा संज्ञा है, चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान वाले जीवों को अन्तरात्मा कहते हैं और तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान वाले जीव परमात्मा कहलाते हैं।

प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव पूर्ण रूप से बहिरात्मा हैं। द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव में बहिरात्म-तत्त्व प्रथम गुणस्थानवर्ती की अपेक्षा न्यून है और तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव में द्वितीय गुणस्थान वाले की अपेक्षा बहिरात्म-तत्त्व और भी कम है।

---

१. बाह्यात्मा चान्तरात्मा च परमात्मेति च त्रयः।
कायाधिष्ठायक ध्येया प्रसिद्ध योगवाङ्मये ॥
अन्य मिथ्यात्वसम्यक्त्व केवलज्ञान भागिनः।
मिते व क्षीणमोहे च विश्रान्तान्ते त्वयोगिनी ॥ —योगावतार द्वात्रिंशिका १७-१८

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यक्दृष्टि जीव ज्यों-ज्यों अन्तर्मुख होकर अपनी दैनिक प्रवृत्तियों का अवलोकन करता है त्यों-त्यों उसे बाह्य-प्रवृत्तियाँ अशान्ति का कारण, अशाश्वत एवं दुःखप्रद प्रतीत होने लगती हैं और उसके विपरीत आन्तरिक प्रवृत्तियाँ उसे शान्ति देने वाली अनुभव होती हैं। ऐसी स्थिति में जब वह अपनी असद्प्रवृत्तियों के त्याग की ओर उन्मुख होता है और स्थूल प्राणातिपात प्रभृति पापों का परित्याग करता है और वह अन्तरात्म-तत्त्व की ऐसी श्रेणी पर पहुँचता है जिस अवस्था को श्रावक, उपासक और श्रमणोपासक कहते हैं। इसके पश्चात् जब उसकी विचारधारा और अधिक निर्मल होती है और वह यह अनुभव करने लगता है कि सांसारिक वस्तुओं के परित्याग में ही सच्ची शान्ति है, संग्रह में नहीं; तब वह सांसारिक मोह-बन्धनों एवं कौटुम्बिक स्नेह-पाश से मुक्त होकर स्वतन्त्र होने का उपक्रम करता है। फलस्वरूप वह परिवार तथा घर आदि का परित्याग कर सद्गुरुदेव के सन्निकट श्रमणधर्म को स्वीकार करता है, यह अन्तरात्मा की दूसरी श्रेणी है।

इस श्रमणावस्था में रहते हुए वह जिस समय अप्रमत्त होकर स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन में तल्लीन होता है उस समय वह अन्तरात्म-तत्त्व की एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ जाता है। किन्तु मानव की मनोवृत्ति अहर्निश अप्रमत्त नहीं रह सकती। उसे बीच-बीच में विश्राम लेना पड़ता है, शारीरिक चिन्ताएँ करनी पड़ती हैं। एतदर्थ ही श्रमण की प्रवृत्ति प्रमत्त और अप्रमत्त रूप में होती रहती है। जब कोई साधक अप्रमत्त अवस्था में रहते हुए परम समाधि में तल्लीन होता है, अपनी मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को बाहर से हटाकर एकमात्र आत्मस्वरूप में ही स्थिर करता है, उस समय उसके हृदय में एक विशुद्ध व अपूर्व भाव जाग्रत होता है। इस भव से पूर्व संचित कर्मबन्धन क्रमशः विनष्ट होते हैं, श्रमण नवीन कर्म-बन्धनों को क्रमशः घटाता है और ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जब नवीन बँधने वाले कर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है। केवल एक समय जैसी अत्यल्प स्थिति वाला सातावेदनीय कर्म का आस्रव या बन्ध केवल नाममात्र का होता है; और अनादिकाल से संलग्न अष्ट कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय का क्षय करता है, यह अन्तरात्मा-तत्त्व की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है।

अन्तरात्मा की इस उत्कृष्ट अवस्था में चार घनघाती कर्मों के क्षय होते ही परमात्म-दशा प्रकट होती है और वह आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन जाता है। जब तक उसका आयुकर्म समाप्त नहीं होता तब तक शरीर बना रहता है। शरीर को 'कल' भी कहते हैं। शरीर के साथ रहने वाली परमात्म-दशा को सकल परमात्मा कहते हैं। इस अवस्था को अन्य दार्शनिक चिन्तकों ने सगुण या साकार परमात्मा के

नाम से अभिहित किया है। इस सकल परमात्म-अवस्था में रहते हुए वे केवली विश्व के विभिन्न अंचलों में पादविहार करते हुए मुमुक्षु जीवों को सन्मार्ग पर चलने के लिए उत्प्रेरित करते हैं। जब उनका जीवनकाल अत्यल्प रह जाता है तब वे विहार, देशना आदि सभी क्रियाओं का निरोध कर पूर्ण आत्मस्थ हो जाते हैं। एक लघु अन्तर्मुहूर्त काल में अवशेष रहे हुए आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की समस्त प्रकृतियों को नष्ट कर नित्य, निरंजन, निर्विकार सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं। इस अवस्था को अन्य दार्शनिकों ने निर्गुण या निराकार के नाम से कहा है। जैसे धान्य के ऊपर का छिलका दूर हो जाने से चावल में अंकुरोत्पादन की शक्ति नहीं रहती वैसे ही कर्म-नोकर्मरूपी मल के नष्ट हो जाने से सिद्ध परमात्मा का भी भवांकुर पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाता है और वे अपुनरागम स्थिति में सदा सिद्ध रूप में स्थित रहते हैं।

योगविद् जैनाचार्यों ने चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की गणना सम्प्रज्ञातयोग से की है और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान की तुलना असंप्रज्ञातयोग से की है।[1] साधना की दृष्टि से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा को क्रमशः पतित अवस्था, साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था कह सकते हैं। नैतिकता की दृष्टि से इन तीनों अवस्थाओं में अनैतिकता की अवस्था (immoral), नैतिकता की अवस्था (moral) और अतिनैतिकता की अवस्था (amoral) कह सकते हैं। प्रथम अवस्था वाला प्राणी दुराचारी व दुरात्मा होता है, दूसरी अवस्था वाला प्राणी सदाचारी व महात्मा होता है और तीसरी अवस्था वाला प्राणी आदर्शात्मा या परमात्मा होता है।

जैन गुणस्थान और वैदिक भूमिकाएँ

जैन-दर्शन की भाँति वैदिक परम्परा में भी आत्म-विकास के सम्बन्ध में विचार किया गया है। योगवासिष्ठ व पांतजलयोगसूत्र प्रभृति ग्रन्थों में आत्म-विकास की भूमिकाओं का विस्तार से विवेचन है। योगवासिष्ठ में चौदह भूमिकाओं का वर्णन है। उनमें सात भूमिकाएँ अज्ञान की हैं और सात भूमिकायें ज्ञान की हैं। सात अज्ञान की भूमिकाएँ ये हैं[2]–

(१) बीज जाग्रत–इस भूमिका में अहं और ममत्व बुद्धि की जागृति नहीं होती है। किन्तु उस जागृति की बीज रूप में योग्यता होती है। अतः यह बीजजाग्रत भूमिका कहलाती है। यह भूमिका वनस्पति आदि क्षुद्र निकाय में मानी जाती है।

---

१. (क) योगावतार द्वात्रिंशिका १५-२१ (ख) परमात्मप्रकाश १३-१४-१५

२. योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ११७, श्लोक २ से २४

(२) जाग्रत–इस भूमिका में अहं व ममत्व बुद्धि अल्पांश में जाग्रत होती है। यह भूमिका कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षियों में मानी जा सकती है।

(३) महाजाग्रत–इस भूमिका में अहं व ममत्व बुद्धि विशेष रूप से पुष्ट होती है। एतदर्थ इसे महाजाग्रत भूमिका कहा है। यह भूमिका मानव व देव समूह में मानी जा सकती है।

(४) जाग्रत-स्वप्न–इस भूमिका में जागते हुए मनोराज्य अर्थात् भ्रम का समावेश होता है। जैसे–एक चाँद के बदले दो चाँद दिखायी देना, सीप में चाँदी का भ्रम होना। इन कारणों से यह भूमिका जाग्रत-स्वप्न कहलाती है।

(५) स्वप्न–निद्रावस्था में आये हुए स्वप्न का जागने के पश्चात् भी जो भान होता है, वह स्वप्न भूमिका है।

(६) स्वप्न-जाग्रत–वर्षों तक प्रारम्भ रहे हुए स्वप्न का समावेश इसमें होता है। वह स्वप्न शरीरपात हो जाने पर भी चालू रहता है।

(७) सुषुप्तक–यह भूमिका प्रगाढ़ निद्रावस्था में होती है जिसमें जड़ जैसी स्थिति हो जाती है और कर्म मात्र वासना के रूप में रहे हुए होते हैं। अतः वह सुषुप्ति कहलाती है।

तीसरी भूमिका से लेकर सातवीं भूमिका स्पष्ट रूप से मानव निकाय में होती है।[1]

ज्ञानमय स्थिति के भी सात भाग किये गये हैं और वे सात भूमिकाएँ इस प्रकार हैं–

(१) शुभेच्छा–आत्मावलोकन की वैराग्ययुक्त इच्छा।

(२) विचारणा–शास्त्र एवं सज्जनों के संसर्गपूर्वक वैराग्याभ्यास के कारण सदाचार में प्रवृत्ति।

(३) तनुमानसा–शुभेच्छा और विचारणा के कारण इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति का घटना। क्योंकि इसमें संकल्प-विकल्प कम होते हैं।

(४) सत्त्वापत्ति–सत्य और शुद्ध आत्मा में स्थिर होना।

(५) असंसक्ति–असंग रूप परिपाक से चित्त में निरतिशय आनन्द का प्रादुर्भाव होना।

---

१. 'योगवासिष्ठ', उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ११८, श्लोक ५/१५

(६) पदार्थाभाविनी–इसमें बाह्य और आभ्यन्तर सभी पदार्थों पर से इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। देह यात्रा केवल दूसरों के प्रयत्न को लेकर चलती है।

(७) तूर्यगा–भेदभाव का भान बिलकुल भूल जाने से एक मात्र स्वभावनिष्ठा में स्थिर रहना। यह अवस्था जीवनमुक्त में होती है। देह-मुक्ति के पश्चात् तूर्यातीत अवस्था है।

सात अज्ञान की भूमिकाओं में अज्ञान का प्राबल्य होने से उन्हें अविकास काल में गिन सकते हैं। उसके विपरीत सात भूमिकाएँ ज्ञान की हैं, उन्हें विकास क्रम में गिना जा सकता है। ज्ञान की सातवीं भूमिका में विकास पूर्ण कला में पहुँचता है। उसके पश्चात् की स्थिति मोक्ष मानी जाती है।

कुछ विद्वानों ने इन भूमिकाओं की तुलना मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अवस्थाओं से की है।[1] हमारे अपने अभिमतानुसार भले ही संख्या की दृष्टि से गुणस्थानों के साथ इनकी तुलना की जाय, किन्तु क्रमिक विकास की दृष्टि से इनमें साम्य नहीं है।

जैन गुणस्थान और चित्त की पाँच अवस्थाएँ

योग-दर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाएँ बतायी हैं–मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।[2]

(१) मूढ़–इसमें तमोगुण की प्रधानता होती है। इस अवस्था में व्यक्ति अज्ञान और आलस्य से घिरा रहता है। न उसमें सत्य को जानने की जिज्ञासा होती है, न धर्म के प्रति अभिरुचि होती है, और न धन-सम्पत्ति के संग्रह की ओर ही प्रवृत्ति होती है। उसका सम्पूर्ण जीवन अज्ञान तथा अनैश्वर्य में ही व्यतीत होता है। यह अवस्था अविकसित मनुष्यों और पशुओं में पायी जाती है।

(२) क्षिप्त–इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। चित्त बाह्य विषयों में फँसा रहता है। वह कभी इधर दौड़ता है, कभी उधर। रजोगुण की प्रबलता के कारण इच्छाएँ प्रबल हो जाती हैं। जब रजोगुण या तमोगुण का मिश्रण होता है तब क्रूरता, कामान्धता और लोभ आदि की प्रवृत्तियाँ पनपने लगती हैं और जब उसका सत्त्वगुण के साथ मिश्रण होता है तब श्रेष्ठ प्रवृत्तियों में मन लगता है। यह अवस्था उस संसारी मानव की है जो संसार में फँसा है और विविध प्रकार की उधेड़बुन करता रहता है।

---

१. 'जैन आचार'–डॉ. मोहनलाल मेहता, पृ. ३९

२. पातंजल-दर्शन, पाद १, सूत्र १, व्यास भाष्य तथा वाचस्पति मिश्र की टीका

(३) विक्षिप्त–इस अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है। रजोगुण और तमोगुण दबे हुए और गौण रूप से रहते हैं। इस अवस्था में सत्त्वगुण रहने के कारण मानव की प्रवृत्ति धर्मज्ञान और ऐश्वर्य की ओर रहती है किन्तु रजोगुण के कारण चित्त विक्षिप्त बन जाता है।

इन तीन अवस्थाओं को योग में सम्मिलित नहीं किया है। क्योंकि इनमें चित्तवृत्ति प्रायः बहिर्मुखी होती है। विक्षिप्त अवस्था में कभी-कभी अन्तर्मुखी भी होती है किन्तु मन शीघ्र ही पुनः विषयों में भटकने लगता है।

(४) एकाग्र–मन का किसी एक प्रशस्त विषय में स्थिर होना एकाग्र है। जब रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव घट जाता है तब चित्त इधर-उधर भटकना छोड़कर एक विषय पर स्थिर हो जाता है। लम्बे समय तक चिन्तन की एक ही धारा चलती रहती है। इससे विचार-शक्ति में उत्तरोत्तर गहराई आती-जाती है। साधक जिस बात को सोचता है, उसकी गहराई में उतर जाता है। नेत्र बन्द करने पर भी वह उसके सामने घूमती रहती है। इस प्रकार की एकाग्रता होने पर वह वस्तु उसके वशीभूत हो जाती है। योग की शक्तियाँ ऐसी अवस्था में प्रकट होती हैं। इस भूमिका को सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि कहते हैं। उसकी चार अवस्थाएँ हैं–वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

(५) निरुद्ध–जिस चित्त में सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो गया हो, केवल मात्र संस्कार ही अवशेष रहे हों, वह निरुद्ध है। इस अवस्था को असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि कहा जाता है। इसके प्राप्त होने पर पुरुष का चित्त के साथ सम्बन्ध टूट जाता है और वह अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

इसी का अपर नाम स्वरूपावस्थान है। अर्थात् द्रष्टा या पुरुष बाह्य विषयों का चिन्तन छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो जाता है।

इन पाँच अवस्थाओं को लक्ष्य में रखकर चित्त के दो भेद किये जाते हैं–व्युत्थानचित्त और निरोधचित्त। प्रथम तीन अवस्थाओं का सम्बन्ध व्युत्थानचित्त के साथ है और अन्तिम दो अवस्थाओं का सम्बन्ध निरोधचित्त के साथ है। प्रथम तीन अवस्थाएँ अविकास काल की हैं और अन्तिम दो अवस्थाएँ आध्यात्मिक विकास क्रम को सूचित करती हैं।

चित्त की इन पाँचों अवस्थाओं में मूढ़ और क्षिप्त में रजोगुण और तमोगुण की इतनी अधिक प्रधानता रहती है कि वे निःश्रेयस प्राप्ति के साधक नहीं, बाधक बनते हैं। चित्त की इन दो अवस्थाओं में आध्यात्मिक विकास नहीं होता। विक्षिप्त अवस्था में वह कभी सात्त्विक विषयों में समाधि प्राप्त करता है, किन्तु उस समाधि

के काल में चित्त की अस्थिरता इतनी अधिक होती है, जिससे उसे भी योग की कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। एकाग्र और निरुद्ध के समय जो समाधि होती है, उसे योग कहा है। और वही आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का क्रम है। इन पाँच भूमिकाओं के पश्चात् की स्थिति मोक्ष है।

जैन गुणस्थानों के साथ चित्त की पाँच अवस्थाओं की जब हम तुलना करते हैं तो हम यह कह सकते हैं कि प्राथमिक दो अवस्थाएँ प्रथम गुणस्थान की सूचक हैं। तृतीय विक्षिप्त अवस्था मिश्र गुणस्थान के सदृश है। चतुर्थ एकाग्र अवस्था विकास का सूचन करती है और पाँचवीं निरुद्ध अवस्था पूर्ण विकास को बताती है। इन अवस्थाओं में विकास की क्रमशः भूमिका नहीं बतायी गयी है। ये अवस्थाएँ चित्तवृत्ति के आधार पर आयोजित हैं। इनमें आत्मा की गौणता रहती है। इनमें आत्मा की अन्तिम स्थिति का कुछ भी परिज्ञान नहीं होता, जबकि गुणस्थान का सम्बन्ध आत्मा से है, चित्त से नहीं। अतः जैन गुणस्थानों के साथ इन चित्तवृत्तियों की आंशिक तुलना हो सकती है, पूर्ण रूप से नहीं।

जैन गुणस्थान और गीता की त्रिगुणात्मकता

श्रीमद्भगवद्गीता वैदिक परम्परा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। यद्यपि उसमें आध्यात्मिक विकास का वर्णन विस्तार के साथ और क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध नहीं होता, तथापि बहुत ही संक्षेप में त्रिगुणात्मक धारणा के रूप में वर्णन प्राप्त होता है। डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है–आत्मा का विकास तीन सोपानों में होता है। यह निष्क्रिय, जड़ता और अज्ञान (तमोगुण-प्रधान अवस्था) से भौतिक सुखों के लिए संघर्ष कर, रजोगुणात्मक प्रवृत्ति के द्वारा ऊपर उठती हुई ज्ञान और आनन्द की ओर बढ़ती है।[1] सारांश यह है कि आत्मा तमोगुण से रजोगुण और सत्त्वगुण की ओर बढ़ता हुआ अन्त में गुणातीत अवस्था को प्राप्त करता है। जिस समय रजस और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण प्रधान होता है उस समय जीवन में निष्क्रियता और जड़ता की अभिवृद्धि होती है और वह परिस्थिति का दास बन जाता है। यह 'अविकास' की अवस्था है। जब सत्त्व और तम को दबाकर रजस प्रधान होता है तो उस समय वह निश्चय नहीं कर पाता। तृष्णा और लालसा के बढ़ने से उसमें आवेश की मात्रा बढ़ जाती है, यह 'अनिश्चय' की स्थिति है। ये दोनों अविकास के सूचक हैं। जब रजस और तमस को दबाकर सत्त्व प्रधान होता है उस समय जीवन में ज्ञान का अभिनव आलोक जगमगाने लगता है और जीवन पवित्र और यथार्थ आचरण की ओर प्रगति करता है। यह 'विकास' की स्थिति है जब सत्त्व के निर्मल

---

१. भगवद्गीता–डॉ. राधाकृष्णन, पृ. ३१३

आलोक में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान लेता है तो वह गुणातीत हो गुणों का द्रष्टा मात्र हो जाता है। यह त्रिगुणातीत अवस्था ही आध्यात्मिक पूर्णता की अवस्था है। तीन गुणों के आधार पर ही व्यक्तित्व, श्रद्धा, ज्ञान, बुद्धि, कर्म और कर्ता आदि का वर्णन किया गया है। गीता में बन्धन का मूल कारण त्रिगुण बतलाया है।[1] गीता में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि सत्त्व, रज, तम इन गुणों से उत्पन्न त्रिगुणात्मक भावों के मोह में पड़कर जगत् के प्राणी उस परम अव्यय परमात्मस्वरूप को जान नहीं पाते हैं।[2]

गीता की दृष्टि से तमोगुण में अज्ञान, जाड्यता, निष्क्रियता, प्रमाद, आलस्य, निद्रा और मोह की प्रधानता होती है। रजोगुण में रागात्मकता, तृष्णा, लोभ, क्रियाशीलता, अशान्ति और ईर्ष्या की प्रधानता होती है। सत्त्वगुण में ज्ञान का प्रकाश, निर्विकार स्थिति की प्रधानता होती है। इन तीनों गुणों के स्वभाव पर हम चिन्तन करें तो जैन साहित्य में कर्मबन्धन के जो मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच करण बताये हैं उनके साथ भी इनकी तुलना हो सकती है। तमोगुण में मिथ्यात्व और प्रमाद, रजोगुण में अव्रत, कषाय और योग तथा सत्त्वगुण में ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग और चारित्रोपयोग हैं।

त्रिगुणों के आधार पर यदि हम गुणस्थानों पर चिन्तन करें तो इस प्रकार कर सकते हैं–

प्रथम गुणस्थान में तमोगुण की प्रधानता होती है। रजोगुण तमोन्मुखी होता है और सत्त्वगुण तमोगुण और रजोगुण के अधीन रहने से यह अवस्था तमोगुण प्रधान है।

द्वितीय गुणस्थान में भी तमोगुण की ही प्रधानता होती है और रजोगुण भी तमोन्मुखी ही होता है तथापि कुछ सत्त्वगुण रहता है, अतः इसे सत्त्व-रज से मिली हुई तमोगुणावस्था कहते हैं।

तृतीय गुणस्थान में रजोगुण की प्रधानता होती है। सत्त्व और तम ये दोनों गुण रजोगुण के अधीन होते हैं। अतः यह सत्त्व और तम से मिली हुई रजोगुण प्रधानावस्था है।

---

१. सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ –गीता १४/५

२. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ –गीता ७/१३

चतुर्थ गुणस्थान के विचारों में सत्त्वगुण होता है किन्तु आचारों में तमोगुण और रजोगुण की प्रधानता होती है उसके विचारों में तमस और रजस गुण सत्त्व गुण के अधीन होते हैं किन्तु आचार में सत्त्वगुण तमस और रजस के अधीन होता है।

पंचम गुणस्थान में विचार की दृष्टि से सत्त्वगुण की प्रधानता होती है और आचार में भी सत्त्वगुण का विकास होना प्रारम्भ होता है। यह अवस्था तम से युक्त सत्त्वोन्मुखी रजोगुण की अवस्था है।

छठे गुणस्थान में विचार और आचार दोनों में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तथापि तम और रज विद्यमान होने से वे सत्त्व पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं।

सातवें गुणस्थान में सत्त्वगुण की इतनी अधिक प्रधानता हो जाती है कि तमोगुण पर वह पूर्ण अधिकार कर लेता है किन्तु रजोगुण पर उसका पूर्ण अधिकार नहीं हो पाता।

आठवें गुणस्थान में सत्त्वगुण रजोगुण पर अधिकार करने का प्रयत्न करता है।

नौवें गुणस्थान में सत्त्वगुण रजोगुण पर अधिकार कर उसको मृत-प्राय कर देता है। कषाय प्रायः नष्ट हो जाते हैं, केवल सूक्ष्म लोभ रूप रहता है।

दसवें गुणस्थान में सत्त्वगुण सूक्ष्म रूप में जो रजस रहा है उसको भी नष्ट कर देता है।

ग्यारहवें गुणस्थान में तम और रज दोनों पर सत्त्वगुण का पूर्ण अधिकार हो जाता है। वह इन दोनों गुणों को नष्ट नहीं करता, किन्तु दमन करता हुआ प्रगति करता है। अतः तमस और रजस ये दोनों पुनः उद्‌बुद्ध होकर सत्त्व पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

बारहवें गुणस्थान में तम और रज को पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है और यहाँ पर सत्त्व की, रजस और तमस के साथ संघर्षमय स्थिति समाप्त हो जाती है। इस गुणस्थान में रजोगुण-तमोगुण के नष्ट होने के साथ ही सत्त्वगुण भी नष्ट हो जाता है।

तेरहवें गुणस्थान में त्रिगुणातीत अवस्था होती है, यद्यपि इस गुणस्थान में शरीर रहता है तथापि वह तीनों गुणों से प्रभावित नहीं होता।

चौदहवें गुणस्थान में भी त्रिगुणातीत अवस्था ही है।

इस प्रकार सत्त्व, रज और तमगुण की दृष्टि से गुणस्थानों की आंशिक तुलना की जा सकती है।

सत्त्व, रज और तम के आधार से आध्यात्मिक विकास का अन्य प्रकार से भी चिन्तन किया जा सकता है। गीता में तमोगुण को आध्यात्मिक विकास का बाधक गुण माना है। रजोगुण तमोगुण की अपेक्षा कम बाधक है तो सत्त्व गुण साधक है। प्रत्येक गुण में तरतमता रही हुई है जिससे उनके अनेक भेद-प्रभेद हो सकते हैं। संक्षेप में मनीषियों ने आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उन्हें आठ भूमिकाओं में विभक्त किया है। वह विभाग इस प्रकार हैं।

प्रथम भूमिका में श्रद्धा और आचार दोनों में तमोगुण की प्रधानता होती है जिससे उसकी जीवन-दृष्टि अशुद्ध होती है। जीवन-दृष्टि अशुद्ध होने से प्रस्तुत वर्ग का प्राणी परमात्मा की उपलब्धि नहीं कर सकता। ज्ञानशक्ति भी कुण्ठित होने से और आसुरीवृत्ति की प्रधानता होने से उसका आचरण भी पापमय होता है।[1] इस भूमिका की तुलना जैन दृष्टि से मिथ्यात्व गुणस्थान के साथ और बौद्ध दृष्टि से अन्धपृथक् जन-भूमि के साथ की जा सकती है।

द्वितीय भूमिका में श्रद्धा में तमस् गुण की प्रधानता होती है किन्तु आचरण में सत्त्व गुण होता है। इस भूमिका में जो धर्म की साधना की जाती है वह फल की आकांक्षा से की जाती है। फल की आकांक्षा होने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। जैन-दर्शन में कामनायुक्त साधना का निषेध किया है और उसे शल्य कहा है। प्रस्तुत भूमिका की तुलना मार्गानुसारी अवस्था और बौद्ध दृष्टि की कल्याणपृथक् जन-भूमि से की जाती है।

तीसरी भूमिका में श्रद्धा और बुद्धि राजस होने से उसमें चंचलता रहती है। इसमें संशयात्मकता और अस्थिरता के कारण गीताकार ने इसे अविकास की अवस्था कहा है। इस भूमिका की तुलना मिश्र गुणस्थान से की जा सकती है। जैन दृष्टि से मिश्र गुणस्थान में मृत्यु नहीं होती किन्तु गीताकार ने कहा है कि इस वर्ग का प्राणी मृत्यु होने पर आसक्ति-प्रधान योनियों में जन्म ग्रहण करता है।

चतुर्थ भूमिका में दृष्टिकोण सात्त्विक होता है किन्तु आचरण में तम और रज की प्रधानता होती है। इस भूमिका की तुलना चतुर्थ गुणस्थान से कर सकते हैं। यह एक तथ्य है कि जिसका दृष्टिकोण निर्मल हो जाता है भले ही उसका वर्तमान में आचरण सम्यक् न हो किन्तु भविष्य में वह अपने आचरण को सम्यक् बनाकर अपना पूर्ण विकास कर सकता है। इस सत्य-तथ्य को जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं ने स्वीकार किया है।

---

१. न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ —गीता ७/१५

पाँचवीं भूमिका में श्रद्धा और बुद्धि सात्त्विक होती है किन्तु आचरण में रजोगुण सतोन्मुखी होने से चित्तवृत्ति में चंचलता होती है और तमोगुण के संस्कार के पूर्ण रूप से नष्ट न होने से वह अपनी साधना की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता। प्रस्तुत भूमिका की तुलना पाँचवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के साधकों से की जा सकती है।

छठी भूमिका में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण ये तीनों ही सात्त्विक होते हैं जिससे उसके मन, वचन और कर्म में एकरूपता आती है। अहंकार और आसक्ति का अभाव होने से यह विकास की भूमिका है। इसकी तुलना हम बारहवें गुणस्थान से कर सकते हैं। बारहवें गुणस्थान में मोह के नष्ट होने के पश्चात् ज्ञानावरण आदि कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

सातवीं भूमिका में साधक त्रिगुणात्मक जगत् में रहते हुए भी उससे ऊपर उठ जाता है। यह भूमिका गुणातीत अवस्था की चरम परिणति है और यह पूर्ण विकास का प्रथम चरण है। इसकी तुलना हम तेरहवें गुणस्थान से कर सकते हैं और बौद्ध विचारणा की दृष्टि से यह अर्हत् भूमि के समकक्ष है।

आठवीं भूमिका पूर्ण विकास का अन्तिम चरण है। इसमें त्रिगुणात्मक देह से मुक्त होकर व्यक्ति विशुद्ध परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस भूमिका में अवस्थित वीतराग मुनि शरीर के सब द्वारों का संयम करके मन को हृदय में रोककर, प्राण-शक्ति को शीर्ष में स्थिर कर, योग को एकाग्र कर 'ॐ' का उच्चारण करता हुआ विशुद्ध आत्मस्वरूप का स्मरण करता हुआ शरीर का परित्याग कर उस परम गति को प्राप्त करता है।[1] इस भूमिका की तुलना अयोगी केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

इन आठ भूमिकाओं के साथ जो गुणस्थानों की तुलना की गयी है वह भी एकदेशीय ही है। जैसा गुणस्थानों में विकास का क्रम प्रतिपादित है वैसा तो नहीं किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से समझने के लिए यह क्रम उपयोगी है, ऐसा अवश्य कह सकते हैं।

जैन गुणस्थान और बौद्ध अवस्थाएँ

बौद्ध-दर्शन ने भी आत्मा के विकास के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। उसने

---

१. सर्वद्वाराणि संयम्य मनोहृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधियात्मनः प्राणमास्थितो योग धारणाम् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरत्या मनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ —गीता ८/११-१३

आत्मा को, संसार और मोक्ष आदि अवस्थाएँ मानी हैं। त्रिपिटिक साहित्य में आध्यात्मिक विकास का वर्णन उपलब्ध है। हीनयान और महायान दोनों में आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं को लेकर मतभेद है। हीनयान का लक्ष्य वैयक्तिक निर्वाण या अर्हत् पद प्राप्ति है। वह आध्यात्मिक विकास की चार भूमिकाएँ मानता है। महायान सम्प्रदाय का लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ लोक-मंगल की साधना करना भी है। वह आध्यात्मिक विकास की दस भूमियाँ मानता है।

बौद्ध धर्म में विश्व में जितने भी प्राणी हैं उन्हें पृथक्जन (मिथ्यादृष्टि) और आर्य (सम्यग्दृष्टि) इन दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है। पृथक्जन अविकास का काल है और आर्य विकास का है, जिसमें साधक सम्यग्दृष्टि को प्राप्त कर निर्वाण मार्ग की ओर अग्रसर होता है। यह सत्य है कि सभी पृथक्जन एक समान नहीं होते। कुछ पृथक्जन सदाचारी होते हैं और वे सम्यग्दृष्टि के बहुत ही सन्निकट होते हैं। पृथक्जन को अन्धपृथक्जन और कल्याणपृथक्जन इन भागों में विभक्त किया है। अन्धपृथक्जन में मिथ्यात्व की तीव्रता होती है किन्तु कल्याणपृथक्जन निर्वाण मार्ग पर अभिमुख होता है पर उसे प्राप्त नहीं करता। मज्झिमनिकाय[1] में प्रस्तुत भूमिका का वर्णन है। जैनदृष्टि से उस साधक की अवस्था मार्गानुसारी कही जा सकती है जिसके ३५ गुण योगशास्त्र में बताये गये हैं।

हीनयान की दृष्टि से जो सम्यग्दृष्टि से युक्त निर्वाण मार्ग के पथिक साधक हैं उन्हें अपने लक्ष्य को संप्राप्त करने हेतु चार भूमिकाओं को पार करना होता है। वे भूमिकाएँ इस प्रकार हैं–

(१) श्रोतापन्न भूमि–श्रोतापन्न का अर्थ है धारा। जो साधक कल्याण मार्ग के प्रवाह में प्रवाहित होकर अपने लक्ष्य की ओर मुस्तैदी कदम बढ़ा रहा है वह साधक तीन संयोजनों अर्थात् बन्धनों को क्षय करने पर प्रस्तुत अवस्था को प्राप्त करता है।

(अ) सत्कायदृष्टि–देहात्म बुद्धि, शरीर जो नश्वर है उसे आत्मा मानकर उस पर ममत्व करना।

(ब) विचिकित्सा अर्थात् सन्देहात्मकता।

(स) शीलव्रत परामर्श।

इन दार्शनिक एवं कर्मकाण्ड के प्रति मिथ्या दृष्टिकोण एवं सन्देह समाप्त हो जाने से इस भूमि में पतन की सम्भावना नहीं है। साधक निर्वाण के लक्ष्य की ओर

---

१. दुवे पुथुज्जना वुत्ता बुद्धेनादिच्च बंधुना।
अंधो पुथुज्जनो एको कल्याणेको पुथुज्जनो ॥ —*मज्झिमनिकाय, मूल परियाय, सुत्तवण्ण*

गति-प्रगति करता है। श्रोतापन्न साधक बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति और शील तथा समाधि, इन चार अंगों से युक्त होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति उसके अन्तर्मानस में निर्मल श्रद्धा अँगड़ाइयाँ लेती है, उसका विचार और आचार विशुद्ध होता है, वह अधिक से अधिक सात जन्मों में निर्वाण प्राप्त करता है। श्रोतापन्न भूमि की तुलना हम चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक की अवस्था से कर सकते हैं। चतुर्थ गुणस्थान में जीव क्षायिक सम्यक्त्व को उपलब्ध कर लेता है, इसके पश्चात् अन्य अगले गुणस्थानों में दर्शन-विशुद्धि के साथ चारित्र-विशुद्धि भी होती है। सातवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी चतुष्क तथा संज्वलन (क्रोध के नष्ट होने पर केवल संज्वलन) मान, माया और लोभ तथा हास्यादि प्रकृतियाँ इसमें अवशेष रहती हैं। इसी तरह श्रोतापन्न भूमि में भी कामधातु (वासनाएँ) समाप्त हो जाती हैं किन्तु रूपधातु (आस्रव, राग, द्वेष, मोह) अवशेष रहते हैं।

(२) सकृदानुगामी भूमि–श्रोतापन्न अवस्था में साधक काम-राग (इन्द्रियलिप्सा) और प्रतिघ (दूसरे का अनिष्ट करने की भावना) प्रभृति अशुभ बन्धक प्रवृत्तियों का क्षय करता है किन्तु उसमें बन्ध के कारण राग, द्वेष मोहरूपी आश्रव है जिसका पूर्ण से अभाव नहीं होता किन्तु इस भूमिका में उसका लक्ष्य आश्रव क्षय करना है। अन्तिम चरण में वह पूर्ण रूप से काम-राग और प्रतिघ को नष्ट कर देता है और अनागामी भूमि की ओर अग्रसर होता है। इस भूमिका की तुलना हम आठवें गुणस्थान से कर सकते हैं। क्योंकि इसमें साधक राग, द्वेष और मोह पर प्रहार करता है और अन्त में क्षीणमोह को प्राप्त करता है। क्षीणमोह को ही बौद्धदृष्टि में अनागामी भूमि कहा है। जैनदृष्टि से आठवें से ग्यारहवें गुणस्थानों में आयु पूर्ण करने वाला साधक अधिक से अधिक तीसरे जन्म में निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। बौद्धदृष्टि से इस भूमि में एक ही बार संसार में जन्म ग्रहण करता है।

(३) अनागामी भूमि–पूर्व की दो भूमियों को पार कर साधक इस भूमि में आता है। वह रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या को नष्ट करने का प्रयास करता है। जब वह पाँचों संयोजनों को नष्ट कर देता है तो वह अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर लेता है। जो इस संयोजनों को नष्ट करने के पूर्व ही साधना काल में ही मृत्यु को वरण कर लेता है वह ब्रह्मलोक में जन्म लेकर शेष पाँच संयोजनों के नष्ट होने पर निवार्ण को प्राप्त करता है। उसे पुनः प्रस्तुत लोक में जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती। अनागामी भूमि की तुलना आठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की जा सकती है।

(४) अर्हत् भूमि–इसमें सत्यकायदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामर्श, कामराग, प्रतिघ, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या इन दस बन्धनों को नष्ट कर साधक अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण भाव नष्ट हो जाने से वह कृतकार्य हो जाता है, उसके लिए कुछ भी करणीय अवशेष नहीं रहता, तथापि वह संघ की सेवा हेतु क्रियाएँ करता है।[1] इसकी तुलना सयोगी केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

महायान की दृष्टि से अध्यात्मविकास की जो दस भूमिकाएँ हैं, वे इस प्रकार हैं–

(१) प्रमुदिता–यह शील विशुद्धि सम्बन्धी प्रयास करने की अवस्था है। इसमें बोधिसत्त्व (साधक) लोक-मंगल की साधनभूत बोधि को संप्राप्त कर प्रमुदित होता है। इस अवस्था को बोधि प्रस्थानचित की अवस्था कहा जाता है। बोधि-प्रणिधि चित्त में मार्ग का ज्ञान होता है तो बोधि-प्रस्थान चित्त में मार्ग में गमन की क्रिया का। साधक इस भूमि में शक्ति पारमिता का अभ्यास करता है और पूर्ण शीलविशुद्धि की ओर प्रस्थित होता है। प्रस्तुत भूमिका की तुलना पाँचवें और छठे गुणस्थानों से की जा सकती है।

(२) विमला–इसमें अनैतिक आचरण से मुक्त होकर साधक आचरण की शुद्धि को प्राप्त करता है और शान्त पारमिता का अभ्यास करता है। यह अधिचित्त शिक्षा है। इस भूमिका का लक्षण ज्ञान-प्राप्ति है और इसमें अच्युत समाधि का लाभ होता है। इसकी तुलना अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से की जा सकती है।

(३) प्रभाकरी–इसमें साधक बुद्ध का ज्ञानरूपी प्रकाश (प्रभा) संसार में वितरित करता है। इसकी भी तुलना अप्रमत्त संयत गुणस्थान से की जा सकती है।

(४) अर्चिष्मती–इसमें प्रज्ञा अर्चि (लपट) का काम करती है और क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण का दाह करती है। इसमें साधक वीर्य पारमिता का अभ्यास करता है। इसकी तुलना अपूर्वकरण गुणस्थान से की जा सकती है।

(५) सुदुर्जया–इसमें धार्मिक भावों की परिपुष्टि तथा स्वचित्त की रक्षा के साथ दुःख पर विजय पायी जाती है। यह कार्य अत्यन्त दुष्कर होने के कारण इस भूमि को 'दुर्जय' कहा गया है। बोधिसत्त्व (साधक) इस भूमि में ध्यान पारमिता का अभ्यास करता है। इसकी तुलना आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान की अवस्था से कर सकते हैं।

---

१. विनयपिटक-चुल्लवग्ग-खन्दक ४-४

(६) अभिमुखी–साधक प्रज्ञा पारमिता के आश्रय से संसार और निर्वाण दोनों के प्रति अभिमुख होता है। उसमें यथार्थ प्रज्ञा का उदय होता है अतः उसमें संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं होता है और अब संसार उसके लिए बन्धक नहीं रहता। इसमें साधक के निर्वाण की दिशा में अभिमुख होने के कारण इस भूमि को अभिमुखी कहा है। चौथी-पाँचवीं भूमि में प्रज्ञा की साधना होती है और इसमें प्रज्ञा पारमिता की साधना पूर्ण होती है। इस भूमि की तुलना सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान की पूर्वावस्था से की जा सकती है।

(७) दूरंगमा–इस भूमि में बोधिसत्त्व (साधक) शाश्वतवाद और उच्छेदवाद से दूर हो जाता है और बोधिसत्त्व की साधना पूर्ण कर निर्वाण के सर्वथा योग्य हो जाता है। इस भूमि में बोधिसत्त्व अन्य प्राणियों को निर्वाण मार्ग में लगाता है। स्वयं सभी पारमिताओं का पालन करता है और विशेष रूप से कौशल्य पारमिता का अभ्यास करता है। इसकी तुलना क्षीणमोह गुणस्थान से की जा सकती है।

(८) अचला–प्रस्तुत भूमि में संकल्पशून्यता एवं विषय से मुक्त होकर अनिमित्त विहारी समाधि की उपलब्धि होती है। इसलिए इसका नाम 'अचला' है। विषय न होने से चित्त में संकल्प-विकल्प नहीं होते और संकल्प शून्य होने के कारण चित्त अविचल होता है जिससे तत्त्व का साक्षात्कार होता है। इसकी तुलना सयोगी केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

(९) साधुमती–इस भूमि में बोधिसत्त्व के हृदय में सम्पूर्ण जीवों के प्रति शुभ कामनाएँ अँगड़ाइयाँ लेने लगती हैं और वह प्राणियों के बोधि बीज को परिपुष्ट करता है। इसमें समाधि की विशुद्धता एवं विश्लेषण तथा अनुभव करने वाली बुद्धि जिसे प्रतिसंविन्मति कहा जाता है, उसकी प्रधानता होती है और प्राणियों के मनोगत भावों को जानने की क्षमता भी उत्पन्न होती है। इसकी भी तुलना सयोगी केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

(१०) धर्ममेघा–जैसे अनन्त आकाश मेघ से व्याप्त होता है वैसे ही प्रस्तुत भूमि में समाधि धर्माकाश को व्याप्त कर लेती है। इसमें बोधिसत्त्व को दिव्य और भव्य शरीर रत्नकमल पर अवस्थित दृग्गोचर होता है। इसकी तुलना समवसरण में विराजित तीर्थंकर भगवान से कर सकते हैं।

ये दस भूमियाँ महायान सम्प्रदाय के दशमभूमि शास्त्र की दृष्टि से हैं। हीनयान से महायान की ओर संक्रमण काल में लिखे हुए महावस्तु में अन्य नाम भी उपलब्ध होते हैं, वे इस प्रकार हैं–(१) दुरारोहा, (२) वद्धमान, (३) पुष्पमण्डिता, (४) रुचिरा, (५) चित्त विस्तार, (६) रूपमती, (७) दुर्जया, (८) जन्मनिदेश,

(९) यौवराज, और (१०) अभिषेक। महायान का दस भूमियों का सिद्धान्त इसी मूलभूत धारणा पर अवलम्बित है। असंग के महायान सूत्रालंकार और लंकावतारसूत्र में इन भूमिकाओं की संख्या ११ हो जाती है। महायान सूत्रालंकार में प्रथम भूमि को 'अभिमुक्तचर्या' कहा गया है और उसके पश्चात् प्रमुदिता भूमि की चर्चा की गयी है। अभिमुक्तचर्या भूमि में साधक को पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य का यथार्थ ज्ञान होता है और यह विशुद्धि की अवस्था है। इसकी तुलना चतुर्थ गुणस्थान से की जा सकती है।

जैन गुणस्थान और आजीवक भूमिकाएँ

आजीवक सम्प्रदाय का नेता मंखलीपुत्र गोशालक था। भगवती शतक १५, उपासकदशांग (अ. ६), आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा ४७४-४७८), आवश्यकचूर्णि (सूत्र २८३-२८७), आवश्यक हारिभद्रियावृत्ति (पृष्ठ २०६), आवश्यक मलयगिरिवृत्ति (पत्र २७७), त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र (पर्व १) आदि जैन साहित्य में उसका विस्तार से वर्णन है। वह भगवान महावीर का प्रतिद्वन्द्वी था। सम्राट् अशोक के शिलालेखों से भी आजीवक भिक्षुओं को सम्राट् द्वारा गुफा दिये जाने का उल्लेख है।[1] पर यह सम्प्रदाय कब तक चलता रहा यह कहना कठिन है तथापि शिलालेखों आदि से ई. पू. दूसरी शताब्दी तक उनका अस्तित्व प्रमाणित होता है।[2] किन्तु उसका कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता।

मज्झिमनिकाय में आजीवक सम्प्रदाय के आठ सोपान बताये गये हैं– (१) मन्द, (२) खिड्डा, (३) पदवीमंसा, (४) उज्जुगत, (५) सेख, (६) समण, (७) जिन, और (८) पन्न। इन आठों का आजीवक सम्प्रदाय के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि से क्या अर्थ था यह मूल ग्रन्थों के अभाव में कहा नहीं जा सकता। किन्तु आचार्य बुद्धघोष जिनका समय ५वीं-६वीं शती माना जाता है, उन्होंने सुमंगल विलासिनी टीका में आठ सोपानों का वर्णन इस प्रकार किया है–

(१) मन्द–जन्म-दिन से लेकर सात दिन तक गर्भनिष्क्रमणजन्य दुःख के कारण प्राणी मन्द (मोमुह) स्थिति में रहता है।

(२) खिड्डा–जो बालक दुर्गति से आकर जन्म लेता है वह बालक पुनः-पुनः रुदन व विलाप करता है। जो बालक सुगति से आता है वह बालक सुगति का स्मरण कर हास्य करता है। यह खिड्डा (क्रीड़ा) भूमिका है।

---

१. अशोक के धर्मलेख, जनार्दन भट्ट, पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली, १९५७, पृ. ४०१-४०३

२. उत्तर हिन्दुस्तान मां जैन धर्म, चिमनलाल जयचन्द शाह, लौंग मैन्स एण्ड कं., लन्दन, १९३०, पृ. ६४

(३) पदवीमंसा–माता-पिता के हाथ-पैरों को पकड़कर या पलँग अथवा काष्ट के पाट को पकड़कर बालक पृथ्वी पर पैर रखता है। यह पदवीमंसा भूमिका है।

(४) उज्जुगत–पैरों से स्वतन्त्र रूप से जो चलने का सामर्थ्य आता है वह उज्जुगत (ऋजुगत) भूमिका है।

(५) सेख–शिल्पकला के अध्ययन का समय यह शैक्ष भूमिका है।

(६) समण–घर से निकलकर संन्यास ग्रहण करना, यह समण (श्रमण) भूमिका है।

(७) जिन–आचार्य की उपासना कर ज्ञान प्राप्त करने का समय जिन भूमिका है।

(८) पन्न–प्राज्ञ बना हुआ भिक्षु (जिन) जब कुछ भी नहीं बोलता है ऐसे निर्लोभ श्रमण की स्थिति यह पन्न (प्रज्ञ) भूमिका है।

प्रो. होर्नले[1] और पं. सुखलाल जी[2] आदि का मन्तव्य है कि बुद्धघोष की प्रस्तुत व्याख्या युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इस व्याख्या में बाल्यकाल से लेकर युवावस्था तक का व्यावहारिक वर्णन आया है जिसका मेल आध्यात्मिक विकास के साथ नहीं बैठता। सम्भव है इन भूमिकाओं का सम्बन्ध अज्ञान और ज्ञान की भूमिकाओं के साथ रहा हो। इन आठ भूमिकाओं में से प्रथम तीन भूमिकाएँ अविकास की सूचक हैं और पीछे की पाँच भूमिकाएँ विकास का सूचन करने वाली हैं। उसके पश्चात् मोक्ष होना चाहिए।

इन भूमिकाओं को हम आध्यात्मिक दृष्टि से ज्ञान और अज्ञान की भूमिकाएँ स्वीकार करते हैं तो भी गुणस्थानों के साथ इनकी तुलना नहीं हो सकती क्योंकि गुणस्थानों में जिस प्रकार वैज्ञानिक क्रम है उस प्रकार के व्यवस्थित क्रम का इनमें अभाव है।

गुणस्थान और योग

गुणस्थानों में आध्यात्मिक विकास का क्रम मुख्य है और योग में मोक्ष के साधन का विचार प्रमुख रूप से किया गया है। यद्यपि दोनों का प्रतिपाद्य विषय पृथक्-पृथक् है तथापि एक विचार में दूसरा विचार आ ही जाता है। क्योंकि कोई भी आत्मा सीधा मोक्ष प्राप्त नहीं करता, अपितु क्रमानुसार ही उत्तरोत्तर विकास करता हुआ अन्त में उसे प्राप्त करता है। इसलिए योग में मोक्ष की साधन रूप

१. उपासकदशा का अनुवाद, प्रो. होर्नले, भाग २, परिशिष्ट, पृ. २३
२. दर्शन अने चिन्तन, भाग २, पृ. १०२२

विचारधारा में आध्यात्मिक विकास के क्रम का वर्णन आ ही जाता है। आध्यात्मिक विकास किस क्रम से होता है इस पर चिन्तन करते हुए आत्मा के शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम परिणाम जो मोक्ष के साधन रूप हैं वे भी इसमें आ जाते हैं।

योग किसे कहते हैं ?

वैदिक परम्परा में वेद का मुख्य स्थान है। वेदों में भी सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसका अधिकांश भाग आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णनों से भरा हुआ है। वस्तुतः वेदों में आध्यात्मिक वर्णन बहुत ही कम आया है। ऋग्वेद के मन्त्रों में योग शब्द का उपयोग हुआ है।[1] किन्तु वहाँ पर उसका समाधि और आध्यात्मिक भाव विवक्षित नहीं हुए हैं। उपनिषदों में योग पद प्रयुक्त हुआ है।[2] यह स्मरण रखना चाहिए जहाँ उपनिषदों में योग शब्द आया है उसका मुख्य सम्बन्ध सांख्य तत्त्वज्ञान उससे और अवलम्बित किसी योग परम्परा के साथ है। महाभारत में अनेक स्थलों पर योग शब्द आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु वहाँ पर भी उसका मुख्य सम्बन्ध सांख्य परम्परा के साथ है।[3] गीता में आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है। तिलक ने गीता रहस्य में इसी कारण गीता को योगशास्त्र कहा है। गीता का योग भी सांख्य तत्त्वज्ञान की भूमिका पर प्रतिष्ठित है।[4]

जैन आगम साहित्य में योग शब्द आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[5] पर वह तप शब्द की तरह व्यापक रूप से विवृत नहीं हुआ। बौद्ध साहित्य में भी योग शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु वह समाधि की तरह व्यापक नहीं बन सका। तथ्य यह है कि जब से सांख्य तत्त्वज्ञों ने आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द का प्रयोग विशेष रूप से प्रारम्भ किया तब से प्रायः सभी आध्यात्मिक परम्पराओं का ध्यान योग शब्द पर केन्द्रित हुआ और उन्होंने योग शब्द को इस दृष्टि से अपनाया।[6]

---

१. ऋग्वेद १/३४/९, २/८/१, ९/५८/३, १०/१६६/५, १/१८/७, १/५/३

२. (क) योग आत्मा —*तैत्तिरीय उपनिषद २/४*
(ख) तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ —*कठोपनिषद २/६/११*
(ग) तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः। —*श्वेताश्वतर उप. ६/१३*
(घ) अध्यात्म योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ जहाति। —*कठोपनिषद १/२/१२*

३. महाभारत में २४, २५ एवं २६ तत्त्व मानने वाली सांख्य परम्परा का वर्णन है।

४. गीता ४/२८, ३/३-४, ५/६-७, ६/१७-२३-२९, ६/४-६, ८/१०-२, गीता रहस्य, भाग २ की शब्द सूची देखें।

५. (क) सूत्रकृतांग १/६/३ (ख) उत्तराध्ययन ८/१४; ११/१४

६. योगशतक, प्रस्तावना, डॉ. इन्दुकला हीराचन्द झवेरी, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद, पृ. ३५-३६

योगलक्षण द्वात्रिंशिका[1] में लिखा है–आत्मा का धर्म व्यापार मोक्ष का मुख्य हेतु और बिना विलम्ब से जो फल देने वाला हो वह योग है। जिस क्रिया से आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है, वह योग-शब्द 'युज' धातु में 'घञ्' प्रत्यय मिलने से बनता है। युज् धातु के दो अर्थ हैं–एक, संयोजित करना व जोड़ना[2] और दूसरा अर्थ है मन की स्थिरता और समाधि।[3] आत्मा का परमात्मा के साथ, जीव का ब्रह्म के साथ संयोग योग है। योग शुभ भाव या अशुभ भावपूर्वक किये जाने वाली क्रिया है।[4] आचार्य पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा है।[5] उसका भी तात्पर्य यही है कि ऐसा निरोध मोक्ष का मुख्य कारण है। क्योंकि उसके साथ कारण और कार्यरूप से शुभ भाव का अवश्य सम्बन्ध उसके साथ होता है।

आत्मा अनादिकाल से इस विराट् विश्व में परिभ्रमण कर रहा है जब तक आत्मा मिथ्यात्व से ग्रसित रहती है तब तक उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति अशुभ होने से योग वाली नहीं है। और जब मिथ्यात्व नष्ट होता है और सन्मार्ग की ओर वह अभिमुख होता है तब उसका कार्य शुभ भाव युक्त होने से योग कहा जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व के नष्ट होने से उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति निर्मल भावना को लिए हुए होती है, अतः मोक्ष के अनुकूल होने के कारण वह शुभ भावयुक्त होने के कारण योग कहलाती है। उसे जैन परिभाषा में अचरम पुद्गल परावर्त और चरम पुद्गल परावर्त कह सकते हैं। अचरम पुद्गल परावर्त में मिथ्यात्व रहता है, किन्तु चरम पुद्गल परावर्त में मिथ्यात्व शनैः-शनैः हटने लगता है और आत्मा मोक्ष की दिशा में आगे बढ़ता है। आचार्य पतंजलि ने भी अनादि सांसारिक काल निवृत्ताधिकार प्रकृति और अनिवृत्ताधिकार प्रकृति कहा है।[6]

पतंजलि ने योग के संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात ये दो प्रकार बताये हैं। असंप्रज्ञात समाधि को वेदान्तियों ने निर्विल्प समाधि कहा है। पतंजलि ने इसको निर्बीज समाधि भी कहा है क्योंकि उससे नये संस्कार प्रस्फुटित नहीं होते। उससे नीचे की अवस्था संप्रज्ञात समाधि है। इसमें यद्यपि प्रकृति से अपने को भिन्न समझने का ज्ञान साधक के मन में उत्पन्न होता है तो भी यह अवस्था पूर्ण मोक्ष या कैवल्य से नीचे ही है क्योंकि इसमें द्वैत बुद्धि दूर नहीं होती।

---

१. (क) मोक्षेण योजनादेव योगोह्यत्र निरुच्यते।
लक्षणं तेन तन्मुख्यहेतुव्यापारतास्य तु ॥ –योगलक्षण द्वात्रिंशिका
(ख) मोक्षेण योजनाद् योगः एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्। –योगबिन्दु ३१, हरिभद्र

२. युजृपी योगे, गण ७, हेमचन्द्र धातुपाठ

३. युजिंच समाधौ, गण ४, हेमचन्द्र धातुपाठ

४. योगलक्षण द्वात्रिंशिका १०, १६

५. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। –पातंजल योगसूत्र, पा. १, सू. २

६. पातंजल योग-दर्शन, पाद १, सू. १७-१८

जैन दृष्टि से (१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता, और (५) वृत्तिसंक्षय ये योग के पाँच भेद हैं।[1] जो मोक्ष का साक्षात् कारण है, जिसके प्राप्त होते ही शीघ्र मोक्ष हो जाता है, वही वस्तुतः योग है, जिसे पतंजलि ने असंप्रज्ञात कहा है और जैनाचार्यों ने वृत्तिसंक्षय कहा है। असंप्रज्ञात और वृत्तिसंक्षय आत्मा को सर्वप्रथम प्राप्त नहीं होता किन्तु उसके पूर्व उसे विकास के अनेक कार्य करने होते हैं और उत्तरोत्तर विकास कर वास्तविक योग–असंप्रज्ञात या वृत्तिसंक्षय तक पहुँचता है। उसके पूर्व की अवस्थाएँ संप्रज्ञात और जैनदृष्टि से अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता है जो मिथ्यात्व के नष्ट होने पर प्राप्त होती है।

आचार्य पतंजलि ने योग के अभ्यास और वैराग्य ये दो उपाय बताये हैं। वैराग्य के पर और अपर ये दो प्रकार हैं।[2] उपाध्याय यशोविजय जी ने अपर-वैराग्य को अतात्त्विक धर्म-संन्यास और पर-वैराग्य को तात्त्विक धर्मसंन्यास योग कहा है।[3]

संप्रज्ञात योग में जैनदृष्टि से अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता होने से हम उसकी तुलना चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के साधकों के साथ कर सकते हैं और असंप्रज्ञात में वृत्ति संक्षय होता है अतः उसकी तुलना तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान से की जा सकती है।[4]

उपर्युक्त पंक्तियों में बहुत ही संक्षेप में हमने गुणस्थानों के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। विस्तार भय से उनके भेद-प्रभेद और अन्य दर्शनों के साथ उनके प्रत्येक पहलुओं पर विचार न कर संक्षेप में ही एक झाँकी प्रस्तुत की है, जिससे प्रबुद्ध पाठक गुणस्थानों के महत्त्व को समझ सकते हैं। गुणस्थान आध्यात्मिक विकास के सोपान हैं। आत्मा मिथ्यात्व से किस प्रकार निकलकर अपनी प्रगति कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी अवस्था को प्राप्त करता है उसका वैज्ञानिक विश्लेषण गुणस्थान में है। आचार्य हरिभद्र ने मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा इन आठ योगदृष्टियों के साथ गुणस्थानों की तुलना की है। इससे स्पष्ट है कि गुणस्थानों का आध्यात्मिक एवं चारित्रिक विकास की दृष्टि से कितना महत्त्व है। ● ●

---

१. योगभेदद्वात्रिंशिका १

२. पातंजल योग-दर्शन, पाद १, सूत्र १२, १५ और १६

३. विषय दोष-दर्शनजनित भयातधर्म संन्यासलक्षणं प्रथमम् स तत्त्वचिन्तया विषयौदासीन्येन जनितं द्वितीया पूर्वकरणभावितात्त्विक-धर्मसंन्यास लक्षणं द्वितीयं वैराग्यं यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते क्षायिकाश्चोत्पद्यन्त इत्यस्माकं सिद्धान्तः।

–श्री यशोविजय जी कृत पातंजल-दर्शनवृत्ति, पाद १०, सूत्र १६

४. संप्रज्ञातोऽवतरित-ध्यानभेदोऽत्र तत्वतः।
तात्त्विकी च समापत्तिर्नात्मनो भाव्यता विना ॥१५॥
असम्प्रज्ञातनामा तु, समतो वृत्तिसंक्षयः।
सर्वतोऽस्मादकरणनियमः पापगोचरः ॥२१॥

–योगावतार द्वात्रिंशिका

१२. व्रत-मीमांसा

व्रत की आवश्यकता और महत्त्व

भारतीय तत्त्व-चिन्तकों ने मानव-जीवन की श्रेष्ठता और सार्थकता के उपायों पर गहराई से चिन्तन किया है। "दुल्लहे खलु माणुसे भवे" कहकर मानव-जन्म की दुर्लभता प्रतिपादित की है। उसके पीछे भी मनुष्य की श्रेष्ठता ही कारण है। वैसे आहार, निद्रा आदि बातें तो सभी प्राणियों में समान रूप से पाई जाती हैं। किन्तु मानव की यह विशेषता है कि वह अपने जीवन को समुन्नत बनाने के लिए नियम, व्रत आदि की आराधनापालना कर सकता है। अपने विचारों व प्रवृत्तियों पर संयम का अंकुश लगा सकता है। व्रत धार्मिक जीवन की रीढ़ है। व्रतों के बिना धार्मिक जीवन जीया नहीं जा सकता। ऊर्जस्वी जीवन जीने के लिए व्रत की साधना आवश्यक है। व्रत का अर्थ–'किसी कार्य को करने या न करने का मानसिक निर्णय' है। व्यवहार की भाषा में इसे संकल्प कह सकते हैं, किन्तु व्रत और संकल्प में अन्तर है। संकल्प मानसिक निर्णय ही है और निर्णय शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के हो सकते हैं; पर व्रत सदा शुभ ही होता है। वह जीवन को नियन्त्रित करने वाली स्वेच्छा से स्वीकृत मर्यादा है। समाज, राष्ट्र और परिवार की सुव्यवस्था, सुरक्षा और सुख-शान्ति के लिए व्रत-ग्रहण करना आवश्यक है। व्रत एक प्रकार का आत्मानुशासन है, जो शरीर, इन्द्रिय और मन को अपने अनुशासन में रखता है।

व्रत : एक प्रतिज्ञा

व्रत एक अटल निश्चय है, जब तक मानव व्रत ग्रहण नहीं करता तब तक उसका मन अस्त-व्यस्त रहता है, उसकी बुद्धि निश्चल और निश्छल नहीं हो पाती। व्रत एक प्रकार की प्रतिज्ञा है। व्रत को ग्रहण करना, एक प्रकार से प्रतिज्ञाबद्ध होना है। प्रतिज्ञाबद्ध व्यक्ति निश्चल हो जाता है।

कल्पना करिए–एक तालाब है, यदि उस तालाब के पाल नहीं है तो वर्षा ऋतु में वह तालाब जब पानी से लबालब भर जाता है तब वह खतरे की घण्टी बन जाता है। वही स्थिति बिना तट के नदी की है। जब उसमें बाढ़ आती है, तब वह प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देती है। व्रतविहीन व्यक्ति तटहीन नदी की भाँति

उच्छृंखल और स्वच्छन्द है, वह कभी भी प्रलय की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। व्रत मानव-जीवन के लिए पाल के सदृश है। यह तटबन्ध के सदृश है, जो स्वच्छन्द चलते हुए जीवन-प्रवाह को मर्यादित बनाता है।

वृञ् वरणे धातु से व्रत शब्द निर्मित हुआ है; जिसका अर्थ है, स्वेच्छा से मर्यादा को स्वीकार करना। व्रत के पालन में और कानून के पालन में अन्तर है। कानून स्वेच्छा से स्वीकृत नहीं है, किन्तु व्रत स्वेच्छा से स्वीकृत है। जब मानव स्वेच्छा से नियमोपनियम का पालन नहीं करता तब बलपूर्वक उसे कानून का पालन करना पड़ता है। यह पूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो वस्तु जबरन लादी जाती है, उस वस्तु को भंग करने के लिए मन चाहता है पर जो स्वेच्छा से स्वीकृत है, उसको वह व्यक्ति प्राणप्रण से निभाता है।

आचार्य पतंजलि ने योग-साधना के लिए यम और नियम पर अत्यधिक बल दिया है। यम और नियम–दोनों ही व्रत हैं। आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य शुभचन्द्र आदि ने भी योग-साधना के लिए व्रतों का पालन आवश्यक माना है। व्रत एक प्रकार से आत्म-संयम है। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति में पले-पुसे व्यक्तियों का यह मानना है कि जीवन में व्रतों की आवश्यकता नहीं है। व्रतों को ग्रहण करना एक प्रकार से इच्छाओं का दमन करना है, अपने आपको बन्धन में आवद्ध करना है, जिससे जीवन नीरस बन जाता है और मन में एक प्रकार से अहंकार पैदा हो जाता है। व्रत ग्रहण करने से स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। इसलिए व्रत ग्रहण करना अनावश्यक है।

व्रत : दमन नहीं, शमन

कितने ही चिन्तकों का यह भी अभिमत है कि नियमों का पालन करना, उचित है। किन्तु उसके लिए व्रत लेने की आवश्यकता नहीं है। व्रत लेना मन की निर्बलता का प्रतीक है। साथ ही वह हानिप्रद भी है; क्योंकि व्रत लेने के पश्चात् कोई बाधा उपस्थित हो गई उस समय व्रत बन्धनकारक बन जायेगा। वह भाररूप प्रतीत होगा। इसलिए जानकर अपने आपको बन्धन में डालना उचित नहीं है। वे लोग इस प्रकार भी कहा करते हैं कि यों तो मदिरा पीना अच्छा नहीं है किन्तु कभी दवा के रूप में उसे ग्रहण कर लिया जाये तो कोई हानि नहीं है। अन्य व्यसन भी कभी-कभार सेवन किये जायें तो क्या आपत्ति है? इसलिए व्रत लेना गले में फन्दे डालने के सदृश है।

व्रत ग्रहण न करने के सम्बन्ध में जो तर्क दी जाती हैं, वे निर्बल मन की प्रतीक हैं। इन तर्कों में कोई बल नहीं है। व्रतों को स्वीकार करना मानव की इच्छा

पर निर्भर है। कोई भी व्रत हठात् नहीं दिया जाता। वह तो स्वेच्छा से ही ग्रहण किया जाता है। कुछ समय के लिए यह स्वीकार कर भी लिया जाये कि व्रत बन्धन है। पर वह बन्धन अपनी इच्छा से स्वीकृत बन्धन है। आत्मोत्थान की मंगलमय भावना से ग्रहण किया हुआ बन्धन है। जिससे समाज और राष्ट्र की व्यवस्था सुस्थिर होती है। व्रत दमन नहीं, शमन है। जब स्वेच्छा से व्यक्ति व्रतों को ग्रहण नहीं करता। तब शासन की ओर से उसे दण्ड ग्रहण करना पड़ता है। स्वच्छन्दता को रोकने के लिए नियम में आबद्ध होना पड़ता है। इसलिए स्वेच्छा से व्रत ग्रहण कर लेने पर व्यक्ति का पतन रुक जाता है।

व्रत : सुव्रत

व्रत अटल निश्चय का प्रतीक है। कितनी भी कठिनाइयाँ आयें, व्रती उन असुविधाओं से विचलित नहीं होता। उसके व्रतों को निखारने के लिए ही वे सारी असुविधाएँ होती हैं। व्रत ग्रहण करने के सम्बन्ध में यह विवेक आवश्यक है कि कोई भी व्रत क्रोध, मान, माया और लोभ के आवेश में आकर ग्रहण नहीं किया जाये। आवेश में ग्रहण किया गया व्रत सुव्रत नहीं होता, अपितु वह व्रत का अभिनय मात्र है। भगवती सूत्र में ऐसे त्याग को दुस्त्याग कहा है। कोई भी दुर्व्यसन ग्रहण करना जितना आसान है उतना ही त्याग करना कठिन है। यदि शरीर भी नष्ट हो जाये तो भी लिए हुए व्रत को भंग नहीं करना चाहिए। व्रतधारी के मन में यह पूर्ण निश्चय होना ही चाहिए–मेरा शरीर चाहे रहे या नष्ट हो जाये तो भी मैं व्रत का पालन करूँगा ही।

व्रत : स्वेच्छा से ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा

आगम साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जो भी साधक भगवान के या आचार्यों के निकट आता था, उसे व्रतों का स्वरूप समझाया जाता था। स्वरूप समझने के पश्चात् वह साधक स्वयं व्रत ग्रहण करने के लिए अपनी भावना व्यक्त करता। तब तीर्थंकर भगवान इतना कहते "जहासुहं देवाणुप्पिया !" हे देवताओं के वल्लभ ! जैसा तुम्हें सुख उत्पन्न हो, वैसा करो। साधक की स्वयं की इच्छा, रुचि और शक्ति पर व्रत ग्रहण करना छोड़ दिया जाता था। व्रत प्रदान करने की चीज नहीं है, स्वयं के ग्रहण करने की चीज है। जब व्रत स्वयं ग्रहण करने की चीज है तो उसमें हठात् का प्रश्न ही नहीं है। हाँ, व्रतप्रदाता को यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि इस साधक में कितनी योग्यता, पात्रता और क्षमता है। यदि पात्रता के अभाव में व्रत ले लिया गया तो उस व्रत का सही रूप से पालन नहीं होगा। जैसे एक व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ है, शरीर से हृष्ट-पुष्ट है तो उस व्यक्ति को

संथारा ग्रहण करवाना अनुचित है। आगमों से स्पष्ट है कि जिस साधक की जैसी योग्यता होती है, उसी तरह उसे व्रत ग्रहण करना चाहिए। जैसे कामदेव, आनन्द आदि श्रावकों ने अणुव्रत ग्रहण किये। धन्ना, शालिभद्र, मेघकुमार आदि ने महाव्रत ग्रहण किये।

व्रत : सार्वभौम हैं

अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि जो व्रत हैं, वे किसी एक ही धर्म की धरोहर नहीं हैं और न उन पर किसी का एकाधिकार ही है। ये व्रत सभी व्यक्तियों के लिये, समाज और राष्ट्र के लिये हैं। जिनमें योग्यता और क्षमता है, वे व्यक्ति व्रत ग्रहण कर सकते हैं। महर्षि पतंजलि ने व्रतों को सार्वभौम कहा है। ये व्रत जाति, देश, काल, परिस्थिति आदि के प्रतिबन्ध से रहित हैं, सर्वव्यापक हैं, सभी स्थितियों में पालनीय हैं। इसीलिये महान् व्रत हैं।[1] व्रत के प्रति जब तक गहरी निष्ठा नहीं होगी, वहाँ तक व्रतों को ग्रहण नहीं किया जा सकता। चाहे अणुव्रत हों, या महाव्रत हों, उन दोनों का एक ही उद्देश्य है, जीवन को आदर्श बनाना। एक पर्वतारोही हिमालय की उच्च चोटी पर आज न पहुँच सके पर उसका लक्ष्य उस शिखर को छूना है, भले ही इस समय हिमालय की तलहटी में क्यों न खड़ा हो। उसका आदर्श उन्नत होता है।

आदर्श : पर्वतारोहण के समान

प्रत्येक व्रत मूलस्पर्शी होता है, उसका सम्बन्ध मूल से रहता है। जिस प्रकार अहिंसा एक व्रत है। मन, वचन, काया से निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों रूप में कृत-कारित-अनुमोदित रूप में अहिंसा का पालन करना, यह उसकी मूलस्पर्शी व्याख्या है। वही अहिंसा स्थूल व्यवहार के रूप में सेवा, दया, क्षमा, करुणा, सहानुभूति प्रभृति विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है। व्रत की व्याप्ति स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक रहती है। व्रत का मूल स्वरूप सूक्ष्म है और उसका बाह्य रूप स्थूल है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सभी व्रतों के स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप होते हैं। साधक के लिये दोनों का पालन करना आवश्यक है। व्रतों की सूक्ष्मता से पालना करना जरा कठिन है। पर वही आदर्श है। व्रतों के सूक्ष्म रूप आदर्श ही व्रतों के स्थूल रूप में आचरण करने में पूर्णतया सहायक होते हैं। इसे निश्चयदृष्टि कह सकते हैं। यदि प्रत्येक व्रत के साथ निश्चयदृष्टि है तो उस व्रत के पालन करने में न दम्भ आयेगा और न शिथिलता ही आयेगी। आदर्श सदा आदर्श ही रहना चाहिए। आदर्श पर्वत की चढ़ाई की तरह कठिन अवश्य है किन्तु हितावह है।

---

१. जाति-देश-काल-समयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। —पातंजल योगदर्शनम्

व्यवहार और निश्चय

व्रतों पर चिन्तन व्यवहार और निश्चय–इन दोनों ही दृष्टियों से होना चाहिये। जब निश्चयदृष्टि से व्रतों पर चिन्तन होगा तो वह व्यवहार रूप में स्वतः आचरित होगा। जब निश्चयदृष्टि से व्रतों पर चिन्तन होता है, तब वह देह-निरपेक्ष होगा। जो चिन्तन देह को लक्ष्य में रखकर किया जाता है वह चिन्तन प्राणिमात्र के साथ आत्म-एकत्व की दृष्टि से अभेद चिन्तन नहीं होता। उसमें देह के सामान्य और विशेषत्व के विकल्प आते हैं। अतः देह का ध्यान रखकर व्रत के आदर्श का चिन्तन किया जायेगा तो वह चिन्तन व्यवहारपरक होगा। उसमें अनेक विकल्प उद्‌बुद्ध होंगे जिससे आदर्श का मर्यादित रूप ही हमारे सामने आयेगा, जो अपूर्ण है। आत्मा को साक्षी रखते हुए निश्चयदृष्टि से जो चिन्तन होगा, वह देह-निरपेक्ष होगा और साथ ही परिपूर्ण भी होगा।

उदाहरण के रूप में अहिंसा-व्रत का पालन करने में यदि देह-सापेक्ष चिन्तन होता है तो विभिन्न जीव और उनके शरीरादि विकल्प सामने आयेंगे। उसमें केवल न मारने तक का ही आदर्श रहेगा, जो परिपूर्ण नहीं है। सभी आत्माएँ हमारी आत्मा के सदृश ही हैं–यह अहिंसा का सर्वभूतात्मक रूप है। शुद्ध और निर्विकार आत्मा की यह अनुभूति है, जो अहिंसा का पूर्ण आदर्श है। इसी तरह सभी व्रतों के सम्बन्ध में निश्चय और व्यवहार इन दोनों दृष्टियों से चिन्तन करने पर पूर्ण आदर्श सामने रहेगा।

व्रत का उद्देश्य

व्रतों का उद्देश्य सदा-सर्वदा महान् ही होना चाहिए। जिसके व्रतों का उद्देश्य महान् है, वह कभी भी परिस्थिति के सामने घुटने नहीं टेकता, किन्तु उत्साहपूर्वक उससे जूझता है। व्रत-ग्रहण का उद्देश्य महान् और उच्च होना चाहिये। व्रतों का उद्देश्य महान् होने से मन में प्रचण्ड शक्ति का संचार होता है। साधक अपनी शक्ति को केन्द्रित करके उस महान् उद्देश्य की पूर्ति में लग जाता है। शिथिल और पुरुषार्थरहित संकल्प से उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। व्रतों को पूर्ण रूप से पालन करने के लिये उत्साह होना चाहिये। तन-मन से उसमें लग जाना चाहिये।

व्रतों का मूल उद्देश्य कर्मों की निर्जरा है। आत्म-शुद्धि, परमात्मभाव की प्राप्ति और वीतरागता की उपलब्धि है। कोई भी भौतिक, सांसारिक लिप्सा, स्वार्थ, भय, प्रलोभन व्रतों का उद्देश्य नहीं है। भगवान महावीर की वाणी को आचार्य शय्यम्भव ने उद्‌घोषित किया है–"न इस लोक के प्रयोजन के लिए धर्म का आचरण करे और न पारलौकिक प्रयोजन के लिए ही, न कीर्ति, प्रशंसा, प्रशस्ति की इच्छा से धर्माचरण करे, केवल कर्मों की निर्जरा हेतु ही धर्माचरण किया जाय।"

भय, लोभ या अन्य किसी भी सांसारिक प्रलोभन से व्रत का पालन करना श्रेयस्कर नहीं है। आत्मा में शान्ति, समता व वीतरागता की उपलब्धि के लिए ही व्रत का पालन करना उचित है।

कितने ही व्यक्ति व्रत ग्रहण करते समय अत्यन्त उत्साहित होते हैं। किन्तु व्रत ग्रहण करने के पश्चात् उनमें शिथिलता आ जाती है। मन में पूर्व की तरह उत्साह नहीं होता। केवल शर्मा-शर्मी व्रतों का पालन करते हैं, जिससे व्रत में पूर्ण प्रगति नहीं होती।

दम्भी व्रत का अधिकारी नहीं

व्रती वही बन सकता है जिसने शल्यों का परित्याग किया है। शल्य तीक्ष्ण काँटे या तीर को कहते हैं। जब वे शरीर में चुभ जाते हैं तो प्राणान्तक पीड़ा प्रदान करते हैं। इसी प्राकर व्रत ग्रहण करने वाले को माया शल्य, निदान शल्य, मिथ्यादर्शन शल्य जीवन भर तक पीड़ा देते हैं। वे आत्मा का विकास नहीं होने देते। माया शल्य का अर्थ है–जिस महान् उद्देश्य से व्यक्ति व्रत ग्रहण करता है, उसके साथ माया शल्य नहीं होना चाहिये। लोगों को दिखाने के लिये व्यक्ति व्रत ग्रहण तो कर लेता है, किन्तु गुप्त रूप से व्रत का भंग करता रहता है। लोगों के सामने व्रतधारी होने का अभिनय करता है; किन्तु लुक-छिपकर अनाचार का सेवन करता है जिससे उसकी आत्मा मलिन होती जाती है। जब उसकी माया का पर्दाफाश होता है तो एक क्षण में उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती है। ऐसे दम्भी पुरुष व्रत ग्रहण करने के अधिकारी नहीं होते।

व्रती को निदानरहित होना चाहिए

व्रत ग्रहण करने वाले को निदान शल्य से भी मुक्त होना चाहिये। व्रत-पालन की पृष्ठभूमि में किसी भी प्रकार की फलाकांक्षा, कामनाभावना और लालसा नहीं होती। यदि व्रत-पालन का फल स्वर्ग के रंगीन सुखों की चाह है, तो वह एक प्रकार की सौदेबाजी है। जिस व्रत के निर्मल पालन से अनन्तकाल के कर्म के कुछ ही क्षण में नष्ट हो जाते हैं, जिससे विराट्-वैभव तथा आनन्द की उपलब्धि होती है, उस महान् फल को तुच्छ वस्तु के लिये समर्पित करना निदान है। अतः व्रतधारी को निदान से भी मुक्त होना चाहिये।

मिथ्यात्व और व्रत

व्रती के लिये मिथ्यादर्शन शल्य का त्याग भी आवश्यक है। जहाँ तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक व्रत का सम्यग् प्रकार से पालन नहीं हो सकता। जैसे सूर्योदय

होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है वैसे ही मिथ्यात्व के नष्ट होने से सम्यग्ज्ञान का आलोक फैल जाता है। मिथ्यात्व रहने पर व्रती प्रतिपल-प्रतिक्षण संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय के कारण सम्यग्ज्ञान और सम्यग्श्रद्धा नहीं कर पाता। वह हर क्षण संशय के झूले में झूलता रहता है। पूर्वाग्रहवश किसी वस्तु का विपरीत स्वरूप पकड़ लेता है जिससे वह यथार्थ निर्णय नहीं कर पाता है। इसीलिये आचार्य उमास्वाति ने 'निःशल्योव्रती' कहा है।

साधकों के दो प्रकार

इस संसार में सभी मानवों को एक ही श्रेणी में नहीं रख सकते। जैसे विद्यालय में सभी लड़के एक ही कक्षा के नहीं होते। जिस विद्यार्थी में जैसी योग्यता होती है, उसी कक्षा में उसे भर्ती किया जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सभी साधकों की योग्यता एक समान नहीं होती। एतदर्थ ही साधकों को दो भागों में विभक्त किया है–एक अणुव्रती और दूसरा महाव्रती। एक आगारधर्म को ग्रहण करता है, दूसरा अनगारधर्म को। आगारी के व्रत अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत कहलाते हैं और अनगार के महाव्रत कहलाते हैं। यों देखा जाये तो पाँच अणुव्रतों और पाँच महाव्रतों के नाम में साम्यता है।

अणुव्रत और महाव्रत

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–ये ही नाम अणुव्रत के भी हैं और महाव्रत के भी; किन्तु इन व्रतों के पालन करने में अन्तर है। महाव्रतों का पूर्ण रूप से पालन करना होता है; जबकि अणुव्रतों का आंशिक रूप से। पर दोनों ही मोक्ष-मार्ग हैं। अणुव्रत और महाव्रत–ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। श्रमणों के आचार की अपेक्षा श्रावक का आचार सरल है। वह गृहत्यागी नहीं होता। संसार के व्यापार में संलग्न रहता है। पर वह अपने आचार के प्रति हर क्षण सचेत रहता है। उसका लक्ष्य श्रमणधर्म की ओर बढ़ने का है। जब उसकी आत्म-शक्ति बढ़ जाती है; वह क्रोधादि कषायों पर नियन्त्रण करने लगता है। द्वादश व्रतों का शनैः-शनैः निरतिचार पालन करते हुए एकादश प्रतिमाओं की साधना में समुत्तीर्ण होकर श्रमणधर्म को अंगीकार करने की स्थिति में पहुँचता है। इस तरह श्रावकधर्म श्रमणधर्म का आधार है। जैन धर्म की सम्पूर्ण व्रत परम्परा आत्मलक्ष्यी है। वह श्रावक और श्रमण दोनों के लिए व्यवस्थित, क्रमिक, विकासोन्मुख, ऊर्ध्वगामी आचार-संहिता प्रस्तुत करता है। उसमें देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और गुरुमूढ़ता का तनिक भी स्थान नहीं है। अणुव्रत आदि व्रतों के पालन से जहाँ श्रावक एक सच्चा साधक बनता है वहाँ वह समाज का सुसंचालन करने में भी अपूर्व क्षमता रखता है।

व्रत का व्यावहारिक रूप

जैन परम्परा ने मुख्य व्रतों को अणुव्रत या महाव्रत कहा है। योगदर्शनकार ने उसे 'पंच यम' कहा है और बौद्ध धर्म ने उन्हें 'पंचशील' कहा है। इस प्रकार जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा में व्रत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। सभी व्रतों का एक-दूसरे के साथ कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। निश्चयदृष्टि से आत्मभाव का परित्याग कर देहभाव में आते ही व्रत भंग का सूत्रपात होता है। पर व्यवहारदृष्टि से साधारण गृहस्थ इतनी गहराई से आदर्श पर चल नहीं सकता। एतदर्थ भगवान महावीर ने व्रतों का व्यावहारिक रूप बताकर गृहस्थ के लिए उनका पालन करना आवश्यक माना। गृहस्थ के सामाजिक, दैहिक या भौतिक आवश्यक कार्यों में किसी भी प्रकार की अड़चन न आये इसी दृष्टि से गार्हस्थ्य के बन्धन में रहते हुए व्रतों को ग्रहण करने और उनके पालन करने की अत्यन्त सरल रीति प्रस्तुत की है।

गृहस्थ श्रावक अपने व्रतों का पालन अनेक विकल्पों से करता है। व्रत ग्रहण करने के समय जिन विकल्पों का सहारा लिया जाता है वे ४९ हैं। ये विकल्प तीन करण और तीन योग से मिलकर बनते हैं। करण और योग ये दोनों जैन पारिभाषिक शब्द हैं। जिसके द्वारा कार्य किये जायें, वह करण है। कितने ही कार्य स्वयं किये जाते हैं, कितने ही कार्य दूसरों से कराये जाते हैं और कितनी ही बार दूसरों के द्वारा किये गये कार्यों का अनुमोदन या समर्थन किया जाता है। इन तीन करणों को क्रमशः कृत, कारित और अनुमोदित कहते हैं। मन, वचन और काया ये योग के तीन प्रकार हैं। इन तीनों को प्रवृत्ति और कार्य से जोड़ना। ४९ विकल्पों में से त्याग की मर्यादा की अपेक्षा से श्रावक आठ प्रकार के होते हैं–

(१) दो करण तीन योग से हिंसादि का त्याग

(२) दो करण दो योग से हिंसादि का त्याग

(३) दो करण एक योग से हिंसादि का त्याग

(४) एक करण तीन योग से हिंसादि का त्याग

(५) एक करण दो योग से हिंसादि का त्याग

(६) एक करण एक योग से हिंसादि का त्याग

(७) उत्तरगुणधारी श्रावक जिसमें भंग नहीं है।

(८) अव्रती श्रावक, जो व्रत ग्रहण नहीं करता, केवल सम्यक्त्वी रहता है।

व्रत ग्रहण करने के प्रकार

विभिन्न रुचि और शक्ति के अनुसार श्रावक विभिन्न विकल्पों से व्रतों को ग्रहण करते हैं। कितने ही पाँचों व्रतों को प्रथम भंग के अनुसार, कितने ही द्वितीय भंग के अनुसार और कितने ही तृतीय भंग के अनुसार ग्रहण करते हैं। वह छह भंगों के आधार पर पाँचों अणुव्रत ग्रहण करता है। श्रावकों के छह भेद होते हैं। इसी तरह ही छह भेद चार व्रत लेने वाले के छह भेद तीन व्रत लेने वाले के, छह भेद दो व्रत लेने वाले के छह भेद एक व्रत लेने वाले के, यों कुल तीस भेद होते हैं। ३१वाँ भेद उत्तरगुणधारी का और ३२वाँ भेद अव्रती श्रावक का है। इस तरह श्रावक के व्रत ग्रहण के ३२ भेद हुए। श्रावक के लिए ४९ भंग अणुव्रत ग्रहण करने हेतु बताये हैं। वर्तमान में दो करण-तीन योग से पापों का परित्याग करने वाला उच्चतम श्रावक कहलाता है। प्रतिमाधारी श्रावक तीन करण और तीन योग से अणुव्रतों का पालन करते हैं; पर उनकी व्रतग्रहण विधि प्रत्येक श्रावक अपना नहीं सकता। जिन श्रावकों पर गृहस्थाश्रम की जिम्मेदारी है, वे तीन करण और तीन योग से व्रत ग्रहण नहीं कर पाते, क्योंकि उनका सम्बन्ध ऐसे व्यक्तियों से भी होता है, जिन्होंने पापों का परित्याग नहीं किया हो। यद्यपि वह स्वजन और परिजन को भी वचन और काया से किसी पाप की अनुमति नहीं देता, पर उनके साथ रहने, परिचित होने या उनके सम्बन्धी होने के नाते, उसकी मूक अनुमति तो हो ही जाती है। वह स्वयं स्थूलहिंसा नहीं करता, दूसरों से भी नहीं करवाता, पर गृहस्थ होने से उसने अपने परिवार से ममत्वभाव का छेदन नहीं किया है, अतः वे जो कुछ हिंसादि करते हैं, उसे न तो वह स्वयं छोड़ सकता है, न उनके साथ परिचय आदि का त्याग कर सकता है। इसलिये संसर्ग दोष तो उसे लगता ही है। कभी-कभी उसे गृहस्थ की दृष्टि से प्रेरणा भी प्रदान करनी पड़ती है। जैसे–दो करण तीन योग से व्रत ग्रहण करने वाले ने किसी से कहा–भोजन कर लो। यदि भोजन करने वाला राज्याधिकारी या अभक्ष्यभोजी है, वह भोजन के लिए होटल में जाकर अभक्ष्य पदार्थ खाता है या अपेय पदार्थ का उपभोग करता है। क्लेशवृद्धि की सम्भावना के कारण श्रावक उससे सर्वथा सम्बन्ध भी तोड़ नहीं सकता और सम्बन्ध तोड़ने पर उसे सन्मार्ग पर भी नहीं लाया जा सकता।

व्रत की मर्यादा

उपासकदशांग में वर्णन आता है कि महाशतक श्रावक की तेरह पत्नियाँ थीं। उनमें रेवती अत्यन्त क्रूर प्रकृति की नारी थी। उसने अपनी बारह सौतों को विष व शस्त्र प्रयोग से नष्ट कर दिया था और उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति पर उसका आधिपत्य हो गया था। रेवती जैसी क्रूर महिला मिल जाने पर श्रावक का क्या कर्त्तव्य है?

क्या उसे घर से बाहर निकाल दिया जाये? महाशतक दीर्घदर्शी श्रावक था। वह जानता था कि रेवती हिंसक अवश्य है; किन्तु व्यभिचारिणी नहीं। वह दो करण और तीन योग से हिंसा का त्यागी था। इसलिए हिंसा तो कर ही नहीं सकता था। यदि उसे वह घर से निकाल देता तो वह व्यभिचारिणी तथा अधिक हिंसक बन जाती, जिससे दोनों कुल बदनाम होते। सम्भव है, इसी विचार से उसने रेवती को घर से नहीं निकाला। यद्यपि वह उससे विरत था तथापि रेवती के साथ संवासानुमोदन पाप से नहीं बच सकता था। एतदर्थ ही उसने दो करण तीन योग से व्रत ग्रहण किये थे। सामान्य गृहस्थ श्रावक अनुमोदनजनित पाप का भागी होने से वह तीन करण तीन योग से व्रत ग्रहण नहीं करता और न अपनी जाति से सम्बन्ध विच्छेद ही कर सकता है।

यहाँ व्रत, उसके महत्त्व, व्रतनिष्ठा तथा व्रतग्रहण के सम्बन्ध में बहुत ही संक्षेप में विचार प्रस्तुत किये हैं। अगले खण्डों में श्रावक के व्रतों और श्रमण के महाव्रतों पर चिन्तन प्रस्तुत किया जायेगा।

●●

आगमों में श्रावक का आदर्श

- श्रमणोपासक पुण्य-पाप के रहस्य का ज्ञाता होता है।
- वह परसहाय-निरपेक्ष होता है, सामान्य स्थिति में तो क्या, विपत्तिकाल में भी देव, असुर आदि की सहायता की प्रार्थना नहीं करता।
- वह सर्वत्र प्रीतिकर और विश्वसनीय होता है। राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करने पर भी उस पर अविश्वास या सन्देह नहीं किया जाता।
- उसके गृहद्वार हर समय सबके लिए खुले रहते हैं।
- वह निर्ग्रन्थ-श्रमणों को शुद्ध निर्दोष भिक्षा देने में सदा दक्ष व जागरूक रहता है।
- अपने धर्माचरण में सदा अप्रमत्त और दृढ़ रहता है।

–सूत्रकृतांगसूत्र, द्वि. श्रुत., अ. २

१३. जैन साहित्य में श्रावकाचार की विविध भूमिकाएँ

जैन मनीषियों ने साधना के सम्बन्ध में गहराई से अनुचिन्तन किया है। उन्होंने योग्यता के अनुसार साधकों को दो भागों में विभक्त किया है–श्रावक और श्रमण। श्रमण की साधना उत्कृष्ट होती है। श्रावक की साधना उतनी उत्कृष्ट-कठोर नहीं होती। श्रमण सांसारिक प्रंपचों से अलग-थलग रहकर आरम्भ-परिग्रह से मुक्त होकर साधना करता है; किन्तु श्रावक गृहस्थाश्रम में रहकर साधना करता है। वह 'सागारी' कहलाता है।

"आगार" का अर्थ घर है। घर के प्रपंचमय जीवन में रहकर जो साधना की जाती है, वह आगारधर्म की साधना है। श्रावक श्रद्धापूर्वक गुरुजनों से निर्ग्रन्थ प्रवचन को श्रवण करता है। इसलिए वह 'श्राद्ध' या 'श्रावक' है। वह श्रमण-वर्ग की उपासना करने में तल्लीन रहता है। इसलिए वह 'श्रमणोपासक' या 'उपासक' के नाम से अभिहित किया जाता है। वह एक देश से अहिंसा आदि व्रतों को धारण करता है, इसलिए 'अणुव्रती', 'देशव्रती', 'देशविरत', 'देशसंयमी' और 'देशसंयति' के नाम से भी संबोधित किया जाता है।

श्वेताम्बर आगम साहित्य में

जैन आगम साहित्य ज्ञान-विज्ञान एवं आचार का अक्षय कोष है। जीवन-जगत् आत्मा-परमात्मा, पुद्गल आदि के सम्बन्ध में अत्यधिक विस्तार के साथ उसमें विश्लेषण किया गया है। श्रमण-जीवन के सम्बन्ध में भी वहाँ पर विस्तार से उट्टंकन हुआ है, क्योंकि जैन संस्कृति में श्रमण-जीवन का अत्यधिक महत्त्व रहा है। श्रमण-संस्कृति का प्राण-तत्त्व श्रमण है, अतः श्रमण-जीवन के सम्बन्ध में अनेक आगमों में विचार-चर्चा की गई है, उसकी आचार-संहिता पर प्रकाश डाला गया है। जितना व्यापक चिन्तन श्रमण-जीवन के सम्बन्ध में हुआ है, उतना ही श्रावक-जीवन के सम्बन्ध में नहीं हुआ है; क्योंकि जैन संस्कृति का यह आघोष रहा है कि श्रमण-जीवन ही साधक का लक्ष्य है। यदि साधक उतनी उत्कृष्ट साधना नहीं कर पाता है तो वह गृहस्थाश्रम में रहकर व्रतों का पालन कर सकता है। वैदिक परम्परा की तरह जैन धर्म ने गृहस्थ धर्म को प्रमुख धर्म नहीं माना बल्कि श्रमणधर्म की ओर बढ़ने का लक्ष्य लिए एक मध्य-विश्राम मात्र माना है। आनन्द

श्रावक ने व्रत ग्रहण करते समय श्रमण भगवान महावीर से कहा–भगवन् ! मुझे निर्ग्रन्थ धर्म पर अपार श्रद्धा है। आपश्री के पावन उपदेश को श्रवण कर अनेक राजा, युवराजा, इभ्यसेठ, सेनापति, सार्थवाह मुण्डित होकर गृहस्थाश्रम का परित्याग कर श्रमण बने हैं, पर मैं श्रमण बनने में समर्थ नहीं हूँ। अतः गृहस्थ धर्म को स्वीकार करता हूँ।[1] तात्पर्य यह है कि जैन श्रमणोपासक गृहस्थाश्रम में रहना अपनी कमजोरी मानता है, उसे वैदिक परम्परा की तरह आदर्श नहीं मानता। यही कारण है कि श्रमण-संस्कृति का रुझान श्रमणधर्म की ओर विशेष रहा है तथापि आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से उपासकों के जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। वह चिन्तन इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके पश्चात् निर्मित ग्रन्थों में उस पर विस्तार से विश्लेषण हुआ है। हम सर्वप्रथम आगम साहित्य में यत्र-तत्र आये हुए श्रावक धर्म के सम्बन्ध में चिन्तन को प्रस्तुत करेंगे और उसके पश्चात् उसी चिन्तन पर आधृत स्वतन्त्र ग्रन्थों का परिचय देंगे।

आगम साहित्य में श्रावकाचार

आचारांगसूत्र–आगम साहित्य में इसका स्थान प्रथम है। इस आगम में आचार का जो विश्लेषण हुआ वह श्रमण-जीवन को संलक्ष्य में रखकर हुआ है, गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में प्रकाश नहीं के समान है। इसी तरह सूत्रकृतांगसूत्र में भी श्रमणों से सम्बन्धित विषयों पर ही चिन्तन किया गया है। कहीं-कहीं श्रावकों के व्रतों पर भी चिन्तन हुआ है। लेप श्रावक के लिए 'अभिगत जीवऽजीवे' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सप्तम अध्ययन 'नालंदीय' में श्रावक के 'प्रत्याख्यान' आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण चिन्तन किया गया है।

स्थानांगसूत्र–यह सूत्र किसी एक विषय पर नहीं लिखा हुआ है। यह कोश शैली में लिखा हुआ आगमरत्न है। इस आगम में अनेक स्थलों पर श्रावकधर्म के सम्बन्ध में चिन्तन-सूत्र बिखरे पड़े हैं। सर्वप्रथम जहाँ धर्म पर चिन्तन किया गया है, वहाँ पर धर्म[2] को दो भागों में विभक्त किया गया है–(१) आगारधर्म और (२) अनगारधर्म। आगारधर्म गृहस्थों का है, श्रमणोपासकों का है। श्रमणोपासक तीन मनोरथों[3] का चिन्तन करता है–

(१) कब मैं अल्प या बहुत परिग्रह का परित्याग करूँगा ?

(२) कब मैं मुण्डित होकर आगार से अनागारत्व में प्रव्रजित होऊँगा ?

---

१. उपासकदशांग १/१४ (श्रमणी विद्यापीठ प्रकाशन)

२. स्थानांग २/७२

३. वही ३/४/२१०

(३) कब मैं अपश्चिम मारणांतिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर, भक्तपान का परित्याग कर प्रायोपगमन अनशन कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विहरण करूँगा?

श्रमणोपासक के चार प्रकार[1] बताये हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) कुछ रालिक श्रमणोपासक महाकर्मा, महाक्रिय, अनातापी (अतपस्वी) और अशमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले नहीं होते।

(२) कुछ रालिक श्रमणोपासक अल्पकर्मा, अल्पक्रिय, आतापी और शमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले होते हैं।

(३) कुछ अवमरान्तिक श्रमणोपासक महाकर्मा, महाक्रिय, अनातापी और अशमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले नहीं होते।

(४) कुछ अवमरान्तिक श्रमणोपासक अल्पकर्मा, अल्पक्रिय, आतापी और शमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले होते हैं।

इसी प्रकार श्रमणोपासिका के सम्बन्ध में भी चार बातें बताई गई हैं।

आगे चलकर श्रद्धा और वृत्ति के आधार पर श्रमणोपासकों के चार प्रकार बताये हैं। जिन श्रमणोपासकों के अन्तर्मानस में श्रमणों के प्रति अत्यन्त वात्सल्य होता है उन श्रमणोपासकों की तुलना माता-पिता के साथ की गई है। वे तत्त्व-चर्चा और जीवन-निर्वाह आदि के प्रसंगों में माता-पिता के समान वात्सल्य का परिचय देते हैं। जिन श्रमणोपासकों के अन्तर्मानस में वात्सल्य और उग्रता दोनों होती हैं उनकी तुलना भाई के साथ की गई है। वे श्रमणोपासक तत्त्व-चर्चा आदि के प्रसंगों में कठोरतापूर्ण व्यवहार भी करते हैं, पर जीवन-निर्वाह का प्रसंग आने पर उनके हृदय में वात्सल्य का पयोधि उछालें मारने लगता है। जिन श्रमणोपासकों के अन्तर्मानस में श्रमणों के प्रति सापेक्ष प्रीति होती है, उनकी तुलना सामान्य मित्र से की गई है। यदि सामान्य मित्र से किसी कारणवश प्रीति नष्ट हो जाय तो वे मित्र जो अनुकूलता के समय वात्सल्य का प्रदर्शन करते थे वही प्रतिकूल स्थिति में श्रमणों की उपेक्षा करते हैं। कितने ही श्रमणोपासकों के अन्तर्मानस में ईर्ष्या की आग जलती रहती है, वे ईर्ष्या के वशीभूत होकर श्रमणों के दोष ही देखते रहते हैं। उनकी तुलना सौत से की गई है। वे किसी भी प्रकार से श्रमणों का हित-चिंतन नहीं करते।[2]

---

१. स्थानांग ४/३२८

२. चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा–
अम्मापिइसमाणे, भाइसमाणे, मित्तसमाणे, सवत्तिसमाण। –*स्थानांग, ४/३/३२१*

श्रमणोपासकों की योग्यता और अयोग्यता को संलक्ष्य में रखकर श्रमणोपासकों के चार विभाग किये हैं। कितने ही श्रमणोपासक दर्पण के समान निर्मल होते हैं, वे श्रमण के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वनिरूपण को यथार्थ रूप से ग्रहण करते हैं, उनमें उन तत्त्वों का यथार्थ प्रतिबिम्ब गिरता है। कितने ही श्रमणोपासकों का तत्त्वबोध अनवस्थित होता है, वे किसी भी निश्चित विचारबिन्दु पर अवस्थित नहीं होते। उनकी तुलना ध्वजा से की गई है। कितने ही श्रमणोपासकों का अन्तर्मानस शुष्क और नीरस होता है, उनमें किसी भी प्रकार का लचीलापन नहीं होता, उनमें एक प्रकार का आग्रह होता है, वे किसी के सत्य-तथ्य को स्वीकार नहीं कर सकते। उनकी तुलना स्थाणु से की गई है। वे स्थाणु की तरह होते हैं, उनमें सरसता का अभाव होता है। कितने ही श्रमणोपासकों का अन्तर्मानस कदाग्रह से ग्रस्त होता है। यदि श्रमण हितबुद्धि से उसके कदाग्रह को छुड़वाने का उपदेश देते हैं तो वह उपदेश देने वाले श्रमण को ही दुर्वचन कहता है। उसकी तुलना काँटे से की गई है। जैसे–काँटा जिस वस्त्र से लगता है उस वस्त्र को फाड़ देता है, जो काँटे को निकालता है उस हाथ को भी बींध देता है, वैसे ही वह श्रमणोपासक होता है।[1]

स्थानांग के पाँचवें स्थान ५/१/३८९ में पाँच अणुव्रतों का वर्णन है, वहाँ केवल पाँच अणुव्रतों के नाम गिनाये गये हैं, जैसे–स्थूलप्राणातिपातविरमण, स्थूलमृषावादविरमण, स्थूलअदत्तादानविरमण, स्वदारसन्तोष, इच्छापरिमाण। इस प्रकार स्थानांगसूत्र में श्रमणोपासक के जीवन से सम्बन्धित बिखरा हुआ चिन्तन मिलता है।

समवायांगसूत्र भी स्थानांग की तरह कोश-शैली में लिखा हुआ है। उसमें (११-५ में) श्रावकों की ११ प्रतिमाओं का उल्लेख है–(१) दर्शन श्रावक, (२) कृत व्रतकर्म, (३) कृत सामायिक, (४) पौषधोपवास निरत, (५) दिन में ब्रह्मचर्य का पालन और रात्रि में मैथुन-सेवन का परिमाण, (६) दिन और रात्रि में ब्रह्मचर्य का पालन, अस्नान, रात्रि-भोजन-विरति, कच्छ परिधान परित्याग, मुकुट त्याग, (७) सचित्त परित्याग, (८) आरम्भ परित्याग, (९) प्रेष्य परित्याग, (१०) उद्दिष्ट भक्त परित्याग और (११) श्रमणभूत।

भगवतीसूत्र सभी आगमों में विराट्काय आगम है। उसमें ३६,००० प्रश्नोत्तर हैं। विविध विषयों पर उसमें चिन्तन किया गया है। यद्यपि उसमें श्रावकधर्म पर कोई स्वतन्त्र अध्याय नहीं है, किन्तु कुछ विशिष्ट प्रसंग हैं जो श्रावक-जीवन की

---

१. चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा–
अद्दागसमाणे, पडागसमाणे, खाणुसमाणे, खरकंटयसमाणे। –स्थानांग ४/३/३२१

महत्ता पर प्रकाश डालते हैं। द्वितीय शतक में तुंगिया नगरी के श्रावकों के आदर्श जीवन का अंकन करते हुए कहा गया है कि वे स्वभाव से बहुत उदार तथा दीन व असहायों के लिए आधारस्तम्भ के रूप में थे। तत्त्व के गम्भीर ज्ञाता थे। उनका पवित्र जीवन जन-जन के लिए आदर्श था।

भगवती के सातवें शतक (उ. १०) में मद्दुक श्रमणोपासक का वर्णन है। वह राजगृह का रहने वाला था। जैनदर्शन का मर्मज्ञ विद्वान् था। एक बार कालोदाई, शैलोदाई, सेवालुदाई, उदक, नामोदक, अन्नपाल, शैवाल, संखपाल, सुहस्ती और गाथापति आदि अन्यतीर्थिक मद्दुक के पास आये। उन्होंने कहा–"श्रमण भगवान महावीर पंच अस्तिकायों का प्रतिपादन करते हैं, उनमें एक को जीव और चार को अजीव कहते हैं। षट्द्रव्य की दृष्टि से एक को रूपी और पाँच को अरूपी कहते हैं। इस सम्बन्ध में तुम्हारा क्या विचार है? हम उसे जानना चाहते हैं। जो भी तुम्हारे पास अस्तिकाय को सिद्ध करने के लिए प्रमाण हो वह प्रस्तुत करो।"

मद्दुक ने कहा–"अस्तिकाय के कार्यों से ही इसका अनुमान किया जा सकता है। संसार के कितने ही पदार्थ दृश्य होते हैं, कितने ही अदृश्य होते हैं, जो अनुभव, अनुमान और कार्य से जाने जा सकते हैं।"

अन्यतीर्थिकों ने उपहास करते हुए कहा–"तुम किस प्रकार के श्रमणोपासक हो, जो अपने धर्माचार्य के कहे हुए द्रव्यों को न जानते हो, न देखते हो, तथापि उसे मानते हो?"

मद्दुक ने कहा–"मैं आपसे जानना चाहता हूँ कि सनसनाता हुआ पवन चल रहा है, क्या आप उसे देखते हैं? उसका रंग-रूप कैसा है?"

अन्यतीर्थिकों ने कहा–"हवा सूक्ष्म होने से हम उसके रूप को नहीं देख पाते।"

मद्दुक ने कहा–"सुगन्ध और दुर्गन्ध जिसका आप अनुभव करते हैं, क्या उसके रूप-रंग को देखते हैं? इसी तरह अरणि काष्ठ में अग्नि रहती है, क्या वह अग्नि आपको दिखाई देती है? देवगण जो दिखाई नहीं देते हैं, क्या उन्हें आप नहीं मानते? जो पदार्थ दिखाई न देते हों उन्हें आप अमान्य करेंगे तो आपको अपनी ही अतीत काल की वंश-परम्परा को भी अमान्य करना होगा।"

अन्यतीर्थिक मद्दुक के अकाट्य तर्कों का उत्तर न दे सके। उसके गंभीर ज्ञान की श्रमण भगवान महावीर ने भी प्रशंसा की। एक श्रमणोपासक तत्त्वों का कितना गंभीर ज्ञाता होता था जो अन्यतीर्थिकों को शास्त्रार्थ में परास्त कर देता था–यह इस प्रसंग से स्पष्ट होता है।

भगवतीसूत्र के बारहवें शतक (उ. २) में भगवान महावीर के परम भक्त शंख और पोखली श्रावकों का वर्णन है जो श्रावस्ती के निवासी थे, जिन्होंने सामूहिक रूप से खा-पीकर पाक्षिक पौषध किया था। इसी शतक में जयन्ती श्रमणोपासिका का भी उल्लेख है। उसके मकानों में श्रमण और श्रमणियाँ ठहरती थीं, इसीलिए वह 'शय्यातर' के रूप में विश्रुत थी। वह तत्त्वों के मर्म की ज्ञाता थी। उसने भगवान महावीर से अनेक जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं। उसकी जिज्ञासाएँ जीवन और दर्शन से सम्बन्धित थीं।

एक श्राविका का उस युग में तत्त्वविद् होना आश्चर्य ही है। जिस युग में 'न स्त्री-शूद्रौ वेदमधीयेताम्' की मान्यताएँ थीं, उस युग में तत्त्वों का गंभीर रहस्य जानना और उसके सम्बन्ध में भगवान महावीर से विचारचर्चा करना उसके साहस का स्पष्ट द्योतक है।

भगवतीसूत्र में ही कार्तिक श्रेष्ठी के द्वारा एक सौ बार पाँचवीं प्रतिमा धारण करने का वर्णन आया है।

इस तरह भगवती में प्रसंगानुसार श्रावक-जीवन पर चिन्तन किया गया है। उनका आदर्श जीवन जन-जन के लिए प्रेरणादायी है। पर श्रावकों के व्रत और प्रतिमाओं पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन प्राप्त नहीं होता।

ज्ञातासूत्र में कथाओं के माध्यम से जीवन और दर्शन के गंभीर रहस्य सुलझाये गये हैं। किन्तु उसमें भी पृथक् रूप से श्रावकधर्म के सम्बन्ध में विश्लेषण नहीं किया गया है।

उपासकदशांगसूत्र में भगवान महावीरकालीन दस श्रावकों का वर्णन है। वे ये हैं—आनन्द, कामदेव, चुलिनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, शकाडालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और शालिनीपिता। इनमें सर्वप्रथम आनन्द श्रावक हैं। उन्होंने भगवान महावीर के पावन प्रवचनों को सुनकर श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। बारह व्रतों के नाम, उनके अतिचारों के नाम, ११ प्रतिमाओं का उल्लेख और जीवन की सान्ध्य बेला में संलेखना करने का वर्णन है।[1] प्रस्तुत आगम में श्रमणोपासकों की कठोर परीक्षाएँ भी बताई गई हैं और वे उन सभी परीक्षाओं में खरे उतरे हैं।

अन्तकृद्दशांगसूत्र (अध्ययन ३) में सुदर्शन श्रेष्ठी का वर्णन है। वह श्रमणोपासक था। जीवाजीव का परिज्ञाता था। उसके व्रत ग्रहण करने का उल्लेख प्रस्तुत आगम में नहीं है, तथापि एक श्रावक की जिनधर्म के प्रति कितनी गहरी निष्ठा है, इसका सजीव चित्रण इसमें है। भगवान महावीर राजगृह नगर के बाहर

१. उपासकदशांगसूत्र, अ. १, सूत्र १४ से ७५ (प्रकाशक : श्रमणी विद्यापीठ, घाटकोपर, बंबई)

पधारे हुए हैं। अर्जुनमाली महाकाल के रूप में नगर के बाहर घूम रहा है। किन्तु मृत्यु से भी भयभीत न होकर सुदर्शन भगवान के दर्शन के लिए चल पड़ता है। सुदर्शन की गहरी निष्ठा का इसमें चित्रण हुआ है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में श्रावक धर्म की दृष्टि से कोई वर्णन नहीं है। तथापि हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह पर चिन्तन कर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। श्रावकों के अणुव्रतों के सही स्वरूप को समझने के लिए प्रस्तुत वर्णन सर्चलाइट के समान उपयोगी है।

विपाकसूत्र[1] के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सुबाहुकुमार का वर्णन है। वह श्रावक के द्वादश व्रत ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त भद्रनन्दी, सुजात आदि कुमार भी श्रावक के बारह व्रत स्वीकार करते हैं।

राजप्रश्नीयसूत्र[2] में राजा प्रदेशी जो उस युग का एक अद्‌भुत विज्ञानप्रेमी और तार्किक था, जिसका जीवन पहले बहुत क्रूर था, उसके हाथ रक्त से सने हुए रहते थे। केशी श्रमण के सत्संग से उसके जीवन का रंग बदल जाता है। एक दिन वही क्रूर हृदय शासक इतना दयालु, शान्त, विरक्त श्रावक बन जाता है कि महारानी के द्वारा जहर देने पर उसके अन्तर्मानस में किंचित् मात्र भी रोष नहीं आता। एक श्रावक का जीवन साधना की दृष्टि से कितना उत्कृष्ट हो सकता है, उसका स्पष्ट चित्र इसमें उपस्थित हुआ है।

उत्तराध्ययनसूत्र में गृहस्थ के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा नहीं है, पर जो गृहस्थ-जीवन को हेय समझते हैं और कहते हैं कि गृहस्थ का जीवन पाप की कालिमा से लिप्त है, उसका प्रत्येक आचरण पापमय है, इसका समुचित निवारण भगवान महावीर ने किया है। वे गृहस्थ श्रावकों को 'श्रमणभूत'[3] शब्द से सम्बोधित करते हैं। उत्तराध्ययन (५/२०) में स्पष्ट कहा है–"कुछ भिक्षुओं की अपेक्षा गृहस्थ संयम की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं और गृहस्थ दशा में रहते हुए भी साधक सुव्रत हो जाता है।"

दशाश्रुतस्कन्ध के छठे उद्देशक में उपासक की ११ प्रतिमाओं का नाम सहित उल्लेख किया गया है।

आवश्यकसूत्र में षडावश्यक की चर्चा करते हुए सम्यक्त्व के साथ १२ व्रतों के अतिचारों का वर्णन किया गया है और साथ ही संलेखना के अतिचारों का भी वर्णन है।

---

१. विपाकसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १ से १० तक
२. राजप्र. द्वितीय विभाग, राजा प्रदेशी अधिकार
३. समवायांग ११

इस प्रकार आगम साहित्य में श्रमणोपासकों के सम्बन्ध में यत्र-तत्र चिन्तन किया गया है। आगम साहित्य के व्याख्या-साहित्य, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका ग्रन्थों में भी स्थान-स्थान पर श्रावकाचार के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। विस्तार-भय से उन सभी के सम्बन्ध में मैं यहाँ चिन्तन प्रस्तुत नहीं कर रहा हूँ।

आगम और उसके व्याख्या-साहित्य के पश्चात् श्वेताम्बर विज्ञों ने श्रावकाचार पर अत्यधिक विस्तार से लिखा है। दिगम्बर विद्वान् भी पीछे नहीं रहे हैं। मूर्धन्य मनीषियों का अभिमत है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर विज्ञों द्वारा लिखा हुआ श्रावकाचार का साहित्य एक लाख श्लोक से भी अधिक परिमाण वाला है। हम यहाँ पर पहले श्वेताम्बर ग्रन्थों का परिचय देंगे और उसके पश्चात् दिगम्बर ग्रन्थों का, जिससे प्रबुद्ध पाठकों को ज्ञात हो सके कि जैनाचार्यों ने श्रावकाचार पर कितना लिखा है।

उत्तरवर्ती श्वेताम्बर परम्परा में

आचार्य उमास्वाति–आचार्य उमास्वाति का जैनदर्शन में अनूठा स्थान रहा है। 'तत्त्वार्थसूत्र' उनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। जैन तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, आत्मविद्या, पदार्थ विज्ञान, कर्मशास्त्र प्रभृति अनेक विषयों पर उसमें सुन्दर निरूपण है। तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय में बहुत ही संक्षेप में श्रावकों के व्रत, उनके अतिचार तथा संलेखना के ५ अतिचारों का प्रतिपादन हुआ है। किन्तु श्रावक की ११ प्रतिमाओं का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र में नहीं हुआ है।

उमास्वाति की दूसरी कृति 'श्रावक प्रज्ञप्ति' है। इस ग्रन्थ में चार सौ तीन गाथाएँ हैं। भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा गया है। इस पर आचार्य हरिभद्र ने टीका लिखी है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'श्रावक' शब्द पर चिन्तन करते हुए आचार्य ने लिखा–"जो सम्यग्दृष्टि साधुओं के पास उत्कृष्ट समाचारी श्रवण करता है, वह 'श्रावक' है।"[1] उसके पश्चात् ग्रन्थ में श्रावक के द्वादश व्रतों का निरूपण है।

आचार्य उमास्वाति, प. सुखलाल जी के अभिमतानुसार, वि. सं. की पहली और तीसरी शताब्दी के बीच में हुए हैं।

---

१. (क) सम्मत्तदंसणाइं पइदिअहं जइजणा सुणेइ य।
सामायारी परमं जो खलु, तं सावगं वित्ति॥ –श्रावक प्रज्ञप्ति, गाथा ६
(ख) मूल गाथाओं का गुजराती अनुवाद टीका सहित–प्रकाशक : वकील केशवलाल प्रेमचन्द, सं. १९६१
(ग) गुजराती भाषानुवाद–ज्ञान प्रचारक मण्डल, बंबई, सं. १९६७

आचार्य हरिभद्र, जो वि. सं. नौवीं शताब्दी के थे, 'धर्मबिन्दु प्रकरण' के रचयिता हैं। इस ग्रन्थ में श्रमण और श्रावक धर्म की विवेचना की गई है। श्रावक बनने के पूर्व मार्गानुसारी के ३५ गुणों की आवश्यकता है। उन ३५ गुणों का सर्वप्रथम निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। ये गुण जीवन को निर्मल, पवित्र और व्यावहारिक बनाते हैं।

आचार्य हरिभद्र की दूसरी कृति 'श्रावकधर्मविधि प्रकरण' है।[1] यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध है। इसमें १२० गाथाएँ हैं। इस पर मानदेवसूरि ने टीका रची है।

सुविहित आचार्य जिनेश्वर, जो ११वीं शताब्दी के थे, 'षट्स्थान प्रकरण'[2] के रचयिता हैं। उन्होंने १०४ प्राकृत गाथाओं में इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'श्रावक वक्तव्यता' है। प्रस्तुत ग्रन्थ में वृत्तपरिकर्मत्व, शीलवत्व, गुणवत्व, ऋजुव्यवहार, गुरुशुश्रूषा और प्रवचनकौशल्य इन छह स्थानों का वर्णन है। श्रावक के जीवन में ये छह गुण अँगड़ाइयाँ लेते हैं। इन षट्स्थानों के क्रमशः चार, छह, पाँच, चार, तीन और छह–ये पाँच प्रभेद किये हैं। आचार्य जिनप्रति के शिष्य उपाध्याय जिनपाल ने इस पर वि. सं. १२६२ में १,४९४ श्लोक परिमित भाष्य भी लिखा है।[3]

देवेन्द्रसूरि, जो १४वीं सदी के थे, 'श्राद्धदिनकृत्यसूत्र'[4] के रचयिता हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ में ३४३ मूल गाथाएँ लिखीं और स्वयं ने ही १२,८३० श्लोक परिमित टीका लिखी। यह २८ द्वारों में विभक्त है। गुजराती अनुवादकर्ता ने इसे अज्ञात लेखक की कृति माना है, पर आधुनिक शोध के अनुसार इसके रचयिता देवेन्द्रसूरि थे, यह सिद्ध हो गया है।

जिनेश्वरसूरि ने वि. सं. १३१३ में 'श्रावकधर्मविधि'[5] ग्रन्थ की रचना की। यह मूल ग्रन्थ २४२ श्लोकों में निर्मित है। उपाध्याय लक्ष्मीतिलक ने १५,१३३ श्लोक परिमाण सविस्तृत टीका लिखी जो अभी तक अप्रकाशित है।

---

१. श्री आत्मानंद सभा, भावनगर, सं. १९८०, सपा. आगम प्रभावक मुनि पुण्य विजय जी गुरु चतुर्विंजय।

२. जिनदत्तसूरि जैन भण्डार, सं. १९७९

३. देखिये : 'जैन साहित्य का वृहत् इतिहास'–भाग चौथा, स. डॉ. मोहनलाल मेहता, सन् १९६८, पृष्ठ १८४; प्रकाशक–पार्श्वनाथ विद्याश्रम संस्थान, वाराणसी

४. गुजराती भाषांतर, प्रकाशक–श्री जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर, सं. १९८६ टीकायुक्त ऋषभदेव केसरीमल संस्थान, रतलाम, सं. १९९४-९५, दो भागों में प्रकाशित

५. देखियेः (क) जिनवाणी–श्रावकधर्म, अंक १९७०, पृ. ४५, अगरचन्द नाहटा, (ख) जैन सत्य प्रकाश

जिनमण्डलगणी ने जो १५वीं शताब्दी के हैं, 'श्राद्धगुण विवरण'[1] ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'श्रावक' शब्द की व्युत्पत्ति देकर आचार्य हरिभद्र द्वारा प्रतिपादित ३५ मार्गानुसारी गुणों को सम्यक् प्रकार से समझाने के लिए भिन्न-भिन्न कथाएँ दी हैं जिससे सहजतया वे गुण हृदयंगम हो सकें।

१५वीं सदी के आचार्य रत्नशेखरसूरि 'श्राद्धविधि'[2] ग्रन्थ के रचयिता हैं। उन्होंने वि. सं. १५०६ में 'विधि कौमुदि' नामक वृत्ति का निर्माण किया जिस वृत्ति के श्लोक ६,७६१ हैं। टीका में अनेक कथाएँ हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में श्रावक के लिए चार गुण आवश्यक माने हैं–भद्रप्रकृति, विशिष्ट निपुणमति, न्यायमार्गीय वृत्ति और दृढ़निजप्रतिज्ञास्थिति। प्रस्तुत ग्रन्थ में छह द्वार हैं–दिनकृत्य, रात्रिकृत्य, पर्वकृत्य, चातुर्मासिककृत्य, वर्षकृत्य और जन्मकृत्य। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रावक के योग्य २१ गुणों का भी वर्णन किया है। वे गुण इस प्रकार हैं–अक्षुद्र, स्वरूपवान्, प्रकृतिसौम्य, लोकप्रिय, अक्रूर, भीरु, अशठ, सदाक्षिण्य, लज्जालु, दयालु, मध्यस्थ, गुणानुरागी, सत्कथी, सुपक्षयुक्त, सुदीर्घदर्शी, विशेषज्ञ, वृद्धानुरागी, विनीत, कृतज्ञ, परहितकारी और लब्धलक्ष्य।

प्रस्तुत ग्रन्थ में नाम, स्थापना, द्रव्य और भावनिक्षेप की दृष्टि से श्रावक पर चिंतन करते हुए भावनिक्षेप से श्रावक के तीन प्रकार बताये हैं–दर्शनश्रावक, व्रतश्रावक और उत्तरगुणश्रावक। इस ग्रन्थ में बारह व्रतों के भंगों की संख्या १३,८४,१२,२७,२०२ है।

श्रावक शब्द पर चिन्तन करते हुए लेखक ने लिखा है–जो दान, शील, तप व भाव की आराधना करता हुआ शुभ योगों से अष्ट प्रकार के कर्म निर्जरित करता है, श्रमणों के सन्निकट सम्यक् समाचारी का श्रवण कर उसी प्रकार आचरण करने का प्रयत्न करता है, वह श्रावक है[3] तथा पूर्वकृत बद्धकर्मों को साधना से न्यून कर और प्रतिपल-प्रतिक्षण प्रत्याख्यान का आराधन करने में तल्लीन रहे, वह श्रावक है।[4] जो नौ तत्त्वों पर प्रीति रखकर सिद्धान्त का श्रवण करता है,

---

१. मुनि सोहनविजय कृत हिन्दी अनुवाद

२. वृत्ति–हिन्दी अनुवाद सहित, सम्पादक–तिलक विजय पंजाबी, प्रकाशक–श्री आत्मतिलक ग्रंथ सोसाइटी, पूना, सन् १९२५

३. सम्मत्तदंसणाइं पइदिअहं जइजणा सुणेइ य।
सामायारी परमं जो खलु, तं सावगं विंति॥

४. श्रुवंति यस्य पापानि पूर्वबद्धान्यनेकशः।
आवृतश्च व्रतैर्नित्यं श्रावकः सोऽभिधीयते॥

आत्मस्वरूप का चिंतन करता है, निरन्तर पाप से विरत रहकर श्रमणों की सेवा करता है, वह श्रावक है।[1]

अन्य भी अनेक ग्रन्थ हैं। प्राचीन कई ग्रन्थों में श्रावक के द्वादश व्रतों पर कथाओं के माध्यम से विश्लेषण किया है। देवभद्रसूरि ने 'कथा-कोश' में, देवगुप्त-सूरि ने 'नवपदप्रकरण सटीक' में आचार्य हेमचन्द्र ने 'योग-शास्त्र' में तथा अन्य अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में कहीं विस्तार से और कहीं संक्षेप में श्रावकधर्म पर चिन्तन किया है और उन्हीं ग्रन्थों के आधार से हिन्दी और गुजराती में भी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उनमें आचार्य जवाहरलाल जी महाराज का 'गृहस्थधर्म' और विदुषी महासती उज्जवलकुँवर जी की 'श्रावकधर्म' सुन्दर कृतियाँ हैं। उपाध्याय श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का 'श्रावकधर्म दर्शन' एक अनूठा ग्रन्थ है जिसमें श्रावकों के व्रतों के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन प्रस्तुत किया है। अनेक ज्वलंत प्रश्नों का सम्यक् समाधान किया है। हिन्दी भाषा में वह प्रथम कृति है जो श्रावकाचार पर इतना विस्तार से प्रकाश डालती है। पं. दलसुख मालवणिया के शब्दों में "व्रत और श्रावकों के व्रतों के विषय में यह ग्रन्थ विश्वकोष के रूप में लिखा गया है।"

दिगम्बर परम्परा में

दिगम्बर परम्परा में श्रावकधर्म पर चिन्तन करने वाले सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द हैं। उन्होंने 'चारित्र पाहुड' (गाथा २० से २५) में केवल छह गाथाओं में श्रावकधर्म का वर्णन किया है। पहले 'सागारसंयमाचरण' गृहस्थों में होता है। उसके पश्चात् ११ प्रतिमाओं के नाम बताये हैं। उसके पश्चात् सागारसंयमाचरण को ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत रूप बताकर उनके नाम बताये हैं। यहाँ पर अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत के नाम का निर्देश है; किन्तु उनके सम्बन्ध में विशेष चर्चा नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने संलेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत माना है। पर उन्होंने देशावकाशिक व्रत को न गुणव्रतों में स्थान दिया है और न शिक्षाव्रतों में, उनके अभिमतानुसार दिक्परिमाण, अनर्थदण्डवर्जन और भोगोपभोगपरिमाण–ये तीन गुणव्रत हैं; सामायिक, प्रौषध, अतिथिपूजा और संलेखना–ये चार शिक्षाव्रत हैं।

उनके 'रयणसार' ग्रन्थ में भी श्रावकाचार का निरूपण है। ७२ गाथाओं में श्रावकधर्म पर चिन्तन किया है।

---

१. श्रद्धालुतां श्राति पदार्थ चिन्तनाद्, धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्।
किरत्यपुण्यानि सुसाधु सेवनादतोपि तं श्रावक माहुरुत्तमा॥

स्वामी कार्तिकेय ने श्रावकधर्म पर पृथक् रचना न कर 'अनुप्रेक्षा' नामक ग्रन्थ में धर्म भावना का चिन्तन करते हुए श्रावकधर्म का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने गृहस्थ धर्म के बारह भेद बताये हैं–

सम्यग्दर्शनयुक्त, मद्यादिस्थूलदोषरहित, व्रतधारी, सामायिकव्रती, पर्वव्रती, प्रासुक-आहारी, रात्रि-भोजनविरत, मैथुन-त्यागी, आरम्भत्यागी, संगत्यागी, कार्यानुमोदविरत और उद्दिष्टाहारविरत।[1]

इन बारह नामों में प्रथम सम्यग्दर्शनयुक्त के अतिरिक्त शेष ग्यारह नाम प्रतिमाओं के हैं। श्रावक को व्रत धारण करने के पूर्व सम्यग्दर्शनयुक्त होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् श्रावकधर्म के बारह भेद बताये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित तीन गुणव्रतों को इन्होंने स्वीकार किया है, पर शिक्षाव्रतों में कुन्दकुन्द द्वारा माना हुआ संलेखना को व्रत न मानकर देशावकाशिक व्रत को माना है। इन्होंने अनर्थदण्ड के पाँच भेद किये हैं। इन्होंने शिक्षाव्रतों पर चिन्तन करते हुए सामायिक व्रत में आसन, लय, काल आदि का वर्णन किया है, तथा प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत में उपवास न कर सकने वालों के लिए एकभक्त, निर्विकृति आदि करने का विधान और सोलह प्रहर के उपवास का विधान किया है। इन्होंने ग्यारहवीं प्रतिमा के भेदों का कोई उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में श्रावकधर्म का व्यवस्थित प्रतिपादन करने वाले ये प्रथमाचार्य हैं।

स्वामी समंतभद्र सर्वप्रथम दिगम्बर परम्परा में श्रावकाचार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। उनकी 'रत्नकरंड श्रावकाचार'[2] बहुत ही महत्त्वपूर्ण रचना है। उन्होंने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की महिमा पर प्रकाश डाला है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का स्वरूप बताकर आठ मदों का निरूपण किया है। उसके पश्चात् बारह व्रतों का विश्लेषण करते हुए उनके अतिचारों पर चिन्तन किया है। श्वेताम्बर परम्परा में पाँच अणुव्रतों का स्थान मूलगुण में है और शेष सात व्रत उत्तरगुण के रूप में हैं। किन्तु दिगम्बर परम्परा में श्रावकों के मूलगुण आठ माने हैं और उत्तरगुण बारह माने हैं। स्वामी समंतभद्र ने पाँच अणुव्रतों के साथ मद्य, माँस और मधु के परित्याग को मूलगुण माना है।[3] उन्होंने मूलगुणों के

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा–धर्म अनुप्रेक्षा, गाथा ३०४ से ३०६ तक

२. देखिए–'श्रावकाचार संग्रह' (श्रुत भण्डार और ग्रन्थ प्रकाशन समिति, पलटन)

३. मद्यमांसमधुत्यागै सहाणुव्रतपचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहीणां श्रमणोत्तमा॥ –*रत्नकरंड श्रावकाचार* ६६

आठ प्रकार बताये हैं पर उत्तर गुणों की संख्या का निर्देश नहीं किया है। 'यशस्तिलक चम्पू' आदि में गुणों की संख्या बारह बताई है।[1] समन्तभद्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ में देशावकाशिक व्रत को गुणव्रत न मानकर शिक्षाव्रत माना है। पर, स्वामी कार्तिकेय की तरह देशावकाशिक को चतुर्थ शिक्षाव्रत न मानकर प्रथम माना है। उनका मन्तव्य है सामायिक और प्रोषधोपवास के पूर्व ही देशावकाशिक का स्थान चाहिए, क्योंकि उन दोनों की अपेक्षा इस व्रत की काल मर्यादा अधिक है। उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द की तरह संलेखना को शिक्षाव्रत नहीं माना है। उनका अभिमत है कि मृत्यु के समय की जाने वाली संलेखना का जीवन भर अभ्यास किये जाने वाले शिक्षाव्रतों में स्थान कैसे हो सकता है? अतः उन्होंने संलेखना के स्थान पर वैयावृत्य को शिक्षाव्रत कहा है। अतिथि-संविभाग के स्थान पर उन्होंने वैयावृत्य का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अतिचारों के विषय में भी कुछ परिवर्तन किया है—जैसे भोगोपभोगपरिमाण व्रत के जो अतिचार हैं, वे भोग पर घटित होते हैं, अतः उन्होंने अन्य पाँच स्वतन्त्र अतिचारों का भी वर्णन किया है।[2] इसी तरह ब्रह्मचर्य के अतिचारों में भी इत्वरिकापरिग्रहीतागमन और इत्वरिका-अपरिग्रहीतागमन में प्रथम को रखकर द्वितीय को विटत्व नामक अतिचार की स्वतन्त्र कल्पना की है।[3] व्रतों के पश्चात् उन्होंने ११ प्रतिमाओं का भी वर्णन किया है।

आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण (१४५) में ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति की चर्चा की है। वहाँ पर उन्होंने पक्ष, चर्या और साधन रूप से श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है। विज्ञों का मानना है कि उनके सामने कोई उपासक सूत्र रहा होगा और उसी के आधार पर उन्होंने यह प्रतिपादन किया। उन्होंने १२ व्रतों के नामों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया है, पर आठ मूल गुणों में मधु के स्थान पर उन्होंने द्यूतत्याग को आवश्यक माना है। यदि द्यूत को अन्य व्यसनों का उपलक्षण माना जाय तो पाक्षिक श्रावक को कम से कम ७ व्यसनों का परित्याग और आठ मूल गुणों को धारण करना होगा। यही कारण है कि बाद में पं. आशाधर जी आदि ने पाक्षिक श्रावक के लिये उक्त कर्त्तव्य बताये हैं।

---

१. अणुव्रतानि पंचैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्यद्वादशोत्तरे॥ —*यशस्ति., आश्वास ७*

२. विषयविषतोऽनुप्रेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाणव्यतिक्रमाः पंच कथ्यंते॥ —*रत्नकरंड. ९०*

३. अन्यविवाहकरणानंगक्रीडा विटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पंच व्यतीचाराः॥ —*वही ६०*

जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' (५८/७७) में भी श्रावकाचार के सम्बन्ध में ७७ श्लोकों में प्रकाश डाला है। उसमें बारह व्रत, संलेखना आदि के अतिचारों का वर्णन किया है।

आचार्य सोमदेव के 'यशस्तिलकचम्पू' के छठवें, सातवें व आठवें आश्वासों में श्रावकधर्म पर विस्तार से चिन्तन किया गया है। उनका मूल आधार 'रत्नकरंड श्रावकाचार' है। उन्होंने छठे आश्वास में अन्य दर्शनों के मन्तव्यों की चर्चा कर उनके द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप पर चिंतन किया और अन्त में उन सभी का निरसन कर जैनदर्शन द्वारा निरूपित मोक्ष का स्वरूप बताया। उस मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र है। आप्त के स्वरूप की विस्तार के साथ मीमांसा की और सम्यक्त्व के आठ अंगों का नवीन शैली से प्रतिपादन किया। सम्यक्त्व के विभिन्न प्रकार, उनके दोषों का वर्णन कर सम्यक्त्व की महत्ता पर प्रकाश डाला। सम्यक्त्व से श्रेष्ठ गति, ज्ञान से कीर्ति और चारित्र से पूजा, तथा इन तीनों (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) के सम्यक्आचरण से मुक्ति प्राप्त होती है।[1] उसके पश्चात् मद्य, माँस, मधु और पाँच उदंबर फलों के त्याग को अष्ट मूलगुण बताया है।[2]

आचार्य जिनसेन ने मूलगुणों में पाँच अणुव्रतों को और सोमदेव ने पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को महत्त्व दिया है और दोनों ने अपने कथन की पुष्टि के लिये उपासकाध्ययन[3] का उल्लेख किया है। पर वह कौन-सा उपासकाध्ययन था जिसके आधार पर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

आचार्य सोमदेव ने मद्य आदि का उपभोग करना सर्वथा अनुचित माना है। वह महापाप है, उन्होंने उसके परित्याग पर अत्यधिक बल दिया। उन्होंने लिखा—जो माँस का भक्षण करते हैं उनमें दया का अभाव होता है। मद्यपान करने वाले में सत्य का अभाव होता है। मधु और उदुम्बर फल का सेवन करने वालों में नृशंसता का भाव अधिक होता है।[4]

---

१. सम्यक्त्वात्सुगति प्रोक्ता, ज्ञानात्कीर्तिरुदाहता।
वृत्तात्पूजामवाप्नोति, त्रयाच्च लभते शिवम्॥ —*यशस्तिलक., आश्वास ६*

२. मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपंचकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाश्रुते॥ —*वही, आश्वास ७*

३. (क) यशस्तिलक., आश्वास ५ (ख) आदिपुराण, पर्व ४०-२१३

४. मांसादिषु दया नास्ति, न सत्यं मद्यपायिषु।
अनृशंस न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु॥ —*यशस्ति., आश्वास ७*

आचार्य सोमदेव ने आठ मूलगुणों के पश्चात् उत्तरगुणों का वर्णन किया है। पाँच अणुव्रतों का वर्णन करते हुए अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए रात्रि-भोजन और अभक्ष्य वस्तुओं के सेवन के परित्याग पर बल दिया है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं का वर्णन कर पुण्य और पाप का कारण तथा परिणाम भी बताया है। व्रतों का विस्तार से वर्णन कर श्रावक की ११ प्रतिमाओं का वर्णन किया है।

दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में सचित्त त्याग को पाँचवीं प्रतिमा, कृषि आदि आरम्भ के त्याग को आठवीं प्रतिमा माना है। पर प्रस्तुत ग्रन्थ में आरम्भ-त्याग के स्थान पर सचित्त-त्याग और सचित्त-त्याग के स्थान पर आरम्भ-त्याग प्रतिमा का वर्णन किया है। श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र ने भी सचित्त-त्याग को आठवीं प्रतिमा माना है। पर सोमदेव के क्रम का यह रूप अन्य दिगम्बर साहित्य में नहीं मिलता।

आचार्य देवसेन ने 'भावसंग्रह' नामक अपने ग्रन्थ में श्रावकधर्म का निरूपण किया है। उन्होंने पाँच उदुम्बर, मद्य, माँस, मधु के परित्याग को आठ मूलगुण माना है।[1] अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत का वर्णन एक-एक गाथा में किया है, केवल उनके नाम गिनाये हैं। इस ग्रन्थ में न श्रावकों के बारह व्रतों के अतिचारों का वर्णन है, न सप्त-व्यसन का ही और न ग्यारह प्रतिमाओं का ही निरूपण हुआ है। उन्होंने श्रावक के लिए पुण्य उपार्जन करना अतीव आवश्यक माना है और उस पर अधिक बल दिया है।

आचार्य अमितगति ने 'उपासकाध्ययन' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। वह 'अमितगति श्रावकाचार' के नाम से विश्रुत है। इसमें १४ परिच्छेदों में श्रावकधर्म का विस्तार से वर्णन है। पूर्व आचार्यों द्वारा लिखे हुए विषय को इस ग्रन्थ में पल्लवित और पुष्पित किया गया है।

उन्होंने प्रथम, धर्म का महत्त्व, सम्यक्त्व की महिमा, सप्ततत्त्व, आत्मा की सिद्धि, विश्वसृष्टिकर्तृत्व-खण्डन आदि विषयों का वर्णन किया है।[2] उसके पश्चात् शील, तप व अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। षडावश्यक के पश्चात् बारह व्रतों का निरूपण किया और ग्यारह प्रतिमाओं का बहुत संक्षेप में वर्णन किया है।

---

१. महुमज्जमंसविरई चाओ गुण उवंराण पचण्हं।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देसविरयम्मि॥ —*भावसंग्रह ३५६*

२. (क) अमितगति श्रावकाचार, प्रथम परि., श्लो. १३ से २१ तक
(ख) देखिए, उसी ग्रन्थ का चतुर्थ परिच्छेद

आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का सुन्दर विवेचन किया है। उसके पश्चात् सम्यग्ज्ञान की आराधना पर बल दिया है, और तदनन्तर सम्यक्चारित्र की व्याख्या करते हुए हिंसादि पापों की निवृत्ति पर प्रकाश डाला है। उन्होंने अहिंसा का अनूठा वर्णन किया है। सभी पापों का मूल हिंसा है, अतः विविध विकल्पों के द्वारा हिंसा और अहिंसा का विवेचन किया है। उन्होंने पाँच उदुम्बर फल मद्य, माँस और मधु के त्याग को आवश्यक माना है। जो व्यक्ति इनका परित्याग नहीं करता उसे महान् हिंसक कहा है। उनका मन्तव्य है कि जब तक व्यक्ति इनका त्याग नहीं करता तब तक जिनधर्म को ग्रहण करने योग्य नहीं बन सकता।[1] आचार्य ने धर्म, देवता या अतिथि के नाम पर होने वाली हिंसा को जो लोग हिंसा नहीं मानते हैं उनका अकाट्य तर्कों से खण्डन किया है। उन्होंने अतिचारयुक्त अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का वर्णन किया है।

आचार्य वसुनन्दि ने 'श्रावकाचार' ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ की भाषा प्राकृत है। श्वेताम्बर आगम साहित्य में दिगम्बर परम्परा की तरह आठ मूलगुणों का कहीं भी वर्णन नहीं है। वैसे ही वसुनन्दि के श्रावकाचार में भी इन आठ मूलगुणों का उल्लेख व वर्णन नहीं किया गया है। वसुनन्दि ने बारह व्रतों के अतिचारों का भी वर्णन नहीं किया है। उन्होंने ११ प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है। सर्वप्रथम दार्शनिक श्रावक को सप्त-व्यसन[2] का त्याग आवश्यक माना है। उन्होंने सप्त-व्यसनों के त्याग पर अत्यधिक बल दिया है। १२ व्रत और ११ प्रतिमाओं का वर्णन प्राचीन परम्परा के अनुसार ही किया है।

पं. आशाधर जी के 'सागारधर्मामृत' पर आचार्य हरिभद्र के 'श्रावक प्रज्ञप्ति' का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अतिचारों के वर्णन के लिये उन्होंने श्वेताम्बर साहित्य का उपयोग किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम सप्त-व्यसनों के अतिचारों का वर्णन किया गया है। श्रावक की दिनचर्या और उसकी समाधि का सुन्दर चित्रण हुआ है।

'सावयधम्म दोहा' ग्रन्थ में मानव भव की दुर्लभता; देव, गुरु तथा दर्शन प्रतिमा का स्वरूप; अष्ट मूलगुण की प्रेरणा देते हुए सप्त-व्यसनों के दोष बताकर उनके त्याग पर बल दिया है। व्रत प्रतिमा और दान की चर्चा की गई है। इसमें अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतों का उल्लेख है। उनको धारण करने से जीवन में किस्

---

१. अष्टावनिष्ट दुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवंति पात्राणि शुद्धधियः॥ —पुरुषार्थ. ७४

२. जूयं मज्ज मंसं वेसा पारद्धि चोर-परयारं।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि॥ —वसुनन्दि, श्रावकाचार ५८

प्रकार निर्मलता आती है, उसका भी प्रतिपादन है।[1] प्रस्तुत ग्रन्थ का रचयिता कौन है, यह अभी तक विज्ञ निश्चित नहीं कर सके हैं। एक स्थान पर 'देवसेन' का नाम आया है।[2]

मेधावी विरचित 'धर्मसंग्रह श्रावकाचार' के प्रथम अधिकार में अठारह दोष रहित को 'देव' माना है। उसके पश्चात् आगार और अनगार धर्म का निरूपण करते हुए ग्यारह प्रतिमाओं के नामों का उल्लेख किया है। मिथ्यात्व के भेद-प्रभेदों, सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों और सम्यक्त्व का विस्तार से महत्त्व प्रतिपादित किया है। द्वितीय अधिकार में श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक–ये तीन भेद किये हैं तृतीय अधिकार में व्रतों के नाम-निर्देश और उनका विस्तार से सातवें अधिकार तक निरूपण है।

आचार्य सकलकीर्ति विरचित 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार' ग्रन्थ में २४ परिच्छेद हैं। इस ग्रन्थ में २४ तीर्थंकरों के वर्णन के साथ व्रतों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। भाषा की दृष्टि से यह संस्कृत श्लोकों में निबद्ध है।

गुणभूषण के 'श्रावकाचार' में तीन उद्देशकों में श्रावक जीवन पर प्रकाश डाला गया है।

नेमिदत्त के 'धर्मोपदेश पीयूष वर्ष' नामक श्रावकाचार में पाँचवें अधिकार में सम्यक्त्व से लेकर श्रावकों के व्रतों का निरूपण किया है। रात्रि-भोजन के दोषों पर प्रकाश डाला गया है। मौन का महत्त्व बताकर सात स्थानों पर मौन रहने की प्रेरणा दी गई है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का भी वर्णन है और संलेखना के स्वरूप पर चिन्तन किया गया है।

'लाटी संहिता' के छह सर्गों में धर्म के स्वरूप को बताते हुए विस्तार से प्रकाश डाला है। संलेखना और ११ प्रतिमाओं का भी निरूपण किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा संस्कृत है। इस ग्रन्थ के लेखक के सम्बन्ध में विज्ञगण अभी तक निश्चित नहीं कर सके हैं।

पूज्यपाद कृत 'श्रावकाचार' एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन करते हुए अष्ट मूलगुण, पंच अणुव्रत, सप्त-व्यसनों के त्याग, कन्द-मूल

---

१. अणुवय गुणसिक्खवयाइं ताइं जि बारह हुंति।
भुंजाइवि णर-सुर-सुहइं छिउ णिव्वाणहु णिंति॥ –सावय., ५८

२. इय दोहा वद्धवयधम्मं देवसेणं उवदिट्ठु।
लहु अक्खरमत्ताहीणा मो पय सयणं खमंतु॥ –श्रावकाचार संग्रह, भाग १, पृ. ५०५

आदि अभक्ष्य पदार्थों का त्याग, मौन धारण करना तथा पर्व दिनों में उपवास आदि पर बल दिया जाता है। इस ग्रन्थ में १०३ श्लोक हैं।

पद्मनन्दि विरचित 'श्रावकाचार' में केवल २१ श्लोकों में श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है।

'व्रतसार श्रावकाचार' में २२ श्लोक हैं। उसमें बहुत ही संक्षेप में श्रावकधर्म पर चिन्तन किया है। इसके लेखक का नाम विज्ञों को ज्ञात नहीं हो सका है।

अभ्रदेव विरचित 'व्रतोद्योतन श्रावकाचार' में ५४२ श्लोकों में श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है। इसमें श्रावक के व्रतों के सम्बन्ध में चिन्तन करने के साथ ही इन्द्रिय और मन के निरोध पर बल दिया है। विस्तार से सम्यक्त्व के स्वरूप पर भी चिन्तन किया है।

श्री आचार्य प्रभाचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि कृत 'श्रावकाचारसारोद्धार' ग्रन्थ दो परिच्छेदों में है। ग्रन्थ में राजा श्रेणिक के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर गणधर गौतम के द्वारा धर्म पर चिन्तन करते हुए विस्तार के साथ सम्यग्दर्शन के विविध कथानक भी दिये हैं तथा द्वादश व्रतों पर और उनके अतिचारों पर विस्तृत विवेचन किया गया है। संलेखना और उसके अतिचारों पर भी प्रकाश डाला है।

जिनदेव विरचित 'भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययन' ग्रन्थ छह परिच्छेद में है। इसमें २६५ श्लोक हैं। लेखक ने सर्वप्रथम श्रावकाचार लिखने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर सम्राट् श्रेणिक द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर गणधर गौतम के द्वारा श्रावकधर्म का निरूपण किया है। सर्वप्रथम अष्ट मूलगुण, रात्रि-भोजनत्याग, सप्त स्थान पर मौन धारण, चर्म पात्र में रखे घृत-तेल, कन्द-मूल आदि अभक्ष्य पदार्थों के त्याग का उपदेश दिया है। सप्त-व्यसन के स-दृष्टान्त दोष बताकर उनके त्याग पर बल दिया है। जीवादि तत्त्वों का निरूपण करते हुए व्रत प्रतिमा के अन्तर्गत १२ व्रतों का निरूपण किया है और प्रतिमाओं के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला है।

शिवकोटि रचित 'रत्नमाला' ग्रन्थ में श्रावक के द्वादश व्रतों के साथ मुनि-जनों को निर्दोष पुस्तक आदि देने के सम्बन्ध में भी संकेत किया है। विभिन्न प्रकार के प्रासुक जल की काल-मर्यादा उसके ग्रहण और उसके निषेध भी बताये गये हैं।

'पदम चरित्र' के पर्व १४ में श्रावकाचार का निरूपण है। पच्चीस श्लोकों में संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

'वरांग चरित्र' के १५वें सर्ग में चौबीस श्लोकों में श्रावक के बारह व्रतों का निरूपण है।

वामदेव रचित 'संस्कृतभाव संग्रह' में पंचम गुणस्थान का वर्णन करते हुए एकादश प्रतिमाएँ और व्रतों का निरूपण किया गया है।

पं. गोविन्द ने 'पुरुषार्थानुशासन' ग्रन्थ के तृतीय सर्ग से छठे सर्ग तक श्रावकधर्म पर विचार किया है। इसमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ आदि ध्यानों का विश्लेषण है और प्रतिमाएँ तथा संलेखना का भी विवरण है।

इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर विज्ञों ने श्रावकधर्म पर प्राकृत और संस्कृत भाषा में विपुल मात्रा में लिखा है। साथ ही अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी उन्होंने रचनाएँ की हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों विज्ञों ने परम्परा-भेद के अनुसार अपने विषय का प्रतिपादन किया है। श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों ने नाम तथा गणना क्रम में एकरूपता न होते हुए भी भाव में कोई अन्तर नहीं है। उपासकदशांग में गुणव्रतों व शिक्षाव्रतों का संयुक्त नाम शिक्षाव्रत है। पंच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों को द्वादश व्रत कहा है।

बारह व्रतों में पहले पाँच अणुव्रतों को शीलव्रत भी कहा गया है। शील का अर्थ आचार है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–यह पाँच व्रत आचार का मूल आधार हैं। बौद्ध साहित्य में इनका नाम 'शील' है। योगदर्शन में 'नियम' कहा गया है। अष्टांगयोग इन्हीं व्रतों पर आधारित है।

व्रतों के पश्चात् श्रावक के लिए प्रतिमाओं का उल्लेख है। दीर्घकाल तक व्रत का पालन करने के पश्चात् एक दिन श्रावक अपना सम्पूर्ण उत्तरदायित्व पुत्र को सौंपकर स्वयं पौषधशाला में जाकर सम्पूर्ण समय धार्मिक क्रियाओं में व्यतीत करता है। वह प्रतिज्ञाविशेष, व्रतविशेष, तपविशेष या अभिग्रहविशेष प्रतिमा के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रतिमा में अवस्थित श्रावक श्रमण के समान व्रतविशेष का पालन करता है। उसका जीवन एक तरह से श्रमण-जीवन की प्रतिकृति होता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही ग्रन्थों में उपासक प्रतिमाओं का वर्णन है। क्रम और नामों में कुछ अन्तर है। वह इस प्रकार है–

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) पौषध, (५) नियम, (६) ब्रह्मचर्य, (७) सचित्तत्याग, (८) आरम्भत्याग, (९) प्रेष्य-परित्याग अथवा परिग्रह-परित्याग, (१०) उद्दिष्टभक्तत्याग, (११) श्रमणभूत।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) पौषध, (५) सचित्तत्याग,

(६) रात्रिमुक्तित्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भत्याग, (९) परिग्रहत्याग, (१०) अनुमतित्याग, (११) उद्दिष्टत्याग।

उद्दिष्टत्याग क्षुल्लक और एलक रूप में दो प्रकार का है।

प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम दोनों परम्पराओं में एक समान हैं। सचित्त त्याग का क्रम दिगम्बर परम्परा में पाँचवाँ है और श्वेताम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा में रात्रिमुक्तित्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा गिना है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में पाँचवीं प्रतिमा 'नियम' में उसका समावेश होता है। ब्रह्मचर्य का क्रम श्वेताम्बर परम्परा में छठा है और दिगम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा में 'अनुमतित्याग' का उल्लेख है वह श्वेताम्बर परम्परा के 'उद्दिष्टत्याग' में समाविष्ट हो जाता है, चूँकि इस प्रतिमा में श्रावक उद्दिष्टभक्त न ग्रहण करने के साथ अन्य आरम्भ का भी समर्थन नहीं करता है। श्वेताम्बर परम्परा में 'श्रमणभूत' प्रतिमा है, उसे ही दिगम्बर परम्परा में 'उद्दिष्टत्याग' प्रतिमा कहा है क्योंकि इसमें श्रावक का आचार श्रमण अथवा साधु के समान होता है।

दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार जो गृहस्थ सम्यग्दर्शनयुक्त है किन्तु व्रत नियम ग्रहण नहीं कर पाता तथापि जिनशासन की उन्नति के लिए सदा तत्पर रहता है और चतुर्विध संघ की भक्ति भाव से विभोर होकर सेवा करता है उस अविरतसम्यग्दृष्टि को 'प्रभावक'[1] कहा गया है और जो व्रतों को धारण करते हैं, प्रतिमाओं की आराधना करते हैं, वे 'पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक' कहलाते हैं।

श्रावकाचार सम्बन्धी साहित्य के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रावकों को हम जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट इन तीन विभागों में विभक्त कर सकते हैं–

(१) 'जघन्य श्रावक' में तीन बातें आवश्यक हैं–

(क) मारने की भावना से उत्प्रेरित होकर किसी तरह की जीव-हत्या नहीं करता है।

(ख) मद्य, माँस का पूर्ण त्यागी होता है।

(ग) नमस्कार महामन्त्र पर उसकी पूर्ण निष्ठा होती है।[2]

---

१. जो अविरओवि संघे भत्तिंतित्थुन्नइं सया कुणई।
अविरयसम्मदिट्ठी, पभावगो सावगो सोऽवि॥

२. आउट्टि थूलहिंसाई मज्ज-मंसाई चाइओ।
जहन्नओ सावगो होइ जो नमुक्कारधारओ॥

(२) 'मध्यम श्रावक' के लिए निम्न विशेषताएँ आवश्यक हैं–

(क) वह देव, गुरु, धर्म पर पूर्ण निष्ठा रखता हुआ स्थूल हिंसा से निवृत्त होता है।

(ख) मद्य, माँस आदि अभक्ष्य पदार्थों का परित्याग कर धर्म योग्य लज्जा, दया, गम्भीरता, सहिष्णुता प्रभृति सद्गुणों से उसका जीवन जगमगाता है।

(ग) वह प्रतिदिन षट्कर्म[1] की साधना करता है। वे षट्कर्म इस प्रकार हैं–

(अ) देव-भक्ति–वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्त को वह अपना आराध्य देव मानता है। उस अरिहन्त देव में अष्टादश दूषणों का अभाव होता है–अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, अविरति, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, काम, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय और वीर्यान्तराय। और वे देव बारह गुणयुक्त होते हैं– अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, अनन्तबलवीर्य, अनन्तसुख, दिव्यध्वनि, भामण्डल, स्फटिक सिंहासन, अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, देवदुन्दुभि और छत्र-चामर। उस देव को वह अपना आराध्यदेव मानकर उसकी उपासना करता है।

(आ) गुरु-सेवा–जिसके जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य का साम्राज्य है, जो कनक-कान्ता का त्यागी है, ऐसे सुसाधु को गुरु मानकर उन्हें अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र-पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, पीठ फलक, शय्या संस्तारक, औषध और भेषज प्रदान कर उनकी शुश्रूषा करता है।

(इ) स्वाध्याय–वह स्वाध्याय के द्वारा आत्म-भाव में स्थिर होता है।

(ई) संयम–वह प्रतिदिन कुछ समय असंयम से निवृत्त होकर कषायों का शमन करता हुआ संयम में रहता है।

(उ) तप–वह प्रतिदिन कुछ न कुछ तप की आराधना करता है। ऊनोदरी, रस-परित्याग आदि से अपने जीवन को निखारता है।

(ऊ) दान–वह अपने न्यायोपार्जित वित्त में से प्रतिदिन यथाशक्ति दान करता है।

---

१. देवार्चागुरुशुश्रूषा स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥

२. (क) दंसण-वय-सामाइय-पोसह-णियमा-अबंभ-सच्चित्ते।
आरम्भ-पेस-उद्दिट्ठवज्जए-समणभूए य॥ –दशा. *निर्युक्ति, गाथा ११*
(ख) आयारदशा, छठी प्रतिमा–दशा. सूत्र २

इस प्रकार मध्यम श्रावक षट्कर्म की साधना करता है और द्वादश व्रतों का पालन करता है।

(३) उत्कृष्ट श्रावक प्रतिमाधारी होता है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं।[२] जीवन की सान्ध्य बेला में उत्कृष्ट श्रावक मारणांतिक संलेखना-संथारा कर अपने जीवन को समाधिपूर्वक व्यतीत करता हुआ देह विसर्जन करता है।

इस प्रकार श्रावकों के तीन रूप प्राप्त होते हैं।

श्रावकचार सम्बन्धी उपलब्ध जैन साहित्य का अनुशीलन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन मनीषियों ने श्रावक को एक विशिष्ट सदाचारी सद्गृहस्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया है। वह ज्ञानी भी है और आचारवान भी। ज्ञान, विश्वास-आस्था और सदाचार इन तीनों का समन्वय श्रावक-जीवन में किया है। जो अपनी देश-काल-परिस्थिति के अनुसार जीवन को अधिकाधिक मर्यादाशील और अनुशासित रखता है उसे ही श्रावक की भूमिका पर खड़ा किया गया है। भगवान महावीर से लेकर उत्तरवर्ती सैकड़ों आचार्यों एवं मनीषियों ने लगभग २,५०० वर्ष के चिन्तनकाल में जैन श्रावक की यही छवि प्रस्तुत की है कि वह कर्तव्यपालक अनुशासन एवं संयमयुक्त जीवन जीने वाला सदाचारी नागरिक रहे और इसी आदर्श की आज सर्वाधिक आवश्यकता भी है।

●●

१४. श्रावक : एक लक्ष्य, अनेक नाम

जैन धर्म में श्रावक और श्रमण दोनों की साधना का विस्तार से निरूपण है। श्रावकधर्म को संयतासंयत, देशविरति और देशचारित्र कहा है। वह गृहस्थाश्रम में रहकर गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ अणुव्रतरूप एकदेशीय व्रतों का पालन करता है।

श्रावक शब्द की परिभाषा

जैन साहित्य में श्रावक शब्द के दो अर्थ प्राप्त होते हैं। प्रथम 'श्रु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है–सुनना। जो श्रमणों से श्रद्धापूर्वक निर्ग्रन्थ प्रवचन को श्रवण करता है, तदनुसार यथाशक्ति उस पर आचरण करने का प्रयास करता है, वह श्रावक है।[1] श्रावक शब्द से प्रायः यही अर्थ ग्रहण किया जाता है।

श्रावक शब्द का दूसरा अर्थ 'श्रा–पाके' धातु के आधार से किया जाता है। प्रस्तुत धातु से संस्कृत रूप श्रापक बनता है। पर श्रापक शब्द की अर्थसंगति श्रावक शब्द के साथ नहीं बैठती है। संभव है, श्रावक से यह तात्पर्य रहा हो–जो भोजन पकाता है। श्रमण भिक्षा से अपना जीवन निर्वाह करते हैं, किन्तु श्रावक गृहस्थाश्रमी होने से भोजन आदि पकाता है।

अक्षरों के आलोक में

एक आचार्य ने श्रावक शब्द के तीनों अक्षरों पर गहराई से चिन्तन करते हुए लिखा है कि ये तीनों अक्षर श्रावक के पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य का बोध कराते हैं[2]।

प्रथम 'श्रा' अक्षर से यह अर्थ द्योतित है–जो जिन-प्रवचन पर दृढ़ श्रद्धा रखता है और 'श्रा' का दूसरा अर्थ यह भी है कि जो श्रद्धापूर्वक जिनवाणी का

---

१. सम्मत्तदंसणाइं पइदिअहं जइजणा सुणेइ य।
सामायारी परमं जो खलु, तं सावगं विंति॥ –*समणसुत्तं, गाथा ३०१*

२. श्रद्धालुतां याति, शृणोति शासनम्। दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्॥
कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमम्। तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः॥

श्रवण करता है। श्रावक मनोरंजन की दृष्टि से या दोषदृष्टि से उत्प्रेरित होकर शास्त्र श्रवण नहीं करता, अपितु श्रद्धा से करता है। विवेकपूर्वक जिज्ञासा बुद्धि से तर्क भी करता है। उन सभी के पीछे श्रद्धा प्रमुख रूप से रही हुई होती है।

श्रावक शब्द में दूसरा अक्षर 'व' है। 'व' से यह अर्थ ध्वनित होता है कि श्रावक सुपात्र, अनुकम्पापात्र, मध्यमपात्र सभी को बिना विलम्ब किये दान देता है। किसी भी पुण्यकार्य या धर्मकार्य का पावन-प्रसंग उपस्थित होने पर वह इधर-उधर बगलें नहीं झाँकता। वह स्वयं कष्ट सहन करके भी दूसरों को दान देने में संकोच नहीं करता। इस तरह 'व' अक्षर से सत्कार्य का वपन यह अर्थ प्रगट होता है। 'व' अक्षर से दूसरा अर्थ वरण भी है। श्रावक हठाग्रही नहीं होता, जो बात धर्म, समाज व आत्मा के हित के लिए है, उसे वह वरण करता है। 'व' का तीसरा अर्थ विवेक भी है। श्रावक की सभी क्रियाएँ, चाहे वे लौकिक हों या धार्मिक, विवेकपूर्वक होती हैं। वह विवेक की तुला पर तोलकर ही कोई आचरण करता है, उसका कोई भी कार्य अविवेकपूर्ण नहीं होता।

श्रावक शब्द में तीसरा अक्षर 'क' है। उसके भी दो अर्थ होते हैं–प्रथम अर्थ है जो पाप को काटता है। श्रावक किसी भी पापकार्य में प्रवृत्त नहीं होता। परिस्थिति-विशेष के कारण कदाचित् फँस जाता है तो अपनी विवेक-बुद्धि से अपने आपको पाप-कार्य से बचा लेता है। वह पूर्वकृत पापकृत्यों को काटने के लिए दान, शील, तप और भाव की आराधना करता है। 'क' का दूसरा अर्थ है–अपनी आवश्यकताओं को कम करना। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में संयम और संवर रहा हुआ होता है।

व्रत ग्रहण करने से : श्रावक (व्रती)

डॉक्टर के घर में जन्म लेने से कोई डॉक्टर नहीं बनता। उसके लिए डॉक्टरी की परीक्षा समुत्तीर्ण करनी होती है। वैसे ही श्रावक के घर में जन्म लेने मात्र से ही श्रावक नहीं बनता; पर व्रत ग्रहण करने वाला ही श्रावक कहलाता है। यह एक ऐसा गुण है जो जन्मजात प्राप्त नहीं होता, अर्जित करना पड़ता है।

श्रमणोपासक

श्रावक के लिए दूसरा शब्द श्रमणोपासक है। श्रमणों की उपासना करने वाला व्यक्ति श्रमणोपासक कहलाता है। श्रमण सद्गुणों के आगार होते हैं। इसलिए श्रावक उनके सद्गुणों को ग्रहण कर अपने जीवन को भी सद्गुणपूर्ण बनाता है। श्रावक संसार में रहता है; किन्तु उसका मन सांसारिक भौतिक पदार्थों में लुब्ध नहीं होता। उसकी आन्तरिक अभिलाषा यही होती है कि–

(१) वह दिन धन्य होगा, जब मैं गृहस्थाश्रम का परित्याग कर श्रमणधर्म धारण करूँगा।

(२) कब वह सुदिन होगा जब मैं बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त होऊँगा।

(३) कब वह सुदिन होगा जिस दिन मैं आरम्भ से सर्वथा मुक्त होकर अन्त समय में संलेखना स्वीकार कर, आहार आदि का त्याग कर, जीवन-मरण की इच्छा न करता हुआ संथारा ग्रहण करूँगा[1]।

सच्चे श्रमणोपासक की भावना धन, सन्तान और सांसारिक सुख आदि की प्राप्ति की नहीं होती। वे वस्तुएँ पुण्य की प्रबलता से उसे सहज ही मिल जाती हैं। वह तो श्रमणत्व का उपासक होता है।

यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि श्रमणत्व की पहचान कैसे की जाये, क्योंकि श्रमणत्व एक प्रकार का अन्तर्भाव है? समाधान है–श्रमणत्व के मनोभाव को हर व्यक्ति समझ नहीं सकता, किन्तु श्रमण पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि की जो वह आराधना करता है, उसके आदर्श व्यवहार को देखकर हर कोई व्यक्ति यह समझ जाता है कि यह श्रमण है।

अरिहन्तोपासक क्यों नहीं ?–दूसरी जिज्ञासा यह हो सकती है श्रावक को श्रमणोपासक क्यों कहा? उसे अरिहन्तोपासक कहना चाहिए। श्रमण में सम्भवतया कुछ दोष भी हो सकते हैं पर अरिहन्त सर्वथा निर्दोष होते हैं। उनकी सहज पहचान भी हो सकती है। समाधान है–उपासना तभी पूर्ण होती है जब उपास्य सामने हो। यदि उपास्य सामने विद्यमान नहीं है तो उपासक उपासना किस तरह कर सकेगा? अरिहन्त काल-चक्र में स्वल्प होते हैं। वे किसी विशिष्ट काल में ही विद्यमान होते हैं, पर श्रमण हर समय विद्यमान रहते हैं। जिस समय श्रमणोपासक होता है, उस समय श्रमण होता ही है। बिना श्रमणोपासक के श्रमण नहीं रह सकता। यों एक दृष्टि से देखा जाये तो अरिहन्त भी श्रमण ही हैं। हाँ, यह सत्य है कि वे वीतराग श्रमण है तो सामान्य श्रमण छद्मस्थ हैं। किन्तु सामान्य छद्मस्थ श्रमण की साधनी भी श्रमणोपासक की साधना से कई गुणी उच्च कोटि की है। श्रमण का साक्षात् उपासक होने से वह श्रमणोपासक कहलाता है। सम्यक्त्व स्वीकार करते समय व्यवहार की दृष्टि से श्रमण ही उसका गुरु है। अरिहन्त तो देव हैं।

---

१. स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उद्दे. ४, सू. २१०

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में श्रमण के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर समाधान करते हुए कहा है–श्रमण के सम्बन्ध में तुम क्या पूछ रहे हो? उसके तप को, नियम को और ब्रह्मचर्य को देखो। केवल वेश और क्रियाकाण्ड को मत देखो।[1] राजस्थानी में भी एक सन्त कवि ने कहा है–

भेख देख भूलो मती, ओलखजो आचार।

अम्मापिउ समाणा–यह भी जिज्ञासा हो सकती है कि श्रमणोपासक श्रमण की किस प्रकार उपासना करे? समाधान है–श्रावक मन-वचन-तन आदि अनेक साधनों से साधु-मर्यादा के अनुसार श्रमण की सेवा कर सकता है।

उदाहरण के रूप में श्रावक श्रमण-श्रमणियों को निर्दोष आहार-पानी प्रदान करता है। वह इस प्रकार का विवेक रखता है, जिससे स्वयं भी अचित्त आदि पदार्थों का उपयोग करता है। यों तो उसके लिए गुठली सहित आम आदि का उपयोग करने का निषेध नहीं है, पर बीज आदि से रहित उपयोग करने पर अचित्त फल आदि को बहराने का लाभ भी प्राप्त हो सकता है। सहज रूप में अतिथि-संविभागव्रत की आराधना भी हो सकती है।

जहाँ पर जैन समाज के घर न हों, और वहाँ पर यदि श्रमण-श्रमणियाँ विचरण कर रहे हों, तो वह श्रावक इनको निर्दोष आहार-पानी दिलाकर, श्रमण-जीवन की कठोर चर्या बताकर धर्म-दलाली कर सकता है। जैसे श्रमण श्रमणोपासक की आचार विशुद्धि का ध्यान रखता है, वैसे ही श्रमणोपासक भी श्रमणों का आचार विशुद्ध बना रहे, उनका तप-संयम अत्युज्ज्वल बना रहे। इसलिए वह उनकी महती सेवा करता है। ऐसा श्रावक 'अम्मापिउ समाणा' का विरुद निभाता है।

अणुव्रती आदि अन्य नाम

श्रावक के लिए अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है। इसलिए वह अणुव्रती भी कहलाता है। किन्तु पूर्ण रूप से व्रतों का पालन न करने से वह व्रताव्रती, विरताविरति, देशविरति, देशसंयति और संयमासंयमी भी कहलाता है। आगार यानी घर में रहने के कारण वह सागारी भी कहलाता है और गृहस्थधर्म का पालन करने से वह गृहस्थधर्मी के नाम से भी विश्रुत है। उपासना करने के कारण वह उपासक भी कहलाता है। उसमें श्रद्धा की प्रमुखता होती है, इसलिए वह श्राद्ध भी कहलाता है।

---

१. किं पुच्छसि साहूणं, तवं च नियमं च बंभचेरं चे। –*आवश्यकनिर्युक्ति*

रत्न-पिटारा

कितने ही चिन्तकों की यह भ्रान्त धारणा है कि श्रावक पूर्ण रूप से अव्रती, असंयमी अविरति है। वह जहर से भरे हुए प्याले के सदृश है। उस श्रावक की सेवा करना, उसे दान देना और उसके प्रति दया करना अव्रत का पोषण करना है। उन चिन्तकों को यह स्मरण रखना होगा कि आगम साहित्य में कहीं भी यह बात नहीं कही गई है श्रावक के जो पर्यायवाची नाम आये हैं, वे भी इस बात के ज्वलन्त प्रतीक हैं कि वह सर्वथा अविरति और असंयमी नहीं, किन्तु व्रताव्रती और संयमासंयमी है। यही कारण है कि दिगम्बर परम्परा के समर्थ आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक को रत्नकरण्डक अर्थात् रत्नों का पिटारा कहा है। सूत्रकृतांग में स्पष्ट उल्लेख है कि जिन्होंने हिंसा और अहिंसा आदि के बन्धन कुछ अंशों में नष्ट कर दिये हैं और हिंसा आदि बन्धनों को पूर्णतया नष्ट करने की जिनकी निर्मल भावना है, और जो क्रमशः नष्ट करने का प्रयास करते हैं, वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य हैं। उनका मार्ग भी मोक्ष का मार्ग है। श्रमण के समान श्रावक भी आर्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं। इसके विपरीत जो मिथ्यात्वी हैं, हिंसा आदि में जो रत हैं, वे अनार्य हैं।[1]

उपरोक्त पंक्तियों में श्रावक की जो विशिष्ट भूमिका है, उसके पर्यायवाची शब्दों के पीछे जो रहा हुआ रहस्य है, उसे हमने स्पष्ट किया है। एक श्रावक की भूमिका कितनी महान् है, यह भी इससे स्पष्ट है। व्रती श्रावक किस रूप से व्रतों को स्वीकार करता है, और उन व्रतों की क्या-क्या मर्यादाएँ हैं? इन सभी पहलुओं पर हम अगले अध्यायों में विचार करेंगे।

●●

१. एस ठाणे आरिए, जाव सव्वदुक्खपहीण मग्गे एगंतसम्मे साहू। —सूत्रकृतांगसूत्र

१५. आचार के मानदण्ड : श्रावकव्रत

जैन साहित्य में श्रावक के आचारधर्म को द्वादश व्रतों के रूप में निरूपित किया गया है। श्रावक अत्यन्त निष्ठा के साथ इन व्रतों का पालन करता है। द्वादश व्रतों में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में गुणव्रतों व शिक्षाव्रतों के नामों में तथा गणना-क्रम में एकरूपता नहीं है। उपासकदशांग में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का संयुक्त नाम शिक्षाव्रत है। पंच अणुव्रत और सप्त शिक्षाव्रतों को द्वादश व्रत कहा है।

अणुव्रत : सामान्य परिचय

द्वादश व्रतों में प्रथम जो पाँच अणुव्रत हैं, उन्हें किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में शीलव्रत भी कहा है। अणुव्रत का अर्थ है–छोटे व्रत। श्रमण हिंसा आदि का पूर्ण रूप से परित्याग करता है, उसके व्रत महाव्रत कहलाते हैं, पर श्रावक उन व्रतों का पालन मर्यादित रूप से करता है। इसलिए उसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं।

शील का अर्थ आचार है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँच व्रत आचार का मूल आधार हैं। बौद्ध साहित्य में इनका नाम 'शील' है। योगदर्शन में इन्हें 'यम' कहा गया है। अष्टांग योग इन्हीं पर आधृत है। ये व्रत सार्वभौम हैं– व्यक्ति, देश, काल और परिस्थिति की मर्यादा से परे हैं। अन्य नियमों के लिए इन नियमों को गौण नहीं बनाया जा सकता है। हिंसा प्रत्येक परिस्थिति में पाप ही है और अहिंसा सदा धर्म ही है।

साधक का लक्ष्य हिंसा आदि से बचने का है। वह यथाशक्ति आगे बढ़ता है। श्रमण और श्रावक इसी प्रगति की दो कक्षाएँ हैं। साधु अहिंसादि व्रतों का पूर्ण रूप से पालन करता है किन्तु गृहस्थ साधक अपनी मर्यादा निश्चित करता है। उस मर्यादा को संकुचित करना उसकी इच्छा पर निर्भर है, पर मर्यादा से आगे बढ़ने पर अथवा उसका उल्लंघन करने पर व्रत भंग हो जाता है। जिन दोषों से व्रत टूटने की सम्भावना बनी रहती है उनका भी निरूपण किया गया है। श्रावक को इन्हें जानना चाहिए, पर आचरण नहीं करना चाहिए। उन सम्भावित दोषों को अतिचार कहा गया है।

अतिचार : अनाचार

जैन आगम साहित्य में व्रत के अतिक्रमण की चार कोटियाँ बताई गई हैं–

(१) अतिक्रम–व्रत को उल्लंघन करने का मन में ज्ञात व अज्ञात रूप से विचार आना।

(२) व्यतिक्रम–व्रत का उल्लंघन करने के लिए प्रवृत्ति करना।

(३) अतिचार–व्रत का आंशिक रूप से उल्लंघन करना।

(४) अनाचार–व्रत का पूर्ण रूप से खण्डित हो जाना।

अनजान में जो दोष लग जाता है वह अतिचार है और जान-बूझकर व्रत का भंग करना अनाचार है। श्रावक इन चारों दोषों से अपने व्रतों की रक्षा करता है।

बारह व्रतों के नाम

बारह व्रतों के नाम इस प्रकार हैं–(१) स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत, (२) स्थूल मृषावादविरमणव्रत, (३) स्थूल अदत्तादानविरमणव्रत, (४) स्वदार-सन्तोष व्रत, (५) स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत, (६) दिशापरिमाण व्रत, (७) उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत, (८) अनर्थदण्डविरमण व्रत, (९) सामायिक व्रत, (१०) देशावकाशिक व्रत, (११) पौषधोपवास व्रत, (१२) अतिथि संविभाग व्रत।

पाँच अणुव्रत

(१) स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत

जैन धर्म और दर्शन का विकास अहिंसा के आधार पर हुआ है। अहिंसा जैन धर्म का प्राण है। आचार्य उमास्वाति ने हिंसा की परिभाषा करते हुए लिखा है–'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'–प्रमत्त योग से प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है। मन, वचन और काया की प्रमादयुक्त प्रवृत्ति हिंसा है।

आघात के दो प्रकार

प्राण शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ लिए हुए है। जैन शास्त्रों में प्राण के दस भेद बताये गये हैं। पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयु। इनका व्यपरोपण दो प्रकार से होता है–आघात द्वारा और प्रतिबन्ध द्वारा। दूसरों को ऐसी चोट पहुँचाना, जिससे दिखाई देना अथवा सुनना बन्द हो जाय, 'आघात' है। दूसरों को देखने और सुनने से रोकना, उनकी स्वतन्त्र प्रवृत्तियों में बाधा उपस्थित करना, 'प्रतिबन्ध' है।

प्रश्न है–एक व्यक्ति दूसरे के जीवन में हस्तक्षेप करता है, चोरी, डकैती या अन्य अपराधों द्वारा शान्ति भंग करता है, क्या उस पर नियंत्रण करना आवश्यक नहीं है ?

उत्तर है–श्रमण और श्रावक की चर्या में यही अन्तर है कि श्रमण किसी पर हिंसात्मक नियंत्रण नहीं करता। वह अपराधी को भी स्नेह से उपदेश देता है। वह उसे किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं देता। किन्तु श्रावक के लिए यह नियम नहीं है। वह अपराधी को दण्ड भी दे सकता है। किन्तु दण्ड देते समय वह बदले की भावना नहीं रखता, वह चिकित्सक की दृष्टि रखता है, दण्ड देकर अपराधी को सुधारने का लक्ष्य रखता है।

अहिंसा व्रत के दो आगार

श्रमण और श्रावक की अहिंसा में एक बात का और भी अन्तर है। जैनदृष्टि से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति में जीव हैं, जिन्हें स्थावर कहा गया है। श्रमण स्वयं के लिये भोजन नहीं बनाता है और न दूसरों के लिए ही बना सकता है। मकान आदि का निर्माण जैसी सावद्य प्रवृत्ति वह नहीं कर सकता। वह भिक्षा द्वारा अपना जीवन निर्वाह करता है। किन्तु श्रावक के लिए यह बात नहीं है। वह मर्यादित रूप से प्रवृत्तियाँ भी करता है। उन प्रवृत्तियों में पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा और वनस्पति प्रभृति स्थावर प्राणियों की हिंसा भी होती है। सूक्ष्म हिंसा का उसको त्याग नहीं होता। वह केवल त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करता है। वह सूक्ष्म हिंसा को हिंसा समझता है। उस हिंसा से बचने का प्रयास भी करता है। पर संसार-व्यवहार में फँसा होने के कारण सूक्ष्म हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। इस प्रकार श्रावक के अहिंसा व्रत में दो आगार हैं–प्रथम, अपराधी को दण्ड देने का और दूसरा, जीवन निर्वाह के लिये सूक्ष्म हिंसा का। इन्हीं आगारों के आधार से श्रावक को सागारी कहा गया है और आगार का अभाव होने से साधु को अनगार कहा है।

स्थूल प्राणातिपात

श्रावक के अहिंसा व्रत का नाम उपासकदशांगसूत्र और आवश्यकसूत्र आदि में स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत है। श्रमण की सर्वहिंसाविरति की तुलना में श्रावक की अहिंसा देशविरति है। श्रमण मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी की, चाहे वह त्रस हो, चाहे वह स्थावर हो, न स्वयं हिंसा करता है न करवाता है और न करने वाले का समर्थन ही करता है। इस प्रकार श्रमण हिंसा का तीन योग (मन, वचन और काया) और तीन करण (करना, करवाना और अनुमोदन करना) पूर्वक त्याग करता है। उसका प्रस्तुत त्याग सर्वविरित कहलाता है।

श्रावक इस प्रकार की हिंसा का त्यागी नहीं होता। वह केवल त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत होता है। उसकी यह विरति तीन योग और तीन करणपूर्वक न होकर तीन योग व दो करणपूर्वक होती है। वह निरपराध प्राणियों को मन, वचन और काया से न स्वयं मारता है और न दूसरों से मरवाता है, परिस्थिति-विशेष से स्थूल हिंसा के समर्थन की उसको छूट होती है। श्रावक ऐसी कोई भी प्रवृत्ति नहीं कर सकता है जिसमें स्थूल हिंसा की सम्भावना हो। वह ऐसी प्रवृत्ति दूसरों से भी नहीं करवा सकता है। इस प्रकार उसका व्रत भंग नहीं होता। वह जो भी कार्य करता है, या करवाता है उसमें वह पूर्ण सावधानी रखता है कि किसी को कष्ट न हो, किसी की हिंसा न हो, किसी के प्रति अन्याय न हो। विवेकपूर्वक पूर्ण सावधानी रखने पर भी यदि किसी प्राणी की हिंसा हो जाय तो श्रावक के अहिंसा व्रत का भंग नहीं होता।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ध्यान न रखना, न्याय और अन्याय का विवेक न रखना स्पष्ट रूप से हिंसा को प्रोत्साहन देना है। अहिंसा की सुरक्षा के लिए विचारों की निर्मलता, यथार्थता एवं दृष्टि की विराटता अपेक्षित है। श्रावक किसी को मारते समय अनुकम्पित होता है किन्तु व्रत की सुरक्षा के लिए हँसते व मुस्कराते हुए प्राणोत्सर्ग करने के लिए भी सदा तत्पर रहता है। हिंसा व अन्याय के सामने वह कभी भी झुकता नहीं अपितु वीरता के साथ उसका प्रतिकार करता है। निर्भयता अहिंसा के लिए आवश्यक है। कायर व्यक्ति हिंसा, अन्याय एवं अनाचार को प्रोत्साहन देता है।

संकल्प और आरम्भ

उपासकदशांग[1] में आनन्द श्रमणोपासक ने प्रस्तुत व्रत ग्रहण करते हुए प्राणातिपात के दो भेद किये हैं–संकल्प से और आरम्भ से। इनमें से श्रमणोपासक संकल्प से जीवन भर के लिए प्राणातिपात का त्याग करता है, किन्तु आरम्भ से नहीं। मारने की भावना से, समझ-बूझकर माँस, हड्डी , चमड़ी, नख, केश, दाँत आदि के लिए, किसी निर्दोष-निरपराध त्रस प्राणी की बिना प्रयोजन के हिंसा करना, संकल्पजा हिंसा है। मकान निर्माण कराने में, पृथ्वी खोदने, खेत जोतने आदि विविध आरम्भ के कार्यों में त्रस जीवों की हिंसा हो जाना आरम्भजा हिंसा है। आरम्भजा हिंसा में हिंसा करने का संकल्प नहीं होता। किसी भी त्रस जीव की घात करने की, हानि पहुँचाने की या उन्हें भयभीत करने की भावना नहीं होती।

---

१. से पाणाइवाइए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–संकप्पओ य आरम्भओ य । तत्थ समणोवासओ, संकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाई नो आरम्भओ..... । –उपासकदशा १

कल्पना कीजिए–किसी व्यक्ति से शस्त्र-संचालन सीखते समय कोई शस्त्र यदि किसी को असावधानी से लग गया है। जिसके हाथ से शस्त्र लगा है वह दण्ड का पात्र तो अवश्य है पर यदि उस व्यक्ति का इरादा नहीं है तो भारी दण्ड उसे प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न है–एक श्रावक ने अपनी बहू-बेटियों की लाज लूटने वाले पुरुष पर आक्रमण किया और उस आक्रमण में वह व्यक्ति मर जाता है। वह हिंसा संकल्पजा है या आरम्भजा है ?

उत्तर है–उस हिंसा को संकल्पजा हिंसा में नहीं गिन सकते क्योंकि संकल्पजा हिंसा वह है जो निरपराधी जीवों को मारकर की जाती है। निरपेक्ष यानी निष्प्रयोजन हिंसा करना संकल्पजा हिंसा है। इसके अतिरिक्त किसी भी प्राणी को मारने की इच्छा न रखते हुए भी कार्य करते हुए प्राणियों का मर जाना आरम्भजा हिंसा है।

अहिंसा व्रत की मर्यादा

प्राचीन आचार्यों ने हिंसा का सूक्ष्म रहस्य समझाने के लिए हिंसा के संकल्पजा और आरम्भजा व उद्योगिनी और विरोधिनी ये चार भेद किये हैं। इन चार हिंसाओं में से संकल्पजा हिंसा का वह पूर्ण रूप से त्याग करता है।[1] शेष तीन हिंसाएँ वह चाहते हुए भी सर्वथा त्याग नहीं सकता है, सिर्फ मर्यादा कर सकता है। श्रावक बिना प्रयोजन निरपराधी जीव को मारने की बुद्धि से नहीं मारता। एक श्रावक किसान है। खेती करते समय अनेक जीव मर जाते हैं पर वह संकल्प से एक भी जीव को नहीं मारता। यदि मारता है तो संकल्पी हिंसा है, ऐसी हिंसा श्रावक कभी भी नहीं कर सकता। उससे उसके अहिंसा व्रत की मर्यादा भंग होती है।

शिकार करना महाहिंसा

कितने ही व्यक्तियों की यह भ्रान्त धारणा है कि शिकार आदि करना उद्योगी हिंसा है पर वह उद्योगी हिंसा नहीं है। शिकार आदि उद्योग के लिए नहीं, मनोरंजन के लिए किये जाते हैं। वह संकल्पी हिंसा है, महाहिंसा है। सम्यक्त्व आने से पूर्व ही यह व्यसन छोड़ना आवश्यक है जिससे हृदय की कोमल वृत्तियाँ नष्ट न हों।

कितने ही व्यक्तियों का यह तर्क है कि हिंसक जीवों को यदि मार दिया जाय तो अनेक जीवों की रक्षा होगी, क्योंकि वे जब तक जीवित रहेंगे तब तक वे विविध प्राणियों का हनन कर पाप का उपार्जन करते रहेंगे, उन्हें मार दिया जायेगा

---

१. पंगुकुष्टिकुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः।
निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसा संकल्पतस्त्यजेत् ॥ —आचार्य हेमचन्द्र–योगशास्त्र २/१९

तो वे उस पाप से मुक्त हो जायेंगे। पर उनका यह तर्क कुतर्क है। यदि हिंसक प्राणी श्रावक पर आक्रमण कर रहा है तो उस समय वह अपराधी है। उसके अतिरिक्त अन्य सारे हिंसक प्राणी अपराधी नहीं हैं, उन निरपराधियों को श्रावक मार नहीं सकता, यदि मारता है तो घोर संकल्पी हिंसा है।

जिस प्रकार मानव हिंसक प्राणियों को मारना चाहता है कि वे हमारे दुश्मन हैं उसी प्रकार यदि हिंसक प्राणी यह सोचें कि मानव हमारे दुश्मन हैं जो हमें मारते हैं, हमें मानवों को मार देना चाहिए। क्या उन हिंसक प्राणियों का प्रस्तुत निर्णय हमें पसन्द आयेगा ? जब हमें उनका निर्णय पसन्द नहीं है तो हमारा निर्णय उन्हें किस प्रकार पसन्द आयेगा ?

कोई भी प्राणी मरना पसन्द नहीं करता इसलिए मारने का विचार करना ही सर्वथा अनुचित है। हिंसक जीवों को मारने से अनेक जीवों की रक्षा होगी; यह धारणा भी भ्रान्त ही है। यदि आयुष्य बलवान है तो किसी भी जीव की शक्ति नहीं कि उसे मार सके और यदि आयुष्य ही क्षीण हो चुका है तो कोई भी उपाय नहीं जिससे वह बच जाय, हिंसक जीव को मारने की भावना ही अनुचित है। हिंसक प्राणी प्रायः तभी काटते हैं जब उन्हें छेड़ा जाता है या उन पर पैर आदि लग जाता है अथवा सिंह आदि तभी आक्रमण करते हैं, जब वे भूख से पीड़ित हों लेकिन मानव तो अपनी जिह्वा के स्वाद के लिए उन्हें मारता है।

इस विराट् विश्व में जैसे मानव को रहने का अधिकार है उसी तरह अन्य हिंस्र प्राणियों को भी रहने का अधिकार है। जो प्राणी अपने आपको सबल मानता है, कल दूसरा व्यक्ति उससे भी सबल हो सकता है। मत्स्यगलागल-न्याय से विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। यह अनुभूति की कसौटी पर कसा हुआ सिद्धान्त है कि हिंस्र प्राणी तभी हमला करता है जब उसे मारने या सताने की भावना मन में पनप रही हो। यदि हृदय में निर्वैर और निर्भयता की भावना अठखेलियाँ कर रही हो, तो वे पशु न कभी काटते हैं, न ही कष्ट ही देते हैं।

कुल-विनाशिनी हिंसा

श्रावक न स्वयं माँस और चमड़े का व्यापार करता है और न दूसरों को करने के लिए ही उत्प्रेरित करता है। जो इस प्रकार के कार्य करते हैं, वे हिंसा के भागीदार होते हैं। आचार्य मनु ने तो स्पष्ट शब्दों में लिखा है[1]—पशुवध के लिए आदेश देने वाला, मारने वाला, माँस को काटने वाला, बेचने वाला, खरीदने वाला,

---

१. अनुमन्ता विशसिता हन्ता च क्रय-विक्रयीः।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकः ॥ —मनुस्मृति

पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला ये आठों व्यक्ति हिंसा के भागी होते हैं। अतः श्रावक इस प्रकार की संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। श्रावक अपने कुल के नाम पर, रीति-रस्म के नाम पर और विघ्नों की शान्ति के नाम पर भी हिंसा करता है। आचार्य हेमचन्द्र[1] ने कुल का आचार समझकर की गयी हिंसा को कुलविनाशिनी कहा है।

संकल्पी हिंसा

अतीतकाल में स्वार्थ के कारण, गलत परम्पराओं के कारण, धर्म मानकर पशु और पक्षियों की बलि दी जाती थी। आचार्य हेमचन्द्र और आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने योगशास्त्र[2] और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[3] ग्रन्थ में उसकी कटु आलोचना करते हुए लिखा है कि वे धर्ममूढ़ हैं जो जीवहिंसा में दोष नहीं मानते। चाहे किसी के नाम पर हिंसा की जाये, वह हिंसा कभी भी अहिंसा नहीं हो सकती। प्राणों का अपहरण करना हिंसा तो है ही, साथ ही किसी को सताना, भयभीत करना, अंग-भंग करना, विविध प्रकार की यातनाएँ देना, परतन्त्र बनाकर रखना, मिथ्या-दोषारोपण करना, मर्मकारी वचनों का प्रयोग करना, किसी का अपमान करना–ये सारी हिंसाएँ संकल्पपूर्वक होने से संकल्पी हिंसा में ही समाविष्ट होती हैं।

किसी रोग से संत्रस्त या कष्ट से उत्पीड़ित व्यक्ति को निहारकर उसे उस वेदना से मुक्त करने के लिए शस्त्र, विष, इन्जेक्शन आदि द्वारा किसी को मारने का उपक्रम करना और मन में यह समझना कि हमने दया की है, यह दया नहीं है किन्तु दया का भ्रम है। कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता। फिर भले ही वह कितना भी कष्ट में क्यों न हो। अतः मारने का निर्णय करना, हृदय की कोमल-वृत्तियों को तिलांजलि देना भी संकल्पी हिंसा ही है। संकल्पी हिंसा के विविध प्रकारों से श्रावक बचता है। आरम्भी, उद्योगिनी और विरोधिनी–इन तीन प्रकार की हिंसाओं से श्रावक पूर्णतया बच नहीं पाता। उसे गृहस्थाश्रम में रहते हुए घर की सफाई करनी होती है। भोजन आदि बनाना पड़ता है। पशु और पारिवारिक-जनों की सेवा और शुश्रूषा भी करनी होती है। सावधानी रखने पर भी हिंसा होती है किन्तु हिंसा करने का उसका उद्देश्य नहीं होता। आचार्य अकलंक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–श्रावक उन्हीं व्यापारों को करता है जो अल्पारम्भी और अल्पसावद्य आर्यकर्म हों।

---

१. हिंसा विघ्नाय जायेत, विघ्नशान्त्यै कृताऽतिहि।
कुलाचार-धियाऽप्येषा, कृता कुलविनाशिनी ॥ –*योगशास्त्र* २/२९

२. वही २/३९

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ७९-८१

अहिंसा व्रत के अतिचार

गृहस्थ श्रावक को प्रमाद या अज्ञान के कारण दोष लगने की सम्भावना रहती है। ऐसे दोषों को अतिचार कहा है। स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत के मुख्य पाँच अतिचार हैं।[1]

(१) बन्ध–किसी त्रस प्राणी को कष्टदायी बन्धन में बाँधना, उसे अपने इष्ट स्थान पर जाने से रोकना या अपने अधीनस्थ व्यक्ति को निर्दिष्ट समय से अधिक रोककर उससे अधिक से अधिक कार्य लेना आदि भी बन्ध के अन्तर्गत है। यह बन्धन शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार के हैं। बंध के अर्थबंध और अनर्थबंध ये दो प्रकार हैं। किसी को किसी प्रयोजन या हेतु से बाँधना अर्थ-बन्ध है। जैसे किसी रुग्ण या पागल व्यक्ति को चिकित्सा आदि के लिए बाँधना। कलुषित भावना से बिना प्रयोजन बाँधना अनर्थबन्ध है, जो सर्वथा हिंसा है।

(२) वध–किसी भी त्रस प्राणी को मारना वध है। अपने आश्रित व्यक्तियों को या अन्य किसी भी प्राणी को लकड़ी, चाबुक, पत्थर आदि से मारना, उन पर अनावश्यक भार डालना, किसी की लाचारी का अनावश्यक लाभ उठाना, अनैतिक ढंग से शोषण कर उससे लाभ उठाना आदि वध है। जिस कार्य-विशेष से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से त्रस प्राणियों की हिंसा होती है, वह वध है।

(३) छविच्छेद–किसी भी प्राणी के अंगोपांग काटना, अंग-भंग कर देना क्रोध से या मनोरंजन के लिए छविच्छेद है। छविच्छेद के समान वृत्तिच्छेद भी अनुचित है। किसी की आजीविका का सम्पूर्ण छेद करना, उचित पारिश्रमिक से कम देना आदि भी छविच्छेद के समान दोषयुक्त है।

(४) अधिभार–बैल, ऊँट, घोड़ा आदि पशुओं पर या अनुचर एवं कर्मचारियों पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना, अतिभार है। किसी की शक्ति से अधिक कार्य करवाना भी अतिभार है।

(५) भक्तपानविच्छेद–समय पर भोजन-पानी न देना, नौकर को समय पर वेतन न देना, जिससे उसे कष्ट पहुँचे आदि सभी क्रिया-कलाप अन्नपानविच्छेद है।

अहिंसा के उपासक श्रावक को इन अतिचारों से सदा बचना चाहिए।

(२) स्थूल मृषावादविरमण व्रत

श्रावक का द्वितीय व्रत स्थूल मृषावादविरमण है। गणधर सुधर्मास्वामी के शब्दों में–"सच्चं खु अणवज्जं वयंति"–सत्य अनवद्य अर्थात् अपापकारी वचन है।

---

१. उपासकदशांग १/६, पृष्ठ १०, अभयदेववृत्ति

आचार्य उमास्वाति ने अनृत की व्याख्या करते हुए कहा है[1]–"असदभिधानं अनृतम्।"–असदभिधान के तीन अर्थ हैं–

(१) असत्–अर्थात् जो बात नहीं है, उसको कहना।

(२) जैसी बात है वैसी न कहकर दूसरे रूप में कहना।

एक ही तथ्य को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है जिससे सुनने वाले पर अच्छा प्रभाव पड़े। उसी को विकृत रूप से भी प्रस्तुत किया जा सकता है जिससे सुनने वाला अप्रसन्न हो जाये। सत्यवादी वस्तु को वास्तविक रूप में रखता है, उसे बनाने या बिगाड़ने का प्रयास नहीं करता।

(३) तृतीय अर्थ है–असत्–बुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना। यह दुर्भावना दो प्रकार की है–(१) स्वार्थसिद्धिमूलक–अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दूसरे को सत्य न बताना, (२) द्वेषमूलक–दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना से सत्य को विकृत रूप में प्रस्तुत करना।

श्रावक स्थूल असत्य से बचता है

प्रस्तुत व्रत का सम्बन्ध मुख्य रूप से भाषण अथवा वचन-प्रयोग के साथ है। परन्तु दुर्भावना से उत्प्रेरित मानसिक चिन्तन व कायिक व्यापार भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। श्रावक श्रमण की भाँति पूर्ण रूप से सत्य व्रत का पालन नहीं कर पाता। क्योंकि उस पर पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्व का भार होता है जिससे वह सूक्ष्म सत्य का पालन नहीं कर सकता। वह ऐसे असत्य से बचता है जिसे लोक-व्यवहार में असत्य कहा जाता हो, जिससे दूसरे का अहित होता हो, जो सरकार द्वारा दण्डनीय हो, समाज द्वारा निन्दनीय हो, और संसार की दृष्टि में वह स्थूल असत्य हो। श्रावक स्थूल मृषावाद का त्याग करता है।

प्रस्तुत व्रत को धारण करने पर गृहस्थ के सांसारिक कार्यों में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती। एक जैनाचार्य ने सूक्ष्म असत्य का विश्लेषण करते हुए कहा है–ऐसा वचन जो गृहस्थ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति प्रभृति का उपयोग करने के लिए प्रयुक्त करता है, जिस वचन से एकेन्द्रिय जीव की हिंसा की सम्भावना हो, वह सूक्ष्म असत्य है।

जिस तरह से श्रावक अहिंसा अणुव्रत की मर्यादा दो करण तीन योग से करता है उसी तरह स्थूल मृषावाद का त्याग भी दो करण तीन योग से करता

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ७/९

है।[1] आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक के स्थूलमृषावादविरमण के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि श्रावक स्थूल असत्य स्वयं न बोले, न दूसरों से बुलवाये, साथ ही ऐसा भाषण न करे जिससे दूसरों पर कष्टों का पहाड़ ही ढह जाये।[2]

असत्य बोलने के कारण

स्थूल मृषावाद से मानव का सर्वतोमुखी पतन होता है। अनेक कारणों से मानव स्थूल असत्य का प्रयोग करता है। उपासकदशांग में श्रावकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करने के लिए स्थूल असत्य के मुख्य पाँच प्रकार बताये हैं जिनका श्रमणोपासक परित्याग करता है। वे ये हैं–(१) कन्या के सम्बन्ध में, (२) गाय के सम्बन्ध में, (३) भूमि के सम्बन्ध में, (४) न्यास–धरोहर के सम्बन्ध में, (५) मिथ्या साक्ष्य देने के लिए।[3]

कन्या के सम्बन्ध में

यहाँ पर जो कन्या के सम्बन्ध में असत्य न बोलने को कहा गया है, उपलक्षण से उसका तात्पर्य है–मनुष्य जाति के सम्बन्ध में असत्य न बोला जाय।[4] मानव जाति में कन्या को प्रधानता दी गई है। कन्या पुरुष-रत्न की खान है। जो मानव कन्या के सम्बन्ध में असत्य बोलता है, वह मातृजाति का घोर अपमान करता है। कन्यालीक में विवेक रखने हेतु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों की अपेक्षा से चिन्तन किया है। द्रव्य से यदि कन्या सर्वांग सुन्दर हो, उच्च वर्ण की व संस्कारों से सम्पन्न हो; स्वार्थ से उत्प्रेरित होकर उसे कुरूपा, अंगहीना, नीच कुल समुत्पन्ना आदि दोष प्रगट होते हों, उस प्रकार चित्रण करना और सदोष को निर्दोष बताना, क्षेत्र से कन्या को जिस जनपद की हो, उसकी न बताकर दूसरे स्थल की बताना, काल की दृष्टि से बड़ी उम्र की कन्या को छोटी उम्र की और छोटी उम्र की कन्या को बड़ी उम्र की बताना, भाव से चतुर कन्या को मूर्ख और मूर्ख कन्या को चतुर कहना, गुण और अवगुणों को छिपाकर न्यूनाधिक रूप से चित्रण करना।

---

१. थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, दुविहेणं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं। –*उपासकदशा १*

२. स्थूलमलीकं न वदति, न परान् वादयेत् सत्यमपि विपदे।
यत्तद् वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥ –*रत्नकरंड श्रावकाचार ५५*

३. थूलगं मुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से य मुसावाए पंचविहे पन्नते, तं जहा–कन्नालीए, गवालीए, भोमालीए, णासावहारे, कूडसक्खिज्जे।
–*उपासकदशा १/६, अभयदेववृत्ति, पृष्ठ ११*

४. तेन सर्वमनुष्यजाति विषयमलीकमुपलक्षितम्। –*आवश्यकसूत्र टीका*

तात्पर्य यह है कन्या से लेकर सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए क्रोध, अभिमान, लोभ, स्वार्थ व कपट आदि से अयथार्थ भाषण करना, चिन्तन करना और शरीर से चेष्टा करना कन्यालीक है। उससे श्रावक बचता है।

गाय के सम्बन्ध में

द्वितीय स्थूल असत्य गाय के सम्बन्ध में है। जैसे कन्या से सम्पूर्ण मानव-जाति ली गई है वैसे गाय से सम्पूर्ण पशु-जगत् को लिया गया है। मानवों में कन्या श्रेष्ठ मानी गई है, वैसा ही स्थान पशुओं में गाय का है। गाय मान-जाति के लिए विशेष रूप से आधार रही है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में गाय का गौरवपूर्ण स्थान है। गाय के सम्बन्ध में भी द्रव्य से अच्छी गाय को बुरी गाय, अधिक दूध देने वाली को कम दूध देने वाली बताना, क्षेत्र से अमुक क्षेत्र की उत्पन्न गाय को अन्य क्षेत्र में उत्पन्न हुई बताना, भाव से मारने वाली गाय को सीधी या मारक बताना। इसी प्रकार घोड़ा, हाथी, ऊँट, भैंस, बकरी, कुत्ता प्रभृति जितने भी पालतू जानवर हैं, उनके सम्बन्ध में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से असत्य बोलना गवालीक है। श्रावक इस स्थूल मृषावाद से भी अपने आपको बचाता है।

भूमि के सम्बन्ध में

इसी प्रकार भूमि भी जीवन-निर्वाह के लिए महत्त्वपूर्ण साधन है। स्वार्थ व लोभ आदि के वश में होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि से भूमि के सम्बन्ध में असत्य बोलना भूमि-अलीक है। भूमि-अलीक से भूमि में उत्पन्न होने वाली सभी तरह की सचित्त और अचित्त वस्तुओं को लिया गया है; क्योंकि वह सभी का आधार है। जैसे फल, वृक्ष आदि सचित्त वस्तुएँ तथा स्वर्ण, चाँदी, हीरा, ताँबा, अभ्रक आदि अचेतन वस्तुएँ भूमि में ही ली गई हैं। श्रावक भूमि तथा भूमि से निकलने वाली और भूमि पर पैदा होने वाली किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में असत्य नहीं बोलता, असली को नकली नहीं बताता और न अन्य की भूमि को अपनी बताता है।

न्यास–धरोहर के सम्बन्ध में

चतुर्थ स्थूल असत्य धरोहर के सम्बन्ध में है। लोभ के कारण किसी की रखी हुई अमानत को हड़पने के लिए कम-ज्यादा बताना या सर्वथा इनकार हो जाना। यद्यपि आचार्य मनु[1] ने धरोहर को न लौटाने को तस्कर-कृत्य माना है और कहा है कि उसे तस्कर की तरह दण्डित करना चाहिए पर यहाँ न्यासापहार को असत्य में

---

१. यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चोरवच्छास्यौ दाप्यौ वा समं फलम् ॥ —मनुस्मृति

लिया है क्योंकि यह कुकृत्य असत्य बोलकर किया जाता है। यह भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से बोला जाता है। बढ़िया घरोहर को घटिया कहना, नयी को पुरानी और पुरानी को नई कहना।

झूठी साक्षी

झूठी साक्षी देना भी स्थूल असत्य का पाँचवाँ प्रकार है। किसी प्रलोभन, भय, स्वार्थ या आदत के कारण किसी दूसरे के लाभ के लिए या स्वयं के लाभ के लिए या दूसरों की हानि के लिए न्यायाधीश या संघ के समक्ष मिथ्या बयान देना, मिथ्या गवाही देना या मिथ्या प्रशंसा करना। कूट साक्षी में सभी प्रकार की प्रशंसा जो मिथ्या है, वह आ जाती है। कूट साक्षी की आचार्य मनु ने निन्दा करते हुए कहा है–वह वाणी को चुराता है। वह या तो न्यूनाधिक कहेगा या बिल्कुल ही नकार जायेगा, इस तरह वह चोरी करने वाला है। भारतीय मनीषियों ने उसे घृणित और घोरातिघोर पाप कहा है। जो गति ब्राह्मण, स्त्री, बालक के हत्यारे की होती है, वही गति कूट साक्षी देने वाले की होती है। श्रावक इस प्रकार के स्थूल मृषावाद से अपने आपको पूर्णतया बचाता है।

स्थूल मृषावाद के पाँच अतिचार

पूर्ण रूप से सावधानी रखने पर भी प्रस्तुत व्रत में जिन दोषों के लगने की सम्भावना रहती है, वे मुख्य रूप से पाँच हैं–

(१) सहसाऽभ्याख्यान–सहसा–बिना किसी कारण के तथा सत्यासत्य का निर्णय किये बिना कषाय से उत्प्रेरित होकर किसी व्यक्ति पर दोषारोपण करना, किसी के प्रति गलत धारणा पैदा करना, सज्जन को दुर्जन, गुणी को अवगुणी, ज्ञानी को अज्ञानी, ब्रह्मचारी को व्यभिचारी कहना आदि।

कितनी ही बार आँखों देखी घटना भी असत्य होती है। फिर सुनी-सुनाई बात पर बिना किसी प्रकार का निर्णय किये शीघ्र ही किसी पर कलंक लगा देना सर्वथा अनुचित है। सत्याणुव्रतधारी श्रावक को इस दोष से मुक्त रहना चाहिए।

(२) रहस्याभ्याख्यान–किसी की गुह्य बात को किसी के सामने प्रगट कर देना। जैसे कोई व्यक्ति एकान्त शान्त स्थान में किसी गम्भीर विषय पर चिन्तन कर रहा हो, उस समय कल्पना से या अटकलबाजी लगाकर यह ढिंढोरा पीटना कि अमुक विषय पर अमुक प्रकार की मन्त्रणा की जा रही है। केवल अनुमान से ही लोग गलत धारणा बना लेते हैं, और उनमें पूर्वाग्रह की ग्रन्थि बन जाती है। इस तरह असत्य का प्रचार करना भयंकर दोष है।

(३) स्वदारमन्त्रभेद–पति-पत्नी का; एक-दूसरे की गुप्त बातों को किसी अन्य के सामने प्रकट करना स्वदार या स्वपति-मंत्रभेद है। प्रस्तुत अतिचार में स्त्री की गुप्त बात को प्रकट करने का निषेध जिस प्रकार पुरुष के लिए है, वैसे ही पुरुष सम्बन्धी गुप्त बात को प्रकट करना स्त्रियों के लिए निषिद्ध है। इससे कुटुम्ब में वैमनस्य पैदा होता है और बाहर बदनामी भी होती है।

(४) मिथ्योपदेश–सच्चा-झूठा समझाकर किसी को कुमार्ग पर लगाना। असत्य का उपदेश देना, नाप-तोल में किस प्रकार का छल-छद्म किया जाता है, किस तरह चालाकी और बेईमानी करके व्यापार किया जा सकता है, आदि मिथ्या कार्यों के लिए प्रेरणा देना–मिथ्या उपदेश है, जब ऐसा उपदेश असावधानी से दिया जाता है, तब वह अतिचार है पर पुनः-पुनः सत्यव्रत का विचार न कर धड़ल्ले के साथ गलत सलाह देना अनाचार है। इससे व्रत का सर्वथा भंग हो जाता है। श्रावक को प्रस्तुत अतिचार से बचना चाहिए तथा अनाचार का सेवन तो कभी भी न करना चाहिए।

(५) कूटलेखप्रक्रिया–कितने ही श्रावकों की यह भ्रान्त धारणा होती है कि 'मैंने स्थूल असत्य बोलने का परित्याग किया है, किन्तु असत्य लिखने का नहीं।' इसी कारण हाथ से मिथ्या लेख, झूठे दस्तावेज, जाली लेख, किसी दूसरे व्यक्ति के अक्षर सदृश अक्षर लिख देना, जाली हुण्डी, बिल्टी, नोट, सिक्के, मुहर आदि बनाना, इसी तरह बहीखातों में झूठा जमा-खर्च करना, कई बार तो लोभ के वशीभूत होकर किसी की वस्तु को हजम करने के लिए पाँच सौ के स्थान पर पाँच हजार बनाकर गरीब व्यक्तियों को कष्ट प्रदान करना आदि कार्य करने में संकोच का अनुभव नहीं करते हैं। भले ही मुँह से झूठ न बोला गया हो, पर लेखन में तो भयंकर झूठ है ही। इस प्रकार के सभी मिथ्या लेख कूटलेखप्रक्रिया में आते हैं और ये सभी सत्याणुव्रत के अतिचार हैं, जो श्रावक को नहीं करने चाहिए।

उपासकदशांगसूत्र[1] में इन पाँच अतिचारों का वर्णन है। आचार्य उमास्वाति ने सहसाभ्याख्यान के स्थान पर न्यासापहार अतिचार लिखा है। अन्य दिगम्बर आचार्यों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। न्यासापहार का अर्थ है–किसी की धरोहर को रखकर इनकार हो जाना। श्रावक को इन सभी अतिचारों से बचकर सम्यक् प्रकार से सत्य का पालन करना चाहिए।

---

१. थूलगमुसावायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। तं जहा–सहस्साब्भक्खाणे, रहस्साब्भक्खाणे, सदारमंतभेए, मोसुवएसे, कूडलेहकरणे।

–उपासकदशा १/६, अभयदेववृत्ति, पृष्ठ ११

(३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत

श्रावक का तृतीय व्रत स्थूल अदत्तादान विरमण है। श्रमण के लिए बिना अनुमति के दन्तशोधनार्थ तृण आदि ग्रहण करना भी वर्ज्य माना गया है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं कि सम्पूर्ण प्रकार की चोरी का मन-वचन-काया से त्याग कर दे।

गृहस्थ श्रावक स्थूल अदत्तादान का त्याग करता है। वह यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि चाहे सचित्त वस्तु हो, चाहे अचित्त वस्तु हो,[1] वह दुष्ट अध्यवसायपूर्वक अपने अधिकार से बाहर की अथवा दूसरे के अधिकार की वस्तु को उस वस्तु के अधिकारी की आज्ञा के बिना ग्रहण नहीं करेगा, क्योंकि ऐसा करना स्थूल अदत्तादान है।

जिसे समाज में चोरी कहा जाता है, जिसके करने से समाज में व्यक्ति चोर, बेईमान या, तस्कर कहलाता है, जिसे लोग घृणा की दृष्टि से निहारते हैं, जो वस्तु सार्वजनिक है, जिस वस्तु पर उसका स्वयं का अधिकार नहीं है, उस वस्तु को लेकर उसका उपभोग करना स्थूल अदत्तादान है।

स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत स्थूल मृषावाद की भाँति दो करण (करूँ नहीं, कराऊँ नहीं) और तीन योग (मन, वचन और काया) पूर्वक होता है।[2]

स्थूल चोरी का परित्याग करने पर श्रावक का जीवन लोक-व्यवहार की दृष्टि से विश्वस्त और प्रामाणिक बन जाता है, उसका चारित्रिक बल बढ़ जाता है और किसी भी सांसारिक कार्य में उसे बाधा उपस्थित नहीं होती।

कितने ही व्यक्तियों की यह धारणा है कि श्रावक अस्तेय व्रत का पूर्णतया पालन नहीं कर सकता। जिस परिवार में स्नेहाधिक्य होता है वहाँ परस्पर कोई चोरी नहीं करता। जब मन में प्रेम व्यापक बन जाता है तब व्यक्ति तस्कर कृत्य नहीं करता।

चोरी के बाह्य कारण

चोरी का प्रथम कारण भोगों के प्रति आसक्ति है जब मानव के मन में भोग लालसा, वैभव-लिप्सा आदि हीन वृत्तियाँ पनपती हैं, तो वह स्तेय की ओर प्रवृत्त

---

१. थूलगं अदिन्नादाणं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से अदिन्नादाणे दुविहे पन्नत्ते तं जहा– सचित्तादत्तादाणे अचित्तादत्तादाणे य। —आवश्यकसूत्र, तीसरा पाठ

२. तयाणंतरं च थूलगं अदिन्नदाणं पच्चक्खाई दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा। —उपासकदशा १/६, अभयदेववृत्ति, पृ. ११-१३

होता है। किसी के पास कोई बढ़िया वस्तु देखकर उसे प्राप्त करने के लिए मन ललक उठता है और उसी के लिए व्यक्ति निम्न कोटि के कार्य करने के लिए उत्प्रेरित होता है। सबसे पहले मन में चोरी की भावना उद्‌बुद्ध होती है फिर वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ होती हैं।

अस्तेय व्रत की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि अनावश्यक आवश्यकताएँ कम की जायें, अनुचित व गलत उपायों से धन प्राप्त करने की कामनाएँ न की जायें। अधिकांश चोरियाँ आसक्ति और लालसा से प्रेरित होकर की जाती हैं। दूसरा कारण भुखमरी और बेकारी भी है। तीसरा कारण फिजूलखर्ची है। चौथा कारण यश-कीर्ति व प्रतिष्ठा की भूख है। पाँचवाँ कारण स्वभाव है। अशिक्षा और कुसंगति के कारण भी व्यक्ति चोरी करने के लिए विवश होता है।

श्रावक स्थूल चोरी का त्याग करता है।

स्थूल चोरी के प्रकार

स्थूल चोरी के कुछ प्रकार इस तरह हैं–किसी दूसरे के घर में सेंध लगाना, किसी की जेब काटना, किसी के घर का ताला तोड़ना, या अपनी चाबी लगाना, या बिना पूछे किसी दूसरे की गाँठ खोलकर वस्तु निकाल लेना, किसी का गड़ा हुआ धन निकाल लेना, डाका डालना, ठगना, चौर्य-बुद्धि से किसी की वस्तु को उठा लेना और उसे अपने पास रख लेना आदि।

अस्तेय व्रत के अतिचार

अस्तेय व्रत का सम्यक् प्रकार से प्रतिपालन करते हुए भी कभी प्रमाद या असावधानी से जो दोष लग जाते हैं, उन्हें अतिचार[1] कहा है। वे मुख्य रूप से पाँच प्रकार के हैं–

(१) स्तेनाहृत–जानकारी के अभाव में या यह समझकर कि चोरी करने व कराने में पाप है, पर चोर के द्वारा लायी गयी चोरी की वस्तु खरीदने या घर में रखने में क्या हर्ज है श्रावक चोरी की वस्तु खरीद लेता है पर यह स्मरण रखना चाहिए कि वह अतिचार है।

कितने ही व्यक्तियों की यह भ्रान्त धारणा भी है कि हम मुफ्त में तो कोई वस्तु ले नहीं रहे हैं, दाम देकर वस्तु को खरीद रहे हैं, उसमें चोरी जैसी क्या बात है।

---

१. थूलग अदिन्नादाणवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा–तेनाहडे, तक्करपओगे, विरुद्धरज्जातिकमे, कूडतुल्ल कूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे।
–*उपासकदशा १/६, अभयदेववृत्ति, पृ. ११-१३*

पर उन्हें यह स्मरण रखना होगा कि जो वस्तु चोरी से लायी जाती है वह वस्तु सस्ती बेची जाती है। इसलिए श्रावक को विवेकपूर्वक जाँच करके ही कोई वस्तु लेनी चाहिए। चोरी की वस्तु खरीदने वाला व्यक्ति भी चोर के समान ही दण्डनीय होता है।

यह जिज्ञासा हो सकती है कि सस्ते दामों में मिलने वाली सभी वस्तुएँ चोरी की कैसे हो सकती हैं? किसी व्यक्ति को धन की अत्यधिक आवश्यकता हो तो वह भी सस्ते दामों में अपनी वस्तु बेचता है।

समाधान है कि वह वस्तु सस्ती हो सकती है पर चोरी की वस्तु की तरह अत्यधिक सस्ती नहीं होती। चोरी की वस्तु को बेचते समय बेचने वाले के मन में भय रहता है। वह लुक-छिपकर बेचता है। अतः इन सभी बातों में विवेक रखने की आवश्यकता है।

चुराई हुई वस्तु को अपने घर में रखना, चोर, डाकू आदि को अपने घर में आश्रय देना, यह भी अपराध है। श्रावक इस अतिचार से अपने आप को बचाता है।

(२) तस्कर प्रयोग–तस्करों को तस्कर-कृत्य करने के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन देना, उस कार्य की प्रशंसा करके उस कार्य को उत्तेजना देना तस्कर प्रयोग है। जैसे–एक वकील एक व्यक्ति को जानता है कि यह तस्कर है तथापि अपने पारिश्रमिक के लिए उसे निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करता है। यह एक प्रकार से चोर की सहायता देकर चोरी की प्रेरणा देना है। इसी तरह जिस किसी भी कार्य से तस्कर-वृत्ति पनपती हो, वह भी तस्कर प्रयोग अतिचार है।

(३) विरुद्धराज्यातिक्रम–जो राज्य एक-दूसरे के विरोधी हैं, ऐसे विरुद्ध राज्य का उल्लंघन करना यानी राज्य की सीमा का अतिक्रमण करना। इसका एक अर्थ यह है कि विरोधी राज्य की सीमा का उल्लंघन करके वहाँ के लोगों को माल देना और वहाँ से माल लाना, शासन-विरुद्ध कार्य करना, जिससे शासन में अव्यवस्था फैलती है। इस अतिचार में अवैधानिक व्यापार, निषिद्ध वस्तु एक स्थल से द्वितीय स्थल पर पहुँचाना, राज्य के विरुद्ध गुप्त कार्य आदि करना आदि सभी सम्मिलित हैं।

(४) कूटतुला कूटमाप–सरकार ने तोल-माप के जो पैमाने, उदाहरणार्थ मीटर, किलोग्राम, लीटर आदि निश्चित किये हों, उससे कम-ज्यादा तोलना और मापना। यह एक प्रकार से बेईमानी और विश्वासघात है। किसी के अज्ञान का अनुचित लाभ उठाना है। यदि व्यापारी बाँट सही रखकर भी तोलते समय डण्डी मारता है या नापते समय हाथ को आगे-पीछे करता है, तो यह भी चोरी ही है। श्रावक को इस अतिचार से भी बचना चाहिए।

(५) तत्प्रतिरूपक व्यवहार–किसी श्रेष्ठ वस्तु में उसी के सदृश नकली वस्तु मिलाकर देना। जैसे–गेहूँ में कंकर, काली मिर्ची में पपीते के बीज, जीरे में रेत, असली घी में वनस्पति घी, दूध में पानी आदि मिलाना। अच्छी वस्तु बताकर खराब वस्तु देना तत्प्रतिरूपक अतिचार है।

सत्य व्रत और अचौर्य व्रत के अतिचारों का व्यापार व व्यवहार में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। आज यदि व्यापारी वर्ग इन अतिचारों का सेवन न करे तो देशवासियों को हर दृष्टि से लाभ हो सकता है और श्रावक की गौरव-गरिमा में भी अभिवृद्धि हो सकती है।

(४) स्वदारसन्तोष व्रत

ब्रह्मचर्य मानव-जीवन के उत्थान का मेरुदण्ड है। विश्व के सभी मूर्धन्य मनीषियों ने ब्रह्मचर्य की गौरव गरिमा के गीत गाये हैं। ब्रह्मचर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति है। जिस शक्ति के विकसित होने पर विश्व की अन्य शक्तियाँ ब्रह्मचारी के चरणों में नत हो जाती हैं। देवराज इन्द्र भी सिंहासन पर आसीन होते समय 'नमो बंभयारिस्स' कहकर ब्रह्मचारी के चरणों में अपना सिर झुकाता है।

गृहस्थ की ब्रह्मचर्य मर्यादा

मोक्ष-मार्ग की आराधना के लिए ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक मानी गई है। श्रमण पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करता है। किन्तु गृहस्थाश्रम में रहकर श्रावक के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना असम्भव तो नहीं किन्तु अत्यन्त कठिन अवश्य है। गृहस्थ पराई स्त्री के साथ सहवास का सर्वथा परित्याग करता है और अपनी स्त्री के साथ भी काम-सेवन की मर्यादा निश्चित करता है।

गृहस्थाश्रम का लक्ष्य वासना-पूर्ति करना नहीं, अपितु ब्रह्मचर्य के उच्च आदर्श को प्राप्त करना है। पत्नी भोग-वासना की पूर्ति करने वाली पुतली नहीं, अपितु ब्रह्मचर्य के महामार्ग पर बढ़ने में सहायिका है। एतदर्थ ही आगम साहित्य में उसके लिए धम्म-सहाय्या, धर्मपत्नी, सहचारिणी प्रभृति विविध विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। जिस प्रकार पति के लिए स्वदार-स्वपत्नीसंतोष व्रत है उसी तरह श्राविका के लिए भी स्वपतिसंतोष व्रत है।

यह व्रत सामाजिक दृष्टि से भी अत्यन्त आवश्यक है। वैयक्तिक जीवन विकास के लिए भी आवश्यक है। देशविरति ब्रह्मचर्य का नियम स्वीकार करने पर विवाहित स्त्री-पुरुष के सांसारिक कार्यों में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। नैतिक-धार्मिक सभी दृष्टियों से इस व्रत का पालन करना श्रेयस्कर है।

गृहस्थ ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा इस प्रकार ग्रहण करता है–"मैं विधिपूर्वक विवाहित स्व-पत्नी के अतिरिक्त शेष सभी स्त्री जाति के साथ मैथुन का परित्याग करता हूँ। यावज्जीवन देव-देवी सम्बन्धी मैथुन का दो करण तीन योग से (मैथुन सेवन न करूँगा, न कराऊँगा; मन, वचन व काया से), इसी तरह मनुष्य-मनुष्यणी और तिर्यञ्च-तिर्यञ्चणी सम्बन्धी मैथुन-सेवन का एक करण एक योग (काया) से त्याग करता हूँ।"

प्रतिज्ञा से वासना के द्वार का अवरोध

प्रस्तुत प्रतिज्ञा से श्रावक के कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। उसके जीवन में से वासना का विष प्रायः निकल जाता है। केवल एक बूँद जितना अवशेष रहता है। उस विष का उपयोग भी वह स्वच्छन्द रूप से नहीं करता किन्तु विवेकपूर्वक विवश होकर करता हैं। उसके मन में अपनी विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त जितनी भी महिलाएँ हैं, उनके प्रति मातृ-भाव और भगिनी-भाव रहता है। श्रावक के जीवन में स्व-पत्नी के अतिरिक्त सभी महिलाओं के प्रति वासनाओं के द्वार बन्द हो जाते हैं उसके जीवन में वेश्यागमन, पर-स्त्रीगमन या अप्राकृतिक मैथुन को किसी प्रकार का अवकाश नहीं रहता। जो गृहस्थ पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने में सक्षम हैं, उनके लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना श्रेयस्कर है। पर जो पूर्ण रूप से नैष्ठिक ब्रह्मचारी नहीं रह सकते, वे कम से कम उच्छृंखल और स्वैराचारपूर्ण जीवन न जीयें। उनके लिये ही स्वदारसन्तोष व्रत का विधान है।

श्रावक व श्राविकाएँ विवाह होने के पूर्व तक समस्त महिलाओं को माता और बहन तथा पुरुषों को पिता व भाई के सदृश समझती हैं। जिसका विधिवत् पाणिग्रहण नहीं हुआ है, वह स्त्री चाहे, कुमारिका हो, वेश्या हो, विधवा हो, रखैल हो, या उस व्यक्ति को चाहने वाली हो, वह सभी पर-स्त्री हैं, इसी तरह महिलाओं के लिये पति के अतिरिक्त सभी प्रकार के पुरुष पर-पुरुष हैं।

स्वच्छन्दता नहीं

स्वदारसंतोष व्रत में किसी भी प्रकार की स्वच्छन्दता नहीं होती। भारतीय नीतिशास्त्र में भी स्व-स्त्री के साथ भी संयममय जीवन जीने की प्रेरणा दी गई है और एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है जिससे वे दोनों (पति-पत्नी) नियम में आबद्ध रह सकें। इस नियम में देशविरति है।

स्वदारसंतोष व्रती को अपने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिये विलासपूर्ण वस्त्र, आभूषण, मादक वस्तुएँ, मिर्च-मसालेदार गरिष्ठ दुष्पाच्य तामसिक पदार्थों के सेवन से सतत बचना चाहिये। कितनी ही बार विषय-वासना के अधीन होकर व्यक्ति

ज्ञात व अज्ञात अवस्था में ऐसी भयंकर भूलें कर देता है और समझता है कि मेरा व्रत भंग नहीं हुआ और मेरी विषय इच्छा भी पूर्ण हो गई। ये दोष सर्वथा त्याज्य हैं। स्वदारसंतोष व्रत के मुख्य रूप से पाँच अतिचार हैं[1]–

स्वदारसन्तोष व्रत के पाँच अतिचार

(१) इत्वरिक परिगृहीतागमन–कुछ समय के लिये पैसे देकर या किसी तरह से अपने यहाँ पर रखी हुयी स्त्री के साथ गमन करना। भ्रान्तिवश व्यक्ति यह समझता है कि मैंने स्वपत्नी की छूट रखी है इसलिये किसी स्त्री को कुछ दिनों के लिये धन या अन्य वस्तुएँ देकर अपनी बना लूँ और उसके साथ पत्नी की तरह व्यवहार करूँ। पर वह यह नहीं सोचता कि स्वदार वह स्त्री है जिसका उसके साथ विधिवत् विवाह हुआ है। जो महिला अपनी स्त्री नहीं है, उसे कुछ समय के लिये अपनी मानना और उसके साथ पत्नीवत् व्यवहार करना, अतिचार है। क्योंकि जो कुछ समय के लिये अपनाई जाती है वह धर्मपत्नी नहीं, भोगपत्नी होती है। वह जीवनोत्थान में सहायक नहीं हो सकती। इसीलिये श्रावक उसके साथ सहवास नहीं कर सकता।

(२) अपरिगृहीतागमन–कितने ही व्यक्तियों में यह भ्रम होता है कि परदारविरमण व्रत का अर्थ दूसरों की विवाहित पत्नी से निवृत्त होना है। पर जो वेश्याएँ, विधवाएँ, परित्यक्ताएँ या कुमारिकाएँ हैं, जो वर्तमान में किसी की भी परिगृहीता नहीं हैं, उनके साथ गमन किया जाये तो व्रत भंग नहीं होता। किन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि जो भी पर-स्त्रियाँ हैं, वे सभी अपरिगृहीता हैं। उनके साथ गमन करना अतिचार है। इसका अर्थ यह भी है–जिस कन्या के साथ सगाई हो चुकी हो, किन्तु विधिवत् विवाह नहीं हुआ हो तो उनके साथ भी गमन करना अतिचार है।

(३) अनङ्गक्रीड़ा–अप्राकृतिक मैथुन करना अथवा कृत्रिम साधनों द्वारा कामाचार का सेवन करना अनङ्गक्रीड़ा कहलाता है।

(४) परविवाहकरण–अपने पुत्र और पुत्रियों का विवाह करना, श्रावक के चतुर्थ व्रत के अन्तर्गत है। किन्तु कन्यादान में पुण्य समझकर और रागादि के कारण दूसरों के लिये लड़के-लड़कियाँ ढूँढ़ना, उनका विवाह करना परविवाहकरण नामक अतिचार है।

---

१. सदारसंतोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा–इत्तरिय-परिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अनंगकीडा, परविवाहकरणे, कामभोगतिव्वाभिलासे।

–उपासकदशा १/६, अभयदेववृत्ति, पृ. १३

(५) कामभोगतीव्राभिलाषा–विषयभोग और काम-क्रीड़ा में तीव्र आसक्ति होना। उसके लिये या कामोद्दीपन करने वाली औषधियों का सेवन कर विषय-वासना में प्रवृत्त होना।

इन अतिचारों से सदाचार अथवा ब्रह्मचर्य व्रत दूषित होता है। अतः श्रावक को इन अतिचारों से बचना चाहिये।

(५) स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत

पाप और साँप ये दोनों हानिप्रद हैं। विवेकी मानव इन दोनों से बचता है। परिग्रह भी एक भयंकर पाप है, जो जीवन को पतन के गहरे गर्त में डाल देता है। पर भ्रम से परिग्रह पाप को पुण्य मान लिया जाता है। किन्तु पुण्य के भेदों में परिग्रह का कहीं नामोनिशान नहीं है।

परिग्रह को पाप का मूल माना है। परिग्रह के कारण अन्य अनेक पाप पनपते हैं। एतदर्थ ही प्रश्नव्याकरण[1] में स्पष्ट कहा है कि परिग्रह के लिये लोग हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, चोरियाँ करते हैं, मिलावट और धोखेबाजी करते हैं और दूसरों को अपमानित करते हैं।

परिग्रह के कारण ही महाशिलाकंटक महायुद्ध हुआ था। इतिहास के पृष्ठों पर ऐसे सैकड़ों व्यक्तियों के उदाहरण हैं जिन्होंने परिग्रह के लिये महापाप किये। माता-पिता, पुत्र और पुत्रियाँ, भाई और बहन के मधुर सम्बन्ध भी परिग्रह के कारण अत्यन्त कटु हो गये, यहाँ तक कि एक-दूसरे के संहारक बने।

परिग्रह दोषों का आगार है। विषमता का कारण है। एतदर्थ ही परिग्रह पर नियन्त्रण करने हेतु परिग्रह-परिमाण व्रत का विधान है। श्रावक जो कुछ भी संग्रह करता है, वह केवल आवश्यकता की पूर्ति के लिये करता है। वह सन्तोषपूर्वक स्वयं की और अपने आश्रितों की उचित इच्छाओं को पूर्ण करता है। श्रावक की इस प्रकार परिग्रह परिमिति का नाम स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत है।

सम्पत्ति नहीं, सन्तोष

आज का मानव भौतिक विकास को अपने जीवन का परम और चरम लक्ष्य मान रहा है। वह सम्पत्ति के लिए अपने आपको समर्पित कर रहा है और भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए आध्यात्मिक सद्गुणों को तिलाञ्जलि दे रहा है। यही कारण है कि विकास विनाश का कारण बन गया है। परिग्रहपरिमाण व्रत इसकी ओर संकेत करता है कि जीवन का चरम व परम लक्ष्य सम्पत्ति नहीं, सन्तोष है।

---

१. प्रश्नव्याकरण–परिग्रह द्वार

बाह्य परिग्रह

इस व्रत का महत्त्व अन्य दृष्टि से भी है। इस विश्व में सुवर्ण, चाँदी, हीरे, पन्ने, माणिक्य, मोती, भूमि, अन्न, वस्त्रादि जितने भी पदार्थ हैं, वे परिमित हैं। जब एक व्यक्ति उनका अधिक संग्रह करता है तब विषमता की विभीषिका भड़क उठती है। परिग्रहपरिमाण व्रत उन विभीषिकाओं को शान्त करता है। जीवन में सुख और शान्ति पैदा करता है। जैन आगम साहित्य में उन समस्त परिग्रहों को नौ विभागों में विभक्त किया है।[1] वे नौ प्रकार बाह्य परिग्रह के नाम से विश्रुत हैं।

(१) क्षेत्र–उपजाऊ भूमि की मर्यादा। इसमें खेत, खलिहान, चारागाह, बाग, पहाड़, खान, जंगल आदि सभी तरह की खुली भूमि का समावेश है।

(२) वास्तु–मकान, दुकान, गोदाम, अतिथि-गृह, बंगला, कारखाने का मकान आदि।

(३) हिरण्य–चाँदी के बर्तन, आभूषण तथा चाँदी के अन्य उपकरण आदि।

(४) सुवर्ण–स्वर्ण, स्वर्ण के बर्तन, स्वर्ण के आभूषण, सोने की घड़ी, सोने का पैन आदि।

(५) धन–रुपये, पैसे, सिक्के, नोट, ड्राफ्ट, चेक, बैंक बैलेंस आदि।

(६) धान्य–अन्न, गेहूँ, चावल, उड़द, मूँग, तिल, मटर आदि।

(७) द्विपद–दो पाँव वाले प्राणी, जैसे–स्त्री, पुरुष, मैना, तोता, हंस आदि।

(८) चतुष्पद–हाथी, घोड़ा, गधा, बैल, बकरी, गाय, भैंस आदि पशु।

(९) कुप्य या गोप्य–स्वर्ण, चाँदी की वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं का समावेश कुप्य में होता है। कितने ही आचार्य कुप्य का अर्थ घर की समस्त सामग्री ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार घर में रहे हुये समस्त बर्तन, वस्त्र, सोफासेट, मेज, कुर्सी, अलमारी, पंखे, टेलीविजन, रेडियो, रथ, मोटर, स्कूटर, साइकिल आदि सभी प्रकार के वाहन और घर की समस्त खाद्य-पेय सामग्री। जिन वस्तुओं का उपयोग स्वयं के लिये न होकर व्यापारार्थ होता है उनकी परिगणना धन के अन्तर्गत की गई है।

परिग्रह व्रत की मर्यादाएँ

श्रावक पूर्ण रूप से परिग्रह का परित्याग नहीं कर सकता। वह इन नौ प्रकार के परिग्रहों में से अपने लिये आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा कर शेष समस्त

---

१. उपासकदशा १/६, अभयदेववृत्ति, पृ. ११-१३

वस्तुओं के ग्रहण व संग्रह का त्याग करता है। यही इच्छापरिमाण व्रत या परिग्रहपरिमाण व्रत है।

प्रस्तुत व्रत तीन करण (करना, कराना और अनुमोदन) तथा तीन योगों (मन, वचन, काया) में से अपनी इच्छा के अनुसार ग्रहण किया जा सकता है। श्रावक को अपनी गृहस्थी को चलाने के लिए अपनी सन्तान को व्यापारार्थ प्रेरणा भी देनी पड़ती है, विवश होकर सँभालना भी पड़ता है अतः श्रावक दो करण तीन योग से अथवा एक करण, तीन योग से परिग्रहपरिमाण व्रत को स्वीकार करता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भी परिग्रह का परिमाण किया जाता है। द्रव्य से–अमुक वस्तु के अतिरिक्त वस्तु की इच्छा न करूँगा। क्षेत्र से–अमुक क्षेत्र से बाहर की वस्तु की इच्छा न करूँगा। काल से–इतने दिन, मास, वर्ष या जीवन भर इन वस्तुओं के अतिरिक्त उपयोग न करूँगा। भाव से–जिन वस्तुओं की मर्यादा की है उनसे अधिक इच्छा न करना। वह ग्रहण की हुई मर्यादाओं को घटाता है, बढ़ाता नहीं।

परिग्रहपरिमाण व्रत ग्रहण करने से किसी भी प्रकार बाधा नहीं आती अपितु अनन्त तृष्णा की समाप्ति होने से अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है।

कितने ही व्यक्तियों के पास व्रत-ग्रहण करते समय बहुत ही कम सम्पत्ति होती है तथापि वे मर्यादा बहुत ही बढ़ा-चढ़ाकर रख लेते हैं, जो अनुचित है और कितने ही व्यक्ति मर्यादा से अधिक सम्पत्ति होने पर उसे अपनी स्त्री, सन्तान या विवाह आदि के लिये अमानत के रूप में रख लेते हैं और समझते हैं कि हम व्रत-भंग से मुक्त हो गये। पर यह कपटपूर्ण व्यवहार ही है जो अनुचित है।

परिग्रहपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार

अन्य व्रतों की भाँति इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं जो इस प्रकार हैं[1]–

(१) क्षेत्र-वास्तु परिमाणातिक्रम।

(२) हिरण्य-सुवर्ण परिमाणातिक्रम।

(३) द्विपद-चतुष्पद परिमाणातिक्रम।

(४) धन्य-धान्य परिमाणातिक्रम।

(५) कुप्य परिमाणातिक्रम।

यदि मर्यादा से अधिक परिग्रह हो जाये तो दानादि में उपयोग कर लेना चाहिए।

---

१. उपाशकदशांग १/६, पृ. ११-१३

आचार्य समन्तभद्र[1] ने अतिवाहन, अतिसंग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभार-वहन ये पाँच परिग्रहपरिमाण व्रत के विक्षेप हैं, जिससे लोभवृत्ति बढ़ती है और वह व्यक्ति परिग्रहपरिमाण व्रत को ग्रहण करने से कतराता है।

इस व्रत को ग्रहण करने से जीवन में सादगी, मितव्ययिता और शान्ति अनुभव होती है।

गुणव्रत

गुणव्रतों का महत्त्व

अणुव्रतों के विकास के लिए गुणव्रत का विधान किया गया है। दिशापरिमाण व्रत, उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत, अनर्थदण्डविरमण व्रत–इन तीनों को गुणव्रत इसलिए कहा जाता है कि ये अणुव्रतरूपी मूलगुणों की रक्षा व विकास करते हैं। अणुव्रत यदि स्वर्ण के सदृश हैं तो गुणव्रत उस स्वर्ण में चमक-दमक बढ़ाने के लिए पॉलिश के सदृश हैं। अणुव्रत खुली पुस्तक है तो गुणव्रत उस पुस्तक पर जिल्द बाँधने के सदृश है। अणुव्रतों में शक्ति का संचार करने वाले गुणव्रत हैं। अणुव्रतों के पालन करने में जो कठिनाइयाँ हैं, उन कठिनाइयों को गुणव्रत दूर करते हैं। प्राचीन युग में नगरों की सुरक्षा के लिए कोट निर्मित किये जाते थे, वैसे ही गुणव्रत अणुव्रतरूपी नगर की सुरक्षा करने वाले परकोटे के सदृश हैं। गुणव्रत द्वारा अणुव्रत की सीमा में रही हुई मर्यादा को और अधिक संकुचित किया जाता है। अणुव्रतों में सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से हिंसादि के द्वार खुले रहते हैं। उन द्वारों को अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से बन्द करने में गुणव्रत सहायक होते हैं। जैसे दिशापरिमाण व्रत में छहों दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा कर लेने से, पहले जो सभी हिंसा, असत्य के अंश खुले थे, वे उक्त मर्यादा के बाहर गमन न करने से सारे पाप-द्वार बन्द हो जाते हैं। इसी तरह उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत में भी सीमा निर्धारित हो जाती है। उस सीमा के बाहर की समस्त वस्तुओं का उपभोग-परिभोग-द्वार बन्द हो जाता है। इसी तरह अनर्थदण्ड व्रत से भी जितने अनर्थदण्ड हैं उनसे वह मुक्त हो जाता है। इसीलिए मूलगुणरूप अणुव्रतों के पश्चात् गुणव्रतों का विधान किया गया है।

(१) दिशापरिमाण व्रत

पाँचवे अणुव्रत में सम्पत्ति आदि की मर्यादा की जाती है। व्यक्ति सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए दिन-रात दौड़-धूप करता है। प्रस्तुत व्रत में श्रावक उन

१. अतिवाहनातिसंग्रह, विस्मय-लोभातिभारवहनानि।
परिमितः परिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच लक्ष्यन्ते॥ —रत्नकरंड श्रावकाचार ६२

प्रवृत्तियों का क्षेत्र सीमित करता है। वह यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है–चारों दिशाओं में व ऊपर-नीचे (यानी छहों दिशाओं में तथा उपलक्षण से चारों विदिशाओं में अर्थात् दसों दिशाओं में) निश्चित सीमा से आगे बढ़कर मैं किंचित् मात्र भी स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नहीं करूँगा।

श्रमण के लिए क्षेत्र की मर्यादा का विधान नहीं है क्योंकि उसकी कोई भी प्रवृत्ति स्वार्थमूलक या हिंसात्मक नहीं होती। वह किसी भी प्राणी को बिना कष्ट पहुँचाये जन-जन के अभ्युत्थान के लिए विहार करता है। वह घुमक्कड़ है। चरैवेति-चरैवेति उसकी साधना का लक्ष्य है। पर श्रावक की प्रवृत्ति हिंसात्मक भी होती है। अतः उसे मर्यादा करना आवश्यक है।

वर्तमान युग में इस व्रत का महत्त्व अत्यधिक है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी-अपनी राजनीतिक और आर्थिक सीमाएँ निश्चित कर ले तो बहुत से संघर्ष स्वतः मिट जायेंगे। भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रों में परस्पर व्यवहार के लिए पंचशील के रूप में भी आचार-संहिता निर्मित की थी। उसमें इस पर अधिक बल दिया गया था कि एक राज्य दूसरे राज्य में हस्तक्षेप न करे।

गमनागमन की मर्यादाएँ

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि जिस मानव ने दिग्व्रत को धारण कर लिया है उसने जगत् पर आक्रमण करने वाले अभिवृद्ध लोभरूपी समुद्र को आगे बढ़ने से रोक दिया है।[1]

विदेश यात्रा करने के मुख्य तीन कारण हैं–(१) अधिकाधिक लोभ के वशीभूत होकर व्यापार की अभिवृद्धि के लिए, (२) आमोद-प्रमोद, सैर-सपाटे और वैषयिक सुखों के आस्वादन के लिए, (३) किसी आध्यात्मिक महापुरुषों के दर्शन के लिए। प्रथम दो कारणों में अर्थ और काम की प्रधानता रहती है अतः श्रावक को उन कारणों से बचना चाहिए।[2] जैसे तपाये हुए लोहे के गोले को कहीं पर भी रखने से जीवों की हिंसा होती है वैसे मानव के गमनागमन से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है। प्रस्तुत व्रत के ग्रहण से आवागमन की मर्यादा स्थिर हो जाती है।[3] हिंसा, तृष्णा और लोभ को घटाने के लिए इस व्रत की आवश्यकता है।

---

१. जगदाक्रममाणस्य प्रसरल्लोभवारिधेः।
स्खलनं विदधे तेन, येन दिग्विरतिः कृता॥ –योगशास्त्र ३/३

२. श्रावक धर्म दर्शन, पृ. ३९०, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी

३. चराचराणां जीवानां विमर्दन-निवर्तनात्।
तप्तायोगोलकल्पस्य सद्वृत्तं गृहिणोप्यदः॥ –योगशास्त्र ३/२

प्रस्तुत व्रत में दिशाओं की मर्यादा निश्चित की जाती है। मुख्य रूप से दिशाएँ तीन हैं–ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यक्दिशा। इन तीन दिशाओं में तिर्यक्दिशा के आठ भेद हैं–(१) पूर्व, (२) पश्चिम, (३) उत्तर, (४). दक्षिण, और चार विदिशाएँ (५) ईशान, (६) आग्नेय, (७) नैऋत्य, (८) वायव्य। इनके अतिरिक्त (९) सिर की ओर ऊर्ध्वदिशा, (१०) पैर के नीचे की ओर अधोदिशा है।

मर्यादाएँ अपनी इच्छा से ग्रहण की जाती हैं

प्रस्तुत व्रत ग्रहण करने वाला श्रावक किसी एक स्थान (उदाहरणार्थ निवास स्थान आदि) को केन्द्र बनाता है और उस केन्द्र-स्थान से प्रत्येक दिशा के लिये मर्यादा स्थिर करता है कि मैं अमुक केन्द्र-स्थान से दसों दिशाओं में इतनी दूर तक जाऊँगा। इस प्रकार स्वेच्छा से गमनागमन के क्षेत्र को सीमित करता है। यह मर्यादा कोस, मील, किलोमीटर, फर्लांग, हाथ आदि किसी भी पैमाने में निर्धारित की जा सकती है। केन्द्र-स्थल किसको मानना, यह भी उसकी स्वयं की इच्छा पर निर्भर है। किस दिशा में अधिक, किस दिशा में कम मर्यादा रखनी, यह भी उसकी इच्छा पर अवलम्बित है। हाँ, एक बार मर्यादा निश्चित करने के पश्चात् उसमें परिवर्तन करना, संकल्प को तोड़ना सर्वथा अनुचित है। सरलतापूर्वक जीवन-निर्वाह सम्बन्धी गमनागमन आदि क्रियाओं के लिये जितना क्षेत्र आवश्यक है, उतने की मर्यादा रखनी चाहिये। आवश्यकता से अधिक क्षेत्र की मर्यादा रखना उचित नहीं है।

दिशापरिमाण व्रत का संकल्प जीवन भर के लिये होता है। केवल दिन-रात या उससे भी कम समय के लिये जो मर्यादा होती है, वह देशावकाशिक व्रत में होती है, जो दसवाँ व्रत है।

दिशापरिमाण व्रत के अतिचार

जिस साधक ने दिक्परिमाण व्रत ग्रहण कर लिया है, उसे उस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। दिशापरिमाण व्रत के पाँच अतिचार बताये गये हैं[1], वे इस प्रकार हैं–

(१) ऊर्ध्वदिशापरिमाणातिक्रम–ऊर्ध्वदिशा में गमनागमन के लिये जो क्षेत्र-मर्यादा निश्चित कर रखी है, उस क्षेत्र को अनजान में उल्लंघन कर जाना।

(२) अधोदिशापरिमाणातिक्रम–नीची दिशा में जो गमनागमन की क्षेत्र-मर्यादा रखी है, उसको अज्ञात रूप से उल्लंघन हो जाना।

---

१. उपासकदशांग १/६, अभयदेववृत्ति, पृ. १४

(३) तिर्यक्दिशापरिमाणातिक्रम–पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, नैऋत्य, वायव्य, ईशान और आग्नेय दिशा-विदिशाओं में जो क्षेत्र मर्यादा रखी है, उसका अतिक्रमण हो जाना।

(४) क्षेत्रवृद्धि–असावधानी से क्षेत्र की मर्यादा को एक दिशा के परिमाण का अमुक अंश दूसरी दिशा के परिमाण में मिला देना। एक दिशा के लिये की गयी सीमा को कम करके दूसरी दिशा की सीमा में जोड़ लेना।

इसमें व्रतधारी को ऐसा भ्रम होता है कि 'मैंने एक दिशा का क्षेत्र घटा दिया है; फिर मुझे अतिचार क्यों लगेगा?' किन्तु यह स्मरणीय है कि श्रावक को मर्यादित क्षेत्र को घटाने का अधिकार तो है, किन्तु दूसरी दिशा में क्षेत्र की मर्यादा को बढ़ाने का अधिकार नहीं है। इसलिये क्षेत्र-मर्यादा की वृद्धि करना अतिचार है।

(५) स्मृति भ्रंश–कितनी ही बार मर्यादा का स्मरण न रहने से मर्यादा का भंग हो जाता है। जैसे–मैंने पचास योजन की मर्यादा की है या सौ योजन की? इस प्रकार सन्देह होने पर पचास योजन से उसे आगे नहीं जाना चाहिये; फिर भले ही मर्यादा सौ योजन की क्यों न की हो। यदि क्षेत्र के परिमाण का उल्लंघन हुआ हो तो उसे तुरन्त वापस लौट जाना चाहिये, ज्ञात होने पर बिलकुल भी आगे नहीं बढ़ना चाहिये और न अन्य किसी व्यक्ति को भेजना चाहिये। यहाँ तक कि यदि कोई व्यक्ति क्षेत्र मर्यादा से आगे गया हो तो उसके द्वारा लाई गयी वस्तु का उपभोग भी नहीं करना चाहिये।

(२) उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत

जो वस्तु एक बार उपभोग में आती है उसे उपभोग कहते हैं और पुनः-पुनः काम में आने वाली वस्तु परिभोग कहलाती है। उपभोग और परिभोग में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा को निश्चित करना उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत है।

प्रस्तुत व्रत अहिंसा और अपरिग्रह व्रत की रक्षा के लिए है। इससे जीवन में सादगी और सरलता का संचार होता है तथा महारम्भ, महापरिग्रह एवं महातृष्णा से श्रावक मुक्त हो जाता है।

प्रस्तुत व्रत ग्रहण करने पर श्रावक को यह विवेक रखना पड़ता है कि अमुक पदार्थ मेरे शरीर धारण करने के लिए उपयोगी है या केवल स्वाद अथवा फैशन के लिये मैं इसका उपयोग कर रहा हूँ? आजकल सभ्यता, संस्कृति और फैशन के नाम पर, इन्द्रियों के पोषण हेतु मनुष्य ऐसे पदार्थों का उपभोग करने में आनन्द की अनुभूति करते हैं, जो स्वास्थ्य के लिये भी हानिप्रद होते हैं तथा रोगों को

उत्पन्न करते हैं। श्रावक उन सभी पदार्थों का त्याग करता है। वह जीवन-निर्वाह के लिये ऐसे पदार्थों का उपयोग करता है जो जीवन के लिए उपयोगी और स्वास्थ्यवर्द्धक हों।

जो पदार्थ एक बार सेवन करने के पश्चात् पुनः वह पदार्थ सेवन नहीं किया जा सके, वह उपभोग है; जैसे–भोजन, पानी, अंग-विलेपन आदि। इसके अतिरिक्त जो वस्तु एक से अधिक बार सेवन की जा सके, वह परिभोग है, जैसे–आसन, शय्या, वस्त्र[1] आदि।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उपभोग-परिभोग के स्थान पर भोग और उपभोग यह नाम प्राप्त होता है किन्तु अर्थ की दृष्टि से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है।[2]

उपभोग-परिभोग की एक अन्य व्याख्या भी शास्त्रों में उपलब्ध होती है। जो पदार्थ शरीर के आन्तरिक भाग से भोगे जाते हैं वे उपभोग हैं और जो पदार्थ शरीर के बाह्य भाग से भोगे जाते हैं, वे परिभोग हैं।

अतः उपभोग और परिभोग पदार्थों के सम्बन्ध में श्रावक यह मर्यादा करता है कि मैं अमुक-अमुक पदार्थों के अतिरिक्त शेष पदार्थों का उपभोग-परिभोग नहीं करूँगा। इस प्रकार श्रावक अपने शरीर को पूर्ण स्वस्थ, सशक्त और कार्यक्षम बनाये रखने के लिये उन शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्धित आवश्यक पदार्थों की मर्यादा करता है।

छब्बीस बोल

शास्त्रकारों ने प्रस्तुत व्रत की सुविधा की दृष्टि से छब्बीस प्रकार के पदार्थों की एक सूची दी है। वह इस प्रकार है–

(१) शरीर आदि पोंछने का अंगोछा या तौलिया आदि, (२) दाँत साफ करने के लिये मंजन आदि, प्राचीनकाल में बबूल, नीम, मुलैठी आदि की लकड़ी से दंतौन करते थे, वर्तमान में टूथ-पेस्ट, दन्त-मंजन आदि से दंतौन करते हैं, (३) फल, (४) मालिश के लिए तेल, (५) उबटन के लिये लेप आदि, (६) स्नान के लिए जल, (७) पहनने के लिए वस्त्र, (८) विलेपन के लिये चन्दन आदि, (९) फूल, पुष्पों की मर्यादा करना, (१०) आभरण अर्थात् आभूषण आदि, (११) धूप-दीप–वायु-शुद्धि के लिये धूप आदि का उपयोग।

---

१. उपभोगः सकृद्भोगः स चाशनपानानुलेपनादीनाम्।
परिभोगस्तुपुनर्पुनः भोग्यः स चासनवसनशयन वनितादीनाम्॥ –*आवश्यकवृत्ति*

२. भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशन-वसनप्रभृतिः पंचेन्द्रियो विषयः॥ –*रत्नकरंड श्रावकाचार ८३*

ये जो ग्यारह पदार्थ बताये हैं, उन पदार्थों से शरीर की रक्षा होती है तथा उसमें स्फूर्ति व स्वस्थता का संचार होता है।

आगे वह सूची दी जा रही है जिससे शरीर में पुष्टि व शक्ति की अभिवृद्धि होती है।

(१२) पेय पदार्थ–दूध, शर्बत, मट्ठा आदि, (१३) पक्वान्न–भोजन के पूर्व नाश्ते के रूप में जो पदार्थ खाये जाते हैं, (१४) ओदन–ओदन में उन द्रव्यों को लिया गया है, जो विधिपूर्वक अग्नि पर पकाकर खाये जाते हैं, जैसे–चावल, थूलि आदि, (१५) सूपदार–सूप में उन तरल खाद्य पदार्थों का समावेश होता है, जैसे–दाल, सूप आदि जिससे लगाकर रोटी, भात आदि खाये जाते हैं, (१६) घृत आदि विगय–जो भोजन को सुस्वादु और पौष्टिक बनाते हैं। दूध, दही, घी, तेल और मीठा ये पाँचों विगय हैं। मधु और मक्खन की गणना महाविगयों में की गई है किन्तु विशेष परिस्थिति में औषध के रूप में ये लिए जा सकते हैं, सामान्य परिस्थिति में इनका उपभोग नहीं किया जा सकता। किन्तु मद्य और माँस जो महाविगय हैं, वे तो सर्वथा त्याज्य हैं, (१७) शाक–भोजन के साथ व्यञ्जन रूप में खाये जाने वाले पदार्थ शाक या साग कहलाते हैं, (१८) माधुरक-मेवा मधुर–हरे फलों में आम, केला, जामुन, नारंगी, सेव, अनार आदि हैं। सूखे फलों में बादाम, पिस्ता, किशमिश आदि, (१९) जेमन-भोजन–जो पदार्थ क्षुधा-निवारणार्थ खाये जाते हैं, जैसे–रोटी, वाटी, पूड़ी आदि, (२०) पीने का पानी–विविध प्रकार के उष्णोदक, शीतोदक, गन्धोदक, खारा, मीठा आदि पेय-पदार्थ, (२१) मुखवास–सुपारी, पान आदि, (२२) वाहन–हाथी, घोड़ा, बैल आदि, (२३) उपानत–जूते, बूट, चप्पल आदि, (२४) शय्यासन–पलँग, पाट, गद्दा, तकिया आदि, (२५) सचित्त वस्तु की मर्यादा करना, (२६) खाने के द्रव्य–स्वाद की भिन्नता की दृष्टि से जितनी वस्तुएँ पृथक्-पृथक् द्रव्यों के संयोग के साथ मुँह में डाली जाती हैं, पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं।

पाँच बातों से बचो

उपभोग-परिभोग व्रत में वस्तुओं का उपभोग करते समय गृहस्थ को इन पाँच बातों से बचना आवश्यक है–(१) त्रसवध–जिन वस्तुओं में त्रस जीवों का वध होता हो, उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये, जैसे–रेशमी वस्त्र, कॉडलिवर ऑइल, हीमोग्लोबिन आदि। (२) बहुवध–जिन पदार्थों के तैयार करने में त्रस जीवों का संहार तो नहीं होता किन्तु तैयार होने पर त्रस जीव पैदा हो जाते हैं अथवा असंख्य स्थावर जीवों की हिंसा होती है, जैसे–मदिरा त्रस जीवों के वध से निर्मित नहीं होती किन्तु उसके निर्माण करने में पदार्थ को सड़ना पड़ता है जिससे उसमें असंख्य त्रस जीव पैदा हो जाते हैं। इसीलिए मदिरा बहुवध होने से वर्ज्य है।

(३) प्रमाद–जिस वस्तु के सेवन करने से प्रमाद की अभिवृद्धि होती हो वैसे गरिष्ठ और तामसिक भोजन, अतिमात्रा में विकृतियों (विगइयों) का सेवन, अत्यन्त गुदगुदा और लचीला आसन आदि भी त्याज्य है। (४) अनिष्ट–जिन वस्तुओं के सेवन से स्वास्थ्य बिगड़ता हो, जैसे–अधपकी हुई, चलित रस वस्तुएँ। (५) अनुपसेव्य–जिस वस्तु का सेवन शिष्टसम्मत नहीं है, घृणित और अनुपसेव्य है, जैसे–बिना जाने हुए फल व माँस, मछली, अण्डे आदि।

उपभोग-परिभोग व्रत के अतिचार

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं। इन अतिचारों में अस्वादवृत्ति पर अधिक बल दिया गया हो। स्वादवृत्ति, आसक्ति और उच्छृंखलता को प्रश्रय देने से मर्यादा का स्पष्ट रूप से भंग होता है। अतः श्रावक को सतत सतर्क रहकर इन अतिचारों से बचना चाहिए। वे अतिचार इस प्रकार हैं[1]–

(१) सचित्ताहार–जो सचित्त वस्तु मर्यादा में नहीं है, उसका भूल से आहार करने पर सचित्ताहार दोष लगता है।

(२) सचित्त-प्रतिबद्धाहार–जिस सचित्त वस्तु का त्याग कर रखा है, उस सचित्त वस्तु से जो अचित्त वस्तु लगी हुई है, उसका भूल से उपभोग कर लेना वह सचित्त-प्रतिबद्धाहार है, जैसे–वृक्ष से लगा हुआ गोंद, पिण्ड खजूर, गुठली सहित आम आदि खाना।

(३) अपक्वाहार–सचित्त वस्तु का त्याग होने पर बिना अग्नि के पके, कच्चे शाक, बिना पके फल आदि का सेवन करना।

(४) दुष्पक्वाहार–जो वस्तु अर्धपक्व हो, उसका आहार करना।

(५) तुच्छौषधिभक्षण–जो वस्तु कम खायी जाये और अधिक मात्रा में बाहर डाली जाये, ऐसी वस्तु का सेवन करना, जैसे–सीताफल आदि।

इन पाँच अतिचारों में मुख्य रूप से भोजन को लिया गया है। किन्तु उपलक्षण से शरीर-रक्षा के लिए अन्य पदार्थ, जैसे–वस्त्र, दंतौन, फल, स्नान, विलेपन आदि भी समझ लेने चाहिए।

आचार्य समन्तभद्र ने उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत के अतिचार[2] अन्य रूप से भी बताये हैं। वे ये हैं–

---

१. सचित्ताहारे, सचित्तपडिबद्धाहारे, अप्पोलिओसहिभक्खणया, दुप्पोलिओसहि भक्खणया, तुच्छोसहिभक्खणया।

२. विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषाऽनुभवो।
भोगोपभोगपरिमाणव्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते॥ –रत्नकरंड श्रावकाचार ९०

(१) विषयरूपी विष के प्रति आदर रखना, (२) बार-बार भोग्य पदार्थों को स्मरण करना, (३) पदार्थों के प्रति अत्यधिक लोलुपता रखना, (४) भविष्य के भोगों की अत्यन्त लालसा रखना, (५) भोगों में अत्यधिक तल्लीन होना।

श्रावक उपभोग-परिभोग व्रत के प्रति सदा जागरूक रहे क्योंकि उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं के प्रति भी आसक्ति रहती है। पुनः-पुनः स्मरण, अत्यधिक लोलुपता, अप्राप्त भोगों की लालसा तथा भोगों में अति तल्लीनता रहते हुए भले ही व्रत बाह्य रूप से ग्रहण कर लिए जायें, पर अन्दर से वह खोखला होता है। ऊपर से वह धर्मध्वजी प्रतीत होता है किन्तु अन्दर से उसके जीवन में साधना का प्राण नहीं होता। श्रावक को सतत इन अतिचारों से बचना चाहिए। कदाचित् दोष भी लग जाये तो यथाशीघ्र शुद्धीकरण कर लेना चाहिए।

पन्द्रह कर्मादान

उपभोग-परिभोग के लिए वस्तुओं की प्राप्ति करनी पड़ती है और उसके लिए व्यक्ति को पापकर्म भी करना पड़ता है। जिस व्यवसाय में महारम्भ अर्थात् अतिहिंसा होती है, वह कार्य श्रावक के लिए निषिद्ध है। श्रावक-जीवन का वर्णन करते हुए भगवतीसूत्र में कहा है कि श्रावक अल्पारम्भी, अल्परिग्रही, धार्मिक, धर्मानुसारी, धर्मिष्ठ, धर्मख्याति धर्मप्रलोकितता, धर्मप्रज्वलन एवं धर्मयुक्त होते हैं। वे धर्म से आजीविका चलाते हैं।[1]

धर्ममय आजीविका तभी हो सकती है जब वह अल्प आय से सन्तुष्ट हो। यदि उसमें तृष्णा की अधिकता होगी तो वह निषिद्ध व्यवसाय भी करेगा। श्रावक निषिद्ध व्यवसायों को जानकर सर्वथा त्याग करता है। वे निषिद्ध व्यवसाय 'कर्मादान' कहलाते हैं।

कर्मादान का अर्थ है–उत्कट (गाढ़)। ज्ञानावरणीय प्रभृति पापकर्म प्रकृतियों के ग्रहण करने के कारणभूत महापापपूर्ण होने से वे व्यवसाय कर्मादान कहलाते हैं।[2]

कर्मादान की संख्या पन्द्रह है। इनके नाम इस प्रकार हैं–

(१) अंगारकर्म–अग्नि सम्बन्धी व्यापार, जैसे–कोयले बनाना, ईंटें पकाना आदि।

---

१. अप्पारंभा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुगा, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मप्पलोइया, धम्मपज्जलणा, धम्मसमुदायारा धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। —भगवती

२. कर्मणामुत्कटज्ञानावरणीयादीनां पाप प्रकृतीनां आदानानि कर्मादानानि।
—उपासकदशा १/६, अभयदेववृत्ति, पृ. १५

(२) वनकर्म–वनस्पति सम्बन्धी व्यापार, जैसे–वृक्ष काटना, घास काटना आदि; जिससे वनाश्रित रहने वाले पशु आदि नष्ट हो जाते हैं।

(३) शकटकर्म–वाहन सम्बन्धी व्यापार, जैसे–गाड़ी, मोटर, ताँगा, रिक्शा आदि बनाना।

(४) भाटकर्म–वाहन आदि किराये पर देना।

(५) स्फोटकर्म–भूमि फोड़ने का व्यापार, जैसे–खानें खुदवाना, नहरें बनवाना, मकान बनाने का व्यवसाय करना।

कितने ही कृषिकर्म को भी स्फोटकर्म मानते हैं पर कृषिकर्म स्फोटकर्म नहीं है। उसमें जमीन फोड़ी नहीं जाती, खोदी व कुरेदी जाती है।

(६) दन्त वाणिज्य–हाथीदाँत आदि का व्यापार।

(७) लाक्षा वाणिज्य–लाख आदि का व्यापार।

(८) रस वाणिज्य–मदिरा आदि का व्यापार।[1]

(९) केश वाणिज्य–बालों व बाल वाले प्राणियों का व्यापार।

(१०) विष वाणिज्य–जहरीले पदार्थ एवं हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार।

(११) यन्त्रपीडन कर्म–मशीन चलाने आदि का धन्धा।[2]

(१२) निर्लाञ्छन कर्म–प्राणियों के अवयवों को छेदने, काटने आदि का व्यवसाय।

(१३) दावाग्निदान कर्म–जंगल, खेत आदि में आग लगाने का कार्य।

(१४) सरोहृदतडागशोषणता कर्म–सरोवर, झील, तालाव आदि को सुखाने का कार्य।

(१५) असतीजनपोषणता कर्म–कुलटा स्त्रियों के पोषण, हिंसक प्राणियों का पालन, समाज विरोधी तत्त्वों का संरक्षण आदि।

इस प्रकार ये पन्द्रह कर्मादान रूप पन्द्रह व्यवसाय श्रावक के लिए मन-वचन-काया व कृत-कारित-अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याज्य हैं। पन्द्रह व्यवसायों के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक व्यवसाय हैं जिनसे भी महापाप होता है, जैसे–कसाईखाना, शिकारखाना, द्यूतक्रीड़ा केन्द्र, चौर्यकर्म, दस्युकर्म, माँस विक्रय केन्द्र, मदिरालय,

---

१. रसवाणिज्ये सुरादिविक्रियः। —*उपासकदशा टीका, अभयदेव १/६, पृ. १५-१६*

२. यन्त्रैः पीडनं शोषणं मानवानां यस्मिन् कर्मणि तत् यन्त्रपीडनकर्मः।

वेश्यालय आदि। उन सभी का समावेश भी इन पन्द्रह में हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि श्रावक बनने के पूर्व ही उसने सप्त-व्यसन का परित्याग किया है। मार्गानुसारी के गुणों को धारण किया है इसलिए वह इस प्रकार का व्यापार कर भी नहीं सकता है। श्रावक इनसे मिलते-जुलते सभी प्रकार के व्यवसाय नहीं करता जिनमें महान् हिंसाएँ होती हों। वह अपने जीवन-निर्वाह हेतु इस प्रकार का व्यवसाय करता है जिसमें कम से कम हिंसा हो, जिससे समाज और व्यक्ति का शोषण न हो या कम से कम शोषण हो। महात्मा गांधी ने जो अहिंसक समाज की कल्पना की है वह भी इन कर्मादानों के त्याग से मिलती-जुलती है।

(३) अनर्थदण्डविरमण व्रत

स्वयं के लिए या अपने पारिवारिक व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह हेतु अनिवार्य सावद्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त शेष समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदण्डविरमण व्रत है।[1] जिसके द्वारा आत्मा कर्मबन्धन के कारण दण्डित हो, वह दण्ड है। आत्मा जब तक संसारावस्था में है तब तक शुभाशुभ कर्म का बन्धन प्रतिपल-प्रतिक्षण होता रहता है। शुभास्रव से शुभदण्ड मिलता है और अशुभास्रव से अशुभदण्ड प्राप्त होता है। कौन-सी प्रवृत्ति सार्थक है और कौन-सी प्रवृत्ति निरर्थक है? इसका निर्णय श्रावक अपनी प्रज्ञा और सात्त्विक बुद्धि से कर सकता है। जैसे एक चतुर नारी अन्न के कणों में से मिले हुए अन्न कणों को पृथक् करती है और कंकरों को बीनकर अलग कर देती है वैसे ही सुज्ञ श्रावक अशुभास्रवजनित दण्ड रूप प्रवृत्तियों को पृथक् कर लेता है।

लोक में भी यदि दूध देने वाली गाय हो तो उस गाय की लात भी व्यक्ति सहन करता है किन्तु कोई भी व्यर्थ की लात खाना पसंद नहीं करता। अशुभ आस्रवजनित सभी प्रवृत्तियाँ त्याज्य हैं, पर गृहस्थ श्रावक को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कुछ प्रवृत्तियाँ करनी पड़ती हैं। वह ऐसी प्रवृत्तियाँ करता है जो अत्यन्त आवश्यक हैं। जिन प्रवृत्तियों से किसी भी प्रकार का लाभ न हो, वे सारे अनर्थदण्ड हैं।

अर्थदण्ड और अनर्थदण्ड को नापने का थर्मामीटर विवेक है। परिस्थिति-विशेष के कारण कितने ही कार्य अर्थरूप होते हैं। परिस्थिति-परिवर्तन होने पर वे ही कार्य अनर्थरूप भी हो जाते हैं। आचार्य उमास्वाति[2] ने अनर्थदण्ड में अर्थ और अनर्थ शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है–जिससे उपभोग-परिभोग होता है, वह श्रावक

---

१. आभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रगण्यः॥

२. उपभोग-परिभोगी अस्याऽगारिणोऽर्थः। तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थः। —तत्त्वार्थभाष्य ७-१६

के लिए अर्थ है और उससे भिन्न जिससे उपभोग-परिभोग नहीं होता है, वह अनर्थ है। उस अनर्थदण्ड से विरत होना ही अनर्थदण्डविरति है।

प्रस्तुत व्रत से श्रावक प्रत्येक प्रवृत्ति के फलाफल पर विचार करता है। जिन प्रवृत्तियों से हानि अधिक होती है और लाभ कम होता है, पाप की माया अधिक होती है और पुण्य की माया कम होती है उस कार्य को वह त्याग देता है।

अर्थदण्ड और अनर्थदण्ड

आचार्य अभयदेव[1] ने अनर्थदण्ड के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि अर्थ का अभिप्राय प्रयोजन है। गृहस्थ अपने खेत, घर, धन-धान्य की रक्षा या शरीर-पालन प्रभृति प्रवृत्तियाँ करता है। उन प्रवृत्तियों में आरम्भ द्वारा प्राणियों का जो उपमर्दन होता है, वह अर्थदण्ड है। दण्ड, निग्रह, यातना और विनाश ये चारों शब्द एकार्थक हैं। अर्थदण्ड के विपरीत निष्प्रयोजन निरर्थक प्राणियों का विघात करना अनर्थदण्ड है।

दूसरों शब्दों में यों कहा जा सकता है कि किसी आवश्यक कार्य के आरम्भ-समारम्भ में त्रस और स्थावर जीवों को जो कष्ट होता है वह अर्थदण्ड है और निष्प्रयोजन ही केवल प्रमाद, कुतूहल, अविवेक प्रभृति के वश में होकर जीवों को कष्ट देना अनर्थदण्ड है।

इससे यह स्पष्ट है कि श्रावक ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता जिससे उसके किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति न होती हो। यदि वह लकीर का फकीर बनकर औचित्य और अनौचित्य का विवेक रखे बिना कार्य करता है तो वह अपने व्रत की मर्यादा को सुरक्षित नहीं रख सकता।

अनर्थदण्ड के चार आधार

शास्त्रकारों ने अनर्थदण्ड रूप प्रवृत्तियों के चार आधार-स्तम्भ बताये हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) अपध्यानाचरित–अपध्यान का अर्थ है–अप्रशस्त-ध्यान। बुरे विचारों में मन को एकाग्र करना, अप्रशस्त-ध्यान है। आचार्य अमृतचन्द्र[2] ने अपध्यान की

---

१. अर्थः प्रयोजनम्। गृहस्थस्य क्षेत्र-वास्तु-धन-धान्य शरीरपरिपालनादि विषयं, तदर्थे आरम्भे भूतोपमर्दोऽर्थदण्डः। दण्डो निग्रहो, यातना, विनाश इति पर्यायाः। अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदण्डः। स चैवम्भूत उपमर्दन लक्षणदण्डः क्षेत्रादिप्रयोजनमपेक्षमाणोऽअर्थदण्डः उच्यते। तद्विपरीतोऽनर्थदण्डः। *–उपासकदशांग टीका*

२. पापर्द्धिजय-पराजय-सङ्गर-परदारगमनचौर्याद्याः।
न कदाचनाऽपि चिन्त्याः, पापफलं केवलं यस्मात्॥ *–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १४१*

व्याख्या करते हुए लिखा है–शिकार, पाप की वृद्धि, जय-पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन आदि पापकर्म करने का चिन्तन अपध्यान है। जिसका फल सदैव पाप रूप होता है। आचार्य समन्तभद्र[1] ने भी इसी तरह अपध्यान की व्याख्या करते हुए लिखा है–राग-द्वेषवश किसी प्राणी के वध, बन्धन, छेदन आदि का तथा पर-स्त्री को अपनी बनाने का–ध्यान को जिनशासन के श्रुतधरों ने अपध्यान कहा है। आचार्य हेमचन्द्र[2] ने श्रावकों को कहा है–वैरी का घात करूँ, राजा हो जाऊँ, नगर का नाश कर दूँ, आग लगा दूँ, आकाश में उड़ जाऊँ, या विद्याधर बन जाऊँ, इत्यादि दुर्ध्यान पहले तो मन में आने ही नहीं देना चाहिये। यदि कदाचित् आ भी जायें तो लम्बे समय तक मन में ठहरने नहीं देना चाहिये, एक मुहूर्त के बाद तो अवश्य ही छोड़ देना चाहिए।

अशुभ ध्यान से किसी अन्य की हानि और लाभ नहीं होता किन्तु ऐसे अपध्यान से करने वाले को अवश्य ही पापरूप अनर्थदण्ड होता है। श्रावक विवेक के द्वारा अपध्यान से बच सकता है। इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, रोग आदि प्रसंगों में राग-द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं। उस समय निमित्त की अपेक्षा उपादान का विचार करे और मन को शान्त करे। सारा खेल उपादान का है। निमित्त केवल निमित्त ही है। यदि मानव उपादान का चिन्तन करे तो दुर्ध्यान से सहज ही मुक्त हो सकता है। अशुभ विचारों से अशुभ संस्कार बढ़ते हैं, अशुभ विचारों का सहवास असुरों के सहवास से भी अधिक भयंकर है। इसलिये ऐसे विचारों को अपध्यानाचरित कहा है।

(२) प्रमादाचरित–यह अनर्थदण्ड का द्वितीय आधार है। प्रमाद जीता-जागता मरण है। वह जीवन का सार तत्त्व चूस लेता है। एतदर्थ ही भगवान् महावीर ने समय मात्र का भी प्रमाद न करने का संदेश दिया। आचार्य हेमचन्द्र[3] ने प्रमादाचरण की व्याख्या करते हुए कहा है–कुतूहलवश अश्लील गीत, नृत्य, नाटक आदि देखना, आसक्तिपूर्वक कामशास्त्र, विषय-कषायवर्द्धक साहित्य पढ़ना, जुआ

---

१. वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद् रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः॥ –रत्नकरंड श्रावकाचार ७८

२. वैरिघातो, नरेन्द्रत्वं पुरघाताऽग्निदीपने।
खेचरत्वाद्यपध्यानं मुहूर्तात्परतस्त्यजेत्॥ –योगशास्त्र ३/७५

३. कुतूहलाद् गीत-नृत्य-नाटकादि निरीक्षणम्।
कामशास्त्रप्रसक्तिश्च द्यूतमद्यादि सेवनम्॥७८॥
जलक्रीडाऽऽन्दोलनादि विनोदो जन्तुयोधनं।
रिपोः सुतादिना वैरं भक्त-स्त्रीदेशराट्कथा॥७९॥
रोगमार्गं श्रमी मुक्त्वा, स्वापश्च सकलां निशाम्।
एवमादि परिहरेत् प्रमादाचरणं सुधीः॥८०॥ –योगशास्त्र ३/७८-८०

खेलना, मद्यपान करना, बिना प्रयोजन हिंडोले में झूलना, कलहवर्धक विनोद करना, प्राणियों को परस्पर लड़ाना, निरर्थक वार्तालाप करना, बिना कारण के सोते पड़े रहना, यह सब प्रमादाचरण है। बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह इन सबका परित्याग करे।

आचार्य समन्तभद्र[1] ने लिखा है–निरर्थक जमीन को खोदना, अग्नि प्रज्वलित करना, बिना प्रयोजन हवा करना, निरर्थक ही वनस्पति का छेदन-भेदन करना, पानी का दुरुपयोग करना, घी, तेल, दूध आदि के बर्तन खुले रख देना, लकड़ी, पानी आदि को बिना देखे-भाले काम में लेना प्रमादचर्या है।

(३) हिंस्र-प्रदान–यह अनर्थदण्ड का तीसरा आधार-स्तम्भ है। हिंसा में सहयोग देने वाले उपकरण या साधन दूसरों को देना। हिंसा करने के लिये हिंसाकारी साधनों का दान देना, हिंस्रप्रदान अथवा हिंसादान है। आचार्य अभयदेव[2] ने प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है–जिनसे हिंसा होती है, उन अस्त्र, शस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधनों को क्रोधाविष्ट या क्रोधावेश से रहित व्यक्ति के हाथों में दे देना, हिंस्रप्रदान या हिंसा में सहायक होना है।

(४) पापोपदेश–यह अनर्थदण्ड का चतुर्थ आधार-स्तम्भ है। इसका अर्थ है–पापकर्म का उपदेश देना। कितने ही व्यक्ति यद्यपि स्वयं पाप को बुरा समझते हैं तथापि जान-बूझकर अथवा लापरवाही से दूसरे पापों का उपदेश देते रहते हैं। किसी मानव या पशु को मारने या उसे परेशान करने के लिये किसी अन्य को उभारना और स्वयं सन्निकट खड़े रहकर तमाशा देखना, ये सभी पाप कर्मोपदेश हैं। इसी तरह तस्कर-कृत्य के लिये, वेश्यावृत्ति के लिये दूसरों को उत्प्रेरित करना भी पापोपदेश में गिना जाता है।

अनर्थदण्ड के पाँच आधार

आचार्य समन्तभद्र[3] ने चार के स्थान पर अनर्थदण्ड को पाँच भागों में विभक्त किया है–(१) पापोपदेश, (२) हिंसादान, (३) अपध्यान, (४) प्रमादचर्या, (५) दुःश्रुति। इनमें से चार का वर्णन तो उपरोक्त पंक्तियों में कर ही दिया गया है। एक दुःश्रुति नया है। दुःश्रुति को भी शास्त्रकारों ने प्रमादाचरण में ही ले लिया है।

---

१. क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदनम्।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते॥ –*रत्नकरंड श्रावकाचार ८०*

२. हिंसाहेतुत्वादायुधानलविषादयो हिंसोच्यते, तेषां प्रदानम्। अन्यस्मै क्रोधाभिभूताय अनभिभूताय प्रदानं, परेषां समर्पणम्। –*उपासकदशांग टीका*

३. पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतिः पंच।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डान् अदण्डधराः॥ –*रत्नकरण्ड श्रावकाचार ७५*

प्रमाद के मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पाँच प्रकार हैं। उसमें विकथा का जो रूप है वही रूप दुःश्रुति का भी है। आचार्य अमृतचन्द्र[1] ने दुःश्रुति का अर्थ इस प्रकार किया है–ऐसी बातों या कहानियों, उपन्यासों, नाटकों का सुनना या पढ़ना, जिनसे मन में कामादि विकार उत्पन्न होते हैं, किन्तु मानसिक उन्नति, शक्ति आदि कुछ भी लाभ नहीं होता। यहाँ यह कहा जा सकता है कि ऐसे साहित्य का संशोधनार्थ पढ़ना आदि दुःश्रुति नहीं है। आचार्य समन्तभद्र[2] ने भी लिखा है–दुःश्रुति वह है जिन बातों को पढ़ने-सुनने से चित्त आरम्भ में आसक्त हो, पाप करने के साहस से वह मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद और काम से कलुषित हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि प्रमादाचरण में ही दुःश्रुति का अन्तर्भाव हो जाता है।

अनर्थदण्ड के पाँच अतिचार

प्रस्तुत व्रत के पाँच अतिचार[3] हैं जिनका परिहार करना, व्रत के विकास के लिये आवश्यक है।

(१) कन्दप–विकारवर्धक वचन बोलना या सुनना या वैसी चेष्टाएँ करना।

(२) कौत्कुच्य–भांडों के समान हाथ-पैर पटकना, नाक मुँह और आँख आदि की विकृत चेष्टाएँ करना।

(३) मौखर्य–वाचाल बनना, बढ़ा-चढ़ाकर बातें करना, अपनी शेखी बघारना।

(४) संयुक्ताधिकरण–बिना आवश्यकता के हिंसक हथियारों एवं ऐसे घातक साधनों का संग्रह करके रखना, जैसे–बन्दूक के साथ कारतूस, धनुष के साथ तीर संयुक्त करके रखना।

(५) उपभोग-परिभोगातिरेक–उपभोग और परिभोग की सामग्री को आवश्यकता से अधिक संग्रह करके रखना। मकान, कपड़े, फर्नीचर आदि का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना भी इस अतिचार के अन्तर्गत ही है। आचार्य समन्तभद्र[4] ने प्रस्तुत अतिचार का नाम अतिप्रसाधन लिखा है तो आचार्य

---

१. रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामपि बोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि॥ –*पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १४५*

२. आरम्भसंग-साहस, मिथ्यात्व-द्वेष-राग-मद-मदनैः।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरधीयमाना दुःश्रुतिर्भवति॥ –*रत्नकरण्ड श्रावकाचार ७९*

३. उपासकदशांग १/६, अभयदेव वृत्ति, पृ. १७

४. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ८१

अमृतचन्द्र[1] ने भोगानर्थक्यं लिखा है। शब्दों में अन्तर है पर तीनों का भाव एक ही है।

इस तरह अनर्थदण्डविरमण व्रत से मानसिक, वाचिक और कायिक सभी प्रवृत्तियाँ विशुद्ध होती हैं। जिससे श्रावक सामायिक आदि अगले व्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन कर सकता है।

शिक्षाव्रत

शिक्षा का अर्थ–अभ्यास है। जैसे विद्यार्थी पुनः-पुनः अभ्यास करता है उसी प्रकार श्रावक को जिन व्रतों का पुनः-पुनः अभ्यास करना चाहिये, उन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा है। अणुव्रत और गुणव्रत जीवन में एक ही बार ग्रहण किये जाते हैं किन्तु शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किये जाते हैं। वे व्रत कुछ समय के लिये ही होते हैं। उनके नाम वे हैं–(१) सामायिक, (२) देशावकाशिक, (३) पौषधोपवास, (४) अतिथिसंविभाग।

(१) सामायिक व्रत

शिक्षाव्रतों में प्रथम स्थान सामायिक का है, जिसके निरन्तर अभ्यास से आत्मा आत्म-विकास के चरम लक्ष्य को प्राप्त करती है। एक आचार्य[2] ने कहा है–सामायिक के अभाव में चाहे कितने ही तपश्चरण किये जायें, चाहे कितने ही कष्ट सहन किये जायें, चाहे कितना ही जप किया जाये, श्रमण वेश धारण कर बाह्य चारित्र का पालन किया जाये; किन्तु समभावरूपी सामायिक के अभाव में किसी को भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती है और न प्राप्त ही होगी। समभाव से ही आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है।[3]

समभाव के निरन्तर अभ्यास से समता के संस्कार अन्तःकरण में बद्धमूल हो जाते हैं, जिससे गृहस्थ-जीवन में किसी भी प्रकार की समस्या, जो उसकी मानसिक शान्ति को भंग कर सके, समुत्पन्न नहीं होती। यदि समुत्पन्न हो भी जाती है तो वह

---

१. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

२. किं तिव्वेण तवेणं किं च जवेणं किं चरित्तेणं।
समयाइ विण मुक्खो, नहु हुओ कहवि नहु होइ॥

३. (क) जे केवि गया मोक्खं, जे वि य गच्छन्ति जे गमिस्संति।
ते सव्वे सामाइय-पभावेण मुणेयव्वं॥
(ख) समभावभावियप्पा, लहइ सुक्खं न संदेहो।

उसी क्षण उसका समाधान भी कर देता है। विकट संकट की घड़ियों में भी उसके अन्तर्मानस में शान्ति का महासागर लहराता है। वह समता की लक्ष्मण रेखा से तनिक मात्र भी इधर-उधर नहीं होता।

समभावी साधक में यह अपूर्व विशेषता होती है कि वह प्रतिकूलता को भी अनुकूलता में बदल देता है। वह सोचता है कि जीवन एक यात्रा है। यात्री को कभी नुकीले-पथरीले पथ को भी पार करना होता है तो कभी साफ-सुथरी सड़क पर चलने का संयोग मिल जाता है। कभी सरस सरिता पार करनी होती है तो कभी रेगिस्तान के टीले को भी पार करना होता है। वह यात्री निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता है। इस विचारधारा के अनुसार समभावी साधक जीवन-यात्रा में समभाव से आगे बढ़ता है।

सामायिक के दो भेद

हमने सामायिक आवश्यक में सामायिक के महत्त्व और उसकी आवश्यकता पर विस्तार से विश्लेषण किया है। अतः यहाँ अत्यधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही इस व्रत का स्वरूप बता रहे हैं।

सामायिक के दो भेद हैं–एक आगार सामायिक और दूसरी अनगार सामायिक। गृहस्थ की सामायिक आगार सामायिक है और श्रमण की सामायिक अनगार सामायिक है।

गृहस्थ की सामायिक अल्पकालिक है जबकि श्रमण की सामायिक जीवन-पर्यन्त के लिए होती है। श्रावक की सामायिक दो करण और तीन योग से की जाती है, जबकि श्रमण की सामायिक तीन करण और तीन योग से की जाती है। शास्त्रीय दृष्टि से श्रावक की सामायिक में अनुमोदन (करण) खुला रहता है। किन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं कि सामायिक में श्रावक पापकारी प्रवृत्तियों का अनुमोदन करेगा ही। वह सामायिक में किसी भी पापकारी प्रवृत्ति का अनुमोदन नहीं करता तथापि जो यहाँ अनुमोदन खुला रखा है, उसका तात्पर्य यही है कि गृहस्थ श्रावक आखिर गृहस्थ ही है। वह स्वयं सामायिक में बैठा है किन्तु उसके व्यापार-धन्धे चलते रहते हैं। उसके परिवारीजन, पुत्र, मुनीम, गुमाश्ते आदि व्यापार कार्य करते रहते हैं। अन्य आरम्भ-समारम्भ के कार्य भी होते हैं। यद्यपि वह उसकी प्रशंसा और समर्थन नहीं करता, पर ममता का जो धागा उसके साथ बँधा है, जिसे उसने अभी तक काटा नहीं है उसी के कारण संवासानुमति रूप अनुमोदन से वह मुक्त नहीं हो पाता।

गृहस्थ श्रावक कुछ काल के लिए सामायिक ग्रहण करता है। यद्यपि उसमें पूर्ण साधुता नहीं आती किन्तु आचार्य अमृतचन्द्र[1] की भाषा में वह साधुतुल्य हो जाता है। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[2] का भी यही मन्तव्य है। उन्होंने श्रावक को यह उद्‌बोधन दिया है कि वह प्रतिदिन अनेक बार सामायिक करे।

जीवन-परिवर्तन

सामायिक में वेश भी परिवर्तन किया जाता है किन्तु वेश के साथ जीवन-परिवर्तन उसका मूल उद्देश्य है। आत्मा जो अनादिकाल से विषय-कषाय से संत्रस्त होकर पाप-कृत्य कर कर्मों से भारी हो रहा है उन पापकृत्यों का परित्याग कर आत्मा को अधिक से अधिक हलका बनाने का उपक्रम किया जाता है। एतदर्थ इन्द्रियों की चपलता का त्याग एवं चित्त की एकाग्रता अपेक्षित होती है।

कितने ही व्यक्तियों का यह अभिमत है कि पूर्ण सामायिक तेरहवें गुणस्थान में हो सकती है। जब तक पूर्ण वीतरागता न आये तब तक समभाव की पूर्ण साधना नहीं होती। राग-द्वेष का पूर्ण नाश और वीतराग दशा की अभिव्यक्ति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। ग्यारहवें गुणस्थान के पूर्व कषाय किसी न किसी रूप में रहता है। इसलिये पूर्ण-समता तेरहवें गुणस्थान में ही प्राप्त हो सकती है।

उत्तर में निवेदन है कि समता का साधक उस पथ पर धीरे-धीरे बढ़ता है। सभी साधक गजसुकुमाल नहीं होते, जो कुछ ही क्षणों में उच्चतम भूमिका को प्राप्त कर लें। धीरे-धीरे निरन्तर अभ्यास करने से ही सामायिक में पूर्णता आती है। बूँद-बूँद से ही घट भरता है। यदि बूँद-बूँद की भी उपेक्षा की जायेगी तो घट रीता ही रहेगा। अतः साधक को सावधानी से साधना के पथ पर निरन्तर बढ़ते रहना चाहिये।

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार

सामायिक व्रत की साधना करते समय साधक पूर्ण सावधानी रखता है किन्तु फिर भी कुछ दोष लगने की सम्भावना रहती है। उन दोषों को ही अतिचार कहा गया है। वे पाँच हैं[3]–

---

१. सामायिकं श्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य॥ –*पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १५०*

२. सामाइयम्मि कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएणं कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा॥ –*विशेषावश्यकभाष्य २६९०*

३. उपासकदशा १/६, पृ. १२ (अभयदेववृत्ति)

(१) मनःदुष्प्रणिधान–सामायिक के भावों से मन को बाहर दौड़ाना। मन में सांसारिक प्रपञ्चों की उधेड़-बुन चलते रहना।

(२) वचनदुष्प्रणिधान–सामायिक में वचन का दुरुपयोग करना, कठोर, कर्कश, निष्ठुर अपशब्द का प्रयोग करना।

(३) कायदुष्प्रणिधान–सामायिक में शरीर से सावद्य प्रवृत्ति करना, पुनः-पुनः शरीर को हिलाना, सिकोड़ना, प्रसारना आदि।

(४) स्मृत्यकरण–सामायिक की स्मृति न रखना, समय आने पर न करना।

(५) अनवस्थितता–सामायिक को अस्थिर होकर या शीघ्रता से करना, निश्चित विधि के अनुसार न करना।

(२) देशावकाशिक व्रत

दिशापरिमाण व्रत में जीवन भर के लिये दिशाओं की मर्यादा की जाती है। उन दिशाओं की मर्यादाओं के परिमाण में कुछ घण्टों के लिये या दिनों के लिये विशेष मर्यादा निश्चित करना देशावकाशिक व्रत[1] है। एक आचार्य[2] का यह भी मत है कि दिग्परिमाण व्रत एक वर्ष के लिये या चार मास के लिये भी किया जाता है। देशावकाशिक व्रत प्रहर, मुहूर्त व दिन भर के लिये किया जाता है।

आधुनिक युग में इसे संवर ग्रहण करना भी कहते हैं। सामायिक में कम से कम अड़तालीस मिनट का समय अपेक्षित है। यदि उससे कम समय में यदि कोई साधक पाँच आश्रव द्वारों का त्याग करता है तो वह प्रस्तुत व्रत ग्रहण कर सकता है। ऑफिस आदि में आधा या पौन घण्टे का अवकाश मिलता है। उसी तरह दैनिक कार्यक्रम में से समय निकालकर श्रावक कुछ समय के लिये पाँच आश्रवों से अवकाश ग्रहण कर आत्म-साधना कर सकता है।

जीवन को अनुशासित बनाने का मंत्र

देशावकाशिक व्रत में देश और अवकाश ये दो शब्द हैं। जिनका अर्थ है–स्थान-विशेष। क्षेत्र-मर्यादा को संकुचित करने के साथ ही उपलक्षण से उपभोग-परिभोगादि रूप अन्य मर्यादाओं को भी संकुचित करना इस व्रत में गर्भित है।

---

१. दिग्व्रते परिमाणं यत्तस्य संक्षेपणं पुनः।
दिने रात्रौ च देशावकाशिकव्रतमुच्यते॥ —योगशास्त्र ३/८४

२. दिग्व्रतं यावज्जीवं संवत्सर-चातुर्मासीपरिमाणं वा।
देशावकाशिकं तु दिवस-प्रहर-मुहूर्तादिपरिमाणं॥

साधक जो निश्चित काल के लिये देश या क्षेत्र की मर्यादा करता है। उसके बाहर वह किसी भी प्रकार की सावद्यमूलक प्रवृत्ति नहीं करता। स्वयं मर्यादित क्षेत्र से बाहर नहीं जाता, बाहर से किसी को आवाज देकर बुलाता भी नहीं है, न बाहर किसी को भेजता ही है, बाहर से लाई हुई वस्तु का उपभोग भी नहीं करता, न क्रय-विक्रय ही करता है।

आवश्यकसूत्र की वृत्ति[1] में यह स्पष्ट है देशावकाशिक व्रत में दिग्व्रत की मर्यादा संक्षिप्त की जाती है। किन्तु उपलक्षण से अन्य अणुव्रतों को भी संक्षेप किया जाता है, अर्थात् जिस व्रत में जो मर्यादाएँ रखी गई हैं, उन सभी मर्यादाओं को एक घड़ी, मुहूर्त, प्रहर, दिन-रात आदि के लिये न्यून करना देशावकाशिक व्रत है।

विवेकी श्रावक प्रतिपल-प्रतिक्षण यह चिन्तन करता है कि मेरी आत्मा में इतनी शक्ति पैदा हो जाये कि मैं आरम्भ-समारम्भ का पूर्ण रूप से त्याग कर निर्ग्रन्थ बन जाऊँ। जहाँ तक उतना सामर्थ्य मुझमें प्रगट न हो, वहाँ तक कम से कम एक दिन-रात के लिये आवश्यकताओं को कम करके आत्म-चिन्तन के द्वारा आत्म-शक्ति को बढ़ाने का प्रयास करूँ। इसी उदात्त भावना के कारण श्रावक व्रत ग्रहण करते समय जो मर्यादाएँ रखी हैं उन्हें वह और भी संक्षिप्त करता है। चौदह नियमों के अनुसार जो मर्यादाएँ हैं, उन्हें स्थापित करता है तथा उनका सम्यक्रूप से पालन करता है।

प्राचीन महर्षि आचार्यों ने चौदह नियमों[2] के चिन्तन का क्रम ऐसा उचित ढंग से रखा है जिससे प्रतिदिन भोजन, पान और अन्यान्य प्रवृत्तियों के विषय में मर्यादाएँ निश्चित की जा सकती हैं। इन नियमों को ग्रहण करने से जीवन अनुशासित बनता है और त्याग-मार्ग में दृढ़ता आती है। वे चौदह नियम ये हैं–

(१) सचित्त–प्रतिदिन अन्न, फल, पानी आदि के रूप में जिन सचित्त वस्तुओं का सेवन करते हैं, उनकी मर्यादा निश्चित करना। प्रस्तुत मर्यादा संख्या, तोल व नाप के रूप में की जाती है।

(२) द्रव्य–खाने-पीने सम्बन्धी वस्तुओं की मर्यादा करना, जैसे–भोजन के समय अमुक संख्या से अधिक वस्तुओं का उपयोग नहीं करूँगा।

(३) विगय–घी, तेल, दूध, दही, गुड़ और पक्वान्न की मर्यादा।

---

१. दिग्व्रत संक्षेपकरणमणुव्रतादिसंक्षेपकरणस्याऽप्युपलक्षणं द्रष्टव्यं, तेषामपि संक्षेपस्यावश्यं कर्तव्यत्वात्। —*आवश्यकवृत्ति*

२. सचित्त-दव्व-विग्गई-पन्नी-तांबूल-वत्थ कुसुमेसु।
वाहण-सयण-विलेवण-बम्भ-दिशि-नाहण-भत्तेसु॥

(४) पण्णी–उपानह (जूते), मोजे, खड़ाऊँ, चप्पल आदि पैर में पहनी जाने वाली वस्तुओं की मर्यादा।

(५) वस्त्र–प्रतिदिन पहने जाने वाले वस्त्रों की मर्यादा करना।

(६) कुसुम–फूल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों की मर्यादा।

(७) वाहन–सवारी आदि की मर्यादा करना।

(८) शयन–शय्या एवं स्थान की मर्यादा करना।

(९) विलेपन–केसर, चन्दन, तेल प्रभृति लेप किये जाने वाले पदार्थों की मर्यादा करना।

(१०) ब्रह्मचर्य–मैथुन सेवन की मर्यादा करना।

(११) दिशा–दिशाओं में यातायात व अन्य जो भी प्रवृत्तियाँ की जाती हैं, उनकी मर्यादा करना।

(१२) स्नान–स्नान व जल की मर्यादा करना।

(१३) भक्त–असन, पान, खादिम, स्वादिम की मर्यादा करना।

इस प्रकार नियमों का चिन्तन करके प्रत्येक नियम के सम्बन्ध में प्रतिदिन मर्यादा निश्चित की जाती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से भी सातवें व्रत में जो मर्यादाएँ स्वीकार की गई हैं, उन मर्यादाओं का और भी संकोच किया जाता है। इसी तरह अन्य व्रतों की मर्यादाओं का भी संकोच किया जाता है। आधुनिक युग में स्थानकवासी जैन परम्परा में उसे दया व्रत या छहकाय व्रत कहते हैं।

देशावकाशिक ग्रहण की मर्यादाएँ

प्रस्तुत व्रत के अन्तर्गत कितने ही व्यक्ति दो करण और तीन योग से आश्रव द्वार सेवन करने का त्याग करते हैं अर्थात् मन, वचन और काया से पाँच आश्रवों का सेवन न स्वयं करना और न दूसरों से करवाना। द्वितीय प्रकार यह भी है–एक करण और एक योग से पंचाश्रव-सेवन का त्याग किया जाता है। इस प्रकार से त्याग करने वाला श्रावक स्वयं के शरीर से आरम्भ-समारम्भ का कार्य नहीं करता। मन-वचन के सम्बन्ध में उसका त्याग नहीं है और न कराने व अनुमोदन का ही त्याग है। किन्तु जो श्रावक दो करण और तीन योग से प्रतिज्ञा ग्रहण करता है वह न स्वयं व्यापार, कृषि तथा अन्यान्य आरम्भ-समारम्भ के कार्य कर सकता है और न दूसरों से कहकर करवा ही सकता है। कितने ही श्रावक इस व्रत को एक करण और तीन योग से ग्रहण करते हैं और आश्रव द्वार के सेवन करने का त्याग करते

हैं। ऐसा श्रावक स्वयं तो आरम्भ-समारम्भ का कार्य नहीं कर सकता पर दूसरों से कहकर आरम्भ-समारम्भ के कार्य करवा सकता है। उसने दूसरों से आरम्भ-समारम्भ करवाने का त्याग नहीं किया है। इसलिये दूसरों से ऐसे कार्य कराने पर उसका व्रत भंग नहीं होता।

आचार्य समन्तभद्र[1] ने देशावकाशिक व्रत का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि इस व्रत में एक तरह से महाव्रतों के सदृश साधना हो जाती है। उसने गमनागमन की जितनी सीमा रखी है, उसके अतिरिक्त उस श्रावक के स्थूल-सूक्ष्म सभी पापों का त्याग हो जाता है।

दिशापरिमाण व्रत में जिन दिशाओं की मर्यादाएँ रखी गई हैं, उनको प्रस्तुत व्रत में संक्षेप किया जाता है। आचार्य अभयदेव[2] ने प्रस्तुत व्रत की परिभाषा करते हुए लिखा है–देश अर्थात् दिशा व्रत में रखा हुआ जो विभाग-अवकाश या क्षेत्र-सीमा या प्रदेश है उसको और भी कम करना, वह देशावकाश है। उसी व्रत को देशावकाशिक कहते हैं अथवा दिग्परिमाण व्रत में निश्चित किये हुए दिशा परिमाण को प्रतिदिन संकुचित करना देशावकाशिक है।

देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार

प्रस्तुत व्रत में दिग्परिमाण व्रत में रखी हुई क्षेत्र-मर्यादा को घटाने का विधान है। उसी परिभाषा के आलोक में देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचारों[3] का वर्णन हुआ है–

(१) आनयन प्रयोग–इस व्रत को ग्रहण करने के बाद दिशाओं का संकोच कर लेने से आवश्यकता उत्पन्न होने पर मर्यादित भूमि से बाहर रहे हुए सचित्त आदि पदार्थ किसी को प्रेषित कर मँगवाना या समाचार मँगवाना आनयन प्रयोग अतिचार है। क्योंकि प्रथम व्याख्या के अनुसार श्रावक प्रायः दो करण तीन योग से व्रत ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में वह मर्यादित भूमि से बाहर रही हुई वस्तु को स्वयं या किसी अन्य द्वारा समाचार भेजकर नहीं मँगवा सकता। जरा-सी असावधानी से अतिचार लगने की सम्भावना रहती है।

---

१. सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपाप संत्यागात्।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते॥ –रत्नकरंड श्रावकाचार ९५

२. देशे दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य विभागोऽवकाशोऽवस्थानमवतारो विषयो तद्देशावकाशम्। तदेव देशावकाशिकम्। दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिनं संक्षेपकरणं लक्षणे वा। –स्थानांग ४/३ वृत्ति

३. आणवणपओगे, पेसवणपओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहिया पोग्गल पक्खेवे।
–आवश्यकसूत्र

(२) प्रेष्य प्रयोग–मर्यादित क्षेत्र से बाहर किसी वस्तु को भेजना।

(३) शब्दानुपात–जिस देश में स्वयं न जाने का नियम ग्रहण किया हो, वहाँ पर शब्द संकेत से अपना कार्य करना।

(४) रूपानुपात–मर्यादित क्षेत्र के बाहर कोई वस्तु, संकेत आदि भेजकर उसी के सहारे काम करना।

(५) पुद्गल प्रक्षेप–मर्यादित क्षेत्र से बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना।

(३) पौषधोपवास व्रत

पौषध शब्द संस्कृत के 'उपवषथ' शब्द से निर्मित हुआ है, जिसका अर्थ है–धर्माचार्य के समीप या धर्मस्थान में रहना, धर्मस्थान में निवास करते हुए उपवास करना, पौषधोपवास है। दूसरे शब्दों में कहें तो पौषध व्रत का अर्थ है–पोषना, तृप्त करना। हम प्रतिदिन भोजन से शरीर को तृप्त करते हैं; किन्तु आत्मा भूखी रहती हैं। इस व्रत में शरीर का पोषण न कर आत्मा को तृप्त किया जाता है। आत्म-चिन्तन, मनोमन्थन कर आत्म-भाव में रमण करना पौषध व्रत है। पौषधोपवास व्रत आत्म-अभ्युदय की सर्वोत्तम साधना है। गृहस्थ श्रावक को अपने गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वों को निभाने के कारण अत्यधिक समयाभाव रहता है। किन्तु उसे जो भी अवकाश मिलता है, उस अवकाश को वह आन्तरिक-चिन्तन, आत्म-विकास और आत्म-शक्ति की अभिवृद्धि हेतु लगता है। इसीलिए अष्टमी, चतुर्दशी, पक्खी प्रभृति पर्व तिथियों में अष्ट प्रहर का पूर्ण अवकाश लेकर वह पौषधोपवास करता है और पूरे दिन-रात आत्मा के चिन्तन-मनन में पुरुषार्थ करता है।[1] शारीरिक पुरुषार्थ तो पशु भी करते हैं। वे इस दृष्टि से मानवों से भी आगे माने जा सकते हैं किन्तु मानव की विशेषता बौद्धिक और आध्यात्मिक पुरुषार्थ करने में है।

स्वयं के दोषों का चिन्तन

पौषध में आत्म-चिन्तन, आत्म-शोधन और आत्म-विकास का पुरुषार्थ ही मुख्य रूप से किया जाता है। यद्यपि पूर्वाभ्यस्त संस्कारों को छोड़ने में कुछ कठिनाई अवश्य होती है किन्तु पौषधोपवास का अभ्यासी साधक उन कठिनाइयों से घबराता नहीं है। वह आत्मालोचन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-निन्दा, आत्म-गर्हा और

---

१. चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि कुव्यापारनिषेधनम्।
ब्रह्मचर्य क्रियास्नानादित्यागः पौषधव्रतम्॥ –योगशास्त्र ३/८५

आत्म-शुद्धि का यथेष्ट आत्म-लाभ प्राप्त करता है। जब साधक आत्म-चिन्तन करता है तब उसे अपने अन्तर् में रही हुई अपनी कमजोरियों का परिज्ञान होता है और जिन शक्तियों की कमी है, उन शक्तियों की पूर्ति के लिये वह प्रयास करता है। पौषध में परदोष का चिन्तन नहीं होता किन्तु स्वयं के दोषों का ही चिन्तन किया जाता है कि मेरे में क्या-क्या दोष हैं और उन दोषों से मैं किस प्रकार मुक्त हो सकता हूँ। दूसरों को सुधारना अपने हाथ में नहीं है; किन्तु व्यक्ति अपने आपको तो सुधार ही सकता है। यही कारण है पौषध में साधक को सांसारिक प्रवृत्तियों से मुक्त होकर निरन्तर धर्म-जागरण, आत्म-जागरण करना चाहिये।

आत्म-शक्ति का प्रकटीकरण

पौषधव्रती साधक को आत्म-चिन्तन करते समय संभव है कि कभी उपसर्ग भी उपस्थित हो तो भी उसे विचलित नहीं होना चाहिये। उपासकदशांग में कामदेव श्रावक का वर्णन है। उन्हें विचलित करने के लिये एक देव प्रकट हुआ था। उसने अपनी अनेक काली करतूतें भी दिखायीं। किन्तु कामदेव किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुए। दियासलाई में आग प्रच्छन्न रूप से रही हुई होती है किन्तु वह आग बिना रगड़ खाये प्रगट नहीं होती। वैसे ही मानव की आत्मा में प्रचुर मात्रा में शक्ति विद्यमान है और वह शक्ति पौषध की रगड़ से प्रगट होती है।

पौषध के चार प्रकार

आवश्यकसूत्र के वृत्तिकार[1] ने पौषधोपवास का लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया है–धर्म और अध्यात्म को पुष्ट करने वाला विशेष नियम धारण करके उपवास सहित पौषध में रहना। शास्त्रकार ने पौषध के मुख्य रूप से चार भेद[2] किये हैं–

(१) आहार पौषध–आहर को त्याग कर पौषध करना। आहार करने से नीहार भी करना पड़ता है। आहार को लाने, पकाने, खाने और पचाने में अत्यधिक समय का व्यय होता है। अधिक आहार आत्म-चिन्तन में बाधक बनता है। आहार त्यागकर धर्म-ध्यान में अधिक समय लगाया जा सकता है।

(२) शरीर पौषध–स्नान-विलेपन, उबटन, पुष्प, तेल, गन्ध, आभूषण प्रभृति से शरीर को सजाने और सँवारने का परित्याग करके शरीर को धर्माचरण में लगाना शरीर पौषध है। यह आंशिक और पूर्ण–दो प्रकार का है।

---

१. पौषधे उपवसनं पौषधोपवास, नियमविशेषाभिधानं चेदं पौषधोपवासः। –*आवश्यकवृत्ति*

२. पोसहोववासे चउव्विहे पण्णते, तं जहा–आहारपोसहे, सरीरपोसहे, बंभचेरपोसहे, अव्वावाहारपोसहे।

(३) ब्रह्मचर्य पौषध–सभी प्रकार के मैथुन और मैथुनांगों का त्याग करके ब्रह्म यानी आत्मभाव में रमण करना ब्रह्मचर्य पौषध है।

(४) अव्यापार पौषध–आजीविका के लिये जो भी व्यवसाय हैं–व्यापार, नौकरी, खेती आदि सभी सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करना।

पौषध और काल मर्यादा

आठ प्रहर तक जो पौषध किया जाता है, वह प्रतिपूर्ण पौषध है। आचार्य अमृतचन्द्र ने पौषधोपवास व्रत के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि समस्त आरम्भों से मुक्त होकर, देह आदि के प्रति ममत्व का त्याग करके प्रथम आधे दिन से उपवास ग्रहण करे। फिर एकान्त वसति में जाकर समस्त सावद्य योगों का परिहार करके समस्त इन्द्रियों के व्यापारों से विरत होकर मन, वचन और काया की गुप्ति से गुप्त होकर उस प्रथम तथा दूसरे दिन को धर्म-ध्यान करने में व्यतीत करे। उसके पश्चात् सान्ध्यविधि सम्पन्न करके स्वच्छ संस्तारक (बिछौने) पर स्वाध्यायरत होकर निद्रा पर विजय-वैजयन्ती फहराता हुआ रात्रि व्यतीत करे। प्रातः उठकर आवश्यक क्रिया-कलाप पर प्रासुक-द्रव्यों से वीतराग की उपासना करे। इस तरह वह तृतीय दिन का आधा भाग व्यतीत करता है। सोलह प्रहर तक समस्त सावद्य व्यापार से मुक्त होकर पूर्ण अहिंसक जीवन व्यतीत करता है। वाक्गुप्ति होने से पूर्ण सत्य व्रत का पालन करता है। कुछ भी ग्रहण न करने से पूर्ण अदत्तादान-विरमण व्रत का भी पालन करता है। मैथुन का त्याग होने से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। मूर्च्छा-त्याग होने से परिग्रह का लेशमात्र भी सेवन नहीं करता। इस प्रकार पाँचों आस्रवों का त्याग करने से गृहस्थ श्रावक उपचार से महाव्रती हो जाता है। किन्तु चारित्रमोह के उदय के कारण वह पूर्ण संयमी श्रमण नहीं बन पाता है।

किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में पौषध व्रत की काल-मर्यादा तीन दिन की भी मिलती है। पौषध व्रतधारी श्रावक सम्पूर्ण समय तत्त्व-चिन्तन, आत्म-मन्थन में लगाता है। इस व्रत को स्वीकार करने के पश्चात् श्रावक सभी प्रकार की सावद्य प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है।

पंचम गुणस्थानकवर्ती होने से श्रावक शुक्लध्यान तो कर नहीं सकता, तथा आर्त और रौद्र ध्यान पौषध में निषिद्ध होने से वह केवल धर्मध्यान ही ध्याता है। धर्मध्यान से ही वह पौषधकाल पूर्ण करता है।

पौषध व्रत के पाँच अतिचार

पौषध व्रत के पाँच अतिचार[1] इस प्रकार हैं–

---

१. उपासकदशा १/६, पृ. १९, अभयदेववृत्ति

(१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रलेखित-शय्या-संस्तारक–पौषध-योग्य स्थान आदि का भली प्रकार से निरीक्षण न करना।

(२) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारक–पौषध योग्य शय्या आदि का सम्यक्-अवलोकन न करना।

(३) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार-प्रस्रवण भूमि–मल-मूत्र त्यागने के स्थान का निरीक्षण न करना।

(४) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवण भूमि–मल-मूत्र की भूमि को साफ किये बिना या बिना अच्छी तरह साफ किये उपयोग करना।

(५) पौषधोपवास-सम्यगननुपालनता–पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन न करना।

प्रथम चार अतिचारों में अनिरीक्षण, दुर्निरीक्षण अथवा अप्रमार्जन के कारण हिंसा दोष की संभावना रहती है।

(४) अतिथिसंविभाग व्रत

व्रतों के परिपालन से आध्यात्मिक उत्कर्षता के साथ ही श्रावक में विश्वबन्धुत्व की उदात्त भावनाएँ भी अँगड़ाइयाँ लेने लगती हैं। वह सर्वस्व समर्पित करने के लिये प्रस्तुत हो जाता है। अतिथिसंविभाग व्रत में सेवा, दान, करुणा और परमार्थ की भावनाएँ ही मुख्य रूप से रही हुई हैं। स्व-कल्याण के साथ ही पर-कल्याण के लिये भी श्रावक प्रयास करता है। वह स्वयं के लिये बनाये हुए खाद्य-पदार्थ, वस्त्र, पात्र, औषध आदि अतिथियों को समर्पित करता है। समय आने पर स्वयं के पास जो भी साधन सामग्री है, वह दूसरों को समर्पित कर देता है। आगम साहित्य में जहाँ-तहाँ जो श्रमणों को दान दिया जाता है उसके लिये प्रतिलाभ शब्द व्यवहृत हुआ है।

अतिथि का अर्थ

अतिथि का अर्थ है–जिसके आने की कोई भी तिथि, दिन या समय नियत नहीं है। जो बिना ही सूचना के अनायास आ जाता है, वह अतिथि है। उस अतिथि के लिए विभाग करना अतिथिसंविभाग है। इस दृष्टि से मुख्यतया पंच महाव्रतधारी, पंच समिति और तीन गुप्ति के आराधक श्रमण-श्रमणियों को ही अतिथि कहा गया है। इस प्रकार अतिथि को श्रद्धा-भावना से विभोर होकर अत्यन्त सम्मान के साथ उनके लिये कल्पनीय, एषणीय, ग्राह्य, निर्दोष आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, पीठ, फलक–पट्टा, शय्या, संस्तारक औषध, भैषज प्रभृति जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक पदार्थों को देकर प्रतिलाभित करना। प्रस्तुत व्रत का यथासंविभाग नाम भी उपलब्ध होता है। आवश्यकसूत्र के वृत्तिकार ने लिखा है

कि श्रावक ने अपने लिये जो आहार आदि का निर्माण किया है या अन्य साधन प्राप्त किये हैं, उनमें से एषणा समिति से युक्त निस्पृह श्रमण-श्रमणियों को कल्पनीय एवं ग्राह्य आदि देने के लिये विभाग करना यथासंविभाग[1] है।

दाता चार बातों का ध्यान रखे

अतिथिसंविभाग व्रत के माध्यम से दान प्रदान करते समय चार बातों का ध्यान रखना आवश्यक है–विधि, द्रव्य, दाता और पात्र।[2] जो दान इन चार विशेषताओं से युक्त हैं, वही श्रेष्ठ सुपात्रदान है। दान देने के पूर्व दाता को किसी लोभ, भय, स्वार्थ या अन्ध-विश्वास से उत्प्रेरित होकर नहीं देना चाहिये, अपितु भक्ति-भावना से विभोर होकर सन्मानपूर्वक निर्दोष, ऐसा द्रव्य प्रदान करना चाहिये, जो श्रमणों के तप और संयम में सहायक हो। वह द्रव्य शुद्ध कहलाता है। दाता भी वही शुद्ध कहलाता है, जिसके मन में भक्ति की भागीरथी प्रवाहित हो रही हो और वही पात्र शुद्ध है, जिनके जीवन में यम-नियम और संयम का साम्राज्य हो। श्रमण ही उत्कृष्ट अतिथि है। बारहवें व्रत का श्रेष्ठतम आदर्श वही श्रमण रहा है। ऐसे उत्कृष्ट श्रमणों का योग अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होता है। इसलिये श्रावक के द्वार अन्य सभी अतिथियों के लिये भी खुले रहते हैं। घर के द्वार ही नहीं, मन के द्वार भी खुले रहते हैं। इसलिये मध्यम और जघन्य अतिथियों को भी श्रावक यथाशक्ति दान देता है।

राजप्रश्नीयसूत्र[3] में उल्लेख है राजा प्रदेशी केशी श्रमण के पावन उपदेश से प्रभावित होकर श्रावकों के व्रतों को ग्रहण करता है और अपने राज्य की समस्त सम्पत्ति को चार विभागों में विभक्त करता है। एक विभाग से राज्य-संचालन का कार्य और दूसरे विभाग से पारिवारिक जनों के भरण-पोषण का कार्य करता है। तृतीय विभाग खजाने के लिये रखा जाता है और चतुर्थ विभाग श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि आदि के लिये रखा जाता है। इस प्रकार वह अपनी सम्पत्ति का चौथा हिस्सा दान में लगाता है।

जैसे निर्ग्रन्थ अतिथि को दान देना श्रमणोपासक का कर्त्तव्य है; क्योंकि निर्ग्रन्थ आध्यात्मिक साधना हेतु गृहवास का त्याग कर ग्रामानुग्राम परिभ्रमण करता है। उस निर्ग्रन्थ श्रमण को न्यायोपार्जित निर्दोष वस्तुएँ निःस्वार्थ भाव से, श्रद्धा से देना चाहिये। वैसे ही अन्य अतिथियों को भी वह समुचित सहयोग देता है। दीन-दुःखियों का यथोचित सत्कार करता है।

---

१. यथासिद्धस्य स्वार्थे निर्वर्तितस्येत्यर्थः अशनादिः संविति संगतत्वेन पश्चात्कर्मादिदोष-परिहारेण विभजनं साधवे दानद्वारेण विभागकरणं यथासंविभागः। —आवश्यकवृत्ति

२. विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेषात् तद्विशेषः। —तत्त्वार्थसूत्र ७/३४

३. तए णं से पएसी राया ..... चत्तारि भाए करेइ। एगं भागं बलवाहणस्स दलइ जाव कूडागारसालं करेइ ..... —रायपसेणीय ७४, सुत्तागमे ९९

अतिथिसंविभाग व्रत के पाँच अतिचार

अन्य व्रतों की भाँति अतिथिसंविभाग व्रत के भी पाँच अतिचार हैं–

(१) सचित्त निक्षेपण–श्रावक प्रबुद्ध होता है, वह हर कार्य में विवेक रखता है जिससे कि व्रत में दोष न लगें। पर जब विवेक का दीपक गुल हो जाता है या कृपणता का प्राधान्य हो जाता है तब वह वस्तु जो श्रमण के लिये कल्पनीय है, एषणीय और ग्राह्य है, उस अचित्त वस्तु में सचित्त वस्तु का संमिश्रण कर देता है या उसके सन्निकट रख देता है, जिससे वह अचित्त वस्तु श्रमण के ग्रहण करने योग्य नहीं रहती।

(२) सचित्तविधान–अचित्त पदार्थ जो श्रमण के ग्रहण करने योग्य है, उस पर सचित्त पदार्थ ढक देना।

(३) कालातिक्रम–जो आहार आदि का समय है, उस समय कोई श्रमण कोई आहार के लिये न आ जाये, इसलिये उस समय को टालकर भोजन आदि बनाना; जिससे कि यह कहा जा सके, अभी भोजन का समय ही नहीं हुआ है या हम भोजन आदि से कभी के निवृत्त हो चुके हैं।

(४) परव्यपदेश–जो वस्तु स्वयं की है किन्तु कृपणता के कारण अपनी वस्तु को पराई बताना या पराई वस्तु को अपनी बताना, जिससे कि अतिथि उस वस्तु को ग्रहण न कर सके।

(५) मात्सर्य–ईर्ष्या व अहंकार की भावना से दान देना। दूसरे श्रावक को दान देते हुए देखकर मन में प्रतिस्पर्धा की भावना उद्‌बुद्ध हो जाती है और उसी प्रतिस्पर्धा की भावना से अतिथि को दान देना। दान देने के पहले या दान देने के पश्चात् अथवा दान देते समय अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करना–मैंने आपको ऐसी श्रेष्ठतम वस्तु दी है, जैसी अन्य कोई नहीं दे सकता।

इन अतिचारों में लोभवृत्ति, अहंकार, ईर्ष्या और द्वेष वृत्ति रही हुई है, जिससे श्रावक का व्रत दूषित या भंग होता है। श्रावक को अत्यन्त उदार होना चाहिये। कोई भी अतिथि उसके द्वार से निराश और हताश होकर न लौटे, यह उसे ध्यान रखना चाहिये।

उपर्युक्त व्रत-विवेचन में बहुत ही संक्षेप में व्रतों के स्वरूप, महत्त्व और उसमें लगने वाले दोषों के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है, जिससे प्रबुद्ध पाठकों को व्रतों का हार्द हृदयंगम हो सके। प्राचीन आचार्यों ने बहुत विस्तार से व्रतों के सम्बन्ध में विश्लेषण किया है। विशेष जिज्ञासुओं को वे ग्रन्थ निहारने चाहिये। बीसवीं शताब्दी में जब इन्सान का जीवन अमर्यादित हो रहा है इस समय श्रावक आचार-संहिता की कितनी आवश्यकता है, यह स्वयं ही स्पष्ट है। ● ●

१६. साधना की भूमिकाएँ : श्रावक प्रतिमा

विश्व संस्कृतियाँ

विश्व के इतिहास का हम यदि गहराई से अनुशीलन-परिशीलन करें तो यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि विश्व में तीन संस्कृतियाँ मौलिक एवं प्राचीनतम हैं– यूनानी भारतीय और चीनी। यूनान संस्कृति में समाज की प्रधानता है, भारतीय संस्कृति में व्यक्ति की प्रधानता है और चीनी संस्कृति में परिवार की प्रधानता है। यदि विश्व संस्कृति का निर्माण करना है तो तीनों संस्कृतियों की मौलिक विचारधाराओं का संमिश्रण अपेक्षित है।

भारतीय संस्कृति में भले ही अनेक संस्कृतियों का संमिश्रण है तथापि विश्व-संस्कृति के सन्दर्भ में यह स्पष्ट है कि वह व्यक्ति-प्रधान है। व्यक्ति ही अपने भाग्य का निर्माता है, वही अपने लिए सुख और दुःख का निर्माण करता है, वही अपना शत्रु और मित्र है। इसीलिए यहाँ व्यक्ति-प्रधान साधना पद्धति विकसित हुई।

श्रावकधर्म और श्रमणधर्म की साधना भी व्यक्तिपरक है, समाजपरक और परिवारपरक नहीं। व्यक्ति के सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष पर ही समाज और परिवार का उत्कर्ष अवलम्बित है। क्योंकि व्यक्तियों का समूह ही तो समाज है।

साधना के विविध रूप

साधक की योग्यता को संलक्ष्य में रखकर ही साधना-पद्धति के विविध रूप उजागर हुए हैं, विविध सोपान निर्मित हुए हैं। श्रावक की साधना के भी तीन रूप आये हैं–दर्शन श्रावक, व्रती श्रावक और प्रतिमाधारी श्रावक। यह क्रम उत्तरोत्तर साधना पद्धति का विकसित रूप है। दर्शन श्रावक बने बिना व्रती श्रावक नहीं बन सकता और बिना व्रती बने प्रतिमाधारी नहीं बन सकता। श्रावक सुदीर्घकाल तक व्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करता हुआ त्याग-मार्ग की ओर प्रतिपल-प्रतिक्षण आगे बढ़ता है। फिर एक दिन अपने कुटुम्ब का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सन्तान को समर्पित कर और स्वयं पौषधशाला में जाकर सारा समय धार्मिक क्रियाओं में व्यतीत करता है। कितने ही आचार्य सम्पूर्ण उत्तरदायित्व समर्पित कर धार्मिक

साधना की बात नहीं करते, उनका मन्तव्य है कि गृहस्थाश्रम में रहकर ही श्रावक नियमोपनियम का सम्यक् प्रकार से पालन करते हैं।

प्रतिमाएँ

प्रतिमा का अर्थ है–प्रतिज्ञा-विशेष, व्रत-विशेष[1] तप-विशेष, साधना पद्धति। प्रतिमा-स्थित साधक श्रमण के सदृश व्रत-विशेषों का पालन करता है। उसका जीवन एक तरह से श्रमण-जीवन की प्रतिकृति है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों के ग्रन्थों में उपासक की एकादश प्रतिमाओं का वर्णन आया है। क्रम व नामों में कुछ अन्तर है। वह इस प्रकार है–

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार[2]

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) पौषध, (५) नियम, (६) ब्रह्मचर्य, (७) सचित्तत्याग, (८) आरम्भत्याग, (९) प्रेष्य-परित्याग अथवा परिग्रह-परित्याग, (१०) उद्दिष्टभक्तत्याग, (११) श्रमणभूत।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार[3]

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) पौषध, (५) सचित्तत्याग, (६) रात्रिभुक्तित्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भत्याग, (९) परिग्रहत्याग, (१०) अनुमतित्याग, (११) उद्दिष्टत्याग।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार उद्दिष्टत्याग क्षुल्लक और ऐलक रूप में दो प्रकार का है। प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम दोनों ही परम्पराओं में एक समान हैं। सचित्तत्याग का क्रम दिगम्बर परम्परा में पाँचवाँ है तो श्वेताम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा में रात्रिभुक्तित्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा गिना है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में पाँचवीं प्रतिमा नियम में उसका समावेश होता है। ब्रह्मचर्य का क्रम श्वेताम्बर परम्परा में छठा है तो दिगम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा में अनुमतित्याग का दसवीं प्रतिमा के रूप में उल्लेख है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के उद्दिष्टत्याग में इसका समावेश हो जाता है। चूँकि इस प्रतिमा में श्रावक उद्दिष्टभक्त ग्रहण न करने के साथ अन्य आरम्भ का भी समर्थन नहीं करता है। श्वेताम्बर परम्परा में जो श्रमणभूत प्रतिमा है उसे ही दिगम्बर परम्परा में उद्दिष्टत्याग प्रतिमा कहा है क्योंकि इसमें श्रावक का आचार श्रमण के सदृश होता है।

---

१. (क) प्रतिमा प्रतिपत्तिः प्रतिज्ञेतियावत्। –स्थानांगवृत्ति, पत्र ६१
(ख) प्रतिमा–प्रतिज्ञा अभिग्रहः। –वही, पत्र १८४

२. (क) दशाश्रुतस्कन्ध ६ दशा, (ख) विंशिका-१०वीं। –लेखक आचार्य हरिभद्र

३. समन्तभद्रकृत श्रावकाचार, वसुनन्दी श्रावकाचार आदि

दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार प्रतिमाओं का वर्णन इस प्रकार है–

(१) दर्शन प्रतिमा–इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक देव-गुरु की सेवा करता है। श्रावकधर्म और श्रमणधर्म पर उसकी अत्यन्त निष्ठा होती है। यह प्रतिमा सम्यग्दर्शन की सुदृढ़ नींव पर अवस्थित है जिसके आधार पर ही व्रतों का भव्य भवन खड़ा होता है। श्रावक निरतिचार इस प्रतिमा का आराधना करता है। प्रस्तुत प्रतिमा की आराधना अविरत सम्यग्दृष्टि भी कर सकता है। जिसने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, वह यह प्रतिमा धारण नहीं कर सकता और न औपशमिक सम्यक्त्वधारी ही यह प्रतिमा धारण करता है। क्षायिक सम्यक्त्वधारी का सम्यक्त्व निर्मल होता है, उसको अतिचार नहीं लगता और औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त की ही होती है, अतः वह मासिक प्रतिमा को किस प्रकार धारण कर सकता है। इसलिए क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी ही प्रस्तुत प्रतिमा धारण करता है।[1]

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सामान्य रूप से जो सम्यग्दर्शनी है और प्रतिमाधारी जो सम्यग्दर्शनी है, उसमें अन्तर है। सामान्य सम्यक्त्वी राज्याभियोग आदि आगारों को रखता है, पर प्रस्तुत प्रतिमाधारी नहीं। उसमें मलिनता कम होती है। वह केवल निर्ग्रन्थ प्रवचन को ही यथार्थ मानता है। इस प्रतिमा के धारक को दार्शनिक श्रावक भी कहते हैं। इसका धारक सम्यक्त्व की साक्षात् मूर्ति होता है।

(२) व्रत प्रतिमा–अतिचाररहित पंच अणुव्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करना, उनमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगने देना।[2] वह तीनों शल्यों से मुक्त होता है। वह शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान आदि का भी अभ्यास करता है। द्वादश व्रतों में आठवें व्रत तक तो वह नियमित रूप से पालन करता है। पर सामायिक, देशावकाशिक व्रतों की आराधना परिस्थिति के कारण नियमित रूप से सम्यक् प्रकार से नहीं भी कर पाता। पर उसकी श्रद्धाप्ररूपणा सम्यक् होती है। सामान्य श्रावक अणुव्रत और गुणव्रत को धारण करता भी है और नहीं भी करता है जबकि व्रत प्रतिमा में अणुव्रत और गुणव्रत धारण करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। व्रत में कई पत्नियाँ रखकर भी व्रत ले सकता है पर प्रतिमाधारी उपपत्नी नहीं रख सकता। प्रतिमाधारी में भावशुद्धि अधिक होती है।

---

१. (क) गृहस्थ धर्म–उपाध्याय फूलचन्द जी महाराज, पृ. २०
(ख) आयारदशा ६/१८, पृ. ५५

२. पंचाणुव्वयधारित्तमणइयारं वएसु पडिबंधो।
वयणा तदणइयारा वयपडिमा सुप्पसिद्ध त्ति ॥ –विंशतिका १०/५

(३) सामायिक प्रतिमा–अपने अपूर्व बल, वीर्य व उल्लास से पूर्व प्रतिमाओं का सम्यक् प्रकार से पालन करता है और अनेक बार सामायिक की साधना करता है व देशावकाशिक व्रत का भी पालन करता है। अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में प्रतिपूर्ण पौषध भी करता है।

दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार सामायिक प्रतिमा में तीनों सन्ध्याओं में सामायिक करना आवश्यक माना गया है। सामायिक में उत्कृष्ट काल छह घड़ी का है। एक बार में दो घड़ी की सामायिक होने से तीन बार जो सामायिक की जाती है, उसमें छह घड़ी सहज रूप से हो जाती हैं।

आचार्य समन्तभद्र[1] का यह अभिमत है कि इसमें जो सामायिक होती है, वह 'यथाजात' होती है। यथाजात से इनका तात्पर्य यह है कि नग्न होकर सामायिक की जाये। तीन बार दिन में दो-दो घड़ी तक नग्न रहने से आगे चलकर वह दिगम्बर श्रमण बन सकता है। पर श्वेताम्बर परम्परा में इस प्रकार का विधान नहीं है।

(४) पौषध प्रतिमा–व्रत की दृष्टि से पौषध ग्यारहवाँ व्रत है और प्रतिमा की दृष्टि से वह चतुर्थ प्रतिमा है। व्रत में देशतः पौषध भी कर सकता है। पर प्रस्तुत प्रतिमा में प्रतिपूर्ण पौषध करने का विधान है। दशाश्रुतस्कन्ध[2] में स्पष्ट वर्णन है कि श्रावक अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णमासी प्रभृति पर्व दिनों में प्रतिपूर्ण पौषधोपवास करे। इस प्रतिमा का कालमान चार माह बताया गया है। सामान्य पौषधधारी दिन में नींद आदि निकाल सकता है। उसके प्रतिक्रमण, प्रतिलेखना आदि में दोष भी लग सकता है, पर प्रतिमाधारी में दोष की सम्भावना नहीं होती।

दिगम्बर परम्परा[3] के ग्रन्थों के अनुसार पौषध व्रत में सोलह, बारह या आठ प्रहर तक उपवास करने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उस समय आचाम्ल, निर्विकृति आदि से भी पौषध की साधना की जा सकती है। उसमें कुछ शिथिलता भी होती है। पर प्रतिमा में किसी भी प्रकार की कोई शिथिलता नहीं होती। प्रतिमा निरतिचार होती है। यदि शरीर स्वस्थ है तो प्रतिमाधारी श्रावक को सोलह प्रहर का पौषधोपवास करना चाहिए। यदि शरीर अस्वस्थ और अशक्त है तो बारह और आठ प्रहर का भी पौषध किया जा सकता है। पौषधोपवास के दिन गृहस्थ श्रावक श्रमण के समान आरम्भ आदि का परित्याग कर धर्मध्यान करता है।

---

१. चतुरावर्तत्रितयश्चतुरणामः स्थितो यथाजातः।
सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥ –रत्नकरंड श्रावकाचार १३९

२. दशाश्रुतस्कन्ध ६/४

३. (क) श्रावकाचार संग्रह, भाग ४, प्रस्तावना, पृ. ८३
(ख) धर्मरत्नाकर, पृ. ३३६, श्लोक ३२-३३

(५) नियम प्रतिमा–प्रस्तुत प्रतिमा में श्रावक विविध नियमों को ग्रहण करता है। उनमें पाँच बातें प्रमुख हैं–स्नान नहीं करता है रात्रि में चारों प्रकार के आहार का परित्याग करता है, धोती को लाँघ नहीं लगाता है, दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, रात्रि में मैथुन की मर्यादा करता है, एक रात्रि की प्रतिमा का भी भलीभाँति पालन करता है। इस तरह विविध नियमों को वह धारण करता है। एक माह में एक रात्रि कायोत्सर्ग की साधना करता हुआ व्यतीत करता है। इसमें श्रद्धा, धृति, संवेग संहनन के अनुसार धर्म-ध्यान की आराधना की जाती है।

भोज्य पदार्थ के सचित्त और अचित्त ये दो प्रकार हैं। श्रमणधर्म को ग्रहण करने की निर्मल भावना वाला श्रावक जीव-रक्षा के लिए और राग-भाव के परिहारार्थ सचित्त फल, शाक आदि पदार्थों का यावज्जीवन के लिए त्याग करता है। प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक सचित्त जल का उपयोग भी न पीने के लिए करता है, न स्नान के लिए करता है और न वस्त्र प्रक्षालन के लिए करता है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इस प्रतिमा का नाम 'सचित्त त्याग' दिया है। लाटी संहिता[1] में लिखा है कि रोगादि होने पर उसके शमनार्थ रात्रि में गंध-माल्यविलेपन और तेलाभ्यंगन भी नहीं करना चाहिए। पंडितप्रवर दौलतराम जी[2] ने रात्रि में गमनागमन का निषेध किया है तथा अन्य आरम्भ का भी निषेध किया है।

(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा–पाँचवीं प्रतिमा में श्रावक दिवा-मैथुन का त्याग करता है पर रात्रि में इसका नियम नहीं होता। किन्तु प्रस्तुत प्रतिमा में चाहे दिन हो, चाहे रात्रि हो, वह मन, वचन और काया से पूर्णतया अब्रह्म का त्याग करता है। वह पूर्ण जितेन्द्रिय बन जाता है। वह इन्द्रियों के विषय-विकारों में आसक्त नहीं होता।[3]

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इस छठी प्रतिमा का नाम 'रात्रिभुक्ति त्याग' दिया है और उस पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि प्रस्तुत प्रतिमा का सम्बन्ध उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत से है। उपभोग के योग्य पदार्थों में सबसे प्रधान वस्तु है–स्त्री। अतः दिन में मन, वचन और काया से स्त्री-सेवन का परित्याग किया जाता है। प्रतिमा धारण करने के पूर्व भी श्रावक दिन में मैथुन का सेवन नहीं करता किन्तु हास-परिहास के रूप में वह मनोविनोद कर लेता था। किन्तु प्रतिमा धारण करने के पश्चात् उसका भी वह परित्याग कर देता है। दिवा-मैथुन और रात्रिभुक्ति ये दोनों कार्य इस प्रतिमा में होते हैं।

---

१. लाटी संहिता, श्लोक २०, पं. राजमल्ल जी
२. श्रावकाचार, भाग ५, पृ. ३७२-३७३
३. (क) दशाश्रुतस्कन्ध ६/६ (ख) विंशतिका १०/९-११

(७) सचित्तत्याग प्रतिमा–यावज्जीवन के लिए सभी प्रकार के सचित्त आहार का परित्याग कर अचित्त आहार को ग्रहण करता है। आहार प्रत्येक जीवात्मा के लिए आवश्यक है। पर जो आहार भक्ष्य व अचित्त हो, वही प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक ग्रहण कर सकता है। जो आहार सचित्त है, उसे वह ग्रहण नहीं कर सकता, जैसे–गुठलीयुक्त आम, गुठलीयुक्त पिण्डखजूर, बीजयुक्त मुनक्का आदि।

प्रश्न है–सातवें व्रत में सचित्त आहार एक अतिचार माना गया है तो फिर प्रस्तुत प्रतिमा में नई बात क्या है?

उत्तर है–मर्यादा के उपरान्त सचित्त आहार करना अतिचार है जबकि प्रस्तुत प्रतिमा में सचित्त का सर्वथा त्याग होता है। व्रतधारी की अपेक्षा यह अधिक जागरूक होता है तथा इसका त्याग भी अधिक होता है।

(८) आरम्भत्याग प्रतिमा–सचित्त त्याग के पश्चात् सभी प्रकार के सावद्य आरम्भ का त्याग किया जाता है। आरम्भ शब्द जैन परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है–हिंसात्मक क्रिया। श्रमणोपासक संकल्पपूर्वक त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता, किन्तु कृषि, वाणिज्य, अन्य व्यापार और घर-गृहस्थ के कार्यों को करते हुए षट्काय के जीवों की हिंसा हो जाती है। प्रस्तुत प्रतिमा में उन हिंसाओं से बचा जाता है। मन से किसी प्राणी के हनन का विचार करना मानसिक आरम्भ है यानी हिंसा है। इस प्रकार की वाणी का उपयोग करना, जिससे दूसरों का हृदय तिलमिला उठे, वह वाचिक आरम्भ है। शस्त्र आदि के द्वारा या शारीरिक क्रियाओं के द्वारा किसी प्राणी का हनन करना कायिक आरम्भ है। इस तरह मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों आरम्भ का वह त्याग करता है।[1]

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रावक स्वयं आरम्भ का त्याग करता है परन्तु वह सेवक आदि से आरम्भ कराने का त्यागी नहीं होता। उसका आरम्भ का त्याग एक करण, तीन योग से होता है। पुत्र-भृत्य आदि जो व्यापार आदि करते चले आ रहे हैं उन्हें वह रोकता नहीं। आचार्य सकलकीर्ति[2] ने आठवीं प्रतिमाधारी को रथादि के सवारी के त्याग का भी विधान किया है।

(९) प्रेष्य-परित्याग प्रतिमा–प्रस्तुत प्रतिमाधारी सेवक व्यक्तियों से भी किंचित् मात्र भी आरम्भ नहीं कराता है। स्वयं ने तो आरम्भ का परित्याग आठवीं प्रतिमा

---

१. एवं चिय आरंभं वज्जइ सावज्जमट्ठमासं जा।
तप्पडिया पेसेहि वि अण्णं कारेइ उवउत्तो ॥ –*विंशतिका १०/१४*

२. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, श्लो. १०७

में ही ग्रहण किया हुआ होता है। आठवीं प्रतिमा में एक करण तीन योग से आरम्भ का त्याग होता है और इसी नौवीं प्रतिमा में दो करण तीन योग से आरम्भ का त्याग होता है।

प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक जलयान, नभोयान, स्थलयान आदि किसी भी वाहन का उपयोग न स्वयं करता है और न दूसरों को उपयोग करने के लिए कहता ही है। जितने भी गृहस्थ सम्बन्धी कार्य हैं, जैसे–गृह-निर्माण, व्यापार, पचन-पाचन, विवाह आदि जिनमें आरम्भ रहा हुआ होता है, उन्हें वह मन-वचन-काया से न स्वयं करता है, और न दूसरों से करवाता है, किन्तु उसे अनुमोदन का त्याग नहीं होता।

इस प्रतिमा में श्रावक संवर में अधिक रत रहता है। वह अपने अनुचरों पर अनुशासन करना भी बन्द कर देता है। उसके परिग्रह की वृत्ति भी न्यून हो जाती है। परिग्रह की वृत्ति न्यून होने से इस प्रतिमा का अपर नाम परिग्रह-परित्याग भी है।

दिगम्बर परम्परा का मन्तव्य है कि इस प्रतिमा में श्रावक सम्पूर्ण-परिग्रह का परित्याग कर देता है। केवल वस्त्र आदि जो बहुत ही आवश्यक हैं, उन्हें रखता है। पण्डित दौलतराम जी[1] ने अपने क्रिया-कोष ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक काष्ठ और मिट्टी से निर्मित पात्र रख सकता है, धातु पात्र नहीं रख सकता। गुणभूषण[2] ने प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक के लिए वस्त्र के अतिरिक्त सभी प्रकार के परिग्रह-परित्याग का वर्णन किया है।

(१०) उद्दिष्टभक्तत्याग प्रतिमा–नौवीं प्रतिमा में श्रमणोपासक न स्वयं आरम्भ करता है और न दूसरों से आरम्भ करवाता है। पर उसके निमित्त जो आहार आदि तैयार किया हुआ है, उसे वह ग्रहण कर लेता है। किन्तु प्रस्तुत प्रतिमा धारण के बाद अपने निमित्त से बना हुआ आहार आदि भी वह ग्रहण नहीं करता। वह निरन्तर स्वाध्याय और ध्यान में तल्लीन रहता है। वह अपने सिर के बालों का शस्त्र से मुण्डन करवाता है किन्तु चोटी अवश्य रखता है, क्योंकि वह गृहस्थाश्रम का चिन्ह है।[3]

सम्भव है वैदिक परम्परा में वानप्रस्थाश्रमी केश आदि रखते थे। पर दशवीं प्रतिमाधारी श्रावक केश आदि नहीं रख सकता था। शिखा रखने की परम्परा वैदिककाल में प्रचलित थी। कहा जाता है कि भगवान ऋषभदेव ने जब दीक्षा ग्रहण

---

१. क्रिया-कोष, श्रावकाचार, भाग ५, पृ. ३७५

२. गुणभूषण श्रावकाचार, श्रावकाचार भाग २, पृ. ४५४, श्लो. ७३

३. ..... सेणं खुरमुंडए वा सिहा-धारए वा तस्स णं आभट्ठस्स समाभट्ठस्स वा कप्पंति दुवे भासाओ भासित्तए ..... । —दशाश्रुतस्कन्ध ६/१०

की, तब चार मुष्टि लोच किया। पाँचवीं मुष्टि लोच करने वाले ही थे कि इन्द्र की अभ्यर्थना से वह लोच नहीं किया और उसी समय से शिखा रखने की परम्परा प्रचलित हो गई।[1]

प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक की वह विशेषता है कि वह जिसके सम्बन्ध में जानता है तो पूछने पर कहे कि 'मैं जानता हूँ' और यदि नहीं जानता है तो स्पष्ट रूप से कह दे कि 'मैं उसे नहीं जानता'। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' उसे इष्ट है। वह ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करता है जिससे किसी को हानि हो। वह भाषा का पूर्ण विवेक रखता है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस प्रतिमा का नाम अनुमतित्याग प्रतिमा है। जिसका अर्थ है–जो भी आरम्भ आदि के कार्य हैं उनके लिए वह अनुमति भी नहीं देता। वह घर में रहकर भी घर के इष्ट-अनिष्ट कार्यों के प्रति न राग करता है, न द्वेष ही करता है। कमल की तरह निर्लिप्त रहता है। भोजन का समय होने पर भोजन के लिए आमन्त्रित करने पर वह भोजन कर लेता है। भले ही वह भोजन उसके लिए निर्मित हो। किन्तु वह भोजन की अनुमोदना नहीं करता। वह परिमित वस्त्र धारण करता है। अपने निमित्त बने हुए भोजन व वस्त्र के अतिरिक्त वह किसी भी भोगोपभोग सामग्री का उपयोग नहीं करता। जब उसे यह प्रतीत होता है कि घर में रहने से आकुलता रहती है जिससे साधना में बाधा उपस्थित होती है तो वह घर का परित्याग कर निर्ग्रन्थ श्रमणों की सेवा में पहुँच जाता है। भिक्षावृत्ति ग्रहण कर जीवन-निर्वाह करता है। उसके पश्चात् वह मुनि बन जाता है। पुरुषार्थ अनुशासन[2] ग्रन्थ में लिखा है कि दशवीं प्रतिमा का धारक श्रावक सभी पापकृत्यों या गृहारम्भ की अनुमति नहीं देता किन्तु वह पुण्य-कार्यों की अनुमति देता है।

(११) श्रमणभूत प्रतिमा–प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक श्रमण के सदृश जीवन यापन करता है। वह श्रमण के समान निर्दोष भिक्षा, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, समाधि आदि में लीन रहता है। सभी प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करता है। उसकी वेश-भूषा निर्ग्रन्थ की भाँति होती है। वह मुख पर मुखवस्त्रिका, चोलपट्टक, चद्दर तथा रजोहरण आदि जो श्रमण की वेश-भूषा है, उसी तरह धारण करता है। यदि शरीर में शक्ति हो तो दाढ़ी-मूँछ आदि का लुञ्चन करता है और शक्ति के अभाव में उस्तरे आदि से भी मुण्डन करवा सकता है। पंच समिति का परिपालन करता है। वह श्रमण की भाँति हर घर से भिक्षा नहीं लेता किन्तु स्वज्ञाति और स्वघरों से भिक्षा ग्रहण करता है पर अज्ञात कुल से नहीं। जब वह किसी गृहस्थ

१. कल्पसूत्र, ऋषभाधिकार

२. पुरुषार्थानुशासन–भावसंग्रह, श्लोक ६०-७०, पं. गोविन्द

के घर पर भिक्षा के लिए जाता है तब वह कहता है–प्रतिमा-प्रतिपन्न श्रमणोपासक को भिक्षा दो। वह श्रमण की तरह मौन होकर भिक्षा के लिए नहीं जाता। बोलने की जो बात कही गई है वह इसलिए है कि श्रमणोपासक और श्रमण के वेश एक सदृश होने से कहीं श्रमणोपासक को श्रमण न समझ लिया जाये। इसलिए वह स्पष्टीकरण करता है। दूसरी बात यह है कि वह श्रमणोपासक है। अभी तक वह श्रमण नहीं बना है। श्रमणोपासक होने के नाते किसी के घर में प्रविष्ट होना उचित नहीं। प्रतिमाधारी होने के कारण यदि आहार आदि के लिए प्रविष्ट होता है तो वह स्पष्ट शब्दों में कह देता है कि मैं श्रमणोपासक हूँ, आहार आदि के लिए आया हूँ।

दशाश्रुतस्कन्ध[1] के अनुसार ग्यारहवीं प्रतिमा सम्पन्न कर श्रमणोपासक श्रमण बन जाता है। आचार्य हरिभद्र[2] का मन्तव्य है कि कितनी ही बार संक्लेश बढ़ जाने से श्रमण न बनकर गृहस्थ भी हो जाता है।

दिगम्बर परम्परा में ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम उद्दिष्टत्याग है। वहाँ ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक और ऐलक ये दो भेद[3] किये हैं। क्षुल्लक एक ही वस्त्र रखता है। वह मुनियों की तरह खड़े-खड़े भोजन नहीं करता। उसके लिए आतापन योग, वृक्षमूल योग प्रभृति योगों की साधना का भी निषेध है। वह क्षौर-कर्म से मुण्डन भी करवा सकता है और लोच भी। पाणि-पात्र में भी भोजन कर सकते हैं और काँसी के पात्र आदि में भी। कोपीन लगाता है। इसलिए वह क्षुल्लक कहलाता है।

दूसरा भेद 'ऐलक' है। ऐलक शब्द ग्यारहवीं प्रतिमाधारक नाममात्र का वस्त्र धारण करने वाले उत्कृष्ट श्रावक के लिए व्यवहृत होने लगा। वह केवल कोपीन के अतिरिक्त सभी प्रकार के वस्त्रों का परित्यागी होता है। साथ ही मुनियों की तरह खड़े-खड़े भोजन करता है, केश लुञ्चन करता और मयूर पिच्छी रखता है। ऐलक के अर्थ में ही भिक्षुक, ईषत् मुनि, देशयति, कहा जाने लगा।

आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, स्वामी कार्तिकेय, सोमदेव, अमितगति प्रभृति अनेक आचार्यों ने ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेद नहीं किये हैं। आचार्य वसुनन्दी, पं. आशाधर जी, मेधावी, गुणभूषण आदि अनेक विज्ञों ने दो भेद किये हैं। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक के लिए आचार्य सकलकीर्ति[4] ने केवल मुहूर्त

---

१. दशाश्रुतस्कन्ध ६/११

२. आसेविऊण एयं कोई पव्वयइ तह गिही होइ।
तब्भावभेयओ च्चिय विसुद्धिसंकिसभेएणं ॥ –विंशतिका १०/१८

३. देखिए–वसुनन्दी श्रावकाचार, सागारधर्मामृत पं. आशाधर, धर्मसंग्रह मेधावी, गुणभूषण श्रावकाचार आदि

४. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, श्लोक ११०, पृ. ४३४

प्रमाण निद्रा लेने का उल्लेख किया है। लाटी संहिता[1] में क्षुल्लक के लिए कांस्य या लोह-पात्र में भिक्षा लेने का विधान है। तो सकलकीर्ति[2] ने सर्वधातु का कमण्डलु और छोटा पात्र यानी थाली रखने का विधान किया है।

प्रतिमाओं की काल मर्यादा

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार प्रथम प्रतिमा का उत्कृष्ट काल एक मास है, द्वितीय का दो मास है, तृतीय का तीन मास है, चतुर्थ का चार मास है, पंचम का पाँच मास है, षष्ठम का छह मास है, सप्तम का सात मास है, अष्टम का आठ मास है, नवम का नौ मास है, दशम का दस मास है और एकादश का ग्यारह मास है।[3] इस तरह ६६ मास के पश्चात् उस प्रतिमाधारी श्रावक को श्रमण बन जाना चाहिए। इसका स्पष्ट उल्लेख दशाश्रुतस्कन्ध में है। उपासकदशांग सूत्र के अनुसार समाधिकरण का भी उल्लेख है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में नियत समय का कोई उल्लेख नहीं है। श्रावक अपने सामर्थ्य को निहारकर और प्रतिमा को स्वीकार करने के पश्चात् यह अनुभव करे कि मैं आगे की प्रतिमा को स्वीकार करने में सक्षम हूँ तो वह अगली प्रतिमा स्वीकार करता है। जीवन की सान्ध्य-वेला में या तो वह श्रमण बन जाता है अथवा समाधिमरण स्वीकार कर आयु पूर्ण करता है।

दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावकों को तीन विभागों में विभक्त किया है—गृहस्थ, वर्णी-ब्रह्मचारी तथा भिक्षु। पहली से छठी प्रतिमा तक गृहस्थ, सातवीं, आठवीं और नवमीं प्रतिमाधारी वर्णी और अन्तिम दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी को भिक्षु की संज्ञा प्रदान की है। कितने ही आचार्यों ने इन्हें जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट श्रावक की संज्ञा से भी अभिहित किया है। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी परमोत्कृष्ट श्रावक कहलाता है आचार्य वसुनन्दी[4] ने अपने उपासकाध्ययन ग्रन्थ में लिखा है कि वह भिक्षा-पात्र ग्रहण कर अनेक घरों से भिक्षा माँगकर या एक स्थान पर बैठकर भोजन करे।

श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में

प्रतिमाओं के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में वर्णन है। अंगसूत्रों में समवायांग में ११ प्रतिमाओं का वर्णन है। उपासकदशांग-सूत्र में व्रतों का विश्लेषण हुआ है किन्तु प्रतिमाओं के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन

---

१. लाटी संहिता, श्लो. ६४
२. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, श्लो. ३४-४१-४२
३. दशाश्रुतस्कन्ध ६/१-११
४. वसुनन्दी श्रावकाचार

नहीं है। दशाश्रुतस्कन्ध में ग्यारह प्रतिमाओं का विस्तार से वर्णन मिलता है। आचार्य हरिभद्र ने विंशिका में प्रतिमाओं के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में व्रत और उनके अतिचारों का विश्लेषण किया है किन्तु प्रतिमाओं के वर्णन के सम्बन्ध में वे मौन रहे हैं। तत्त्वार्थसूत्र के सभी टीकाकार चाहे वे श्वेताम्बर परम्परा के रहे हों या दिगम्बर परम्परा के रहे हों, उन्होंने प्रतिमाओं का कोई उल्लेख नहीं किया है। इसी तरह दिगम्बर परम्परा के पूज्यपाद[१], अकलंक[२], विद्यानन्दी[३], शिवकोटि[४], रविषेण[५], जटासिंह नन्दी[६], जिनसेन[७], पद्मनन्दी[८], देवसेन[९], अमृतचन्द्र[१०] आदि ने श्रावक के व्रतों के सम्बन्ध में चिन्तन किया, किन्तु प्रतिमाओं के सम्बन्ध में नहीं। दूसरी परम्परा यह भी रही है कि उन्होंने व्रतों के साथ प्रतिमाओं का उल्लेख ही नहीं किया, किन्तु विस्तार से निरूपण भी किया। उनमें आचार्य समन्तभद्र[११], सोमदेव[१२], अमितगति[१३], वसुनन्दी[१४], पं. आशाधर[१५], मेधावी[१६], सकलकीर्ति[१७] प्रभृति के नाम विशेष रूप से लिए जा सकते हैं।

उपासकदशांगसूत्र में वर्णन है कि आनन्द आदि श्रावकों ने पहले व्रतों की आराधना की। उसके पश्चात् प्रतिमाओं की। भगवतीसूत्र में कार्तिक सेठ का एक प्रसंग है। वे एक हजार आठ व्यापारी निगम के प्रथमासनिक (नगराध्यक्ष) थे। उन्होंने पाँचवीं प्रतिमा का एक सौ बार पालन किया था। एक बाल तपस्वी उनसे नमस्कार कराना चाहता था। राजा के कहने से कार्तिक श्रेष्ठी की पीठ पर गर्मागर्म खीर रखकर खाई। जिसके फलस्वरूप उनकी पीठ पर छाले हो गये। किन्तु उपसर्ग को शान्त भाव से सहन करने के कारण वे प्रथम देवलोक के देव बने।

प्रतिमा : एक चिन्तन

प्रतिमाएँ वही श्रावक ग्रहण करता है जिसे नवतत्त्व की सम्यक् जानकारी होती है। जब तक जानकारी न हो तब तक प्रतिमाओं का सम्यक् पालन नहीं हो सकता।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र–सर्वार्थसिद्धि
२. तत्त्वार्थसूत्र–राजवार्तिक
३. तत्त्वार्थसूत्र–श्लोकवार्तिक
४. रत्नमाला
५. पद्मचरित
६. वरांगचरित
७. हरिवंशपुराण
८. पंचविंशतिका
९. भावसंग्रह (प्राकृत)
१०. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
११. रत्नकरण्ड श्रावकाचार
१२. उपासकाध्ययन
१३. अमितगति श्रावकाचार
१४. वसुनन्दी श्रावकाचार
१५. सागार धर्मामृत
१६. धर्मसंग्रह श्रावकाचार
१७. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

कितने ही विचारकों का यह अभिमत है कि प्रथम प्रतिमा में एक दिन उपवास और दूसरे दिन पारणा, द्वितीय प्रतिमा में बेले-बेले पारणा, इसी तरह क्रमशः तेले-तेले, चौले-चौले से लेकर ग्यारह तक तप कर पारणा किया जाये। पर उन विचारकों का कथन किसी आगम या परवर्ती ग्रन्थों से प्रमाणित नहीं है। आनन्द आदि श्रावकों ने प्रतिमाओं के आराधन के समय तप आदि अवश्य किया। पर इतना ही तप करना चाहिए इसका स्पष्ट निर्देश वहाँ नहीं है। कितने ही विचारकों का यह भी मानना है कि वर्तमान में कोई भी श्रावक प्रतिमाओं की आराधना नहीं कर सकता। जैसे भिक्षु-प्रतिमा का विच्छेद हो गया है वैसे ही श्रावक-प्रतिमा का भी विच्छेद हो गया। उन विचारकों की बात चिन्तनीय अवश्य है। श्रमण-प्रतिमा में जो कठोर और उग्र साधना है, वैसी कठोर और उग्र साधना श्रावक-प्रतिमाओं में नहीं है और न श्रावक-प्रतिमाओं के विच्छेद का उल्लेख ही है। श्रावक-प्रतिमा वज्रऋषभ नाराच संहनन वाला ही धारण करता हो, ऐसा भी कहीं उल्लेख नहीं है। हमारे अपने अभिमतानुसार वर्तमान में भी श्रावक-प्रतिमा धारण की जा सकती है। आवश्यकता है कि निरतिचार पालन किया जाये। विशुद्धतापूर्वक बिना आगार रखे, अतिचाररहित, जो प्रतिज्ञा पालन की जाती है, उसके अर्थ में भी प्रतिमा शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे भगवान महावीर ने भद्र प्रतिमा, सुभद्र प्रतिमा, महाभद्र प्रतिमा आदि धारण की थीं।

● ●

१७. आत्म-शोधन की प्रक्रिया : तप

श्रमण संस्कृति का आधार : श्रमण

श्रमण संस्कृति तपःप्रधान संस्कृति है। तप श्रमण संस्कृति का प्राण तत्त्व है, जीवन की श्रेष्ठ कला है, आत्मा की अन्तःस्फूर्त पवित्रता है, जीवन का दिव्य आलोक है, आत्म-शोधन की प्रक्रिया है। तप की महिमा और गरिमा का जो गौरव गान श्रमण संस्कृति ने गाया है वह अपूर्व है, अनूठा है।

श्रमण संस्कृति का आधार श्रमण है। जैन आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर श्रमण शब्द व्यवहृत हुआ है जिसका अर्थ साधु है। श्रमण शब्द के तीन रूप होते हैं–समन, शमन और श्रमण। 'समन' का अर्थ समता भाव है, 'शमन' का अर्थ अपनी वृत्तियों को शान्त करना है और 'श्रमण' शब्द 'श्रम' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'श्रम करना'। जो मोक्षमार्ग अथवा आत्मशुद्धि में परिश्रम और मेहनत करता है वह श्रमण है। आचार्य हरिभद्र[1] ने दशवैकालिक वृत्ति में तपस्वी का अपर नाम 'श्रमण' दिया है। जो साधक साधना में श्रम करता है, तपःसाधना करता है, तप से शरीर को खेद-खिन्न करता है[2], क्षीणकाय है, जो अपने ही श्रम से उत्कर्ष की प्राप्ति करता है, वह श्रमण है। वस्तुतः श्रमण शब्द तपस्वी का वाचक है। जैन श्रमण कठोर तप का जीवन्त प्रतीक है, उसके जीवन का मूल-मंत्र तप है, तप ही उसका धर्म है, वह आत्मसाधना के लिए, अन्तरात्मा से परमात्मा बनने के लिए, और जन से जिन बनने के लिए कठोर श्रम करता है। जैसे तन में ऊष्मा जीवन के अस्तित्व का प्रतीक है वैसे ही साधना में तप भी उसके दिव्य और भव्य अस्तित्व को अभिव्यक्त करता है। वह आध्यात्मिक ऊष्मा है। तप निग्रह नहीं, अनुग्रह है; दमन नहीं, शमन है। वह एक अद्‌भुत साधना है। ऐसी साधना जिससे जीवन में आध्यात्मिक परिपूर्णता प्राप्त होती है।

इसीलिए श्रमण संस्कृति ने तप को धर्म माना है। तप के अभाव में धर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं है। स्थानांग[3], समवायांग[4] में दस विध धर्म का उल्लेख है,

---

१. श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः। –दशवैकालिकवृत्ति १/३
२. श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा सूत्रकृतांग १/१६/१ शीलांक टीका, पत्र २६३
३. स्थानांग १०/७१२
४. समवायांग, समवाय १०

उसमें तप भी एक है। कोई भी साधना पद्धति तपःशून्य नहीं हो सकती। जैसे सूर्य और अग्नि का ताप मलों की विशुद्धि करता है, वैसे ही तप भी मलों का शोधन करता है। शरीर, वचन और मन की निर्मलता, पवित्रता, सहिष्णुता और स्थिरता एक उत्कृष्ट तप है जिससे अन्तश्चेतना पर अनन्तकाल से जमा हुआ मल शनैः-शनैः पिघलकर बहने लगता है। तप आत्मा के साथ प्रगाढ़ रूप से चिपके हुए कर्मों का सम्बन्ध विच्छेद करता है। तप तन की, मन की सहिष्णुता बढ़ाता है।

तप उत्कृष्ट मंगल है

जैन आगम साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर सूर्य के उजाले की तरह यह स्पष्ट करता है कि श्रमण संस्कृति का श्रमण श्रमणत्व को स्वीकार कर सर्वप्रथम आगम साहित्य का अध्ययन करता है और उसके पश्चात् उत्कृष्ट तपःकर्म का आचरण करता है।[1] सभी तीर्थंकर तप के साथ ही प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं।[2] तप के साथ ही उन्हें केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होता है और उसके बाद ही पावन-प्रवचन भी प्रारम्भ करते हैं। तीर्थंकर ही नहीं, अतीतकाल में जो भी प्रव्रज्या ग्रहण करता था वह तप के साथ ही प्रव्रजित होता था; क्योंकि तप मंगल ही नहीं, उत्कृष्ट मंगल है।

भगवान ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में तप की साधना की थी।[3] शेष बावीस तीर्थंकर भी छद्मस्थ अवस्था में तप करते रहे हैं। भगवान महावीर ने बारह वर्ष और तेरह पक्ष[4] तक उत्कृष्ट तप की साधना की थी। इस दीर्घ अवधि में उन्होंने केवल ३४९ दिन आहार ग्रहण किया था[5], शेष दिन वे निर्जल और निराहार रहे थे। आचारांग, आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि और उसके पश्चात् जितने भी भगवान महावीर के सम्बन्ध में लिखे हुए चरित्र ग्रन्थ हैं, उनमें भगवान महावीर के उग्र तप का रोमांचकारी वर्णन प्राप्त होता है। उसे पढ़कर सभी प्रबुद्ध पाठक विस्मित हो जाते हैं। आचार्य भद्रबाहु[6] ने यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा भगवान महावीर का तपःकर्म अति उग्र था।

---

१. (क) भगवती ९-३३ (ख) वही २/१/९०६
२. (क) समवायांग १-९-८ (ख) आवश्यक निर्युक्ति, गा. २५०
   (ग) उत्तरपुराण, पर्व ९१, श्लोक ७०, पृ. ३०
३. (क) कल्पसूत्र १९६ (ख) जंम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ४०-४१
४. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ५२६-५३५
   (ख) आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति प. २२७-२२९
   (ग) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र १०/४/६५२-६५७
   (घ) महावीरचरियं-गुणचन्द्र ७/१-८, प. २५०
५. आवश्यक निर्युक्ति, ५३४
६. वही गा. २४०

भगवान महावीर के जीवन का तलस्पर्शी अध्ययन करने पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वे तपोविज्ञान के एक अद्वितीय महापुरुष थे। उन्होंने अपने समय में प्रचलित देहदमन रूप बहिर्मुख तप का आन्तरिक साधना के साथ सामंजस्य स्थापित किया और उसे आन्तरिक और व्यापक रूप प्रदान किया। वे तपःसाधना के महान् संस्कर्ता और साथ ही पुरस्कर्ता भी थे। भगवान महावीर की अनेक अमूल्य देनों में तप विषयक देन भी कम महत्त्व की नहीं है।[1]

तप में शूर : अनगार

स्वयं भगवान महावीर ही नहीं, उनके शिष्य और शिष्याएँ भी उत्कृष्ट तप की आराधना व साधना करती रहीं। आगम साहित्य के पृष्ठों पर उनके तप की एक लम्बी सूची प्राप्त होती है।[2] जैनागमों की तरह बौद्ध वाङ्मय में भी अनेक स्थलों पर महावीर के शिष्यों के लिए 'निगंठ' के साथ 'तपस्वी', 'दिघग्तपस्सी' प्रभृति विशेषण प्रयुक्त हुए हैं[3]। तवस्सूरा अणगारा[4] अनगार तप में शूर होते हैं–यह जैन परंपरा का एक सुप्रसिद्ध वाक्य रहा है। भगवती आदि आगमों में जैन श्रमणों के लिए जहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र संपन्न विशेषण प्रयुक्त हुए हैं वहाँ पर उन्हें तपसंपन्न भी कहा गया है।

जीवनोत्थान का प्रशस्त पथ : तप

तप जीवनोत्थान का प्रशस्त पथ है। तप की उत्कृष्ट आराधना और साधना से तीर्थंकर जैसे गौरवपूर्ण पद की भी उपलब्धि होती है। यदि हम सभी तीर्थंकरों के पूर्वभवों का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि सभी तीर्थंकरों ने अपने पूर्वभव में तप की महान् साधनाएँ की थीं। आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि[5] और समवायांग वृत्ति[6] के अनुसार भगवान महावीर के जीव ने नन्दन के भव में एक लाख वर्ष तक निरन्तर मासखमण की तपस्या की थी। इन मासखमणों की संख्या ११,६०,००० थी।[7]

---

१. देखिए–भगवान महावीर : एक अनुशीलन, ले. देवेन्द्र मुनि शास्त्री

२. (क) अनुत्तरोपपातिक सूत्र, वर्ग तीसरा
(ख) अन्तकृद्दशांग, वर्ग ६-३, वर्ग ८-१-१०

३. उग्गतवे, दिग्घतवे, तत्ततवे, महातवे, ओराले घोरे घोरगुणे घोर तवस्सी।
–भगवती, शतक १, उ. ३

४. आवश्यक निर्युक्ति, गा. ४५०

५. आवश्यकचूर्णि, पृ. २३५, जिनदासगणी महत्तर

६. समवायांग, अभयदेववृत्ति १३६

७. कल्पसूत्र टीका

शब्द रचना की दृष्टि से तप शब्द 'तप्' धातु से बना है जिसका अर्थ 'तपना' है। आचार्य अभयदेव[1] ने स्थानांग वृत्ति में निरुक्त की दृष्टि से तप का निरूक्त इस प्रकार किया है–जिस साधना से रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तप जाते हैं–सूख जाते हैं या अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं, जल जाते हैं वह तप है।" सुप्रसिद्ध टीकाकार मलयगिरि[2] ने लिखा है–"जो आठ प्रकार के कर्म को तपाता है, उन्हें नष्ट करने में समर्थ हो, वह तप है।" आचार्य जिनदासगणी महत्तर[3] ने तप की परिभाषा करते हुए कहा है–"जिस साधना-आराधना से पापकर्म तप जाते हैं, आठ प्रकार की कर्मग्रंथियों को जो तपाता है–नाश करता है वह तप है।"

चिलचिलाती धूप से पानी सूख जाता है। भयंकर गर्मी से ठण्ड भाग जाती है। वैसे ही कर्मरूपी जल को तप सुखा देता है। भवरूपी सनसनाती शीत को नष्ट कर देता है। तप वह ज्वाला है जिससे अनन्तकाल से जो विकार अन्तर्मानस में पनप रहे होते हैं वे सब जलकर नष्ट हो जाते हैं। तप वह दिव्य ज्योति है जो अन्तर्मानस के गहन अंधकार को एक क्षण में नष्ट कर देती है। तप में केवल अशन, पान, खादिम और स्वादिम का निरोध ही नहीं होता, वासना और विकारों का भी निरोध होता है।

एक आचार्य ने तप की महत्त्वपूर्ण परिभाषा करते हुए लिखा है–तप से इच्छाओं का निरोध होता है। इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त हैं। उन अनन्त इच्छाओं को रोकने का, निरुन्धन करने का कार्य तप करता है।[4] तप से सभी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। जब तक इच्छाएँ नहीं रुकतीं वहाँ तक तप नहीं है। मन में उद्दाम इच्छाएँ पनप रही हों और ऊपर से यदि त्याग कर भी दिया गया है तो वस्तुतः वह त्याग नहीं है; वह तप नहीं, ताप है।

सिद्धियों का मूल : तप

नीतिवाक्यामृत में आचार्य सोमदेव[5] ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–पाँच इन्द्रियों–स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और छठा मन; इनको वश में करना, इन पर संयम

---

१. रस-रुधिर-मांस-मेदास्थि-मज्जा-शुक्राण्यनेन तप्यन्ते–कर्माणि वाऽशुभानीत्यतस्तपो नाम निरुक्त। –स्थानांगवृत्ति ५/१, पत्र २८३

२. आवश्यक मलयगिरि, खण्ड २, अध्ययन १

३. (क) तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो। –निशीथचूर्णि ४६
(ख) तापयति अष्ट प्रकारं कर्म इति तपः। –दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पृ. १५

४. इच्छानिरोधस्तपः।

५. इन्द्रियमनसो नियमानुष्ठानं तपः। –नीतिवाक्यामृत १/२२

रखना, इच्छाओं पर पूर्ण रूप से अंकुश लगाना तप है। तप धर्मसाधना का प्राण है। इस विराट् विश्व में जितनी भी शक्तियाँ हैं, विभूतियाँ हैं और लब्धियाँ हैं, वे तप से संप्राप्त होती हैं। एतदर्थ ही एक आचार्य ने कहा है–"तपोमूला हि सिद्धयः।" समस्त सिद्धियाँ तपमूलक हैं। आचार्य नेमिचन्द्र ने स्पष्ट रूप से लिखा है–जितनी भी लब्धियाँ हैं वे तप से ही संप्राप्त होती हैं। तप से आत्मा में एक अद्भुत तेज का संचार होता है।

गणधर गौतम को जो अद्भुत लब्धियाँ उपलब्ध हुई थीं, उसका मूल भी तप था। चक्रवर्ती सम्राट् षट्खण्ड पर विजय वैजयन्ती फहराने के लिए तप की साधना करते हैं। वे तीन दिन तक निर्जल तप एक बार नहीं, तेरह बार करते हैं। किसी भी कठिन व अभीष्ट कार्य की पूर्ति हेतु वे तप की आराधना करते हैं। चक्रवर्ती ही नहीं, वासुदेव भी अपने कार्य की सिद्धि के लिए तप की आराधना करते हैं। तप में वह शक्ति है जिसके कारण देवता भी नत हो जाते हैं। तप से आत्मा में जो प्रचंड शक्ति उद्भूत होती है उसके सामने देवता तो क्या इन्द्र भी उस तपस्वी के चरणों की धूल लेने के लिए लालायित रहते हैं। इसीलिए योगवाशिष्टकार[1] ने कहा है कि इस विराट् विश्व में जो सर्वाधिक दुष्प्राय वस्तु है वह तप के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

कर्म आवरणों के क्षय होने पर जो अपूर्व शक्ति उपलब्ध होती है वह लब्धि या सिद्धि कहलाती है। जैसे उमड़-घुमड़कर नभमंडल को आच्छादित कर देने वाली काली कजरारी घटाएँ दाक्षिणात्य पवन चलते ही छिन्न-भिन्न हो जाती है जिससे सूर्य की चमचमाती किरणें चमकने लगती हैं वैसे ही तप से कर्म के बादल छँटने से आत्म-शक्ति का आलोक जगमगाने लगता है। आचार्य नेमिचन्द्र[2] ने कहा है–परिणामों की विशुद्धता, चारित्र की अतिशयता व महान् तप के आचरण से लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। लब्धियाँ विशुद्ध आत्म-शक्ति हैं, वे ही तप से सहज उपलब्ध होती हैं। उसके लिए पृथक् प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती। लब्धियों के लिए न देव-शक्ति की आवश्यकता है और न मंत्र-शक्ति की जरूरत है। आचार्य पतंजलि[3] ने लब्धियों को 'विभूतियाँ' कहा है और बौद्ध दर्शन ने 'अभिज्ञा' कहा है। तप के द्वारा जो महान् शक्ति प्राप्त होती है वही लब्धि, विभूति या अभिज्ञा है।

---

१. योगवाशिष्ठ ३/६८/१४

२. परिणाम तववसेण इमाइं हुंति लद्धीओ। –*प्रवचनसारोद्धार द्वार २७०, गाथा १४९५*

३. योगदर्शन २/३६

तप और लब्धियाँ

आगमोत्तरवर्ती ग्रन्थों में लब्धियों का विस्तार से वर्णन है। भगवतीसूत्र में ज्ञानलब्धि, दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि, चरित्राचारित्रलब्धि, दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, वीर्यलब्धि और इन्द्रियलब्धि–ये दस लब्धियाँ बताई गई हैं। इन लब्धियों के विकास में तप का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। यों तो एकेन्द्रिय आदि में भी सूक्ष्म रूप से लब्धियाँ रहती हैं; किन्तु तपःसाधना से उन लब्धियों में अधिकाधिक विकास होता है और वे लब्धियाँ फल प्रदान करने में पूर्ण सफल होती हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र[1] ने अट्ठाईस लब्धियों का उल्लेख किया है। संक्षेप में वे लब्धियाँ इस प्रकार हैं–

(१) आमोसहि–प्रस्तुत लब्धिधारक साधक अपने स्पर्श से रोगी को पूर्ण स्वस्थ कर देता है। सर्वप्रथम वह अपने अन्तर्मानस में यह दृढ़ संकल्प करता है कि यह रोगी मेरे स्पर्श से पूर्ण स्वस्थ हो जाय। प्रस्तुत संकल्प करते ही रोगी उसी क्षण उसके स्पर्श से रोगमुक्त हो जाता है।

(२) विप्पोसहि–तप से तपस्वी को ऐसी विशिष्ट लब्धि प्राप्त होती है कि उसके मल-मूत्र में से सुगन्ध आने लगती है और उसके मल-मूत्र के स्पर्श से रुग्ण व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ हो जाता है।

(३) खेलोसहि–तपस्वी के श्लेष्म, खँखार व थूक के लेप से रोगी रोगमुक्त हो जाता है।

(४) जल्लोसहि–प्रस्तुत लब्धिधारक श्रमण के कान, मुख, नाक, जीभ, आँख आदि के मैल को लगाने से रोगी रोगमुक्त हो जाता है। उसके इन मलों में भी सुगन्ध आती है।

(५) सव्वोसहि–प्रस्तुत लब्धिधारक श्रमण का सम्पूर्ण शरीर ही औषधिमय हो जाता है। उसका शरीर अमृत सदृश होता है। जिसको भी वह स्पर्श करता है या उसके शरीर की किसी भी वस्तु से व्यक्ति रोगमुक्त हो सकता है।

(६) संभिन्नस्रोतलब्धि–प्रत्येक मानव एक-एक इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करता है, परन्तु प्रस्तुत लब्धि के प्रभाव से तपस्वी की इन्द्रियों का भेद समाप्त हो जाता है। उसके शरीर के सारे स्रोत भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, खुल जाते हैं जिससे वह प्रत्येक इन्द्रिय से पाँचों इन्द्रिय के विषय को ग्रहण कर सकता है।

---

१. प्रवचनसारोद्धार द्वार २७०, गाथा १४९२-१४९५

(७) अवधिलब्धि–प्रस्तुत लब्धि वाला सूक्ष्म, दूरस्थ और व्यवहित पदार्थों को जान लेता है। प्रस्तुत लब्धि से अवधिज्ञान की उपलब्धि होती है।

(८) ऋजुमतिलब्धि–इस लब्धि से अढाई द्वीप में अढ़ाई अंगुल कम क्षेत्र में रहने वाले संज्ञी प्राणियों के अन्तर्मानस के भावों को जान लेता है। प्राणी जो भी चिन्तन करता है, उसका ज्ञान प्रस्तुत लब्धि वाला कर लेता है।

(९) विपुलमतिलब्धि–प्रस्तुत लब्धि वाला सम्पूर्ण अढाई द्वीप में रहने वाले संज्ञी प्राणियों के अन्तर्मानस के भावों को भलीभाँति जान लेता है। उनके सूक्ष्म विचारों का भी उसे ज्ञान हो जाता है।

(१०) चारणलब्धि–प्रस्तुत लब्धि के द्वारा तपस्वी को आकाश में गमनागमन की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है। चारण शब्द का अर्थ रूढ़ है। आकाशगामिनी शक्ति के रूप में जैन साहित्य में यत्र-तत्र उसका उल्लेख है। इसके जंघाचारण और विद्याचारण–ये दो भेद हैं। जंघाचारण लब्धिधारक जंघा के बल से आकाश में गमन करता है और विद्याचारण लब्धिधारक विद्या के बल से आकाश में गमन करता है। जंघाचारण लब्धि निरन्तर अष्टम-अष्टम की तपस्या से प्राप्त होती है और विद्याचारण षष्ठ-षष्ठ तप से उपलब्ध होती है। जंघाचारण से विद्याचारण की शक्ति कम होती है। जंघाचारण लब्धि वाला तीन बार पलक झपकने के जितने अल्प समय में एक लाख योजन विस्तार वाले जम्बूद्वीप के चारों ओर २१ बार चक्कर लगा सकता है जबकि विद्याचारण लब्धि वाला इतने समय में सिर्फ तीन बार ही चक्कर लगा सकता है।

(११) आशीविषलब्धि–प्रस्तुत लब्धि से वाणी में एक प्रकार का विष पैदा हो जाता है। वह यदि किसी को भी शाप देता है तो वह उसी क्षण प्रभाव दिखाता है। उसका वचन विष की तरह दूसरे के प्राणों का अपहरण कर लेता है।

(१२) केवलज्ञानलब्धि–प्रस्तुत लब्धि से केवलज्ञान, केवलदर्शन उपलब्ध होता है।

(१३) गणधरलब्धि–प्रस्तुत लब्धि का धारक गणधर जैसे गौरवपूर्ण पद को संप्राप्त होता है।

(१४) पूर्वधरलब्धि–प्रस्तुत लब्धि से चौदह पूर्व का ज्ञान होता है या कम से कम ९ पूर्व की तीसरी आचार वस्तु का ज्ञान होता है।

(१५) अर्हत्लब्धि–इससे केवलज्ञान प्राप्त होता है। पर सभी केवली अर्हन्त नहीं होते। जिन केवलज्ञानियों को अर्हत् लब्धि प्राप्त होती है वे ही अरिहन्त होते हैं। (अरिहन्त = तीर्थंकर)

(१६) चक्रवर्तीलब्धि–प्रस्तुत लब्धि से चौदह रत्न उपलब्ध होते हैं जिससे वह षट्खण्ड पर विजय वैजयन्ती फहराता है।

(१७) बलदेवलब्धि–प्रस्तुत लब्धि वाले को १० लाख अष्टापद का बल प्राप्त होता है।

(१८) वासुदेवलब्धि–प्रस्तुत लब्धि वाला २० लाख अष्टापद-बल का स्वामी होता है। वह महापराक्रमी होता है और तीन खंड धरा का अधिपति बनता है।

(१९) क्षीरमधुसर्पिराश्रवलब्धि–प्रस्तुत लब्धि वाले के वचन श्रवण करने वाले को दूध के समान, मधु के समान और घी के समान मधुर और सरस प्रतीत होते हैं।

(२०) कोष्टबुद्धिलब्धि–जिस प्रकार कोष्ट में डाला हुआ धान्य चिरकाल तक ज्यों का त्यों रहता है वैसे ही प्रस्तुत लब्धिधारी व्यक्ति की बुद्धि सूत्र और अर्थ को ज्यों का त्यों धारण कर लेती है। आधुनिक युग में उसकी बुद्धि की तुलना किसी अंश तक टेपरिकॉर्डर के साथ की जा सकती है।

(२१) पदानुसारीलब्धि–प्रस्तुत लब्धि से सूत्र के एक पद को श्रवण करने मात्र से ही सम्पूर्ण पदों का परिज्ञान हो जाता है।

(२२) बीजबुद्धिलब्धि–प्रस्तुत लब्धि के प्रभाव से एक सूत्र व अर्थ के प्रधान शब्द को श्रवण कर सम्पूर्ण अर्थ का ज्ञान हो जाता है। जैसे गणधर उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा–इन तीन पदों को श्रवण कर द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

(२३) तेजोलब्धि–प्रस्तुत लब्धि से आत्मा की तेजःशक्ति जाग्रत होती है। यह लब्धि छह माह तक निरन्तर छठ-छठ तप करने से प्राप्त होती है।

(२४) आहारकलब्धि–चौदह पूर्वधारी मुनि इसे प्राप्त कर सकता है। किसी के पूछने या स्वयं के मानस में ही किसी तत्त्व के विषय में संशय उत्पन्न होने पर इस लब्धि का धारक अपने आत्म-प्रदेशों से एक स्फटिक-सा उज्ज्वल एक हाथ का पुतला बनाकर तीर्थंकर के पास भेजकर उनसे समाधान प्राप्त कर लेता है तथा प्रश्नकर्त्ता को उत्तर दे देता है।

(२५) शीतल-तेजोलब्धि–यह तेजोलब्धि की प्रतिपक्षी लब्धि है। इसका धारक करुणा भरी दृष्टि से निहारकर संतृप्त जीव की रक्षा करता है। इसके द्वारा तेजोलेश्या के प्रभाव को भी नष्ट किया जा सकता है।

(२६) वैक्रियदेहलब्धि–इस लब्धि का धारक अपने शरीर के सैकड़ों रूप बना लेता है और सैकड़ों स्थान पर एक स्थान दिखाई पड़ सकता है।

(२७) अक्षीणमहानसलब्धि–इस लब्धि के प्रभाव से थोड़े से भोजन से ही लाखों प्राणियों को भोजन कराया जा सकता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक लब्धिधारी उसमें से कुछ न खाए। उसके एक ग्रास भी ले लेने पर भोजन समाप्त हो जाता है।

(२८) पुलाकलब्धि–यह लब्धि केवल मुनि को ही प्राप्त होती है और इसके प्रभाव से समृद्धि व बल प्राप्त कर वह चक्रवर्ती की विराट् सेना का भी पराभव कर सकता है।

उपर्युक्त सभी लब्धियाँ चारित्र और तप के द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। वस्तुतः कर्म-निर्जरा ही तप का मूल फल है जिससे आत्म-शक्ति विकसित होती है।

औपपातिकसूत्र[1] में श्रमणों की आध्यात्मिक शक्तियों का वर्णन करते हुए बताया है कि वे महान् शक्ति-सम्पन्न होते हैं। यदि मन में यह संकल्प करें कि इस व्यक्ति को अमुक वस्तु की उपलब्धि हो जाय तो उनके संकल्प करने मात्र से ही उसे वह वस्तु उपलब्ध हो जाती है। यदि मुनि यह सोचे कि आकाश से स्वर्ण और रजत की वृष्टि हो तो पलक झपकते ही स्वर्ण और रजत की वृष्टि हो जाती है।

पातंजल योगदर्शन[2] में भी योगी को अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व अष्ट-विभूतियाँ प्राप्त बताई हैं जिनका समावेश लब्धियों में किया जा सकता है।

यह ध्यातव्य है कि तप का सीधा फल लब्धियाँ नहीं है। उसका वास्तविक फल तो कर्म निर्जरा है, किन्तु तप के दिव्य प्रभाव से लब्धियाँ सहज मिल जाती हैं। जैसे पौष्टिक आहार से शरीर में स्फूर्ति का संचार होता है, रक्त और माँस में वृद्धि होती है, वैसे ही तप से तेज प्रकट होता है पर लब्धियों के लिए तप नहीं करना चाहिए। तप तो कामना से रहित होकर ही करना चाहिए। यदि तप से लब्धियाँ मिल भी गईं तो उन्हें प्रकट नहीं करना चाहिए। लब्धियों का प्रयोग अप्रमत्त स्थिति में नहीं होता वह तो प्रमत्त स्थिति में ही होता है। और जहाँ प्रमाद है वहाँ कर्मबन्धन है। जो साधक लब्धि का प्रयोग करने के बाद आलोचना नहीं करता है, वह विराधक होता है। लब्धि का प्रयोग या तो प्रदर्शन के रूप में या प्रतिष्ठा के लिए या कषाय के वशीभूत किया जाता है। लब्धिवन्त होना आवश्यक है, पर लब्धि का प्रयोग करना आवश्यक नहीं। यदि विशेष परिस्थिति में लब्धि का उपयोग करना अनिवार्य हो ही जाय तो अत्यन्त विवेक की आवश्यकता है।

---

१. अप्पेगइया मणेण सावाणुग्गह समत्था ..... आगासाइवाइणो। —औपपातिकसूत्र १५

२. योगसूत्र, विभूतिपाद, सू. २६

बौद्ध दृष्टि से तप

जैन साहित्य की भाँति बौद्ध साहित्य में तप का व्यवस्थित वर्गीकरण नहीं मिलता। मज्झिमनिकाय के कन्ददक सुत्त में एक वर्णन है कि तथागत बुद्ध ने अपने उपासकों को चतुर्थ प्रकार के तप को धारण करने के लिए उत्प्रेरित किया था। उन्होंने कहा था–इस प्रकार का तप करना चाहिए जिससे न स्वयं को और न दूसरों को ही कष्ट हो। तथागत बुद्ध मध्यम मार्ग के उपदेष्टा थे। इसलिए बुद्ध के तप का तात्पर्य है कि प्रतिपल-प्रतिक्षण चित्तविशुद्धि के लिए प्रयत्न करो। जिस प्रयास से चित्तशुद्धि होती है, वही तप है। अनशन तप के सम्बन्ध में जिस तरह जैन परमपरा में लम्बे तप के उल्लेख मिलते हैं वैसे बौद्ध साधकों के नहीं मिलते। बुद्ध ने अपने शिष्यों को एक बार भोजन करने के लिए कहा। उन्होंने एक दिन में अनेक बार भोजन करने का निषेध किया। साथ ही बौद्ध श्रमणों के लिए रस में आसक्ति रखने का भी निषेध किया।

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध ने अपने साधनाकाल के प्रारंभ में छह वर्ष तक बहुत ही उग्र तप की साधना की थी[1] जिससे उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था। उन्होंने केश लुंचन आदि भी किया था। पर अनशन तप से उनके अन्तर्मानस में शांति नहीं आई और न उन्हें बोध ही प्राप्त हुआ जिससे उस तप के प्रति जिस प्रकार की निष्ठा अपेक्षित है, वह उनमें नहीं रही। उन्होंने उग्र तप का अवश्य ही निषेध किया और जैन परम्परा में प्रचलित तप का उपहास भी किया; किन्तु सर्वथा तप का निषेध नहीं किया। उन्होंने चार सर्वश्रेष्ठ मंगल[2] माने हैं उनमें तप को भी एक मंगल माना और उस तप को सर्वप्रथम स्थान दिया। तथागत बुद्ध ने कहा–"मैं श्रद्धा का बीज वपन करता हूँ और तप की उस पर वृष्टि होती है।"[3] एक बार बुद्ध ने राजा बिंबसार[4] से कहा–"मैं तपस्या करने के लिए जा रहा हूँ, क्योंकि उस मार्ग में मेरा मन रमता है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने तप का सर्वथा निषेध नहीं किया है पर उनका स्पष्ट मानना था कि किसी तप या व्रत के करने से किसी के कुशल धर्म बढ़ते हों, उनमें अभिवृद्धि होती हो और अकुशल धर्म घटते हों तो उसे अवश्य ही तप और व्रत करने चाहिए[5]। डॉ. राधाकृष्णन[6] ने लिखा है–"बुद्ध ने

---

१. मज्झिमनिकाय
२. महामंगल सुत्त
३. सद्धा बीजं तपो वुट्ठि।
–कासी भारद्वाज सुत्त
४. सुत्तनिपात पवज्जासुत्त
५. अंगुत्तरनिकाय–दिट्ठिबद्ध सुत्त
६. Indian Philosophy, भाग १, page 436

कठोर तपश्चर्या की आलोचना की है तथापि यह आश्चर्य है कि बौद्ध श्रमणों का अनुशासन किसी भी ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णित अनुशासन से कम कठोर नहीं है। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से तथागत बुद्ध निर्वाण की उपलब्धि तपश्चर्या के अभाव में भी संभव मानते हैं तथापि व्यवहार पक्ष में तप, उनके अनुसार आवश्यक प्रतीत होता है। संयुक्तनिकाय में कहा है कि तप और ब्रह्मचर्य बिना पानी का अंतरंग स्नान है[1] जो जीवन के विकारों के मल को धोकर साफ कर देता है।

वैदिक धर्म की दृष्टि से तप

वैदिक साहित्य में तप का अनेक स्थलों पर प्रतिपादन हुआ है। वहाँ यत्र-तत्र उल्लेख है–तप से जीवन तेजस्वी, ओजस्वी और प्रभावशाली बनता है। वैदिक संहिताओं में तप के अर्थ में 'तेजस्' शब्द व्यवहृत हुआ है। जीवन को तेजस्वी और वर्चस्वी बनाने के लिए तपस् की साधना के लिए प्रेरणा दी गई है। शतपथ ब्राह्मण[2] में कहा है–तपरूप तेजःशक्ति से मानव संसार में विजयश्री को वरण करता है और समृद्धि उसके चरण चूमने के लिए लालायित रहती है।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] में उल्लेख है कि प्रजापति के अन्तर्मानस में ये विचार लहरियाँ उद्‌बुद्ध हुईं कि इस विश्व में कुछ भी नहीं है, न स्वर्ग है, न पृथ्वी है और न अन्तरिक्ष ही है। इस असत् को सत् रूप में बनाया जाय। अतः प्रजापति ने तप किया। तप के दिव्य प्रभाव से पहले धुआँ पैदा हुआ। पुनः तप किया जिससे दिव्य ज्योति प्रकट हुई और पुनः तप किया जिससे ज्वाला प्रकट हुई और उस ज्वाला का भव्य आलोक चारों ओर फैलने लगा। उसके बाद समुद्र और अन्य सारी सृष्टि समुत्पन्न हुई। इससे स्पष्ट है कि प्रजापति में सृष्टि रचने की अपूर्व शक्ति तप के द्वारा प्राप्त हुई थी।

ऋषियों ने कहा है–तप ही मेरी प्रतिष्ठा है।[4] श्रेष्ठ और परम ज्ञान तप से ही प्रकट होता है।[5] जो तपता है और अपने कर्त्तव्य में संलग्न रहता है वह संसार में सर्वत्र यश को संप्राप्त होता है।[6] ब्रह्मचर्य और तप से देवताओं ने मृत्यु पर विजय

---

१. तपो च ब्रह्मचरियं च तं सिनानमनोदकं। –संयुक्तनिकाय १/१/१८

२. तपसा वै लोकं जयंति। –शतपथ ब्राह्मण ३/४/४/२७

३. इदं वा अग्रेनैव किंचनासीत् तदस देव सन् मनोऽकुरुत स्यामिति तदतप्यत। तस्मात्तपेनाद् धूमोऽजायत। तद्‌भूयोऽतप्यत ..... –कृष्ण यजुर्वेद, तैत्तिरीय ब्राह्मण २/२/९

४. तपो मे प्रतिष्ठाः। –तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/७/७०

५. श्रेष्ठो वेदस्तपसोऽधिजातः। –गोपथ ब्राह्मण १/१/९

६. योऽसौ तपति स वै शंसति। –वही २/५/१४

वैजयन्ती फहराई।[1] सामवेद[2] में कहा है–तपस् व तेज के द्वारा देवताओं ने दुष्ट और धूर्त राक्षसों को जीत लिया। उन्हें पराजित कर दिया। तप से ही ब्रह्मज्ञान और परमात्मपद प्राप्त होता है।[3] तप ही ब्रह्म है।[4] धर्म के जितने भी अंग हैं चाहे वह ऋत् हो, चाहे वह सत्य हो, चाहे वह तप हो, चाहे वह श्रुत हो, चाहे वह शांति हो और चाहे वह दान हो, वे सभी तप के ही अंग हैं।[5] तप से आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है।[6] स्वर्ग संप्राप्ति के सात द्वार बताये हैं। उनमें प्रथम द्वार तप है।[7] तप को केन्द्र बनाकर ही धर्म विकसित हुआ है। ऐसा कोई भी कठिन से कठिन कार्य भी नहीं है जो तप से उपलब्ध न हो।[8] तप में वह शक्ति है, वह सामर्थ्य है कि उससे जो भी चाहे वह प्राप्त किया जा सकता है।

इस तरह यत्र-तत्र तप की प्रशंसा के गीत मुक्त कण्ठ से गाये गये हैं।

आयुर्वेद की दृष्टि से तप

तप से तन की विशुद्धि होती है। शरीर में रक्त का संचार सही रूप से होता है। पाचन क्रिया ठीक न होने पर अनेक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि किसी व्यक्ति को कब्ज होती है तो उसकी अग्नि मन्द हो जाती है और गैस आदि अनेक बीमारियाँ उसके कारण उत्पन्न हो जाती हैं। जब साधक तप करता है तो पेट के सभी यन्त्रों को विश्रांति मिल जाती है। नवीन अन्न ग्रहण न करने से जो पहले ग्रहण किया हुआ अन्न है, उसका पाचन सम्यक् प्रकार से हो जाता है जिससे पुराने दोष नष्ट हो जाते हैं। मल की विशुद्धि होने से नूतन बीमारियाँ नहीं होतीं। यदि पुराना मल पेट में जमा है तो वह मल भी तप से भस्म हो जाता है।

किंवदन्ती है कि देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार ने एक बार एक अद्‌भुत योगी का रूप बनाया और महान् चिकित्सक आचार्य वाग्भट के पास पहुँचे और उससे पूछा–"वैद्यप्रवर ! ऐसी कौन-सी औषध है जो न पृथ्वी पर पैदा होती है, न पर्वत में लगती है और न जल में ही पैदा होती है जिसमें किसी भी प्रकार का रस

---

१. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। –*अथर्ववेद ११/५/१९*
२. नियाविनस्तपसा रक्षसो दह। –*सामवेद पूर्वार्चिक १/११/१०*
३. तपसा चीयते ब्रह्म। –*मुण्डक उपनिषद् १/१/८*
४. तपो ब्रह्मेति। –*तैत्तिरीय आरण्यक ९/२*
५. ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं शांतं तपो दानं तपः। –*वही १०/८*
६. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। –*मुण्डक उपनिषद् ३/१/५*
७. महाभारत–आदिपर्व ९०/२२
८. मनुस्मृति ११/२२९

नहीं है तथापि वह शरीर के लिए अत्यन्त हितकर है।"[1] वाग्भट ने चिन्तन के सागर में डुबकी लगाई और कहा—आयुर्वेद में एक महान् औषध है जो न भूमि पर पैदा होती है, न पर्वत पर और न जल में ही। उस औषध का नाम है—'लंघन'।[2] योगी उस उत्तर को सुनकर प्रसन्न मुद्रा में वहाँ से प्रस्थित हो गया।

इससे यह सिद्ध है कि आयुर्वेद की दृष्टि से भी तप (अनशन) का गहरा महत्त्व रहा है।

प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से तप

आधुनिक युग में प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति जन-मन प्रिय बन रही है। प्राकृतिक चिकित्सा में औषध आदि का उपयोग नहीं होता तथा उपवास के द्वारा शारीरिक शुद्धि करायी जाती है। इस पद्धति में पुराने रोगों को नष्ट करने और शारीरिक शुद्धि के लिए उपवास आवश्यक माना गया है। डॉ. शरणप्रसाद, जो प्राकृतिक चिकित्सक हैं, उनका अभिमत है कि उपवास में सादे पानी के अतिरिक्त कोई भी वस्तु नहीं लेनी चाहिए। निंबू या सन्तरे का थोड़ा-सा रस या शहद मिला हुआ पानी आदर्श कोटि में नहीं आता। वह उपवास नहीं, वह तो रसाहार है। उपवास काल में पान, सुपारी, सौंफ, लोंग आदि का भी उपयोग नहीं करना चाहिए। बीड़ी, तंबाकू का सेवन तो उपवास में पूर्णतया निषिद्ध है ही। यदि उपवास में इन व्यसनों का सेवन किया जाता है तो शरीर को अत्यधिक हानि होती है। उपवास में मधुर और हल्का पानी ही हितकर है। यदि भारी पानी है, तो उसे उबालकर ठण्डा करके या गुनगुना पानी उपयोग में लाने से वह सुपाच्य बन जाता है।[3]

प्राकृतिक चिकित्सा में पहले चिकित्सक उपवास में निंबू, शहद आदि का उपयोग करना आवश्यक मानते थे, पर ज्यों-ज्यों अनुसंधान हो रहा है त्यों-त्यों वे इस निश्चय पर पहुँच रहे हैं कि उपवास में केवल गरम पानी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लेना चाहिए।[4] उनका यह अभिमत है—जब भी शरीर में भारीपन महसूस हो, दर्द या अपच अथवा ज्वर आदि की स्थिति में शीघ्र उपवास कर लेना चाहिए। उपवास से शरीर में निरुपयोगी या गन्दे जो कोश हैं वे शीघ्र ही बाहर निकल जाते

---

१. अभूमिजमनाकाशं पथ्यं रसविवर्जनम्।
सम्मतं सर्वशास्त्राणां वद वैद्य, किमौषधम्?॥

२. अभूमिजननाकाशं पथ्यं रसविवर्जनम्।
पूर्वाचार्यैः समाख्यातं, लंघनं परमौषधम्॥

३. उपवास, पृ. ३१

४. वही, पृ. ९-१०

हैं और शरीर स्वस्थ हो जाता है। उपवास से तन में जो रक्त कणों की कमी होती है वह कमी भी शनैः-शनैः पूरी हो जाती है। उपवास से रक्त के श्वेतकण (White corpuscles) क्रमशः घटने लगते हैं और लाल कण (Red corpuscles) बढ़ने लगते हैं। शरीर में जो अधिक मात्रा में शर्करा होती है वह भी जलकर नष्ट हो जाती है।

यह सत्य है कि उपवास के प्रारंभिक काल में शरीर-यंत्र शुद्धि प्रारंभ करता है और शरीर में रहे हुए पुराने दोष बाहर निकलते हैं। वे दोष मूत्र के द्वारा बाहर आते हैं। गुर्दा मूत्र के द्वारा अन्दर में रहा हुआ कूड़ा बाहर फेंकता है। जब सफाई हो जाती है तब मूत्र आदि में भी पूर्ण स्वाभाविकता आ जाती है। शरीर में जो आम्लता बढ़ी होती है वह भी उपवास से कम हो जाती है। कितने ही व्यक्तियों को उपवास काल में सिरदर्द, वमन, बेचैनी व घबराहट अधिक मात्रा में होती है और वे यह समझते हैं आम्लता में वृद्धि हो रही है पर वास्तविकता यह है कि यह रोग से मुक्त होने के लक्षण हैं।

जितना अधिक भोजन किया जाएगा उतना ही शरीर-यंत्रों को पचाने के लिए श्रम करना पड़ेगा। उपवास में जब भोजन बन्द कर दिया जाता है तब शरीर के पाचन संस्थान आदि सभी को विश्रांति मिलती है। परिणामस्वरूप शरीर में जमा हुआ विष बाहर निकल जाता है। डॉ. जे. एच. टिलडेन[1] का अभिमत है 'मैं निस्संदिग्ध रूप से कह सकता हूँ कि शरीर के दूषित पदार्थों की निकासी के लिए उपवास से बढ़कर दूसरी कोई चिकित्सा नहीं है, यही एक विशिष्ट और विश्वसनीय उपचार है।" डॉ. फेलेक्स, एस. एल. आसवाल्ड का अभिमत है– शरीर की भीतरी सफाई के लिए उपवास सबसे उत्तम तरीका है। सालभर में केवल तीन दिन के उपवास से शरीर की सफाई करने और विषैले पदार्थों को नष्ट करने में जितनी सफलता मिल सकती है उतनी सफलता रक्तशोधक कड़वी औषधियों की सैकड़ों बोतलों के सेवन से भी नहीं पाई जा सकती।

शरीर के प्रत्येक अवयव में नित नये कोशों का निर्माण होता है। जितना अधिक शारीरिक श्रम किया जाता है, श्रम के अनुपात से कोश नष्ट होने की गति में भी अभिवृद्धि हो जाती है। बाल्यकाल से कोशों में अभिवृद्धि होती है। प्रौढ़ अवस्था में कोशों की वृद्धि रुक जाती है और वे स्थिर हो जाते हैं। रुग्णावस्था में कोशों की मात्रा घटने लगती है। उपवास से शरीर में शुद्धि होती है जिससे कोशों की मात्रा घटनी कम हो जाती है। उपवास काल में शरीर में से चर्बी-कोश की मात्रा कम होती है। चर्बी की मात्रा कम होने से शरीर के विभिन्न अवयवों को

१. 'उपवास से जीवन रक्षा', पृ. ३२-३३

संचालित करने की अधिक शक्ति प्राप्त होती है। चर्बी कम हो जाने से शरीर में स्फूर्ति और शक्ति का अभिनव संचार होता है। उपवास काल में मस्तिष्क में चिन्तन-शक्ति बढ़ जाती है, विचारों में स्फुरणाएँ होने लगती हैं। उपवास के समय अधिक श्रम नहीं करना चाहिए। विश्रांति लेने से शरीर में स्फूर्ति का अनुभव होगा। स्फूर्ति और मन में उत्साह होने पर भी विश्रांति लेनी चाहिए। कभी-कभी उपवास काल में रोग उभर आते हैं। पर घबराने की आवश्यकता नहीं।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी उपवास से बहुत लाभ हैं। वैज्ञानिकों का मानना है कि शरीर का आभ्यन्तर यन्त्र रबड़ की नलियों के सदृश है। जो व्यक्ति अधिक भोजन करता है उसकी वह नली फैल जाती है। नली के फैल जाने से रक्त की जो स्वाभाविक क्रिया होनी चाहिए उसमें व्याघात होता है। जब उपवास किया जाता है तो भोजन न ग्रहण करने से नलियाँ सिकुड़कर अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाती हैं। रक्त में से व्यर्थ का पानी निकल जाता है और रक्त गाढ़ा बन जाता है जिससे शरीर में हलकापन अनुभव होता है। किन्तु शीघ्र ही नलिकाओं की दीवार से पुराना श्लेष्म निकलकर रक्त में मिल जाता है जिससे व्यक्ति को बेचैनी का अनुभव हो सकता है, पर जब श्लेष्म पेशाब के द्वारा बाहर निकल जाता है तो बेचैनी व घबराहट मिट जाती है। यही कारण है कि उपवास के पाँचवें-छठे दिन की अपेक्षा बीसवें-पच्चीसवें दिन अधिक शक्ति का अनुभव होता है। शरीर में से दोष निकल जाने के कारण स्वस्थता में अभिवृद्धि हो जाती है।

तप के लिए शरीर-बल की अपेक्षा मन में अधिक बल चाहिए। जिसका मन सुदृढ़ है, भले ही उसका शारीरिक बल कमजोर हो किन्तु वह साहस के साथ तपश्चर्या में अपने आपको लगा सकता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में जैन, बौद्ध और वैदिक दृष्टि तथा आयुर्वेद एवं प्राकृतिक चिकित्सा आदि की दृष्टि से 'तप' शब्द के महत्त्व और उसकी जीवन में आवश्यकता इस पक्ष पर हमने विचार व्यक्ति किये हैं। जैन धर्म का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जो भी तप किया जाय उसमें किसी भी वस्तु की कामना नहीं होनी चाहिए। मैं अमुक तप कर रहा हूँ, उस तप के फलस्वरूप मुझे अमुक वस्तु की उपलब्धि हो या मुझे सम्पत्ति प्राप्त हो, सुख प्राप्त हो–इस प्रकार की कामना को तप का शल्य माना है। इस प्रकार भविष्य में भौतिक सुख, फल आदि की आकांक्षा करना तपरूपी बहुमूल्य हीरों को कंकड़-पत्थर के रूप में बेचना है। यह निदान है। उसमें तीव्र लालसा रहती है, उससे साधना विराधना में परिवर्तित हो जाती है। जैन धर्म में ही नहीं, वैदिक धर्म के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ गीता[1] मे भी साधक को निस्पृह भाव

१. (क) गीता २/७१ (ख) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

से तप करने के लिए कहा है। तथागत बुद्ध ने भी वितृष्णा को ही परम मोक्ष कहा है। जो साधक इस प्रकार कामनारहित तप करता है उसका तप ही प्रशस्त तप है।

तप के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि तप विवेकपूर्वक हो। जिस तप में विवेक का अभाव है वह तप वास्तविक तप नहीं है। विवेकी साधक आत्मा को शरीर से पृथक् मानता है। आत्मा पर जो कर्म-परमाणु लगे हुए हैं, तप से उन दलिकों को हटाया जाय। यदि साधक में विवेक का अभाव है तो उसका वह तप बाल-तप है, अज्ञान-तप है। अज्ञानी साधक हजारों वर्षों तक उत्कृष्ट तप की साधना करके जितने कर्मों को नष्ट करता है उतने कर्मों को ज्ञानी साधक एक क्षण में नष्ट कर देता है।[1] भगवान महावीर और पार्श्वनाथ के युग में हजारों साधक बाल-तप करते थे। उनके तप का जन-मानस पर काफी प्रभाव भी था; किन्तु महावीर और पार्श्वनाथ ने उस तप की अयथार्थता बताते हुए कहा कि तुम तप से केवल शरीर को कृश करने का ही प्रयास न करो, बल्कि कषाय को कृश करने का प्रयत्न करो।[2] यदि कषाय जीर्ण नहीं हुआ है तो तन को जीर्ण करने से कोई लाभ नहीं। आचारांग निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने कहा[3]—बाल तप से मोक्ष नहीं होता। क्योंकि तप साधन है और मोक्ष साध्य है। जिस साधना से साध्य की उपलब्धि नहीं होती उस साधना को करने से लाभ ही क्या है? भले ही उस बाल-तप से स्वर्गीय वैभव प्राप्त हो जाय किन्तु आत्म-दर्शन नहीं हो सकता और न कर्म-बंधन से साधक मुक्त ही होता है। यदि उसे लब्धि प्राप्त हो भी गई तो वह उस लब्धि का दुरुपयोग कर नवीन कर्म-बंधन करता है। अतः तप विवेकपूर्वक होना चाहिए और वही तप अपना दिव्य प्रभाव दिखाता है।

तप के विविध प्रकार

जैन आगम साहित्य में तप को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया है—(१) बाह्य तप और (२) आभ्यन्तर तप।

जिस तप में शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है और जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा युक्त होने से दूसरों को दृष्टिगोचर होता है, वह बाह्य तप है। जिस तप में मानसिक क्रिया की प्रधानता होती है, अन्तर्वृत्तियों की परिशुद्धि मुख्य रूप से होती है और जो मुख्य रूप से बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरों को दिखाई नहीं देता, वह आभ्यन्तर तप है।

---

१. जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय-सहस्स-कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण॥ —प्रवचनसार ३/३८

२. कसेहिं अप्पाणं, जरेहिं अप्पाणं। —आचारांग १/४/३

३. न हु बालतवेण मुक्खु त्ति। —आचारांगनिर्युक्ति २/४

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि बाह्य तप और आभ्यन्तर तप का जो वर्गीकरण किया गया है वह साधक को समझाने की दृष्टि से है। किन्तु बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के तपों का लक्ष्य आत्म-शोधन ही है। बाह्य तप में शारीरिक क्रिया की प्रधानता होने के बावजूद भी उसमें अन्तर्मन मिला हुआ होता है। अतः बाह्य तप का भी उतना ही महत्त्व है जितना आभ्यन्तर तप का है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जो यह समझते हैं कि आभ्यन्तर तप के सामने बाह्य तप बिलकुल नगण्य है, उन्हें यह चिन्तन करना चाहिए कि तीर्थंकर आदि महापुरुष बाह्य तप का आचरण क्यों करते रहें? जैसे स्वर्ण को पहले तपाकर शुद्ध किया जाता है और उसके बाद उस पर पॉलिश करते हैं इसी तरह बाह्य तप से पहले शारीरिक और मानसिक शुद्धि होती है और फिर आभ्यन्तर तप से साधना में निखार आता है। यदि बाह्य तप के साथ आभ्यन्तर तप नहीं है तो वह तप केवल शरीर को क्षीण करेगा; वासना, कषाय और अहंकार को क्षीण नहीं करेगा। जिस तप से कषाय, वासना क्षीण होती है वही वस्तुतः तप है।

बाह्य तप का महत्त्व एक दृष्टान्त से भी समझा जा सकता है। मान लीजिए आपको घी, मक्खन आदि गर्म करके शुद्ध करना है, उसका मैल निकालना है तो आप उसे किसी बरतन में रखकर ही गरम कर सकते हैं और उसकी अशुद्धि दूर कर सकते हैं। यहाँ जो महत्त्व बरतन को गरम करने का है वही महत्त्व बाह्य तप का है। बाह्य तप किये बिना आत्म-शोधन की क्रिया पूर्ण नहीं हो सकती।

दिगम्बर परम्परा के तेजस्वी आचार्य जिनसेन[1] ने लिखा है–मुमुक्षु साधक यह न सोचे कि मैं इस शरीर को अत्यन्त कृश और क्षीण कर दूँ और यह भी न सोचे कि बढ़िया रसयुक्त पदार्थ का सेवन कर शरीर को अधिक से अधिक परिपुष्ट बनाऊँ। साधक दोषों को दूर करने हेतु उपवास आदि तप की साधना करता है और सम्यक् प्रकार से संयम साधना करने के लिए वह आहार-ग्रहण और आहार-त्याग दोनों ही संयम साधना के लिए होते हैं।

जैन धर्म का यह वज्र आघोष है कि यदि साधक के अन्तर्मानस में संक्लेश है, मन में संकल्प-विकल्प है तो वह तप नहीं है। उससे तो यही अच्छा है कि ऐसे संतापयुक्त मन से तप किया ही न जाय। उपाध्याय यशोविजय जी[2] ने स्पष्ट शब्दों में

---

१. न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षुभिः।
नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनैः॥
दोष निर्हरणायेष्टा उपवासाद्युपक्रमाः।
प्राण संधारणायायम् आहारः सूत्र दर्शितः॥ —महापुराण, पर्व २०, ५, ७

२. तदेव हि तपः कार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च॥ —तपोष्टक ग्रन्थ

कहा है कि जिससे मन में दुर्ध्यान न हो, योगों की हानि न हो और इन्द्रियाँ क्षीण न हों, वही तप करना चाहिए। एक अन्य आचार्य[1] ने भी कहा है कि वही अनशन तप श्रेष्ठ है जिससे कि मन में अमंगल विचार-लहरियाँ पैदा न हों, इन्द्रियों की हानि भी न हो और जो धार्मिक क्रियाएँ नित्य प्रति करता हो उनमें बाधाएँ भी न आएँ।

इस तरह जैन धर्म ने तप का सही व संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। साधक को अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार तप करना चाहिए। बाह्य तप का लक्ष्य आभ्यन्तर तप है। बाह्य और आभ्यन्तर तप के छह-छह प्रकार हैं।

बाह्य तप के छह प्रकार[2] निम्न हैं–

(१) अनशन–आहार त्याग।

(२) ऊनोदरी–आहार आदि की कमी।

(३) भिक्षाचरी–अभिग्रह आदि के साथ विधिपूर्वक भिक्षा ग्रहण करना।

(४) रस परित्याग–प्रणीत, स्निग्ध एवं अति मात्रा में भोजन का त्याग।

(५) कायक्लेश–शरीर को विविध आसन आदि के द्वारा कष्ट-सहिष्णु बनाकर साधना करना तथा उसकी चंचलता कम करना।

(६) संलीनता–शरीर, इन्द्रिय, मन, वचन आदि कषाय आदि का संयम करना, एकांत शुद्ध स्थान में रहना।

आभ्यन्तर तप के छह प्रकार[3] निम्न हैं–

(१) प्रायश्चित्त–दोष-विशुद्धि हेतु सरल हृदय से प्रायश्चित्त आदि करना।

(२) विनय–गुरुजनों के प्रति भक्ति, आदर एवं बहुमान करना।

(३) वैयावृत्य–गुरु, संघ, रोगी, बालक आदि की सेवा करना।

(४) स्वाध्याय–शास्त्रों का अध्ययन, अनुचिंतन तथा मनन करना।

(५) ध्यान–मन को एकाग्र करके शुभ ध्यान में लगाना।

(६) व्युत्सर्ग–कषाय आदि का त्याग करना शरीर की ममता को छोड़कर उसे साधना में स्थिर करना तथा संघ आदि का भी पत्यिाग।

---

१. सो नाम अणसण तवो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतइ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति॥

२. अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होई॥ –उत्तराध्ययन ३०/८

३. अब्भिंतरए तवे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–
पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ, झाणं, विउस्सग्गो। –भगवतीसूत्र २५/७

बाह्य तप

(१) अनशन

अशन अर्थात् चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। अनशन का सभी तपों में प्रथम स्थान है। इसका कारण है कि तप में अनशन तप अधिक कठोर और दुर्धर्ष है। अनशन में भूख पर विजय प्राप्त करनी होती है। भूख को जीतना और मन को वश में करना साधारण कार्य नहीं है, अत्यन्त कठिन है। अनशन से तन की भी शुद्धि होती है और मन की भी। महात्मा गांधी का भी यह अभिमत था कि उपवास से शारीरिक दोष नष्ट होते हैं और मनोबल बढ़ता है। शरीररूपी स्वर्ण को निखारने वाला अनशन है। अनशन से मन के विकार नष्ट होते हैं जिससे मन में पवित्रता आती है और शरीर में अपार तेज प्रकट होता है।

मैत्रायणी आरण्यक[1] में ऋषि ने यह स्पष्ट आघोष किया है कि अनशन से बढ़कर इस संसार में कोई बड़ा तप नहीं है। सामान्य मानव के लिए तो यह तप करना बड़ा ही कठिन है। कठिन ही नहीं, कठिनतम है। यह एक प्रकार से अग्नि-स्नान है जिससे समस्त पापमल नष्ट हो जाते हैं और उसकी साधना इस तप के दिव्य प्रभाव से निखर उठती है।

अनशन तप वही साधक कर सकता है जिसका शरीर के प्रति ममत्व कम हो। तपस्वी को न अपने तन पर मोह रहता है, न अपने प्राणों पर ही और न जीवन के प्रति ही आसक्ति होती है। अनशन तप से शारीरिक लाभ स्वतः होते हैं। उसके लिए साधक तप नहीं करता। उपवास का मूल उद्देश्य है आत्मा को निर्मल बनाना।

एक साधक ने भगवान महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की–"भगवन् ! एक श्रमण उपवास करता है उस उपवास से कितने कर्म नष्ट होते हैं?"

भगवान ने समाधान देते हुए कहा–"एक उपवास से श्रमण उतने कर्म खपा लेता है जितने कर्म नैरयिक जीव हजारों वर्षों तक अपार कष्ट सहन करके भी नहीं खपा सकता। दो दिन की तपस्या में उतने कर्म नष्ट करता है जितने कर्म नैरयिक जीव लाखों वर्षों में भी नहीं कर पाता। तीन दिन के उपवास में उतने कर्म नष्ट कर देता है जितने कर्म नैरयिक जीवन करोड़ों वर्षों में नष्ट नहीं कर पाते[2]।"

इससे स्पष्ट है कि तप से कितने कर्म नष्ट होते हैं।

---

१. तपोनानशनात् परं। यद्धि परं तपस्तद् दुर्धर्षम् तद् दुराधर्षम्।
–मैत्रायणी आरण्यक १०/६२

२. भगवतीसूत्र, शतक १६, उ. ४

अनशन तप में अशन का त्याग तो किया ही जाता है, इसके साथ ही कषायों का और विषयवासना का भी त्याग किया जाता है। अनशन के समय ब्रह्मचर्य का पालन, स्वाध्याय और स्व-स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। कठोर वचन बोलकर किसी का तिरस्कार करना, किसी की निन्दा और भर्त्सना करना आदि निषिद्ध है। आचार्य धर्मदासगणी[1] ने लिखा है–यदि कोई साधक किसी को कठोर वचन कहता है तो उसके एक दिन का तप नष्ट हो जाता है। यदि वह किसी की निन्दा करता है, किसी का अपमान करता है और किसी के मर्म को उद्घाटित करता है तो उसके एक माह के तप का जो प्रबल पुण्य है वह नष्ट हो जाता है। यदि किसी को शाप दिया जाता है तो एक वर्ष का तप नष्ट हो जाता है। अतः साधक को सतत सावधानी रखनी चाहिए।

अनशन तप के मुख्य दो भेद हैं[2]–(१) इत्वरिक–कुछ निश्चित समय के लिए आहारादि का त्याग करना, (२) यावत्कथिक–जीवन-पर्यन्त के लिए आहार आदि का त्याग करना। इत्वरिक तप में निश्चित समय के पश्चात् आहार की आकांक्षा विद्यमान रहती है। इत्वरिक तप उत्कृष्ट छह मास का होता है, क्योंकि भगवान महावीर के शासनकाल में छह मास से अधिक तप का नहीं हुआ है। स्वयं भगवान महावीर ने छह माह का तप किया था। भगवान ऋषभदेव ने एक वर्ष तक का तप किया था और अन्य बाईस तीर्थंकरों के शासनकाल में उत्कृष्ट तप आठ मास का रहा। इसीलिए उनके शासनकाल में एक वर्ष या आठ मास की सीमा रही है। तात्पर्य यह है कि जिस तीर्थंकर के शासनकाल में जो उत्कृष्ट तप हो उसी को इत्वरिक तप की काल सीमा मानी है।[3]

इत्वरिक तप में श्रेणी तप, प्रतर तप, घन तप, वर्ग तप, वर्ग-वर्ग तप, और प्रकीर्ण तप–ये छह प्रकार के तप संक्षेप में आते हैं।[4] प्रकीर्ण तप[5] में नवकारसी, पौरसी, पूर्वार्द्ध, एकासन, एकस्थान, आयंबिल, दिवसचरिम, रात्रि-भोजन-त्याग, अभिग्रह, चतुर्थ भक्त उपवास–ये दस प्रकार के तप आते हैं। इनके साथ ही कनकावली[6], एकावली[7], महासिंहनिष्क्रीड़ित[8], भिक्षु भद्र प्रतिमा, भिक्षुमहाभद्र

---

१. फरुसवयणे दिणतवं अहिक्खवेंतो हणइ मासतवं।
वरिसतवं सवभाणो हणइ हणंतो य सामन्नं॥ –उपदेशमाला १२४

२. (क) भगवती २५-७ (ख) उत्तराध्ययन ३०-९

३. आवश्यकनिर्युक्ति

४. उत्तराध्ययन ३०/१०-११

५. वही, बृहद्वृत्ति, पत्र ६०१

६. अन्तकृद्दशा, वर्ग ८, अ. २

७. वही, व. ८. अ. १

८. वही, व. ८, अ. ४

प्रतिमा[1], सर्वतोभद्र प्रतिमा[2], आयंबिल वर्द्धमान, मासिकी भिक्षु प्रतिमा, द्विमासिकी भिक्षु प्रतिमा, त्रिमासिकी यावत् षट्मासिकी भिक्षु प्रतिमा, प्रथम सप्त अहोरात्रि प्रतिमा, एकरात्रि प्रतिमा[3], यवमध्यचन्द्र प्रतिमा[4], वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा[5] इस प्रकार जितने भी तप के प्रकार हैं वे सभी प्रकार इत्वरिक तप के अन्तर्गत आ जाते हैं। भले ही किसी भी प्रकार का तप किया जाय किन्तु उस तप में किसी भी प्रकार की भौतिक कामना नहीं होनी चाहिए। केवल आत्मिक लाभ के लिए ही तप करना जैन परम्परा में इष्ट रहा है।

अनशन का द्वितीय तप यावत्कथिक है। यह यावत्कालिक अनशन जीवन-पर्यन्त स्वीकार किया जाता है, जिसे संथारा कहा जाता है। संथारा अचानक ही ग्रहण नहीं किया जाता। पहले विविध प्रकार की तपःसाधना कर शरीर को क्षीण किया जाता है। वह क्षीण करना संलेखना कहलाती है। संलेखना में अनशन से शरीर के साथ-साथ कषाय आदि को भी क्षीण किया जाता है। संलेखना संथारे की पूर्व-भूमिका है जिसमें व्रतों में लगे हुए अतिचारों की आलोचना के साथ तप किया जाता है, जिससे दोषों की विशुद्धि होकर आत्म-निर्मलता व समाधि प्राप्त होती है। संलेखना के साथ 'अपश्चिम मारणांतिकी' शब्द व्यवहृत होता है। उसके पश्चात् अन्य कोई संलेखना नहीं रहती। वह अंतिम संलेखना होती है जो मृत्यु-पर्यन्त चलती है। आचार्य समन्तभद्र[6] ने संलेखना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है–"जीवन में आचरित अनशन आदि विविध तपों का फल है अन्त समय में गृहीत संलेखना।"

संलेखना के सम्बन्ध में विस्तार से इसी खण्ड के अन्तिम अध्याय में विवेचन किया गया है।

(२) ऊनोदरी

द्वितीय तप का नाम ऊनोदरी है। समवायांग[7], भगवती[8] और उत्तराध्ययन[9] में इस तप का ऊनोदरी नाम मिलता है। 'अवमोदरिका' नाम स्थानांग[10], औपपातिक[11] और भगवती[12] में मिलता है। "अवमौदर्य" नाम उत्तराध्ययन[13]

१. प्रवचनसारोद्धार द्वार २७१, पत्र ४३८
२. स्थानांगसूत्रवृत्ति, पत्र ६१
३. समवायांग १२ टीका, पत्र २१
४. व्यवहारभाष्य, उद्देशक १०
५. (क) वही, उ. १०
   (ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार २७१, गा. ५९-६०
६. रत्नकरंड श्रावकाचार, श्लोक १२३
७. समवायांग ६
८. भगवती २५-७
९. उत्तराध्ययन ३०-८
१०. स्थानांग ३-३-१८२
११. औपपातिक ३०
१२. भगवती २५-७
१३. उत्तराध्ययन ३०/१४-२३

और तत्त्वार्थसूत्र[1] में मिलता है। इस प्रकार ऊनोदरी के तीन नाम आगम साहित्य में मिलते हैं। ऊनोदरी का अर्थ है (ऊन = कम, उदर = पेट) भूख से कम खाना। शब्दों में अन्तर होने पर भी तीनों शब्दों का भावार्थ एक ही है।

यह जिज्ञासा हो सकती है कि पूर्णतया आहार का परित्याग करना तो तप है किन्तु भूख से कम खाना कैसे तप हो सकता है? उत्तर में समाधान है कि भोजन के लिए तैयार होकर भूख से कम खाना, भोजन करते-करते बीच में ही उसे छोड़ देना बहुत ही कठिन कार्य है। एक दृष्टि से विचार किया जाय तो उपवास करना सरल है, किन्तु भोजन सामने आने पर पेट को खाली रखना, स्वाद आते हुए बीच में ही भोजन को छोड़ देना कठिन है। आत्मसंयम और दृढ़ मनोबल के बिना प्रस्तुत तप नहीं किया जा सकता। जिसका शारीरिक संस्थान सुदृढ़ होता है, वही उपवास आदि तप पर सकता है। किन्तु ऊनोदरी तप दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति भी कर सकता है। ऊनोदरी तप से अनेक रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

ऊनोदरी तप में अल्प आहार, परिमित आहार तो किया ही जाता है; किन्तु आहार के साथ ही कषाय और उपकरण की भी ऊनोदरी की जाती है। प्रत्येक वस्तु में संयम करना, आवश्यकताओं को न्यून करके, इच्छाओं का निरुन्धन करना ऊनोदरी तप का उद्देश्य है। इसीलिए स्थानांग में ऊनोदरी तप के तीन भेद किये हैं–(१) उपकरण अवमोदरिका, (२) भक्त-पान अवमोदरिका और (३) भाव (कषाय-त्याग) अवमोदरिका।[2]

भगवती[3] में द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊनोदरी–ये दो भेद किये गये हैं। उत्तराध्ययन[4] में ऊनोदरी के पाँच प्रकार हैं। वे ये हैं–(१) द्रव्य ऊनोदरी–आहार की मात्रा आवश्यकता से कम लेना, इसी प्रकार वस्त्र आदि में भी कमी करना। (२) क्षेत्र ऊनोदरी–भिक्षा के लिए स्थान आदि का निश्चय कर वहीं से भिक्षा ग्रहण करना। (३) काल ऊनोदरी–भिक्षा के लिए समय निश्चित कर उसी समय भिक्षा ग्रहण करना। (४) भाव ऊनोदरी–भिक्षा के समय अभिग्रह आदि ग्रहण कर भिक्षा के लिए जाना। (५) पर्याय ऊनोदरी–उक्त चारों भेदों को क्रियारूप में परिणत करना।

उपकरण द्रव्य ऊनोदरी–वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि श्रमण के संयम में सहयोगी बनते हैं। अतः उन्हें उपकरण कहा गया है, उपकरणों की मर्यादा करना, अपने

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९-१९

२. स्थानांग ३-३-१८२

३. ओमोयरिया दुविहा दव्वमोयरिया य भावमोयरिया। –भगवतीसूत्र

४. उत्तराध्ययन ३०-१४

पास होने पर भी आवश्यकता से कम वस्त्र, पात्र आदि का उपयोग करना। आवश्यकताएँ जितनी अधिक बढ़ायी जायें उतनी अधिक बढ़ती जाती हैं और जितनी भी कम की जायें उतनी वे घट भी सकती हैं।

साधक का शरीर मोक्ष-साधना के लिए है। जब तक उस शरीर से मोक्ष की साधना होती है तब तक वह उस शरीर की रक्षा करता है। साधक भयंकर सर्दी और गर्मी से बचने के लिए वस्त्र आदि को धारण करता है। लोक लज्जा के कारण शरीर के अंगों को आच्छादित करता है। दंशमशक आदि न काटें इसलिए भी वह वस्त्र को धारण करता है। जब तक संयम यात्रा के लिए वस्त्र आवश्यक होते हैं वहीं तक वह उन्हें धारण करता है और आवश्यकता न होने पर वह उन्हें छोड़ देता है। संयम यात्रा के लिए आवश्यक होने के कारण उन वस्त्रों की गणना परिग्रह में नहीं की जाती। जिस प्रकार साधना के लिए शरीर आवश्यक है और शरीर-रक्षा के लिए भोजन आवश्यक है उसी प्रकार वस्त्र और पात्र भी आवश्यक हैं। भगवती[1] में परिग्रह के—कर्म परिग्रह, शरीर परिग्रह, बाह्य भाण्डमात्र उपकरण परिग्रह—ये तीन प्रकार बताये हैं। जब इन वस्तुओं में मूर्च्छाभाव और ममत्व होता है तो वह परिग्रह कहा जाता है, अन्यथा नहीं। किन्तु संयमी साधक संयम हेतु उपकरण रखता है।

आचारांग आदि में श्रमण के वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा और विधि का निरूपण किया गया है। साधना करने में पूर्ण समर्थ श्रमण के लिए एक वस्त्र और अधिक तीन वस्त्र तथा श्रमणियों के लिए चार वस्त्र, एक पात्र व तीन पात्र की मर्यादा है। श्रमण और श्रमणियों के लिए जितने पात्र और वस्त्र की मर्यादा है, उस मर्यादा से कम वस्त्र-पात्र रखना—जैसे एक वस्त्र, एक पात्र रखना, उपकरण ऊनोदरी है।

उपकरण ऊनोदरी श्रमण के लिए ही आवश्यक है, वह बात नहीं; गृहस्थ भी इस प्रकार की ऊनोदरी कर सकता है। आज के युग में रंग-बिरंगे और विविध डिजायनों के वस्त्रों को देखकर उन्हें पाने के लिए मन ललचा जाता है और उन्हें प्राप्त करने के लिए वह अनावश्यक रूप से धन का व्यय कर देता है। इस फिजूलखर्ची से बचने के लिए ऊनोदरी रामबाण दवा है। इस प्रकार की ऊनोदरी से समाज में सुव्यवस्था स्थापित हो जाएगी।

भक्त-पान ऊनोदरी—जितने भी खाने-पीने के पदार्थ हैं वे सभी पदार्थ भक्त-पान के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। प्रस्तुत तप करने वाला साधक संख्या और

---

१. भगवती १८-७

परिमाण दोनों दृष्टियों से मर्यादा करता है। पुरुष का पूर्ण आहार बत्तीस ग्रास (कवल), स्त्री का अट्ठाईस ग्रास और नंपुसक का चौबीस माना गया है। अपने आहार से कम आहार ग्रहण करना भक्त-पान ऊनोदरी है।

आठ ग्रास खाने वाला अल्पाहारी ऊनोदरी तप करता है, बारह ग्रास ग्रहण करने वाला अपार्ध ऊनोदरी तप करता है, सोलह ग्रास खाने वाला अर्ध ऊनोदरी तप करता है, चौबीस ग्रास खाने वाला पादोन ऊनोदरी तप करता है, इकत्तीस ग्रास खाने वाला किंचित् ऊनोदरी तप करता है।[1]

जितना ग्रास मुँह में सुखपूर्वक आ सके उतना एक कवल कहलाता है। जिस व्यक्ति की जितनी खुराक है उसका बत्तीसवाँ भाग ही सामान्यतया उस व्यक्ति के लिए एक कवल माना जाता है।[2] मूलाराधना में कवल का परिमाण १,००० चावलों के पिण्ड को माना है।[3]

व्यवहारतः सभी व्यक्तियों का आहार समान नहीं होता। कुछ व्यक्तियों की आहार-मात्रा बहुत अधिक होती है तो कुछ व्यक्ति बहुत ही कम आहार ग्रहण करते हैं। बौद्धिक श्रम करने वाले और शारीरिक श्रम करने वाले के भी आहार की मात्रा में अन्तर होता है तो क्या बौद्धिक श्रम करने वाले ऊनोदरी तप करते हैं? उनका आहार उनकी क्षुधा से किंचित् मात्र भी कम नहीं होता।

वस्तुतः जितनी क्षुधा हो उससे कम आहार करना ही ऊनोदरी तप है। ऊनोदरी तप में साधक पेट को पूरा नहीं भरता, वह कुछ खाली रखता है। खाली रखने से पाचन-संस्थान विकृत नहीं होता। आयुर्वेद की दृष्टि से उदर का आधा भाग भोजन से भरा जाय, एक-चौथाई भाग पानी के लिए खाली रखा जाय और बाकी हवा के लिए सुरक्षित रखा जाय। जो इस क्रम को भंग करता है वह व्यक्ति स्वस्थ नहीं रह सकता। कभी-कभी स्वादिष्ट और मन के अनुकूल आहार मिलने पर अधिक मात्रा में आहार कर लिया जाता है। उस स्थिति में पानी और यहाँ तक कि हवा का स्थान भी आहार ग्रहण कर लेता है, जिससे उसे अत्यधिक बेचैनी का अनुभव होता है, श्वास लेने में भी कठिनाई होती है। कभी-कभी व्यक्ति को यह भान भी नहीं रहता कि उसे कितना खाना है। वह अपना पेट खाली समझकर खाता चला जाता है, पर जब भोजन के बाद वह पानी पीता है तो उस समय पेट

---

१. औपपातिक, समवसरण प्रकरण, सूत्र ३३

२. जत्तिओ जस्स पुरिसस्स आहारो तस्साहारस्स बतीसइमो भागो तप्पुरिस वेक्खाए कवले।
—भगवती ७/१ वृत्ति

३. ग्रासो श्रावि सहस्रतन्दुलमितः।
—मूलाराधना दर्पण, पृ. ४२९

फटने-सा लगता है। अधिक आहार से शरीर में आलस्य, प्रमाद और भारीपन महसूस होता है। अजीर्ण जैसे भयंकर रोग हो जाते हैं। मुँह में से दुर्गन्ध आती है। पेट में 'अफारा' आ जाता है, खराब डकारें आने लगती हैं और उद्‌गार आते हैं जिससे आहार का अधिकांश या कुछ भाग वमन के द्वारा बाहर निकल जाता है। अतिसार भी हो जाता है। अन्य अनेक रोग भी पैदा हो जाते हैं। इसके विपरीत जो कम खाता है वह कभी भी घाटे में नहीं रहता, क्योंकि उसका पाचन अच्छी तरह से होने के कारण मन में प्रसन्नता रहती है।

आचार्य शिवकोटि[1] ने लिखा है–ऊनोदरी से कर्मों की निर्जरा और आत्म-शुद्धि तो होती है, साथ ही निद्रा-विजय, स्वाध्याय, परम संयम, इन्द्रियजय और समाधि प्राप्त होती है। अधिक आहार करने से अन्य साधनाओं में आलस्य आने लगता है और शरीर की सम्पूर्ण ऊर्जा पाचन में ही नष्ट हो जाती है।

भाव ऊनोदरी–भाव ऊनोदरी से तात्पर्य है–आन्तरिक वृत्तियों की ऊनोदरी अर्थात् ऊनोदरी अशुभ वृत्तियों को कम करना। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आंतरिक वृत्तियाँ हैं। इन वृत्तियों का सर्वथा क्षय करना साधक का लक्ष्य है। किन्तु इन कषायों को एकदम नष्ट करना संभव नहीं है। उसके लिए निरन्तर प्रयास आवश्यक है। जैसे आहार की मात्रा धीरे-धीरे कम की जाती है वैसे ही कषाय की मात्रा को भी धीरे-धीरे कम करने का प्रयास किया जाता है। कषायों को कम करना ही भाव ऊनोदरी है।

शिष्य ने भगवान से जिज्ञासा प्रस्तुत की–भगवन् ! भाव ऊनोदरी के कितने प्रकार हैं ?

भगवान ने फरमाया–क्रोध की अल्पता, मान की अल्पता, लोभ की अल्पता, शब्द की अल्पता और कलह की अल्पता–भाव ऊनोदरी के ये पाँच प्रकार हैं।

ज्यों-ज्यों जीवन में कषाय की मात्रा कम होती है त्यों-त्यों शांति की मात्रा बढ़ती है। इसलिए कषायों को कम करना तथा अल्प भाषण आवश्यक है। जो अधिक बोलता है, उसे भाषा का विवेक नहीं रहता। वचन एक तरह से रत्न है। मुखरूपी तिजोरी से बाहर निकालने के पूर्व चिन्तन करना चाहिए। जितने कम वचन से कार्य हो सके, उतना ही बोलना उचित है। साधक के लिए कहा गया है–वह कम बोले, परिमित बोले। जो सुव्रती साधक है वह कम से कम बोले।[2] कम

---

१. मूलाराधना ३/२११ अमितगति, पृ. ४२८

२. अप्पं भासेज्ज सुव्वए। –सूत्रकृतांग १/८/२५

शब्दों में कही जाने वाली बात को अधिक लम्बी न करे।[१] मर्यादा से अधिक मत बोलो।[२] जो अधिक बोलता है वह सत्य वचन की आराधना नहीं कर सकता। वाचालता सत्य वचन का घातक है। वाचाल व्यक्ति की वही दुर्गति होती है जैस सड़े कान वाली कुतिया की होती है। वह जहाँ भी जाती है वहीं उसे लोग दुत्कारते हैं। इसलिए विज्ञ कम बोलते हैं और मूर्ख अधिक बोलता है।

अल्प भाषण भी ऊनोदरी है और कलह को न्यून करना भी भाव ऊनोदरी है। कलह करने से असमाधि होती है।[३] वैदिक ऋषि ने भी कहा है—कलह करने वाला जीवन में सुख-समृद्धि, लक्ष्मी और सौभाग्य को प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो धधकते हुए अग्नि-पिण्ड की तरह है जो स्वयं तो जलता ही है, साथ ही जो उसके सम्पर्क में आता है उसे भी जलाता है।[४] कलह का मूल भी कषाय ही है। कलह से बड़े-बड़े साम्राज्य भी नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए भगवान ने साधक को उत्प्रेरित किया कि वह कलह को शान्त करे। यदि परस्पर में कलह हो जाय तो जब तक परस्पर क्षमायाचना न कर ले तब तक श्रमण को आहार-पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए। जो कलह को शान्त नहीं करता वह आराधक नहीं होता।[५] इसीलिए भाव ऊनोदरी में कलह को भी अल्प करने का संदेश है।

(३) भिक्षाचरी

यह तृतीय तप है। साधक अपने अन्तर्मानस में नाना प्रकार के संकल्प लेकर आहार की गवेषणा करता है। साधक भिक्षा लेता है किन्तु वह भिखारी नहीं है। उसके जीवन के कण-कण में अहिंसा, सत्य और संयम का साम्राज्य होता है। वह अत्यन्त सन्तोषी होता है। केवल जीवन-निर्वाह के लिए गृहस्थ के घर से सहज भाव से शुद्ध आहार ग्रहण करता है। श्रमण की जो भिक्षाचरी है उसके लिए आगम साहित्य में 'गोचरी' और कहीं पर 'मधुकरी वृत्ति' और कहीं पर 'संक्षेप वृत्ति' कहा गया है। उत्तराध्ययन,[६] दशवैकालिक,[७] आचारांग[८] प्रभृति आगमों में भिक्षा

१. निरुद्धगं वा वि न दीहएज्जा। —सूत्रकृतांग १/१४/२३
२. नाइवेलं वएज्जा। —वही १/१४/२५
३. कलहकरो असमाहिकरे। —दशाश्रुतस्कंध १
४. न ग्रेधन्तं रायर्नशत्। —ऋग्वेद ७/३२/२१
५. जो न उवसमइ तस्स णत्थि आराहणा, जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा।
—बृहत्कल्पभाष्य १/३५
६. उत्तराध्ययन ३०-२५
७. दशवैकालिक ५-१-३, हारिभद्रीया टीका, पत्र १६३
८. आचारांग २/१

के लिए 'गोयर' शब्द अधिक मात्रा में प्रयुक्त हुआ है और 'गोयरग्ग' शब्द भी आया है। 'गोचराग्र' का अर्थ है 'गाय की तरह चलना' भिक्षा के लिए परिभ्रमण करना।

आचार्य जिनदासगणी महत्तर और आचार्य हरिभद्र ने लिखा है–जैसे गाय, यह घास बढ़िया किस्म की है और यह घास घटिया किस्म की है इस प्रकार का भेद किये बिना अपने उदर-पोषणार्थ वह एक किनारे से दूसरे किनारे तक चरती हुई चली जाती है वह जिस घास को चरती है उसे नष्ट नहीं करती, बिना जड़ उखाड़े घास को चरती है, वैसे ही श्रमण भी बिना किसी गृहस्थ को कष्ट दिये, भिक्षा ग्रहण करता है। वह यह नहीं सोचता कि यह सरस आहार है या नीरस आहार है। यह श्रेष्ठी का घर है या यह निर्धन का घर है। बिना भेदभाव किये भिक्षा ग्रहण करता है।

अतीतकाल में श्रमणों की भिक्षा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह ऊँच, नीच और मध्यम कुलों में समान भाव से भिक्षा ग्रहण करे। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि जो गर्हित कुल हैं या जो व्यक्ति कहे कि मेरे घर में मत आना या जिस घर के अधिपति के अन्तर्मानस में सन्देह भावना हो कि कहीं यह श्रमण गुप्तचर के रूप में तो मेरे यहाँ नहीं आ रहा है, मेरे पारिवारिक जनों के साथ इसके अनुचित संबंध तो नहीं हैं, इस प्रकार उसके मानस में द्वेष भावना प्रबुद्ध हो तो श्रमण को उस घर में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए।[1] वह ऐसे कुलों में जाय जहाँ उसके प्रति सद्भावना हो, विशुद्ध आहार प्राप्त हो सकता हो। इसीलिए उसकी भिक्षा गोचरी है।

गोचरी को मधुकरी इसलिए कहते हैं[2] कि जैसे मधुकर फूलों पर मँडराता है और थोड़ा-थोड़ा रस लेकर उड़ जाता है और फिर अन्य फूल पर बैठकर रस लेता है। वह फूलों को कष्ट नहीं देता और स्वयं भी तृप्त होता है वैसे ही श्रमण भी गृहस्थ को कष्ट न देकर भिक्षा ग्रहण करता है। श्रमण मधुकर और गाय की वृत्ति के अनुसार भिक्षा ग्रहण करता है।

वैदिक और बौद्ध परम्परा में भी मधुकरी वृत्ति एक आदर्श वृत्ति मानी गयी है। वृत्तिसंक्षेप जो गोचरी के लिए व्यवहृत हुआ है उसका कारण है गोचरी में

---

१. दशवैकालिक ५-१-१७

२. वही १-१
तुलना करें–धम्मपद पुप्फवग्ग ५४/६; तथा महाभारत उद्योगपर्व ३४/१७
यथामधुसमादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्याद् अविहिंसया॥

मनोवांछित वस्तु उपलब्ध नहीं होती। कभी गरमागरम आहार की आवश्यकता होती है, उस समय वासी और ठंडा मिलता है तथा कभी मधुर आहार की इच्छा होती है, किन्तु रूखा-सूखा और नीरस आहार प्राप्त होता है। श्रमण जो भी आहार मिल जाता है, उस आहार को प्राप्त कर मन में पूर्ण संतुष्ट होता है। वह रसनेन्द्रिय पर पूर्ण नियन्त्रण करता है इसीलिए गोचरी को वृत्तिसंक्षेप कहा है।[1]

भिक्षा अपनी इच्छा पर अवलंबित नहीं है। वह पराश्रित है। उसे जो भी उपलब्ध हो जाय उसी में सन्तोष करना होता है। श्रमण की भिक्षा पूर्ण अहिंसक और विशुद्ध होती है। श्रमण भिक्षा के लिए न स्वयं जीव-हिंसा करता है, न करवाता है और न करने वाले का ही अनुमोदन करता है। वह न स्वयं अन्न पकाता है, न पकवाता है और न पकाते हुए का अनुमोदन करता है। साथ ही न स्वयं खरीदता है, न दूसरों से खरीदवाता है और न खरीदकर लाने वाले का अनुमोदन करता है। इस तरह उसकी भिक्षा नौ विधियों से पूर्ण विशुद्ध होती है।[2] वह गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए जाता है और जो सहज रूप से मिल जाता है, उसे ग्रहण कर लेता है।

श्रमण के पास जो कुछ भी वस्तु होती है, वह वस्तु भिक्षा में प्राप्त की हुई होती है। क्योंकि वह स्वयं खरीदता नहीं और न खरीदवाता ही है और न घर से लेकर आता है। उसे जो कुछ भी मिलता है, भिक्षा से ही प्राप्त होता है। उसे दूसरों के सामने हाथ पसारना पड़ता है। पर माँगना भी एक परीषह ही है। क्योंकि माँगने पर भी यदि नियम के अनुकूल नहीं मिलता है तो वह उसे ग्रहण नहीं कर सकता। श्रमण के भिक्षा ग्रहण के दोषों की सूची आगम साहित्य में मिलती है। सोलह उद्गम के दोष[3], सोलह उत्पादन के दोष[4] और दस ग्रहणैषणा[5] के दोष इस प्रकार बयालीस दोषों से मुक्त आहार वह ग्रहण कर सकता है।

जैन श्रमण की भिक्षा विधि के नियम अत्यन्त कठोर हैं। वैदिक और बौद्ध परम्परा में भी संन्यासी या श्रमण भिक्षा लाते हैं, पर वहाँ पर न नवकोटि विशुद्ध भिक्षा के लिए उल्लेख है और न बयालीस दोषों को टालकर भिक्षा लेने का वर्णन है। वैदिक संन्यासी के लिए आधाकर्म, औद्देशिक आहार ग्रहण करने के सम्बन्ध में कोई भी निषेध नहीं है। बौद्ध श्रमण भी उनके लिए बनाया हुआ, खरीदा हुआ या

---

१. समवायांग स. ६

२. णव कोडि परिसुद्धे भिक्खे पण्णत्ते·····। —स्थानांग ८/३

३. पिंडनिर्युक्ति ९२-९३

४. वही, ४०८-४०९

५. वही

लाया हुआ आहार ग्रहण करते थे। एक बार सिंह सेनापति ने उन्हें निमन्त्रण दिया था और बुद्ध अपने संघ के साथ वहाँ भिक्षा के लिए पहुँचे थे।[1] इसी तरह निमन्त्रण पर बुद्ध महामात्य के वहाँ पर भी १,२५० भिक्षुओं के साथ पहुँचे थे।[2] पर जैन श्रमण के लिए भिक्षा के नियम बहुत ही कठोर हैं। यहाँ तक कि गृहस्थ ने अपने लिए भोजन बनाया हो और उस भोजन के अधिपति दो व्यक्ति हों और एक की इच्छा भिक्षा देने की न हो तो श्रमण उस भिक्षा को भी ग्रहण नहीं करता। क्योंकि उस भिक्षा को लेने से जिसकी भावना भिक्षा देने की नहीं है उसके मन में सहज रोष उत्पन्न होगा। उस भिक्षा में सूक्ष्म हिंसा निहित होती है, इसलिए वह उसे ग्रहण नहीं करता।[3]

बृहत्कल्प[4] में लिखा है कि श्रमण भिक्षा के लिए जाने के पूर्व कायोत्सर्ग करे और कायोत्सर्ग में वह चिन्तन करे—आज मैंने कौन-सा व्रत ले रखा है? क्या मेरा आयंबिल व्रत है या नीवि है? मुझे कितना आहार लेना है? कैसा आहार ग्रहण करना है? इस तरह चिन्तन कर वह प्रस्थित होता है और उसी नियम से वह भिक्षा भी लेता है। भिक्षा के लिए वह गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होकर विशुद्ध आहार की गवेषणा करता है कि यह आहार लेने से किसी को कष्ट तो नहीं होगा ? किसी गर्भवती महिला के लिए, भिखारियों के लिए या किसी गरीब के लिए वह आहार निर्मित हो तो वह उसे ग्रहण नहीं करता। वह यह भी सोचता है कि मेरे ग्रहण करने के पश्चात् गृहस्थ को पुनः भोजन न बनाना पड़े। इन सभी दृष्टियों से वह आहार की गवेषणा करता है। केवल ज्यों-त्यों भिक्षा ले लेना यह उसका लक्ष्य नहीं है। यदि उसे निर्दोष भिक्षा नहीं मिलती है तो भी वह यह चिन्तन नहीं करता—यह कैसा गाँव है, यहाँ भिक्षा भी उपलब्ध नहीं होती। यदि भिक्षा उपलब्ध नहीं हुई है तो मन में किंचित् मात्र भी रोष न कर वह सोचता है कि मुझे तप का सुनहरा अवसर सहज ही मिल गया है। आचारांग[5], प्रश्नव्याकरण[6], भगवती[7], उत्तराध्ययन[8], दशवैकालिक[9] और निशीथ आदि में श्रमण के भिक्षा ग्रहण करने के अनेक विधि और निषेधों का वर्णन है।

श्रमण को जिस क्षेत्र में भिक्षा के लिए जाना हो वहाँ पर कब भिक्षा सहज रूप से और निर्दोष मिल सकती है इसका उसे परिज्ञान होना चाहिए। यदि उसे उसका

---

१. विनयपिटक, महावग्ग ६-४-८, पृ. २४४
२. वही महावग्ग, ६-७-५, पृ. २३५
३. दशवैकालिक ५-१-४७
४. बृहत्कल्पभाष्य, प्रथम उद्देशक
५. आचारांग २/१
६. प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार, १-१५
७. भगवती सूत्र ७/१
८. उत्तराध्ययन, अध्ययन २६
९. दशवैकालिक, अध्ययन ५

परिज्ञान नहीं है तो भिक्षा प्राप्त होने में कठिनाई भी हो सकती है और दोष लगने की भी सम्भावना रहेगी। इसलिए काल का परिज्ञान भी आवश्यक है।

गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए जाने वाला श्रमण असंभ्रान्त और अमूर्च्छित होना चाहिए। उसके मन में यह विचार नहीं होना चाहिए कि मैं जल्दी से जल्दी गृहस्थ के घर पहुँच जाऊँ और बना हुआ रसप्रद भोजन प्राप्त कर लूँ। कहीं मेरे जाने से पूर्व कोई अन्य सन्त न चला जाय। यदि चला गया तो मैं मुँह ताकता ही रह जाऊँगा। मन में चंचलता होने के कारण वह सम्यक् प्रकार से प्रतिलेखना भी नहीं कर पाता और आहार के प्रति आसक्ति होने से वह स्वादिष्ट आहार के लिए गवेषणा भी करता है।

श्रमण को आहार की गवेषणा के लिए गृहस्थ के घर जाना होता है। गृहस्थ के घर में रंग-बिरंगी चमचमाती हुई बहुमूल्य वस्तुएँ भी होती हैं; कन्याएँ, युवतियाँ आदि महिलाएँ भी होती हैं। इसलिए जब तक साधक का चित्त स्थिर न हो और उसके हृदय में अमूर्च्छाभाव न हो वहाँ तक वह निर्दोष भिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। भिक्षा लेते समय श्रमण को अपना परिचय नहीं देना चाहिए कि मैं अमुक कुल में जन्मा हूँ और मेरा अमुक परिवार है और न उसे दान प्रदान करने वाले का गुणगान ही करना चाहिए। क्योंकि उससे भिक्षा में दोष लगता है। यह आवश्यक है कि भिक्षा देने वाला निःस्वार्थ बुद्धि से और त्यागी समझकर दे। वही भिक्षा निर्दोष मानी जाती है।

भिक्षा लेने के लिए साधक जब प्रस्थित होता है तब वह मन में एक कल्पना करता है कि मुझे आज किस तरह से भिक्षा लेनी चाहिए। वह कल्पना आठ प्रकार से कर सकता है[1]—

(१) पेटिका—पेटिका की तरह गाँव में जो घर हों उन घरों को चार भागों में विभक्त कर चौकोर गति से भिक्षा लेना।

(२) अर्धपेटिका—दो भागों में विभक्त कर भिक्षा लेना।

(३) गोमूत्रिका—गाय के मूत्र की धारा की तरह टेढ़ी-मेढ़ी गति से भिक्षा लेना।

(४) पतंगवीथिका—पतंग की भाँति बीच-बीच में घरों को छोड़कर भिक्षा लेना।

(५) गत्वाप्रत्यागता—एक ओर से घरों में भिक्षा ग्रहण करते हुए चले जाना और उसके किनारे पहुँचकर लौटते समय दूसरी पंक्ति के घरों से भिक्षा लेना।

---

१. प्रवचनसारोद्धार, गा. ७४५

(६) शंखावर्त–शंख के समान गोल चक्करदार गति से भिक्षा ग्रहण करना।

(७) ऋजुगति–सरल गति से भिक्षा लेना।

(८) वक्रगति–टेढ़ी गति से भिक्षा ग्रहण करना।

जिस गति से भिक्षा के लिए गमन करता है उस दृष्टि से ये आठ प्रकार बताये गये हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है–जो श्रमण भिक्षा के दोषों से रहित भिक्षा ग्रहण करता है वह वस्तुतः अनाहारी तपस्वी है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन श्रमण की भिक्षाचरी बड़ी अद्भुत है। उसकी भिक्षाचरी में और एक भिखारी के भीख माँगने में दिन-रात का अन्तर है। दोनों के लिए भिक्षा शब्द का व्यवहार होता है। किन्तु दोनों की भिक्षा लेने की विधि और प्रक्रिया में बहुत बड़ा अन्तर है। भिखारी की कोई आचार-संहिता नहीं होती। उसे जो कुछ भी मिल जाता है चाहे वह सचित्त हो, चाहे अचित्त पदार्थ हो, चाहे नशीले पदार्थ भी हों, चाहे पैसा आदि भी हों, उसे भी वह ले लेता है। भिखारी को जो भी वस्तु प्राप्त होती है उसे वह संग्रह करके रखना चाहता है किन्तु श्रमण संग्रह नहीं करता। भिखारी दीन वृत्ति से याचना करता है, किन्तु श्रमण अदीन भाव से भिक्षा लेता है। भिखारी दान-प्रदाता के गुणों का उत्कीर्तन करता है, किन्तु श्रमण भिक्षा के लिए किसी की गुण-गाथा नहीं गाता। यदि भिखारी को भिक्षा न मिले तो वह दान न देने वाले को गाली व शाप भी दे देता है, किन्तु श्रमण किसी को भी शाप नहीं देता और न किसी प्रकार का अपशब्द ही कहता है, हृदय में दुर्भाव भी नहीं लाता। दाता जो भी देता है भिखारी उसे उसी क्षण ग्रहण कर लेता है किन्तु श्रमण इस प्रकार ग्रहण नहीं करता, वह देखता है कि जो देय वस्तु है वह सदोष तो नहीं है। इस प्रकार भिखारी में भिक्षा लेने में विवेक का अभाव होता है, किन्तु श्रमण की भिक्षा विवेकयुक्त होती है।

आचार्य हरिभद्र ने भिक्षा के तीन प्रकार बताये हैं–(१) दीन-वृत्ति, (२) पौरुषघ्नी, और (३) सर्वसम्पत्करी।[2] जो व्यक्ति अनाथ हैं, अपंग हैं या आपत्ति से संत्रस्त हैं वे भिक्षा माँगकर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं वह दीनवृत्ति भिक्षा है। जिनके शरीर में सामर्थ्य है, कमाने की शक्ति होने पर भी काम से जी चुराकर जो भिक्षा माँगते हैं वह पौरुषघ्नी भिक्षा है। यह भिक्षा पुरुषत्व को नष्ट करने वाली है।

---

१. अण्णमिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा। –प्रवचनसार ३/२७

२. सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथापरा।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता॥ –अष्टक प्रकरण ५/१

ऐसे भिक्षुक देश के लिए भार रूप होते हैं। तृतीय भिक्षा सर्वसम्पत्करी है। जो श्रमण उदर-निर्वाह के लिए गृहस्थ के घर से उसके अपने लिए बना हुआ निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं, वह सर्वसम्पत्करी भिक्षा है। भिखारी की भिक्षा दीनवृत्ति और पौरुषघ्नी होती है जबकि जैन श्रमण की भिक्षा सर्वसम्पत्करी होती है। सर्वसम्पत्करी भिक्षा से देने वाले का भी उद्धार होता है और लेने वाले का भी। दोनों को सद्गति प्राप्त होती है। दान प्रदान करने वाले को यह ध्यान रखना चाहिए कि देय वस्तु शुद्ध हो, दाता की भावना भी विशुद्ध हो और दान ग्रहण करने वाला भी शुद्ध हो।

स्थानांग[१], भगवती[२], उत्तराध्ययन[३] और औपपातिक[४] में 'भिक्षाचर्या' यह नाम आया है। समवायांग[५] और तत्त्वार्थसूत्र[६] में क्रमशः 'वृत्तिसंक्षेप' और 'वृत्ति-परिसंख्यान' कहा गया है। श्रमण जब अभिग्रहपूर्वक भिक्षा के लिए पहुँचता है तो भिक्षा में कमी होना स्वाभाविक है, इसीलिए इसे वृत्तिसंक्षेप कहा गया है। औपपातिक[७] और भगवती[८] में इसके तीस भेदों का उल्लेख है। स्थानांग[९] और उत्तराध्ययन[१०] में अन्य भेदों का भी निरूपण है।

प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक[११] ने भिक्षाचर्या का अर्थ केवल भिक्षा के लिए भ्रमण करना ही नहीं लिखा है, उनका मन्तव्य है कि 'भिक्षाचर्या' में जो 'चर्या' शब्द आया है वह भक्ति यानी भक्षण का वाचक है। उपलब्ध भिक्षा का खाना, भिक्षा से प्राप्त जो भी पदार्थ है उस पदार्थ को समभाव से खाना, उस आहार की निन्दा नहीं करना और आहार को स्वादिष्ट बनाने हेतु संयोजन आदि जो दोष हैं, उन दोषों से भी विशुद्ध भोजन करना। आहार लाने के पश्चात् जब तक गुरुजनों के समक्ष आलोचना न की जाय तब तक आहार ग्रहण न किया जाय, गुरुजनों के समक्ष आलोचना करने का अर्थ यह है कि यदि भिक्षा में कहीं दोष लगा हो तो उसका प्रायश्चित्त लेकर शुद्धीकरण किया जा सके।

श्रमण प्रतिक्रमणसूत्र[१२] में यह विधान है कि यदि घर के द्वार बन्द हों तो उस द्वार को खोलकर श्रमण को भिक्षा के लिए घर के अन्दर प्रवेश नहीं करना चाहिए। क्योंकि गृहस्थ यदि किसी कार्य में व्यस्त हो और श्रमण अचानक किवाड़

---

१. स्थानांग ३-३-१८२
२. भगवती २५-७
३. उत्तराध्ययन ३०-८
४. औपपातिक ३०
५. समवायांग ६
६. तत्त्वार्थसूत्र ९/१९
७. औपपातिक ३०
८. भगवती २५-७
९. स्थानांग ५-१-३९६
१०. उत्तराध्ययन ३०-२५
११. आद्यश्चर्या शब्दो भ्रमणार्थः द्वितीयः पुनः भक्षणार्थः। भिक्षायाः चर्या भुक्तिरित्यर्थः।
—तिलकाचार्य
१२. गोचरचर्यासूत्र

खोलकर यदि अन्दर जाता है तो उसे अनुचित प्रतीत होगा। अपवाद मार्ग में यदि कोई विशेष परिस्थिति समुत्पन्न हो तो अलग बात है।

श्रमण को भिक्षा लेने के लिए जाते समय मार्ग में कुत्ते, गाय आदि के बछड़े, खेलते हुए बच्चों के ऊपर होकर नहीं जाना चाहिए। इससे जीवों की विराधना होने की सम्भावना तो है ही तथा लोक सभ्यता की दृष्टि से भी अनुचित है।

भोजन तैयार होने पर भोजन का कुछ अग्र अंश पुण्यार्थ निकालकर रख दिया जाता है। वह 'अग्रपिण्ड' कहलाता है। वह पुण्यार्थ होने के कारण श्रमण के लिए लेना निषिद्ध है। इसी प्रकार देवता आदि के लिए जो भोजन तैयार किया जाता है वह 'बलि' कहलाता है। श्रमण को दान देने के पूर्व दाता सर्वप्रथम आवश्यक बलिकर्म हेतु बलि को चारों दिशाओं में फेंककर या अग्नि में डालकर जो भिक्षा प्रदान करता है वह 'बलि प्राभृतिका' कहलाती है। इस प्रकार की भिक्षा ग्रहण करने से श्रमण के निमित्त से अग्नि आदि जीवों की विराधना का दोष लगता है। अतः यह भी त्याज्य है। श्रमण के निमित्त पृथक् रखी भिक्षा भी त्याज्य है। अन्य भिक्षुकों के लिए पृथक् निकाली हुई भिक्षा में से भिक्षा लेना भी श्रमण के लिए निषिद्ध है क्योंकि इससे अन्य भिक्षुकों को अन्तराय लगने की सम्भावना है।

आधाकर्म आदि दोषयुक्त होने की शंका पर भी श्रमण को वह आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। आहार लेते समय बहुत शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। तात्कालिक परिस्थिति पर विवेकपूर्वक चिन्तन करना चाहिए। गृहस्थ के घर श्रमण को पहुँचकर जो वस्तु उसे ग्रहण करनी है वह जहाँ पर रखी हो वहाँ अच्छी तरह से देख लेना चाहिए कि उसके लेने से कहीं जीवों की विराधना की सम्भावना तो नहीं है। श्रमण को भिक्षा में उदर पूर्ति के लिए आहार और पानी की ही याचना करनी चाहिए। विशेष परिस्थिति में दवा आदि के लिए किसी भी वस्तु की आवश्यकता हो तो बात अलग है और वह भी परिचित स्थान से ही माँगनी चाहिए, जिस किसी भी घर से नहीं। हर किसी घर से माँगने पर श्रमण संघ की अवहेलना होने की सम्भावना रहती है। इसलिए उसे सतत आदर्श का ध्यान रखना चाहिए।

(४) रस-परित्याग

यह तप का चतुर्थ प्रकार है। रस का अर्थ जिसके कारण भोजन में या वस्तु में प्रीति उत्पन्न होती हो, जिसे निहारने से, श्रवण करने से, स्वाद लेने से, सूँघने और स्पर्श करने से मधुरता, प्रीति व आकर्षण समुत्पन्न होता हो वह पदार्थ सरस कहलाता है। रस-परित्याग में दूध, दही, घृत, मीठा आदि का त्याग आवश्यक है।

रस से मन में विकृति भी उत्पन्न होती है, इसलिए उसे विकृति भी कहा है।[1] रस दीप्ति यानी उत्तेजना पैदा करने वाले भी होते हैं। शास्त्र में दूध, दही, नवनीत, घृत, तेल, गुड़, मधु, मद्य और माँस ये नौ विकृतियाँ बताई गई हैं।[2] मधु, मद्य, माँस और नवनीत इन चार को महाविकृतियाँ कहा है।[3] दूध, दही, घी आदि को परिणाम की दृष्टि से भी विकृति माना गया है।

सागार धर्मामृत[4] में विकृतियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है–

(१) गो रस विकृति–दूध, दही, घृत, नवनीत आदि गो रस की विकृति है।

(२) इक्षु रस विकृति–गुड़, चीनी आदि।

(३) फल रस विकृति–अंगूर, आम आदि फलों के रस।

(४) धान्य रस विकृति–तेल आदि।

मूलाराधना[5] में आचार्य ने स्वादिष्ट भोजन को भी विकृति में परिगणित किया है। जिस आहार में विगय न भी हो किन्तु स्वादिष्टता हो तो वह विकृति है। जिस साधक ने रस-परित्याग कर रखा हो, उस साधक को उस प्रकार के पदार्थों का भोजन नहीं करना चाहिए।

श्रमण के लिए यह विधान है कि वह संतुलित आहार करे। जब रूक्ष आहार से शरीर में अत्यधिक शैथिल्य आ जाय तब वह विगय को ग्रहण करे, किन्तु प्रतिदिन विगय को ही ग्रहण न करे। सदा रूक्ष आहार ग्रहण करने से शरीर में शिथिलता आ जाती है, उसे 'प्रस्रवण' अधिक मात्रा में आता है जिससे स्वाध्याय, ध्यान आदि में बाधा उपस्थित होती है। आगम साहित्य में ऐसे अनेक साधकों का उल्लेख मिलता है जिनका शरीर हृष्ट-पुष्ट था पर रूक्ष आहार के सेवन से शरीर में व्याधि हो गई।[6]

जिस प्रकार दिये को तेल व बत्ती की जरूरत होती है उसी प्रकार शरीर को भी कुछ चिकनाई व शक्तिवर्द्धक आहार की आवश्यकता होती है। इसलिए यदा-कदा पौष्टिक आहार किया जा सकता है। साधक कभी-कभी स्निग्ध भोजन

---

१. उत्तराध्ययन ३२-१०
२. स्थानांग ९/६७४
३. (क) वही ४-१-२७४, (ख) मूलाराधना ३-२१३
४. सागार धर्मामृत ५-३५ टीका
५. मूलाराधना ३-२१५
६. (क) भगवती, जमाली अ. (ख) ज्ञातासूत्र, अध्ययन ५ (शैलक)

का सेवन भी करता है, पर वह यह ध्यान रखता है कि मुझे स्निग्ध भोजन उतना ही करना है जिससे शरीर में विकार भावना उत्पन्न न हो। जो नित्यप्रति मर्यादा रहित विगय को ग्रहण करता है, उसे पाप-श्रमण कहा गया है।

भगवती[1] में स्पष्ट बताया है कि जिस प्रकार साँप बिल में प्रवेश करता है वह प्रवेश सीधा करता है वैसे ही श्रमण सीधा आहार ग्रहण करे अर्थात् वह आहार का स्वाद न ले। आचारांग[2] में कहा है–श्रमण को आहार ग्रहण करते समय स्वाद लेने की भावना उद्‌बुद्ध हो तो उस ग्रास को बाएँ दाढ़ से दाहिने दाढ़ की ओर नहीं ले जाना चाहिए। स्वाद के लिए आहार को चबाना या चूसना भी निषिद्ध है। यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि एक बार विगय ग्रहण किया जा सकता है, पर स्वाद ग्रहण नहीं किया जा सकता। स्वाद न लेने से श्रमण आहार ग्रहण करता हुआ भी तप करता है। अस्वाद वृत्ति के कारण वह सात-आठ कर्मों के बन्धनों को शिथिल कर देता है। यहाँ तक कि अस्वाद वृत्ति रखते हुए आहार ग्रहण करता हुआ भी श्रमण केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

स्वाद पर विजय प्राप्त करने पर ही रस-परित्याग हो सकता है। जो रस-लोलुपी है वह सरस आहार के लिए मर्यादाओं का भी उल्लंघन कर सकता है। किंचित् स्वाद में आसक्त साधक अपने मन को वश में नहीं रख सकता। अतः साधक को रसासक्ति से बचना चाहिए। अधिक रसों के सेवन से शरीर में विकारों की वृद्धि हो सकती है। मन चंचल और इन्द्रियाँ उत्तेजित होती हैं अतः सरस पदार्थों का अति-सेवन नहीं करना चाहिए।

दशवैकालिक[3] में कहा है–विभूषा, स्त्रीसंसर्ग और प्रणीतरस भोजन–ये तीनों आत्मान्वेषणा करने वाले साधक के लिए तालपुट विष के सदृश हैं। तालपुट विष एक क्षण में मानव को समाप्त कर देता है। अतः रस-परित्याग आवश्यक है। औपपातिक सूत्र[4] में रस-परित्याग का विस्तार से वर्णन मिलता है। वहाँ उसके निम्न प्रकार बताये हैं–

(१) निर्विकृति–विकृति का त्याग।

(२) प्रणीतरस-परित्याग–जिस आहार में घी झरता हो या जो अति स्निध हो, उसका त्याग।

---

१. बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेइ। –भगवतीसूत्र ७/१

२. आचारांग ८/६

३. विभूसा इत्थि संसग्गी, पणीयरसभोयणं।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा॥ –दशवैकालिक ८/५६

४. औपपातिकसूत्र १९

(३) आचाम्ल (आयंबिल)–भुना हुआ या रँधा हुआ किसी एक प्रकार का धान्य पानी के साथ ग्रहण करना।

(४) आयामसिक्थ भोजन–धान्य के धोवन के साथ कुछ अन्न का ग्रहण करना।

(५) अरस आहार–रसरहित भोजन करना, जैसे उड़द के बाकले, भुने हुए चने, कुल्माष आदि।

(६) विरस आहार–जिस भोजन का रस समाप्त हो गया हो, ऐसे बेस्वाद भोजन को ग्रहण करना।

(७) अन्त्य आहार–नीरस आहार, जघन्य आहार करना, जैसे–चने, उड़द आदि के छिलके जो अन्तिम बचे हुए होते हैं, उनका आहार करना।

(८) प्रान्त्य आहार–सभी लोगों के भोजन कर लेने के पश्चात् बचा हुआ ठण्डा आहार ग्रहण करना।

(९) रूक्ष आहार–रूखा आहार।

औपपातिक में रस-परित्याग की दो भूमिकाएँ प्रस्तुत की गई हैं–

(१) रस का अग्रहण–आहार के साथ रस का सम्बन्ध रहता है, पर सरस भोजन का ग्रहण न करना। कुछ समय के लिए सरस आहार का परित्याग किया जा सकता है, पर सदा सर्वदा के लिए सरस आहार ग्रहण न करना सम्भव नहीं लगता। जहाँ तक शरीर है वहाँ तक उसे बनाये रखने के लिए सरस आहार भी ग्रहण करना ही होता है। यह प्रथम भूमिका है।

(२) गृहीत रस पर राग-भाव न रखना–आहार ग्रहण करने पर भी आहार में राग-भाव का अभाव होना। इन्द्रियों के रस की अनुभूति करने पर भी मन उसके राग-भाव से मुक्त रह सकता है। यही इस तप की फलश्रुति है।

(५) कायक्लेश

कायक्लेश का अर्थ है–काया को कष्ट देना। शरीर के प्रति निर्ममत्व भाव रखना और आसन आदि से शरीर को सम्यक् प्रकार से साधना। "देह दुःख महाफलं।"–इसका तात्पर्य यह नहीं कि मात्र देह को कष्ट देना महान् फल प्रदान करता है। अज्ञानी साधक भयंकर कष्ट सहन करता है, किन्तु उसका देह दुःख महाफल प्रदाता नहीं होता। ज्ञानपूर्वक जो देह को कष्ट दिया जाता है, अपनी ओर से कर्म-निर्जरा हेतु अनेक प्रकार के आसन, ध्यान, प्रतिमा, केशलुञ्चन, शरीर-

मोह का त्याग आदि के माध्यम से विदेह भाव को स्वीकार किया जाता है, वह कायक्लेश है। साधक का शरीर के प्रति शत्रु-भाव नहीं होता जिससे कि उसका नाश किया जाय। शरीर तो उसके लिए सेवक के सदृश है। शरीर से वह धर्म-साधना का कार्य लेता है। मोक्ष की साधना करने हेतु साधक देह को धारण किये रहता है। वह उसका पोषण भी इसीलिए करता है कि उससे आध्यात्मिक चिन्तन किया जा सके। जिस साधक को साधना में आनन्द आता है, उसको कष्ट की अनुभूति नहीं होती। उपाध्याय यशोविजय जी[1] ने तपोष्टक में लिखा है– मनोवांछित लक्ष्य की सिद्धि हेतु शरीर को जो कष्ट दिया जाता है, वह कष्ट नहीं है, जैसे–बहूमूल्य रत्नों की उपलब्धि के लिए व्यापारी विराट्काय समुद्रों को लाँघता है, गगनचुम्बी पर्वतों की चोटियों पर पहुँचता है, भयानक जंगलों को पार करता है, यात्राओं में असह्य पीड़ाएँ सहन करता है तो भी उन यात्राओं में उसे आनन्द प्राप्त होता है। इसी तरह मुक्ति का आकांक्षी साधक कायक्लेश के द्वारा जप, तप व ध्यान की साधना करता है, किन्तु उसे उसमें कष्ट नहीं होता। जिस साधना में साधक को कष्टानुभूति होती है वह साधना नहीं। रोते-रोते कष्ट उठाना यह तो परतन्त्र व्यक्तियों का कार्य है। साधक तो कष्ट को कष्ट ही नहीं मानता।

वस्तुस्थिति यह है कि कायक्लेश किया नहीं जाता, होता है। साधक का लक्ष्य तो आत्मा को विशुद्ध बनाना है। जैसे घी में यदि मैल है तो उस मैल को अलग करने के लिए घी को किसी पात्र में रखकर अग्नि में तपाया जाता है। पात्र को तपाना उद्देश्य नहीं है, तपाना घी को है किन्तु बिना पात्र के माध्यम के घी तप नहीं सकता। इसलिए घी के साथ पात्र भी तपता है। वैसे ही आत्मा पर लगे विकारों को नष्ट करने हेतु साधक का लक्ष्य आत्मा को तपाने का होता है किन्तु आत्मा का निवास शरीर में होने से शरीर को भी तपाया जाता है। आत्म-शुद्धि का लक्ष्य होने के कारण तपाते समय पीड़ा होने पर भी साधक पीड़ा की अनुभूति नहीं करता क्योंकि वह यह समझता है कि देह पृथक् है और मैं पृथक् हूँ। देह को कष्ट होता है, मुझे नहीं। देह का नाश हो सकता है, मेरा नहीं। मैं ज्ञान-दर्शनमय और चिन्मय रूप हूँ। मुझे कोई भी शक्ति कभी भी नष्ट नहीं कर सकती। शरीर तो पानी के बुलबुले के सदृश क्षणभंगुर है। इसलिए मुझे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार के चिन्तन से वह देह के ममत्व को कम कर देता है। यही वस्तुतः कायक्लेश तप का लक्ष्य है।

जब देह क्षणभंगुर है तो इस देह से जितनी भी हो सके, साधना करनी चाहिए। देहाधिष्ठित होने पर भी साधक देहातीत अवस्था में रहता है। भगवान

---

१. द्रष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ कायपीडा ह्यदुःखदा।
रत्नादिवणिगादीनां तद् वदात्रापि भाव्यताम्॥ –तपोष्टक, ७

महावीर को कितने भयंकर कष्ट सहन करने पड़े। उनके कानों में कीले ठोके गये। दानव और मानवों ने अपार कष्ट दिये। पर भगवान महावीर उन कष्टों में भी समभाव में रहे। गजसुकुमाल मुनि के सिर पर धधकते अंगारे रखे गये पर उनके अन्तर्मानस में तनिक मात्र भी रोष उद्‌बुद्ध नहीं हुआ। यह है साधक की स्थिति। इसे कहते हैं देहातीत स्थिति। देह और आत्मा को पृथक् समझने की कला में जो दक्ष है उसके लिए कायक्लेश दुःख रूप नहीं, अपितु सुख रूप है। यह है उसकी आध्यात्मिक निष्ठा जिससे उसे दुःख भी सुख रूप प्रतीत होता है।

व्यावहारिक जीवन में भी कायक्लेश तप की, किसी भी कार्य की सिद्धि हेतु आवश्यकता रहती है। जो सुकुमाल है, कष्ट सहन करने की स्थिति में नहीं है, वह साधना के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ पाता। किसी चिन्तक ने कहा है कि "साधक का शरीर दैत्य की तरह सुदृढ़ और मन देव की तरह मधुर होना चाहिए।" जब तक तन चिलचिलाती धूप को, सनसनाती सर्दी को और उमड़-घुमड़कर आती हुई वर्षा को सहन करने में समक्ष न हो, वह साधना नहीं कर सकता। कायक्लेश से तितिक्षा का भाव प्रबल से प्रबलतर होता है। जो तितिक्षु और सहिष्णु नहीं है वह साधना नहीं कर सकता। अग्नि-स्नान किये बिना स्वर्ण में निखार नहीं आता, घिसे बिना चन्दन में सुगंध प्रकट नहीं होती, पीसे बिना मेंहदी में रंग नहीं आता। उसी प्रकार कायक्लेश किये बिना साधक की साधना नहीं चमक सकती।

स्थानांग[1] में कायक्लेश के कायोत्सर्ग, उत्कटुक आसन से ध्यान, प्रतिमाधारण, वीरासन, निषद्या, स्वाध्याय आदि हेतु सुखासन से पैर स्थिर करके बैठना और दण्डासन व लकुडासन से खड़े होकर ध्यान करना आदि सात भेद बताये हैं। औपपातिक में कायक्लेश के चौदह प्रकार बताये हैं–कायोत्सर्ग करना, एक स्थान पर अवस्थित रहना, उत्कटुक आसन करना, प्रतिमा धारण करना, वीरासन करना, स्थिर आसन से बैठना, दण्ड की तरह सोना या बैठना, वक्र काष्ठ की तरह सोना, आतापना ग्रहण करना, वस्त्र आदि का परित्याग करना, खुजली नहीं करना, थूकना नहीं, परिकर्म से रहित होना और विभूषा नहीं करना।

कायक्लेश का तात्पर्य पूर्ण रूप से शरीर को स्थिर करना है और इसके लिए विविध आसनों के उल्लेख हैं। हठयोग की साधना पद्धति में शरीर की स्थैर्यता व दृढ़ता हेतु आसनों और मुद्राओं का उल्लेख है। नाना प्रकार के आसनों से शारीरिक चंचलता नष्ट होकर स्थिरता बढ़ती है। आगम साहित्य में और आचार्य हेमचन्द्र[2] आदि ने मुख्य रूप से जिन आसनों की चर्चा की है, वे ये हैं–

१. स्थानांग ७, सूत्र ५५४
२. योगशास्त्र ४/१३३-१३४

(१) ध्यान स्थिति–यह कायोत्सर्ग मुद्रा में दोनों एड़ियों को परस्पर मिलाकर या उनमें चार अंगुल का अन्तर रखकर खड़ा होना; इसका अपर नाम कायोत्सर्गासन भी है।

(२) स्थान–पूर्ण रूप से स्थिर होकर बैठना।

(३) उत्कटिकासन–इस प्रकार बैठना जिसमें दोनों पैर, दोनों नितंबों से लगे रहें। घेरण्ड संहिता में आसन का परिचय देते हुए लिखा है–अँगूठों को भूमि पर टिकाकर और एड़ियों को ऊपर उठाकर अँगूठों के बल पर बैठना। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि जमीन से लगी हुई एड़ियों के साथ जब दोनों नितम्ब मिलते हैं तब उत्कटिकासन होता है।

(४) पद्मासन–बाईं जाँघ पर दायाँ पैर और दाईं जाँघ पर बायाँ पैर रखकर हथेलियों को एक-दूसरे पर रखकर नाभि के नीचे रखना।

(५) वीरासन–आचार्य हेमचन्द्र[1] ने वीरासन के दो प्रकार बताये हैं–(१) बायाँ पैर दाहिनी जाँघ पर और दाहिना पैर बाईं जाँघ पर रखकर बैठना; और (२) कोई व्यक्ति जमीन पर पैर रखकर सिंहासन पर बैठा हो और पीछे से उसके आसन को हटा लिया है तब उसके बैठने की जो मुद्रा है, वह वीरासन है।

(६) दण्डासन–दण्ड की आकृति से इस प्रकार लेटना जिससे अँगुलियाँ, घुटने और जाँघ जमीन के साथ लगी रहें।

(७) गो दोहिकासन–गाय दुहने की स्थिति में बैठना।

(८) पर्यंकासन–पलँग की आकृति में बैठना।

इनके अतिरिक्त वज्रासन जिसमें केवल सिर और एड़ियों का ही पृथ्वी से स्पर्श होता है तथा भद्रासन आदि के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। जैन परम्परा में किसी आसन विशेष पर विशेष बल नहीं दिया है। वही आसन अधिक उपयोगी माना है जिसमें बैठकर साधना में स्थिरता आती है। कायक्लेश में आसनों के साथ ही आतापना का भी उल्लेख है। वस्त्र का परिहार कर ग्रीष्म ऋतु में सूर्य-रश्मियों की आतापना लेना और सर्दी में वस्त्रों को हटाकर शीत की आतापना लेना और वर्षा में एक स्थान पर अवस्थित होना और दंश, मशक आदि के परीषहों को सहन करना।

इस तरह प्रस्तुत तप में साधक विविध प्रकार के कष्टों को समभाव से सहन करता है। शरीर के प्रति निर्ममत्व होने से उसे सँवारने और सजाने के प्रति भी वह

---

१. योगशास्त्र ४/१२६-१२८

उदासीन रहता है। आचार्य वसुनंदि[1] ने आचाम्ल, निर्विकृति, एक स्थान, उपवास, वेला, छठ आदि के द्वारा शरीर को कृश करना कायक्लेश माना है। श्रुतसागर गणि[2] के अनुसार ग्रीष्म ऋतु में धूप में, शीत ऋतु में खुले स्थान में और वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे लेटना, विविध प्रकार की प्रतिमाएँ और आसन करना कायक्लेश है। उन्होंने यह भी लिखा है कि कायक्लेश अपनी इच्छा के अनुसार किया जाता है और परीषह समागत कष्ट है।

(६) संलीनता

संसाराभिमुख आत्मा को विषय-कषाय से हटाकर अन्तर्मुखी बनाना और उसके लिए प्रबल प्रयास करना प्रतिसंलीनता तप है। प्रतिसंलीनता में आत्मा को पर-भाव से हटाकर स्व-भाव में लीन बनाना होता है। स्वलीनता ही संलीनता है। दूसरे शब्दों में उसे अन्तर्लीनता भी कह सकते हैं। जो साधक स्वलीन है उसे बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति नहीं होती।

कहा जाता है कि कुछ द्वीपों में ऐसे विराट्काय पक्षी होते हैं कि जब वे अपने पंख फैलाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई विशाल वृक्ष हो। जब उस पर कोई आक्रमण करने आता है तो वह अपने पंखों को इस प्रकार समेट लेता है कि वह पंख उस रूप में दिखाई नहीं देते और वह आक्रमण करने वाले पर टूट पड़ता है। वह पक्षी बहुत जागरूक होता है। वैसे ही साधक को अपनी इन्द्रियों के विकारों का गोपन करना चाहिए। गोपन करने की कला को प्रतिसंलीनता कहा है।

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर श्रमण के लिए 'इन्द्रियों को गोपन करने वाला' यह विशेषण दिया है। जैसे कछुआ अपनी इन्द्रियों का गोपन करता है वैसे ही साधक भी अपनी इन्द्रियों को वश में करता है।[3] भौतिकवाद की चकाचौंध में पाला-पोसा हुआ इन्सान सोचता है—खाओ, पिओ और मौज करो। वह इन्द्रियनिग्रह को अप्राकृतिक मानता है, अमर्यादित जीवन जीने में आनन्द की अनुभूति करता है। पर उसे स्मरण रखना चाहिए कि भोग में रोग रहा हुआ है। उनसे कभी भी तृप्ति नहीं मिल सकती। अतः सुख का मूल मंत्र उद्दाम लालसाएँ नहीं, किन्तु उन लालसाओं पर नियंत्रण करना है।

---

१. आयंबिलणिव्वियडी एयट्ठाणं छट्ठमाइ खवणेहिं।
जं कीरइ तणुतावं कायकिलेसो मुणेयव्वो॥ —वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक ३५१

२. तत्त्वार्थसूत्र ९/१९, श्रुतसागरीया वृत्ति

३. ज्ञातासूत्र ४

भगवती[1] में प्रतिसंलीनता तप के (१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, (२) कषाय-प्रतिसंलीनता (३) योग-प्रतिसंलीनता और (४) विविक्त-शयनासन सेवना–ये चार प्रकार बताये हैं। उत्तराध्ययन[2] में जो केवल विविक्त शयनासन को ही प्रतिसंलीनता में बताया है, वह संक्षेप दृष्टि की अपेक्षा से है।

इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता में इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर से मोड़कर साधक को स्व-स्वरूप में लीन रहने के लिए प्रेरणा दी है।

कषाय-प्रतिसंलीनता में कषाय से बचने के लिए उत्प्रेरित किया है। कषाय जन्म-मृत्यु चक्र का मूल है।[3] कषाय जन्म-मरण की जड़ को सिंचन करता है। वह ऐसी मादक मदिरा है जिसको पीने के बाद प्राणी को भान नहीं रहता। वह व्यक्ति को विवेकभ्रष्ट बनाता है। इसीलिए आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[4] ने कहा है–देशोन कोटि पूर्व तक महान् साधना कर जो फल प्राप्त किया हो वह महान् फल अन्तर्मुहूर्त के कषाय से नष्ट हो जाता है। बढ़िया से बढ़िया भोजन भी जहर मिलने पर विषाक्त बन जाता है। वह शरीर के लिए पोषक नहीं, शोषक हो जाता है। वैसे ही कषाय के तीव्र विष से साधना जो अमृत के सदृश है वह विषाक्त बन जाती है। अतः जो सद्गुणों का विकास करना चाहते हैं उन साधकों को चाहिए कि वे कषाय से अधिकाधिक बचने का प्रयास करें। यह स्मरण रखें कि कषाय मित्र नहीं, शत्रु हैं।

कषाय अन्तरंग दोष है। वह अन्दर में रही हुई गंदगी है। जरा-सा निमित्त मिलते ही वह गन्दगी उद्बुद्ध हो जाती है। इसलिए कषाय पर नियंत्रण अत्यधिक आवश्यक है।

योग-प्रतिसंलीनता–जैन परम्परा में योग के तीन प्रकार बताये हैं–मनोयोग, वचनयोग और काययोग। तीन योगों की प्रवृत्ति कभी शुभ में होती है, कभी अशुभ में होती है। शुभ की प्रवृत्ति पुण्य है और अशुभ की पाप है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि आचार्य पतंजलि[5] ने चित्त वृत्तियों के निरोध को योग कहा है। बौद्ध आचार्यों[6] ने कुशल प्रवृत्ति को योग कहा है जबकि

---

१. भगवती, २४-७
२. उत्तराध्ययन ३०-२८
३. आचारांगनिर्युक्ति १८९
४. जं अज्जियं चरित्तं देसुणाए वि पुव्वकोडीए।
तं पि कसायमेत्तो नासेइ नरो मुहुत्तेणं ॥ –निशीथभाष्य २७९३
५. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। –पातंजल योगदर्शन १-२
६. कुशलप्रवृत्तियोगः।

जैन परम्परा में मन, वचन, काया की प्रवृत्ति को योग कहा है। अन्य दर्शनों में प्रवृत्ति को रोकने के अर्थ में योग शब्द का प्रयोग हुआ है जबकि जैन दर्शन में प्रवृत्ति के लिए योग शब्द आया है। एक में प्रवृत्ति है, दूसरे में निवृत्ति है। यहाँ पर योगनिरोध को संवर या प्रतिसंलीनता कहा है। इसलिए योग-प्रतिसंलीनता के भी (१) मनोयोग-प्रतिसंलीनता, (२) वचनयोग-प्रतिसंलीनता, और (३) काययोग-प्रतिसंलीनता–ये तीन प्रकार है और एक-एक प्रकार के तीन अवान्तर भेद हैं–(१) अकुशल मन का निरोध, (२) कुशल मन की प्रवृत्ति और (३) मन को एकाग्र करना।

जैसे पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहना है। वैसे ही मन भी अशुभ की ओर दौड़ता है। अशुभ विचार अनायास ही मन में आ जाते हैं। जैसे वृक्ष पर पक्षी सहज रूप से आकर बैठ जाता है वैसे ही अशुभ विचार रूपी पक्षी भी मन में आकर बैठ जाते हैं। इसीलिए भारतीय तत्त्वदर्शियों ने सर्वप्रथम मन में से अशुभ विचार हटाने और शुभ विचारों की ओर उसे लगाने के लिए प्रेरणा दी है। शुभ विचारों की ओर मोड़ना मनोनिग्रह की प्रथम अनिवार्यता है। यदि मन में अशुभ विचारधाराएँ अँगड़ाइयाँ ले रही हों और यदि मन एकाग्र हो गया तो वह एकाग्रता तो और भी अधिक कर्मबन्धन का कारण बन जायेगी। सर्वप्रथम मन की विशुद्धि आवश्यक है, जब मन शुद्ध होता है और उसमें एकाग्रता आती है तब उस एकाग्रता में अपूर्व आनन्द आता है। दीघनिकाय में कहा है–प्रशस्त विचारशील का चित्त ही एकाग्र होता है और पवित्र चित्त की एकाग्रता ही समाधि है।

जब मन शुद्ध होता है तो वचन भी शुद्ध होता है, क्योंकि मन में जो विचार उठता है वही वाणी के द्वारा व्यक्त होता है। अतः जहाँ अभद्र विचारों के लिए निषेध किया है वहाँ अभद्र वाणी के उपयोग का भी निषेध किया है। इसीलिए वचन-प्रतिसंलीनता भी तीन प्रकार की है–अकुशल वचन का निरोध, कुशल वचन का प्रवर्तन और मौन का अवलम्बन। आचार्य जिनदास[१] ने कहा है कि साधक को उसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जिससे चारित्र की शुद्धि होती है। जिस भाषा के प्रयोग से चारित्र अशुद्ध होता हो, वह भाषा असत्य है। साधक सावद्य वचन का प्रयोग नहीं करता, वह निरवद्य भाषा का ही प्रयोग करता है। वचन के साथ ही वह काया की भी संलीनता करता है। साधक के अंगोपांग में चंचलता नहीं होती। शारीरिक चंचलता मानसिक चंचलता व छिछलेपन का प्रतीक है।

स्थिर व शिष्ट आसन और मिष्ट भाषण मूर्ख व्यक्ति को भी ज्ञानी के रूप में प्रस्तुत कर सकता है। भगवान महावीर तथा अन्य अनेक साधकों के सामने सौन्दर्य

१. दशवैकालिकचूर्णि ७

की साक्षात् मूर्तियाँ आईं तो भी उन्होंने उनकी ओर आँख उठाकर नहीं निहारा। यह है काय-प्रतिसंलीनता !

चतुर्थ प्रतिसंलीनता है विविक्त-शयनासन। अतीतकाल में जैन श्रमणों के लिए वैसी आवास व्यवस्था नहीं थी जैसी कि वैदिक ऋषियों के लिए आश्रम व्यवस्था थी। उनके लिए बड़े-बड़े तपोवन और आश्रम थे। बौद्ध श्रमणों के लिए भी विहारों की व्यवस्था थी। गृहपति अनाथपिण्डक का जेतवन और विशाखा मृगारमाता के द्वारा सत्ताईस करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ खर्च करके महाप्रासाद बौद्ध भिक्षुओं के लिए ही बनाया गया था।[1] बौद्ध श्रमणों के लिए विहार और प्रासाद का निर्माण कराना अत्यन्त पुनीत कार्य माना जाता था। भगवान महावीर ने राजगृह में यद्यपि चौदह वर्षावास किये थे, किन्तु एक भी प्रासाद उनके लिए या जैन श्रमणों के लिए निर्मित नहीं हुआ, क्योंकि भगवान महावीर जानते थे कि गृह-निर्माण में अपार हिंसा होती है और उसके साथ ममत्व बुद्धि भी रहती है। इसी कारण अपरिग्रही श्रमण को उसके निमित्त निर्मित आवास में ठहरने का निषेध कर दिया। जिस श्रमण ने स्वयं अपने गृह का त्याग कर दिया वह अपने लिए निर्मित घर में भी नहीं ठहर सकता।

साथ ही श्रमण के लिए यह भी विधान है कि वह ऐसे आवास में निवास करे जहाँ स्त्री, पशु, नपुंसक आदि का वास न हो; जहाँ गृहस्थ सम्बन्धी वार्तालाप सुनाई न देता हो और जिस स्थान पर रहने से किसी के मन में द्वेष की भावना उद्‌बुद्ध न होती हो, अविश्वास न उत्पन्न होता हो। जो स्थान एकान्त हो, शान्त हो और जहाँ रहकर ब्रह्मचर्य की साधना-आराधना सम्यक् प्रकार से हो सकती हो, वहाँ उसे रहना चाहिए। स्थान का प्रभाव साधक के मन पर होता ही है। जैसे शीतल जल अग्नि के संस्पर्श से गरम हो जाता है वैसे ही विकृत वातावरण का प्रभाव भी मन पर हुए बिना नहीं रह सकता। अतः साधक को विकारवर्द्धक स्थानों से दूर रहना चाहिए। जिससे वह साधना अच्छी तरह से कर सके। शून्य और एकान्त शान्त स्थान पर रहने से वह भय से मुक्त होकर साधना कर सकता है। विविक्त शयनासन तप के दो प्रमुख उद्देश्य हैं—(१) ब्रह्मचर्य की सुरक्षा और (२) अभय भाव की साधना।

प्रस्तुत तप का नाम भगवती[2] में 'प्रतिसंलीनता' मिलता है तथा उत्तराध्ययन[3] में संलीनता और विविक्त शयनासन ये दो नाम प्राप्त होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र[4] में भी यह नाम उपलब्ध होता है। इस प्रकार कितने ही ग्रन्थों में 'संलीनता' या

१. विनयपिटक अट्ठकथा
२. भगवती २५/७/८०२
३. उत्तराध्ययन ३-२८
४. तत्त्वार्थसूत्र ९-१९

'प्रतिसंलीनता' और कितने ही ग्रन्थों में 'विविक्त शय्यासन' या 'विविक्त शय्या' का प्रयोग मिलता है। औपपातिक में इसे 'प्रतिसंलीनता' कहा गया है और 'विविक्त शयनासन' उसका एक अवान्तर भेद है। मूलाराधना[1] में कहा है–जहाँ पर शब्द, रस, गंध और स्पर्श के द्वारा चित्तविक्षेप नहीं होता, स्वाध्याय और ध्यान में व्याघात नहीं होता वह 'विविक्त शय्या' है। जहाँ स्त्री, पुरुष और नपुंसक न हो वह 'विविक्त शय्या' है। भले ही उसके द्वार खुले हों या बन्द हों, उसका प्रांगण सम हो या विषम हो, वह गाँव के बाह्य भाग में हो या मध्य भाग में हो, शीत हो या उष्ण हो।

विविक्त शय्या के (१) शून्यगृह, (२) गिरिगुफा, (३) वृक्षमूल, (४) आगन्तुक आगार (विश्राम गृह), (५) देवकुल या कृत्रिम शिलागृह और (६) कूटगृह–ये छह प्रकार हैं। विविक्त शय्या में रहने से (१) कलह, (२) शब्द बाहुल्य, (३) संक्लेश, (४) व्यामोह, (५) असंयमियों के साथ सम्मिश्रण, (६) ममत्व, (७) ध्यान और स्वाध्याय में व्याघात–इन सात दोषों से सहज ही बचा जा सकता है।

इस प्रकार बाह्य तप से अनेक लाभ होते हैं। शारीरिक सुख प्राप्त करने की भावना अपने आप समाप्त हो जाती है, इन्द्रियों का दमन होता है, वीर्य शक्ति का पूर्ण सदुपयोग होता है। आत्मा संवेग और समाधि को प्राप्त होती है। बढ़ती हुई तृष्णा विच्छिन्न हो जाती है। कषाय का निग्रह हो जाता है। विषयों के प्रति उदासीनता उत्पन्न होती है। आहार आदि के प्रति अनुराग की मात्रा कम होने से समाधिमरण के लिए स्थिरता प्राप्त होती है। लाभ और अलाभ में समभाव में रहने की क्षमता प्राप्त होती है। जिससे ध्यान में दृढ़ता आती है। निद्रा, आलस्य और दर्प के नष्ट होने से कुल, गण व शासन की प्रबल प्रभावना होती है। तीर्थंकर की आज्ञा की आराधना होती है। देह-लाघव और शरीर-स्नेह का शोषण होने से राग आदि का उपशम होता है। शरीर स्वस्थ होता है।

इस प्रकार बाह्य तप में विविध प्रकार के लाभ रहे हुए हैं।

आभ्यन्तर तप

(१) प्रायश्चित

तप के जो बारह भेद बताये गये हैं उसमें प्रायश्चित्त तप सातवाँ है। प्रायश्चित्त का अर्थ है पाप का विशोधन करना। पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है।[2] अपराध 'प्रायः' कहलाता है और 'चित्त' का अर्थ शोधन है। जिस

१. मूलाराधना ३-२२८, २२९, २३१, २३२

२. प्रायः पापंविनिर्दिष्टं चित्तं तस्स विशोधनम्। –धर्मसंग्रह ३, अधिकार

प्रक्रिया से अपराध की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है।[1] प्राकृत भाषा में प्रायश्चित्त के लिए 'पायच्छित्त' शब्द आया है। 'पाय' का अर्थ 'पाप' है। जो पाप का छेदन करता है वह 'पायच्छित्त' है।[2] साधक छद्मस्थ है, इसलिए ज्ञात और अज्ञात रूप में उससे भूल हो जाती है। पाप उसके जीवन में लग जाते हैं। भूल होना जितना बुरा नहीं है, उतना बुरा है भूल को भूल न समझना। भूल को भूल समझकर उसकी शुद्धि के लिए प्रयास करना और भविष्य में पुनः उस प्रकार का दोष न लगे, उसके लिए दृढ़ संकल्प करना तथा भूल की शुद्धि के लिए जो प्रक्रिया है, वह प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर है। प्रायश्चित्त में साधक अपने दोष को अपनी इच्छा से प्रकट कर उसे स्वीकार करता है। प्रमादवश यदि दोष लग गया है तो वह साधक उस दोष को गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देता है और उनसे प्रायश्चित्त प्रदान करने के लिए प्रार्थना करता है। गुरुजन उस दोष से मुक्त होने के लिए विधि बताते हैं। इसके विपरीत व्यक्ति स्वयं दण्ड को अपनी इच्छा से नहीं, किन्तु विवशता से स्वीकार करता है। उसके मन में दुष्कृत्य के प्रति किसी भी प्रकार की ग्लानि नहीं होती। अपराधी अपराध को स्वेच्छा से नहीं किन्तु दूसरों के भय से स्वीकार करता है। इस तरह दण्ड ऊपर से थोपा जाता है किन्तु प्रायश्चित्त अन्तर्हृदय से स्वीकार किया जाता है। इसी कारण राजनीति में दण्ड का विधान है तो धर्मनीति में प्रायश्चित्त का विधान है।

जिसका अन्तर्मानस सरल हो, जो पापभीरु हो, जिसके हृदय में आत्म-शुद्धि की तीव्र भावना हो उसी के मन में प्रायश्चित्त लेने की भावना जाग्रत होती है। यदि मन में माया का साम्राज्य होगा तो प्रायश्चित्त से शुद्धीकरण नहीं हो सकता। भूलें अनेक प्रकार की होती हैं। कितनी ही भूलें सामान्य होती हैं और कितनी ही असाधारण होती हैं। सामान्य भूलें भी देश-काल और परिस्थिति के कारण असामान्य हो जाती हैं। अतः सभी प्रकार की भूलों का प्रायश्चित्त एक-सा नहीं होता। भूलों और परिस्थिति के अनुसार प्रायश्चित्त के भी विविध प्रकार बताये गये हैं। भगवती[3] तथा स्थानांग[4] में प्रायश्चित्त के दस प्रकार बताये हैं—(१) आलोचनार्ह, (२) प्रतिक्रमणार्ह, (३) तदुभयार्ह, (४) विवेकार्ह, (५) व्युत्सर्गार्ह, (६) तपार्ह, (७) छेदार्ह, (८) मूलार्ह, (९) अनवस्थाप्यार्ह, (१०) पारांचिकार्ह।

---

१. अपराधी वा प्रायः चित्तं-शुद्धिः। प्रायस चित्तं—प्रायश्चित्तं—अपराध विशुद्धिः।
—राजवार्तिक ९/२२/१

२. पावं छिंदई जम्हा पायच्छित्तं त्ति भण्णइ तेण।
—पंचाशक सटीक विवरण १६/३

३. भगवती २५-७

४. स्थानांग, स्थान १०

तत्त्वार्थसूत्र में प्रायश्चित्त के नौ प्रकार ही बताये हैं। उसमें पारांचिकार्ह प्रायश्चित्त का उल्लेख नहीं है।

(१) आलोचनार्ह

अपना दोष सरल हृदय से गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देना आलोचना है।[१] आलोचना स्व-निन्दा है। पर-निन्दा करना सरल है, पर स्वयं के दोषों को देखकर उनकी निन्दा करना कठिन ही नहीं, कठिनतर है। जिसका मानस बालक के सदृश[२] सरल होता है वही अपने दोषों को प्रकट कर सकता है। भगवती आदि आगमों में स्पष्ट निर्देश है–कृत पापों की आलोचना जब तक नहीं की जाती तब तक हृदय में शल्य बना रहता है[३] और जब तक शल्य है तो वह साधक आराधक नहीं बन सकता। आवश्यक निर्युक्ति[४] में कहा है–"किसी साधक के अन्तर्मानस में आलोचना की भावना उद्‌बुद्ध हुई हो और वह आलोचना के लिए प्रस्थित हुआ हो कि मुझे गुरु के समक्ष जाकर अपने सभी दोषों की आलोचना कर लेनी है। इस भावना से चलते हुए किसी कारणवश उसका निधन हो जाये तो वह साधक आराधक है; क्योंकि उसके अन्तर्मानस में पाप के प्रति पश्चात्ताप भरा हुआ था। आयुष्य पूर्ण हो जाने से यह आलोचना न भी कर सका हो तथापि उसके मन में सरलता होने से वह आराधक बन जाता है।"

जो साधक यह विचार करता है कि 'यदि मैं अपने पापों को प्रकट कर दूँगा तो जन-जन की निगाह से गिर जाऊँगा' इस कारण से वह अपने पापों को प्रकट करने में कतराता है। वह यह सोचता है कि यदि मैंने दोष को स्वीकार कर लिया और प्रायश्चित्त ले लिया तो लोग मुझे दोषी मानेंगे। मेरी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायेगी। वह पाप करके भी पापों को छिपाता है। वह व्यक्ति आलोचना नहीं कर सकता। जब साधक के मन में यह विचार आये–'मैं जब तक पापों को प्रकट न करूँगा वे शल्य की तरह मुझे सदा सालते रहेंगे। अतः मुझे अपना दोष प्रकट कर उस पाप से मुक्त होना चाहिए', तभी वह आलोचना कर सकता है।

आलोचना वही व्यक्ति कर सकता है जो जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चारित्रसम्पन्न, शान्त, दान्त, अमायी, अपश्चात्तापी (अपने

---

१. आ–अभिविधिना सकल दोषाणां, लोचना–गुरुपुरतः प्रकाशना–आलोचना।
–भगवतीसूत्र २५/७ टीका

२. जह बालो जंपेतो कज्जमकज्जं च उज्जयं भवई।
तं तह आलोएज्जा माया मय-विप्पमुक्को उ॥
–ओघनिर्युक्ति ८०१

३. भगवती १०-२

४. आवश्यकनिर्युक्ति ४

दोष को स्वीकार करने में जिसे किसी भी प्रकार से पश्चात्ताप नहीं हो) इन दस गुणों से युक्त हो।[1]

आलोचना ऐसे व्यक्ति के सामने की जानी चाहिए जो ज्ञाता हो। सर्वप्रथम यदि आचार्य या उपाध्याय हों तो उनके समक्ष आलोचना करनी चाहिए। यदि वे न हों तो सांभोगिक बहुश्रुत के पास, वह भी न हो तो जिनके साथ सांभोगिक सम्बन्ध न हों उनके पास, यदि वे भी न हों तो जिसने पूर्व संयम धर्म की आराधना की है किन्तु वर्तमान में जो साधना से च्युत होकर गृहस्थ बन चुका है व ज्ञाता है उसके पास, वह भी न हो तो श्रावक के पास जो ज्ञाता हो और उन सभी के अभाव में जंगल में अरिहंत-सिद्ध भगवान की साक्षी से आलोचना करके शुद्ध होना चाहिए। यह अपवादिक स्थिति है, पर सामान्यतया साधक को बहुश्रुत के सामने आलोचना करनी चाहिए। आलोचना सुनने वाले में निम्न विशेषताएँ होनी चाहिए–

(१) आचारवान, (२) आधारवान (जिसमें ग्रहण व विचारने की शक्ति हो), (३) व्यवहारवान, (पंच व्यवहार का ज्ञाता हो), (४) अप्रवीडक (आलोचक के संकोच को दूर करने वाला), (५) प्रकुर्वक (उसी समय शुद्धिकरण करने में समर्थ), (६) अपरिश्रावी (आलोचक के दोषों को किसी के सामने प्रकट न करने वाला, यदि प्रकट कर दे तो उसको उतना ही प्रायश्चित्त आता है जितना कि आलोचक को), (७) निर्यापक (गुरुतर अपराध करने पर भी शरीर-अस्वस्थता के कारण तपश्चरण करने में असमर्थ हो तो लघु प्रायश्चित्त देकर उसका शुद्धीकरण करने वाला), (८) अपायदर्शी (दोष का प्रायश्चित्त न करने वाले को दोष का परिणाम बताकर प्रायश्चित्त कराने वाला)।

जो साधक आलोचना करने का अभिनय तो करता है पर वह चालाकी व धूर्तता से आलोचना करता है तो वह आलोचना के दोषों का सेवन करता है। आलोचना के, भगवती[2] और स्थानांग[3] में, दस दोष इस प्रकार बताये गये हैं–

(१) आकंपयिता–आलोचना करने वाला चिन्तन करे–'मैं जिनके पास आलोचना कर रहा हूँ, यदि सेवा से उन्हें प्रसन्न करूँ तो वे मुझे कम प्रायश्चित्त देंगे।'

(२) अणुमाणइत्ता–पहले लघु दोषों की आलोचना करके यह देखे कि आचार्य किस प्रकार का दण्ड देते हैं–अधिक दण्ड देते हैं या कम ? या पहले ही पूछकर

---

१. (क) भगवतीसूत्र २५–७ (ख) स्थानांग, स्थान १०, सूत्र ७३३
२. भगवतीसूत्र २५–७
३. स्थानांग १०, ७३३

यह अनुमान लगाना कि अमुक पाप का कितना प्रायश्चित्त आएगा। उसके पश्चात् आलोचना करना।

(३) दिट्ठं–पापकृत्य को करते हुए किसी ने देख लिया हो तो उसकी आलोचना करना।

(४) बायरं–केवल स्थूल दोषों की आलोचना करना।

(५) सुहुमं–लघु दोषों की आलोचना करना।

उपर्युक्त दोषों में यह विचारधारा रही होती है कि जो बड़े से बड़े दोषों की आलोचना कर सकता है वह छोटे दोषों की आलोचना क्यों न करेगा ? अथवा छोटे दोषों की आलोचना कर बड़े दोषों को छिपाने की भावना रहती है। इस तरह मन में धूर्तता रखकर आलोचना करना।

(६) छन्नं–इस प्रकार लज्जा का प्रदर्शन करना और एकान्त स्थान में ले जाकर इतने धीरे और अस्पष्ट शब्दों में आलोचना करना जिससे प्रायश्चित्त देने वाला सुन भी न सके।

(७) सद्दाउलयं–दूसरों को सुनाने के लिए उच्च स्वर से आलोचना करना। इसमें अपने प्रभाव को जमाने की भावना रहती है।

(८) बहुजण–'मैं कितना पापभीरु हूँ, लोग मेरी प्रशंसा करें' इसलिए अनेकों के सामने एक ही दोष की आलोचना करना।

(९) अव्वत्त–ऐसे अ-गीतार्थ व्यक्ति के सामने आलोचना करना, जिसे यह भी ज्ञात न हो कि किस दोष का कितना प्रायश्चित्त आता है।

(१०) तस्सेवी–जिस दोष की आलोचना करनी हो उस दोष का जिसने सेवन कर रखा हो उसके पास आलोचना करना, जिससे वह अधिक न कह सके और प्रायश्चित्त भी कम दे सके।

आलोचक को इन दसों दोषों से बचना चाहिए। जब उसने अपने आपको शुद्ध करने का निश्चय कर लिया है तब गुरुदेव कितना प्रायश्चित्त देंगे आदि के विकल्प को छोड़कर जो भी प्रायश्चित्त मिले उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए।

(२) प्रतिक्रमणार्ह

प्रायश्चित्त का दूसरा भेद प्रतिक्रमण है। साधक जिस क्रिया के द्वारा आत्म-निरीक्षण एवं पश्चात्ताप के द्वारा अपने किये हुए दोष, अपराध एवं पापों का प्रक्षालन करता है, वह प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का अर्थ है 'लौटकर आना'।

प्रमाद के कारण साधक का मन यदि शुभ योग से अशुभ योग में चला जाय तो अशुभ योग से पुनः शुभयोग में आना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण से साधक पाप से निवृत्त होता है। उसके मन में पाप के प्रति घृणा होती है। असावधानी से जो भी स्खलना हुई हो उन भूलों का वह परिमार्जन करता है।

प्रस्तुत विषय का विस्तार से वर्णन 'प्रतिक्रमण' लेख में किया गया है।

(३) तदुभयार्ह

प्रायश्चित्त का तीसरा भेद तदुभयार्ह है। जिस दोष की आलोचना एवं प्रतिक्रमण दोनों करने से शुद्धि होती है, वह तदुभयार्ह है। जैसे एकेन्द्रिय आदि जीवों का संघट्टा (स्पर्श) आदि हो जाने पर उसका प्रतिक्रमण भी किया जाता है, आलोचना भी की जाती है। अतः यह तदुभयार्ह है।

(४) विवेकार्ह

विवेक का अर्थ है त्याग या छोड़ना। आधाकर्म आदि आहार आ जाने पर उस आहार को सविधि परठना पड़ता है तभी उस पाप से मुक्ति मिलती है।

(५) व्युत्सर्गार्ह

नदी आदि को पार करने में तथा मार्ग आदि में चलने से असावधानी के कारण यदि कोई दोष लग गया हो तो कायोत्सर्ग कर उस दोष की विशुद्धि की जाती है।

(६) तपार्ह

जिस दोष की विशुद्धि के लिए आगमोक्त विधि के अनुसार तप किया जाता है, वह तपार्ह है। इसमें आयंबिल आदि षण्मासिक तप आदि का विधान है।

(७) छेदार्ह

'छेद' का अर्थ है–काटना या कम करना। जिस प्रायश्चित्त में दोष की विशुद्धि के लिए दीक्षा-पर्याय का छेदन किया जाता है, वह छेदार्ह है। दोष की गुरुता व लघुता के अनुसार इसमें प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसमें मासिक, चातुर्मासिक व षण्मासिक तक प्रायश्चित्त होता है। प्रस्तुत प्रायश्चित्त के व्यवहार में यह परिणाम आता है कि जितने समय का छेदन किया जाता है उस अवधि में जो दीक्षित है उसको वह नमन आदि करता है। इस प्रायश्चित्त में प्रायश्चित्त लेने वाले के अहं पर सीधा प्रहार होता है, इसलिए यह प्रायश्चित्त अन्य तपों से कठिन है।

(८) मूलार्ह

छद्मस्थ श्रमण कभी-कभी गुरुतर दोष का सेवन कर लेता है जिससे उसका चारित्र नष्ट हो जाता है। ऐसे दोष की शुद्धि आलोचना, तप और छेद से नहीं हो सकती अतः उसके लिए उसमें पुनः महाव्रत आरोपित किये जाते हैं। दीक्षा-पर्याय का पूर्ण छेदन कर नई दीक्षा दी जाती है। महाव्रत मूल है, इसलिए इस प्रायश्चित्त को मूलयोग्य कहा है।

(९) अनवस्थाप्यार्ह

जिस गुरुतर दोष की विशुद्धि के लिए अनवस्थापित होना पड़ता है, श्रमण-संघ से पृथक् होकर गृहस्थ वेष धारण किया जाता है और तप किया जाता है, तथा उसके बाद पुनः नई दीक्षा दी जाती है, वह अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है।

(१०) पारांचिकार्ह

जिस महादोष की विशुद्धि हेतु श्रमण वेश का और क्षेत्र का भी परित्याग कर छह महीने से लेकर बारह वर्ष तक गण, साधु वेष और अपने क्षेत्र को छोड़कर वह जिनकल्पिक श्रमण की तरह उग्र तपस्या करता है, उस अवधि के पूर्ण होने पर पुनः नई दीक्षा लेकर श्रमण-संघ में सम्मिलित होता है, वह पारांचिकार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है।

यह प्रायश्चित्त उन साधकों को आता है जो गण में फूट डालते हैं, फूट डालने की योजना बनाते हैं और उसके लिए प्रयत्नशील रहते हैं, श्रमण को मारने की भावना रखते हैं, मारने की योजना बनाते और उस योजना को सफल बनाने के लिए समय आदि की अन्वेषणा करते हैं। पुनः-पुनः असंयम के स्थानरूप सावद्य अनुष्ठानों की पूछताछ करना, अंगुष्ठ्य, कुड्य आदि प्रश्नों का प्रयोग करना (इन प्रश्नों में अँगूठे या दीवार में देवता बुलाये जा सकते हैं), श्रमणी या महारानी के शीलभंग करने पर भी प्रस्तुत प्रायश्चित्त दिया जाता है।

टीकाकार का अभिमत है कि दसवाँ प्रायश्चित्त विशेष सामर्थ्यवान आचार्य को दिया जाता है। उपाध्याय के लिए नौवें प्रायश्चित्त तक का विधान है और अन्य सामान्य श्रमणों के लिए आठवें प्रायश्चित्त तक का ही विधान है।

प्रायश्चित्त के ये जो विविध प्रकार बताये हैं उन सभी में यह स्पष्ट है कि प्रायश्चित्त वही साधक ग्रहण करता है जिसका हृदय सरल हो और जिसमें दोषमुक्त होने की भावना हो। दोष चाहे कितना ही बड़ा या छोटा हो उसको दोष से

मुक्त बनाया जा सकता है, क्योंकि मूलतः आत्मा दोषी नहीं है। दोष प्रमाद व कषाय के कारण होता है। इसलिए दोष से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त की आवश्यकता रहती है।

(२) विनय

विनय को जिनशासन का मूल कहा है।[1] विनीत का मानस कोमल होता है, उसकी वाणी भी कोमल होती है। जैन आगम साहित्य में विनय शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। वहाँ पर विनय शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है– अनुशासन, आत्म-संयम और नम्रता व सद्व्यवहार।

गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना शिष्य का परम कर्त्तव्य है। यदि गुरुजन शिष्य के हित के लिए मधुर अथवा कठोर शब्दों में उसे हित-शिक्षा दें[2], उस समय वह चिन्तन करे कि गुरुजन मेरे हित के लिए कह रहे हैं, मुझे उनकी शिक्षा का सावधानी से पालन करना चाहिए। गुरु द्वारा अनुशासन करने पर भी शिष्य को कुपित नहीं होना चाहिये।[3] हितकारी और लाभकारी मानकर उसका आचरण करें।

विनय का अर्थ आत्म-संयम भी है। साधक को विवेक-बुद्धि से अपना नियंत्रण करना चाहिए। विनीत आत्मा ही आत्मा-संयम कर सकता है। वही व्यक्ति गुरुजनों का अनुशासन मान सकता है जिसके मन में अनुशासन हो। क्योंकि अनुशासन स्वीकार करने में कभी-कभी मन के प्रतिकूल बात को भी स्वीकार करना होता है, पर जो मन पर नियन्त्रण कर लेता है उसके लिए किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होती। क्योंकि जिसने मन पर अनुशासन करना सीख लिया है उसकी सभी बाधाएँ कपूर की तरह उड़ जाती हैं।

विनय का अर्थ नम्रता और सद्व्यवहार है। विनीत व्यक्ति गुरुजनों के समक्ष सदा विनम्र रहता है। वह गुरुजनों के सामने उच्च आसन पर नहीं बैठता, उसका आसन नीचा होता है। वह अंजलिबद्ध होकर गुरुजनों को नमस्कार करता है।[4] उसके किसी भी व्यवहार में अहंकार नहीं झलकता। सदा नम्रता टपकती रहती है। यदि गुरुजन उसे बुलायें तो वह अपने आसन पर न बैठा रहे, किन्तु खड़े होकर नमस्कार मुद्रा में गुरुदेव से पूछे–क्या आज्ञा है? वह गुरुजनों से अत्यधिक दूर जाकर न बैठे और न अत्यन्त समीप ही जिससे उन्हें कष्ट हो। गुरुजनों के सामने

---

१. धम्मस्स विणओ मूलं। —दशवैकालिक ९/२/२
२. फरुसं पि अणुसासणं। —उत्तराध्ययन १/२९
३. अणुसासिओ न कुप्पेज्जा। —वही १/९
४. (क) उत्तराध्ययन १-७ (ख) दशवैकालिक ९-२-१७

पैर पसारकर बैठना, अभिमान के साथ पैर पर पैर रखकर बैठना, उनके आगे-आगे चलना, उनसे बिलकुल सटकर चलना, वार्तालाप में उनके बीच में बोलना अविनय है। वह सदा गुरुजनों का विनय करता है। कहा भी है, अपने से बड़ों के प्रति सदा विनय रखना चाहिए।[1]

आचार्य अभयदेव ने स्थानांग वृत्ति[2] में लिखा है–जिससे आठ कर्म का वि + नय (वि = विशेष, नय = दूर होना) होता है, जिससे चार गति का अन्त करने वाले मोक्ष की उपलब्धि होती है, उसे सर्वज्ञ ने विनय कहा है। कर्म को नष्ट करने वाला होने से उसे विनय कहा गया है।

विनय हमारे सम्पूर्ण जीवन और आचरण को सजाने व सँवारने वाला है। जिसमें विनय का अभाव है, वह धर्म की आराधना नहीं कर सकता। नम्रता के अभाव में तप संयम की आराधना नहीं हो सकती। जैसे पृथ्वी समस्त जीवों का आधार है वैसे ही समस्त सद्गुणों का आधार विनय है। विनीत व्यक्ति के पास समस्त विद्याएँ और सद्गुण चुम्बक की तरह खिंचे चले आते हैं। जिस प्रकार सुशील कन्या सत्पुरुष को पाकर अपने आपको धन्य अनुभव करती है, वैसे ही विनीत साधक को पाकर सद्गुरु अपने को धन्य अनुभव करते हैं।

भगवती[3], स्थानांग[4] और औपपातिक[5] में विनय के सात प्रकार बताये हैं– (१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय, (४) मनोविनय, (५) वचन-विनय, (६) कायविनय, और (७) लोकोपचारविनय।

(१) ज्ञानविनय–इसका अर्थ है–ज्ञानी का विनय करना। ज्ञानी का आदर करना आवश्यक है। जिस समाज, संघ में ज्ञानियों की पूजा और अर्चना होती है वह निरन्तर उन्नति के पथ पर बढ़ता है, क्योंकि ज्ञानी उस समाज का पथ-प्रदर्शक होता है।

यूनान के महान् दार्शनिक अरस्तू का अभिमत था कि शासक को दार्शनिक यानी विद्वान् होना चाहिए। विद्वान् दार्शनिक को शासन-सूत्र सँभालना चाहिए।

---

१. रायणिएसु विणयं पउंजे। –दशवैकालिक ८/४१

२. जम्हा विणयइ कम्मं अट्ठविहं चाउरंतमोक्खाय।
तम्हा उ वयंति विउ विणयं ति विलीणसंसारा॥ –स्थानांग ६ टीका

३. भगवती २५-७

४. स्थानांग ७/५८५

५. औपपातिक–तप वर्णन

ज्ञानी का विनय होने से ज्ञान की महिमा और गरिमा का सभी को परिज्ञान होता है। जिस समाज में ज्ञानियों का बहुमान हुआ उस समाज का अत्यधिक विकास हुआ।

यहूदी समाज में विद्वानों और गुणवानों का अत्यधिक सम्मान होता है जिसके कारण उस समाज में आईन्स्टीन जैसा विश्वविश्रुत वैज्ञानिक उत्पन्न हुआ तथा अन्य अनेक वैज्ञानिक चिन्तक भी समय-समय पर उस समाज में उत्पन्न होते रहे हैं। अमेरिका और रूस ने ज्ञान-विज्ञान के नित नये क्षितिजों का जो उद्घाटन किया उसकामूल कारण भी वहाँ के वैज्ञानिकों और साहित्यकारों की आदर-भावना है। अतीत काल में भारत में भी ज्ञानियों का और साहित्यकारों का सम्मान होता था जिसके फलस्वरूप यहाँ अनेक मनीषी चिन्तक उत्पन्न हुए जिन्होंने भारतीय संस्कृति की काफी उन्नति की।

आचार्य सय्यंभव[1] ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है–जिस गुरुजन से एक भी पद सीखने को प्राप्त हो उसका विनय और सत्कार करना चाहिए। नमस्कार कर उसका अभिवादन करना चाहिए। ज्ञान विनय के मतिज्ञानी का विनय, श्रुतज्ञानी का विनय, अवधिज्ञानी का विनय, मनःपर्यवज्ञानी का विनय और केवलज्ञानी का विनय–ये पाँच प्रकार हैं।

(२) दर्शनविनय–इसका अभिप्राय है–सम्यग्दृष्टि का आदर और उनकी शुश्रूषा करना एवं अनाशातना। अनाशातना का अर्थ है–देव, गुरु, धर्म आदि रत्नत्रय की अवहेलना व अपमान न हो इस प्रकार का व्यवहार करना। जिस व्यवहार से किसी भी प्रकार की असभ्यता, अशिष्टता झलके उस प्रकार का व्यवहार न करना। अरिहन्त, अरिहन्त-प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, क्रियावन्त, सम आचार वाले सन्त, पाँच ज्ञान के धारक, इन पन्द्रह की आशातना न करना; उनका बहुमान करना और उनकी स्तुति करना–इस प्रकार आशातना[2] के १५ × ३ = ४५[3] भेद होते हैं। कहीं-कहीं पर आशातना के ३३ भेद भी बताये हैं।

जैन मनीषियों ने जो शिष्यों की आचार संहिता का निर्माण किया है, वह अत्यन्त अद्भुत है। शिष्य को गुरुजनों का किस तरह से सम्मान करना चाहिए, उनके साथ किस तरह का व्यवहार करना चाहिए, किस प्रकार विवेकपूर्वक उनके

---

१. जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे तस्संतिए वेणइयं पउंजे। –दशवैकालिक ९/१/१२

२. भगवतीसूत्र २५/७

३. दशाश्रुतस्कन्ध ३/१-३३

सामने उपस्थित होना चाहिए, आदि सारी बातें अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रस्तुत की गई हैं।

(३) चारित्रविनय–सामायिकचारित्र, छेदोपस्थापनीयचारित्र आदि ५ चारित्रनिष्ठ जो चारित्रात्मा हैं उनके प्रति विनय करना, उनकी सेवा, भक्ति और स्तुति करना चारित्रविनय है।

(४) मनोविनय–इसका अर्थ है–मन को पवित्र कार्यों में लगाना और अप्रशस्त कार्यों से हटाना। हमारा मन सदा-सर्वदा पवित्र विचारों से ओत-प्रोत रहे, निर्दोष और उच्च विचारों से भावित रहे, यह मनोविनय है।

(५) वचनविनय–इसी प्रकार वचनविनय में भी अप्रशस्त शब्दों का प्रयोग न कर प्रशस्त वाणी का प्रयोग किया जाता है।

(६) कायविनय–चलना, ठहरना, बैठना, सोना जितनी भी काय सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ हैं, वे सब उपयोगपूर्वक करना, कायविनय है।

(७) लोकोपचारविनय–इस विनय से लोक व्यवहार की कुशलता सहज ही उपलब्ध होती है। इसके सात भेद हैं–(१) अभ्यासवर्तित, (गुरु आदि के सन्निकट रहना), (२) परछन्दानुवर्ती (गुरु आदि वरिष्ठ व्यक्तियों की इच्छानुसार कार्य करना), (३) कार्य हेतु (गुरुजनों के कार्यों में सहयोग करना), (४) कृतप्रतिकृत्य (गुरु द्वारा जो उपकार किये गये हैं उनका स्मरण करके उनके प्रति कृतज्ञ होना), (५) आर्त गवेषणा (रुग्ण श्रमणों के लिए औषधि एवं पथ्य की गवेषणा करना), (६) देशकाल ज्ञाता (देश और समय के अनुसार व्यवहार करना), और (७) सर्वत्र अप्रतिलोमता (किसी के विरुद्ध आचरण न करना)।

विशेषावश्यकभाष्य में विनय के पाँच प्रकार बताये हैं–(१) लोकोपचार–माता-पिता, अध्यापक आदि का विनय करना; (२) अर्थविनय–अर्थ आदि के लिए सेठ, मैनेजर आदि का विनय करना; (३) कामविनय–काम वासना की पूर्ति हेतु स्त्री आदि की प्रशंसा करना, उनका विनय करना; (४) भयविनय–अपराध होने पर अधिकारी व्यक्ति का विनय करना (५) मोक्षविनय–आत्म-कल्याण हेतु सद्गुरु आदि का विनय करना।

प्रथम चार प्रकार के विनय में चापलूसी करके अपनी सांसारिक इच्छाएँ तृप्त करने की भावना होती है, किन्तु मोक्षविनय में एकान्त निर्जरा रही हुई है। अतः मोक्षविनय ही सर्वोपरि है।

(३) वैयावृत्य

मानव सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने से परस्पर एक-दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रहती है। यदि कोई व्यक्ति संकटों के दलदल में फँसा हुआ है तो दूसरा व्यक्ति उसे उस दलदल से निकालने का प्रयास करता है। यदि कोई व्यक्ति अस्वस्थ है, शारीरिक व्याधि से ग्रसित है तो दूसरा उसकी सेवा कर उसे रोग से मुक्त करने का प्रयास करता है। परस्पर सहयोग और सेवा की जो भावना है, वही सामाजिकता है।

मानव के सहयोग की भावना के पीछे पवित्र और उच्च विचार अठखेलियाँ करते हैं। उसके हृदय में स्नेह-सौजन्य की सरस सरिता प्रवाहित होती है। समय-समय पर सेवा, परोपकार की उदात्त लहरें भी तरंगित होती हैं। सेवा की निर्मल भावना के कारण मानव पशुता से हटकर देवत्व की ओर अग्रसर होता है। श्रीमद्भगवद्गीता[1] में कहा है–निःस्वार्थ वृत्ति से परस्पर एक-दूसरे का सहयोग करते हुए दूसरे के कार्य में हाथ बँटाते हुए परम कल्याण को प्राप्त होंगे। ऋग्वेद[2] में मानव को एक-दूसरे के प्रति समर्पित होने का सन्देश देते हुए कहा है–"तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं। हम एक-दूसरे के सहयोग के लिए पूर्ण तत्पर हैं।"

जैन धर्म में, 'परस्परोपग्रह' की भावना व्यापक रूप से पनपी है। इसे आत्म-विकास व जीवनोत्थान के लिए आवश्यक माना है।

सेवा और शुश्रूषा, पर्युपासना, साधर्मिकवात्सल्य, ये सभी वैयावृत्य के ही रूप हैं।

एक जिज्ञासु ने भगवान महावीर से यह जिज्ञासा प्रस्तुत की कि तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन कैसे किया जाये ? भगवान ने समाधान दिया[3]– वैयावृत्य से तीर्थंकर नाम-गोत्र का उपार्जन किया जा सकता है। ज्ञातासूत्र[4], आवश्यकनियुक्ति[5], तत्त्वार्थसूत्र[6] आदि जहाँ भी तीर्थंकर नाम कर्म बाँधने के कारणों का उल्लेख हुआ है उनमें सेवा प्रमुख रही है। स्थानांग[7] में कहा है–रोगी, नवदीक्षित, आचार्य आदि की सेवा करता हुआ साधक महान् निर्जरा और महान्

---

१. परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ। –भगवद्गीता ३/११
२. त्वमस्माकं तवस्मसि। –ऋग्वेद ८/९२/३२
३. वेयावच्चेणं तित्थियरनाम गोयं कम्मं निबंधेइ। –उत्तराध्ययन २९/४४
४. ज्ञातासूत्र ८
५. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १७२–१७५
६. तत्त्वार्थसूत्र ६-२३
७. स्थानांग ५-१

पर्यवसान अर्थात् परम मुक्तिपद को प्राप्त कर लेता है। सेवा मुक्ति प्रदान करने वाली है। आवश्यकचूर्णि[1] आदि प्राचीन ग्रन्थों से यह भी स्पष्ट होता है कि चक्रवर्ती भरत और उत्कृष्ट बल के धनी बाहुबली भी सेवा के फलस्वरूप ही इस गौरवपूर्ण पद को प्राप्त कर सके।

साधक का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि वह वैयावृत्य करे। वह यह न सोचे कि पहले मुझे ज्ञान-ध्यान करना है, उसके बाद यदि समय मिल गया तो सेवा कर लूँगा। इस प्रकार सोचकर यदि वह सेवा की उपेक्षा करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी है। उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। जो साधक सेवा की उपेक्षा करता है उसकी समूह के बीच भर्त्सना करनी चाहिए, क्योंकि जिसने सेवा की उपेक्षा की है उसने धर्म संघ की उपेक्षा की है, तीर्थंकर की आज्ञा की उपेक्षा की है। नर-सेवा ही नारायण-सेवा है। जो दूसरों को समाधि पहुँचाता है वही समाधि प्राप्त करता है। "करो सेवा, पाओ मेवा" इसीलिए कहा गया है। स्थानांग[2], भगवती[3] आदि में वैयावृत्य के दस प्रकार बताये हैं–

(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) स्थविर, (४) तपस्वी, (५) रोगी, (६) नव-दीक्षित मुनि, (७) कुल, (८) गण, (९) संघ, और (१०) साधर्मिक की सेवा।

इन दस की आवश्यकता होने पर भोजन देना, पानी देना, सोने के लिए शय्या प्रदान करना, आसन देना, उनके आसन आदि की प्रतिलेखना करना, उनके पाँव पोंछना, रुग्ण होने पर दवा आदि का प्रबन्ध करना, चलने पर यदि उनके कदम लहराते हों तो उन्हें सहारा देना, राजा आदि के क्रुद्ध होने पर आचार्य, संघ आदि की रक्षा करना, चोर आदि से उन्हें बचाना, यदि किसी ने किसी दोष का सेवन किया हो तो स्नेहपूर्वक उसके दोष की विशुद्धि करना, शारीरिक आवश्यकता होने पर उसे उपयुक्त सहयोग देना, उसके मल-मूत्र को अग्लान भाव से साफ करना। इस प्रकार जिस तरह जिसे सेवा की आवश्कता हो उस तरह से सेवा कर सेवा का आदर्श उपस्थित करना, वैयावृत्य है।

(४) स्वाध्याय

स्वाध्याय मन को विशुद्ध बनाने का एक श्रेष्ठ प्रयास है। अपना अपने ही भीतर अध्ययन, आत्म-चिन्तन, मनन ही स्वाध्याय है। सत्शास्त्रों का मर्यादापूर्वक पढ़ना, विधिसहित श्रेष्ठ पुस्तकों का अध्ययन करना स्वाध्याय है।

स्वाध्याय का चिन्तन हम अग्र शीर्षकों में प्रस्तुत कर रहे हैं–

---

१. आवश्यकचूर्णि, पृ. १३३ २. स्थानांग १० ३. भगवती २५-७

स्वाध्याय तप : एक अनुचिन्तन

स्वाध्याय दीपक है–भारतीय संस्कृति में स्वाध्याय का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आगम, त्रिपिटक और वेद सभी ने एक स्वर से स्वाध्याय की यशोगाथा गाई है। स्वाध्याय अंधकारपूर्ण जीवन-पथ को आलोकित करने के लिए जगमगाते दीपक के समान है जिसके दिव्य आलोक में हेय, ज्ञेय और उपादेय का परिज्ञान होता है।

स्वाध्याय, संजीवनी बूटी–शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की–भगवन् ! स्वाध्याय से किस गुण की उपलब्धि होती है? भगवान ने समाधान दिया कि स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।[1] स्वाध्याय से आत्मा में निर्मल ज्ञान की ज्योति जगमगाती है। ज्ञान का दिव्य व भव्य प्रकाश जीवन को आलोकित कर देता है। जीवन में जो कुछ भी दुःख-दैन्य के काले कजरारे बादल उमड़-घुमड़कर मँडराते हैं, उसका मूल अज्ञान है। साधना का लक्ष्य उस अज्ञान को नष्ट करना है। अज्ञान-रूपी रोग को नष्ट करने के लिए स्वाध्याय संजीवनी बूटी है। स्वाध्याय अन्तः प्रेक्षण है। बिना स्वाध्याय के ज्ञान-दीप प्रज्वलित नहीं हो सकता।

स्वाध्याय : नन्दनवन–स्वाध्याय को शास्त्रकारों ने नन्दनवन की उपमा दी है। नन्दनवन में चारों ओर एक-से-एक रमणीय, मन को आह्लादित करने वाले दृश्य हैं, जहाँ पहुँचकर मानव सभी प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधि को विस्मृत कर देता है और आनन्द के झूले में झूलने लगता है। उसी प्रकार स्वाध्यायरूपी नन्दनवन में पहुँचकर मानव अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। स्वाध्याय करते समय कभी जीवन को आमूलचूल परिवर्तन करने वाली शिक्षाएँ मिलती हैं तो कभी स्वर्ग और नरक के दृश्यों का वर्णन प्राप्त होता है तो कभी महापुरुषों के जीवन की दिव्य व भव्य झाँकियाँ पढ़ने को मिलती हैं। जब कभी भी आपका मन हताश व निराश हो, जीवन भार रूप प्रतीत होता हो, तब आप स्वाध्याय कीजिए, आपके जीवन में नवीन आशा व उल्लास का संचार हो जाएगा। नवीन स्फूर्ति अँगड़ाइयाँ लेने लगेंगी।

स्वाध्याय और योग–योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने कहा–स्वाध्याय से योग की प्राप्ति होती है और योग से स्वाध्याय की साधना होती है। जो साधक स्वाध्यायमूलक योग की सम्यक् साधना करता है, उसके समक्ष परमात्मा प्रकट हो जाता है अर्थात् वह स्वयं परमात्मा बन जाता है।[2]

स्वाध्याय वाणी का तप है, जिससे हृदय का मैल नष्ट होकर वह निर्मल होता है। अन्तस् के ज्ञानदीप को प्रज्वलित करने के लिए स्वाध्याय आवश्यक ही नहीं,

---

१. उत्तराध्ययन २९/१९

२. योगदर्शन १/२८, व्यासभाष्य

अनिवार्य है। योगशिखोपनिषद्कार ने कहा है–जैसे लकड़ी में रही हुई अग्नि बिना घर्षण के प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान-दीपक जो हमारे भीतर ही विद्यमान है, स्वाध्याय के अभ्यास के बिना प्रदीप्त नहीं हो सकता।

ध्यान और स्वाध्याय–स्वाध्याय और ध्यान का भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वाध्याय में अपने आपका चिन्तन प्रमुख होता है तो ध्यान में भी ध्याता ध्येय बन जाता है। जब ध्याता किसी अन्य वस्तु का अवलम्बन न लेकर स्वयं अपने को ही अपना विषय बनाता है तो वह उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है। आचार्य पतंजलि ने इसे निर्बीज समाधि कहा है। इस दृष्टि से ध्यान और स्वाध्याय में कोई अन्तर नहीं है। ध्यान से चित्त एकाग्र होता है तो स्वाध्याय से भी चित्त में एकाग्रता आती है।

बौद्ध वाङ्मय में स्वाध्याय के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन करते हुए लिखा है–जो प्रतिदिन स्वाध्याय करता है उसके ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। उसका ज्ञान शतशाखी होकर निरन्तर बढ़ता रहता है।

स्वाध्याय : चिन्तामणि–स्वाध्यायरूपी चिन्तामणि रत्न जिसे मिल जाता है, उसके सामने कुबेर का रत्न-कोष भी कुछ मूल्य नहीं रखता है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्वाध्याय को 'सर्वदुःखविमोचक' कहा है।[1] स्वाध्याय सब भावों का प्रकाश करने वाला है।[2] यही कारण है कि जैन संस्कृति में प्रत्येक श्रमण और श्रमणी के दैनिक जीवन में स्वाध्याय को आवश्यक स्थान दिया गया है। दिन और रात्रि के आठ प्रहर होते हैं। प्रथम और चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय का विधान किया गया है।[3] इस प्रकार आठ प्रहर में चार प्रहर का समय स्वाध्याय में व्यतीत करना चाहिए।[4] जो साधक इस विधान को भंग करता है[5] तो उस भूल का वह प्रातः व सन्ध्या के समय प्रतिक्रमण करता है। प्रथम प्रहर में सूत्र का स्वाध्याय किया जाता है, और द्वितीय प्रहर में उस सूत्र के अर्थों पर चिन्तनमनन किया जाता है, इसलिए प्रथम प्रहर को सूत्र-पोरसी और द्वितीय प्रहर को अर्थ-पोरसी भी कहा जाता है।[6]

स्वाध्याय और समाधि–श्रमण भगवान महावीर ने चार प्रकार की समाधियों का वर्णन किया है–विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचारसमाधि[7]। इन चार समाधियों में श्रुतसमाधि का स्थान द्वितीय है। विनयसमाधि की नींव पर ही श्रुतसमाधि का भव्यप्रासाद खड़ा होता है। श्रुतसमाधि होने पर ही तप और आचारसमाधि हो सकती है। बिना स्वाध्याय के श्रुतसमाधि कदापि नहीं हो सकती।

---

१. उत्तराध्ययन २६/१०
२. वही २६/३७
३. वही २६/१२
४. आवश्यकचूर्णि, जिनदास महत्तर
५. आवश्यकसूत्र
६. वही
७. दशवैकालिक ९/४/३

शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की–भगवन् ! आपने कहा कि शास्त्र-स्वाध्याय से समाधि उपलब्ध होती है तो कृपया बताइए कि समाधि मिलने के क्या हेतु हैं?

भगवान ने समाधान करते हुए फरमाया–स्वाध्याय से श्रुतज्ञान का लाभ होता है, मन की चंचलता नष्ट होती है, आत्मा आत्मभाव में स्थिर होता है।

स्थानांग[1] में प्रकारान्तर से प्रस्तुत बात को इस प्रकार कहा है–

(१) स्वाध्याय से श्रुत का संग्रह होता है।

(२) शिष्य श्रुतज्ञान से उपकृत होता है, वह प्रेम से श्रुत की सेवा करता है।

(३) स्वाध्याय से ज्ञान के प्रतिबंधक कर्म निर्जरित होते हैं।

(४) अभ्यस्त श्रुत विशेष रूप से स्थिर होता है।

(५) निरन्तर स्वाध्याय किया जाय तो सूत्र विच्छिन्न भी नहीं होते।

आगम साहित्य के अध्ययन, चिन्तन, मनन करने से अनेकानेक सद्गुणों का विकास होता है। ज्ञान की वृद्धि, सम्यग्दर्शन की शुद्धि, चारित्र की संवृद्धि होती है और मिथ्यात्व नष्ट होकर सत्य तथ्य को प्राप्त करने की तीव्र जिज्ञासा वृत्ति जाग्रत होती है।[2]

आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक[3] में प्रस्तुत तथ्य को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है–

(१) स्वाध्याय से बुद्धि की निर्मलता होती है।

(२) प्रशस्त अध्यवसाय की प्राप्ति होती है।

(३) शासन की रक्षा होती है।

(४) संशय की निवृत्ति होती है।

(५) परवादियों की शंकाओं के निरसन की शक्ति प्राप्त होती है।

(६) तप-त्याग की वृद्धि होती है।

(७) अतिचारों की शुद्धि होती है।

स्वाध्याय : आत्मा की खुराक–स्वाध्याय आत्मा की खुराक है जो प्रतिदिन आवश्यक है। वैदिक ऋषि ने तो स्वाध्याय का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए यहाँ तक कहा है कि यथायोग्य सदाचार पालन, स्वाध्याय एवं प्रवचन कर्म किये जाने योग्य

१. स्थानांग, ५ २. वही, ५ ३. तत्त्वार्थराजवार्तिक

हैं; सत्य, स्वाध्याय एवं-प्रवचनप-कर्म पालन करने योग्य हैं; इन्द्रिय-दमन, स्वाध्याय एवं प्रवचन-कर्म-किये जाने योग्य हैं; बाह्येन्द्रिय दमन, स्वाध्याय एवं प्रवचन किये जाने योग्य हैं; लौकिक व्यवहार, स्वाध्याय एवं प्रवचन किये जाने योग्य हैं। इस प्रकार प्रत्येक कार्य के साथ स्वाध्याय और प्रवचन शब्द को जोड़कर इस ओर संकेत किया गया है कि जीवन में इसका अत्यधिक गहरा महत्त्व है।[1]

ज्ञानरूपी दीप को निरन्तर प्रज्वलित रखने के लिए स्वाध्यायरूपी स्नेह की नितान्त आवश्यकता है।

स्वाध्यायान्मा प्रमदः–प्राचीन युग में बारह वर्ष तक शिष्य गुरुकुल में रहकर, अध्ययन पूर्ण कर पुनः घर लौटता तब आचार्य आशीर्वाद के रूप में तीन शिक्षाएँ देता–

(१) सत्यं वद, (२) धर्मं चर, (३) स्वाध्यान्मा प्रमदः ।

आचार्य प्रथम सत्य बोलने के लिए और धर्म के आचरण के लिए कहता और फिर स्वाध्याय के लिए । सत्य व धर्म के मर्म को समझने के लिए स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए आचार्य ने उस पर बल देते हुए कहा–वत्स ! स्वाध्याय में प्रमाद न करना। यहाँ रहकर तुमने जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त किया है उसे कभी भी क्षीण न होने देना। स्वाध्याय से अभिनव ज्ञान की तो वृद्धि होगी ही, साथ ही पहले पढ़े हुए ज्ञान में भी ताजगी आएगी। कितनी सुन्दर प्रेरणा है।

स्वाध्याय परम तप–भगवान महावीर ने द्वादश प्रकार के तपों में स्वाध्याय को आभ्यन्तर तप में स्थान दिया है। एक जैनाचार्य ने तो स्वाध्याय को परम तप कहा है। अनशन आदि तप भी स्वाध्याय के लिए ही हैं।

स्वाध्याय की परिभाषा

अब हमें चिन्तन करना है कि स्वाध्याय क्या है? आचार्यों ने स्वाध्याय शब्द के अनेक अर्थ किये हैं–

"अध्ययनं अध्यायः शोभनो अध्यायः स्वाध्यायः।"[2]–सु–अध्याय अर्थात् श्रेष्ठ अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। तात्पर्य यह है कि आत्मकल्याणकारी पठन-पाठन रूप श्रेष्ठ अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है।

आचार्य अभयदेव ने 'सु' 'आङ्' और 'अध्याय'–'सु' का अर्थ है 'सुष्ठु'–भलीभाँति, 'आङ्'–मर्यादा के साथ तथा अध्याय, अध्ययन करने को स्वाध्याय कहा है।[3]

---

१. तैतिरीयोपनिषद् २. आवश्यकसूत्र, ४, अ. ३. स्थानांग २, २३०

वैदिक विद्वान् ने स्वाध्याय का अर्थ किया है कि (स्वयमध्ययनम्) किसी अन्य की सहायता के बिना स्वयं ही अध्ययन करना, अध्ययन किये हुए का मनन और निदिध्यासन करना। इसका दूसरा अर्थ किया कि (स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्) अपने आपका अध्ययन करना, साथ ही यह चिन्तन करना कि स्वयं का जीवन उन्नत हो रहा है या नहीं।

स्वाध्याय शब्द का दूसरी प्रकार से भी पद विभाग किया गया है, वह है–"स्वेन स्वस्य अध्ययनं–स्वाध्यायः"–इसका अर्थ है–स्वयं द्वारा स्वयं का अध्ययन करना।

स्वाध्याय के प्रकार

भगवान महावीर ने स्वाध्याय के पाँच प्रकार बताये हैं–वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।

वाचना–सद्गुरुवर्य के मुँह से सूत्र-पाठ लेना और जैसा उसका उच्चारण करना चाहिए उसी प्रकार उच्चारण करना वाचना है। वाचना में सूत्र के शब्दों पर पूर्ण ध्यान दिया जाता है। हीनाक्षर, अत्यक्षर, पदहीन, घोषहीन आदि दोषों से पूर्ण रूप से बचने का प्रयास होता है।

पृच्छना–स्वाध्याय का यह दूसरा भेद है। सूत्र और उसके अर्थ पर भलीभाँति खूब तर्क-वितर्क, चिन्तन-मनन करना चाहिए और जहाँ पर शंका उपबुद्ध हो उसका गुरुदेव से पूछकर समाधान करना चाहिए।

परिवर्तना–यह स्वाध्याय का तीसरा भेद है। एक ही सूत्र को पुनः-पुनः गिनना परिवर्तना है। इससे पढ़ा हुआ ज्ञान विस्मृत नहीं होता है।

अनुप्रेक्षा–जो सूत्र वाचना ग्रहण की है, उस पर तात्त्विक दृष्टि से गंभीर चिन्तन करना। अनुप्रेक्षा से ज्ञान में चमक-दमक पैदा होती है। यह स्वाध्याय का महत्त्वपूर्ण भेद है।

धर्मकथा–सूत्र-वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा से जब तत्त्व का रहस्य हृदयंगम हो जाये तब उस पर प्रवचन करना धर्मकथा है। चिन्तन-मनन के पश्चात् ही विचारामृत को जन-जन के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। धर्मकथा की यह प्रक्रिया मधुमक्खी की प्रक्रिया है। मधुमक्खी विविध रंगों के सुवासित फूलों का रस लेती है और अपनी प्रक्रिया से इस प्रकार का संतुलन और सामंजस्य स्थापित करती है कि उन रसों से जो मधु बनता है वह विविध प्रकार का नहीं होता, उसका रंग भी एक होता है जो लाभकारी और मधुर होता है। इसी प्रकार धर्मकथा भी स्व-पर-कल्याणकारी होती है।

भगवान महावीर ने स्वाध्याय का जो यह क्रम प्रस्तुत किया वह बहुत ही सुन्दर और वैज्ञानिक है। इस क्रम में शब्द और अर्थ दोनों की पूर्ण रूप से रक्षा की जाती है।

स्वाध्याय के नियम

स्वाध्याय के सम्बन्ध में आधुनिक चिंतकों ने कुछ नियम प्रस्तुत किये हैं, उन नियमों की ओर लक्ष्य दिया जाय तो स्वाध्याय में विशेष आनन्द प्राप्त हो सकता है। वे नियम इस प्रकार हैं–

(१) एकाग्रता–स्वाध्याय में एकाग्रता होना अतीव आवश्यक है। जब तक मानसिक चंचलता रहेगी, तब तक स्वाध्याय का आनन्द नहीं आ सकता और न सूत्र का रहस्य ही हृदयंगम हो सकता है।

(२) नैरन्तर्य–स्वाध्याय में विक्षेप नहीं होना चाहिए। प्रतिदिन नियमानुसार स्वाध्याय करना चाहिए।

(३) विषयोपरति–स्वाध्याय हेतु ग्रंथों का चयन करते समय सदा यह लक्ष्य रखना चाहिए कि हम विषय-वासना से ऊपर उठें; राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्गुणों से बचें और इसके लिए ऐसे ही ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए जिनके पढ़ने से विषय-विकार और कषायों की ओर चित्तवृत्ति न जाय।

(४) प्रकाश की उत्कंठा–स्वाध्याय करते समय साधक को यह दृढ़ आत्म-विश्वास होना चाहिए कि मेरी अन्तरात्मा में अपूर्व प्रकाश फैल रहा है। मेरा शुभ संकल्प दृढ़ हो रहा है।

(५) स्वाध्याय का स्थान–स्वाध्याय के लिए स्थान की अनुकूलता भी आवश्यक है। स्थान एकान्त, कोलाहलरहित व स्वच्छ होना चाहिए।

स्वाध्याय और ग्रन्थ–स्वाध्याय किन ग्रंथों का करना चाहिए, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। आजकल स्वाध्याय के नाम पर आधुनिक कामप्रधान गंदे उपन्यास, कहानियाँ व नाटकों को पढ़ने की परम्परा निरन्तर बढ़ रही है और इस प्रकार के साहित्य का अत्यधिक प्रचार हो रहा है जो सांस्कृतिक व नैतिक दृष्टि से अत्यधिक घातक है। इस प्रकार का विकारवर्धक साहित्य पढ़ना स्वाध्याय नहीं है। यह तो स्वाध्याय के नाम पर आत्म-वंचना करना है। अतः स्वाध्याय के लिए वे ही ग्रंथ उपयोगी हैं जिनके पठन-पाठन से अहिंसा, संयम व तप की भावना उद्‌बुद्ध होती हो।

स्वाध्याय-योग्य ग्रंथों के प्रकार

आगम साहित्य को अंग, उपांग, मूल, छेद आदि के रूप में विभक्त किया गया है और कालिक व उत्कालिक रूप में भी। कालिक श्रुत वह है जो प्रथम व अन्तिम प्रहर में पढ़े जाते हैं; बीच के प्रहरों में नहीं। उत्कालिक वे हैं जो चारों प्रहरों में पढ़े जा सकते हैं। जिस आगम का जो काल नहीं है, उस काल में उस शास्त्र का स्वाध्याय करना ज्ञानातिचार है, और जो काल स्वाध्याय के लिए नियत किया है उस समय स्वाध्याय न करना भी अतिचार है। क्योंकि स्वाध्याय का समय होते हुए भी प्रमादवश जो साधक स्वाध्याय नहीं करता है वह ज्ञान का अपमान करता है और ज्ञान का द्वार बन्द करता है।

अस्वाध्याय के प्रकार

हम पूर्व बता चुके हैं कि स्वाध्याय करने वाले साधक को सदा विवेक रखना चाहिए। जो स्थान स्वाध्याय के अयोग्य हों वहाँ पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अस्वाध्याय के कारण विद्यमान होने पर भी जो स्वाध्याय करता है तो उसे ज्ञानातिचार लगता है और जो स्वाध्याय का अनुकूल स्थान होने पर भी स्वाध्याय नहीं करता, उसे भी ज्ञानातिचार लगता है।

अस्वाध्याय के मूल दो भेद किये हैं–आत्म-समुत्थ और पर-समुत्थ। अपने व्रण से होने वाले रुधिरादि आत्म-समुत्थ कहलाते हैं और दूसरों से होने वाले पर-समुत्थ कहलाते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति, चूर्णि व आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति में इस विषय पर बहुत ही विस्तार से चर्चा की गई है। स्थानांग में बत्तीस अस्वाध्यायों का वर्णन है। वह इस प्रकार है–दस आकाश सम्बन्धी, दस औदारिक सम्बन्धी, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदाओं के पूर्व की पूर्णिमाएँ और चार सन्ध्याएँ।

दस आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय

(१) उल्कापात–आकाश से रेखा वाले तेज पुंज का गिरना या पीछे से रेखा एवं प्रकाश वाले तारे का टूटना उल्कापात है। उल्कापात होने पर एक प्रहर तक सूत्र की अस्वाध्याय रहती है।

(२) दिग्दाह–किसी एक दिशा-विशेष में मानो बहुत बड़ा नगर जल रहा हो, इस तरह ऊपर की ओर प्रकाश दृष्टिगोचर होना और नीचे अन्धकार प्रतीत होना दिग्दाह है। दिग्दाह होने पर एक प्रहर तक अस्वाध्याय रहती है।

(३) गर्जित–बादल गरजने पर दो प्रहर तक शास्त्र की अस्वाध्याय रहती है।

(४) विद्युत्–बिजली चमकने पर एक प्रहर तक शास्त्र की अस्वाध्याय होती है।

आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र तक अर्थात् वर्षा ऋतु में गर्जित और विद्युत् की अस्वाध्याय नहीं होती, चूँकि वर्षाकाल में ये सामान्य रूप से होते ही रहते हैं।

(५) निर्घात–बिना बादल वाले आकाश में व्यन्तर आदि द्वारा की गई गर्जना की प्रचण्ड ध्वनि को निर्घात कहते हैं। निर्घात होने पर एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय काल होता है।

(६) यूपक–शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को संध्या की प्रभा और चन्द्र की प्रभा का मिल जाना, यूपक कहलाता है। इन दिनों में चन्द्रप्रभा से आवृत होने के कारण सन्ध्या की समाप्ति का ज्ञान नहीं होता। एतदर्थ इन तीनों दिनों में रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करने का निषेध है।

(७) धूमिका–कार्तिक मास से लेकर माघ मास का समय मेघों का गर्भवास कहा जाता है। इस समय जो धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूवर पड़ती है, वह धूमिका कहलाती है। वह धूमिका कभी-कभी अन्य मासों में भी गिरती है। धूमिका में जल होता है, जो भिगो देता है। अतः वह जब तक गिरती है तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(८) महिका–शीतकाल में जो सफेद वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूवर गिरती है वह महिका कहलाती है वह जब तक गिरती रहे तब तक अस्वाध्यायकाल माना गया है।

(९) यक्षादीप्त–कभी-कभी किसी दिशा में विद्युत् चमकने जैसा कुछ-कुछ समय के पश्चात् प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। जब तक वह दिखलाई देता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१०) रज उद्घात–पवन के कारण आकाश में जो चारों ओर धूल छा जाती है, वह रज उद्घात कहलाती है, जहाँ तक रज उद्घात रहे वहाँ तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

दस औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय

(११–१३) अस्थि, माँस और रक्त–पंचेन्द्रिय तिर्यंच के अस्थि, माँस और रक्त यदि साठ हाथ के अन्दर हों तो संभवकाल से तीन प्रहर तक स्वाध्याय करने का निषेध है। यदि साठ हाथ के अन्दर बिल्ली आदि चूहे आदि को मार दे तो एक दिन-रात की अस्वाध्याय रहती है।

इसी तरह मानव सम्बन्धी अस्थि, माँस और रक्त का अस्वाध्याय भी जानना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक एवं एक दिन-रात

का होता है। महिलाओं के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन का और बालक एवं बालिका के जन्म का क्रमशः सात और आठ दिन माना गया है।

(१४) अशुचि–मल और मूत्र यदि स्वाध्याय स्थान के सन्निकट हों और दिखलायी देते हों अथवा उसकी दुर्गन्ध आती हो तो वहाँ पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१५) श्मशान–श्मशान के चारों ओर सौ-सौ हाथ स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१६) चन्द्रग्रहण–चन्द्रग्रहण होने पर कम-से-कम आठ और अधिक-से-अधिक बारह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। यदि उदित हुआ चन्द्रमा ग्रसित हुआ हो तो चार प्रहर उस रात के एवं चार प्रहर आगामी दिवस के इस तरह आठ प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

यदि चन्द्रमा प्रातःकाल के समय ग्रहण सहित अस्त हुआ हो तो चार प्रहर दिन के एवं चार प्रहर रात्रि के और चार प्रहर दूसरे दिन के, इस प्रकार बारह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

यदि ग्रहण पूर्ण हुआ है तो भी बारह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। यदि ग्रहण अपूर्ण है तो आठ प्रहर तक अस्वाध्याय काल रहता है।

(१७) सूर्यग्रहण–सूर्यग्रहण होने पर कम से कम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। यदि पूरा ग्रहण न हो तो बारह प्रहर तक और पूरा ग्रहण हो तो सोलह प्रहर तक अस्वाध्यायकाल रहता है।

सूर्य अस्त होने के समय यदि वह ग्रसित हो तो चार प्रहर रात के और बारह प्रहर आगामी अहोरात्रि के, इस प्रकार सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय होती है। यदि उदित होता हुआ सूर्य ग्रसित हो तो इस दिन-रात के आठ प्रहर और दूसरे दिन-रात के आठ प्रहर, इस प्रकार सोलह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१८) पतन–राजा के निधन होने पर जब तक दूसरा राजा सिंहासनारूढ़ न हो तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, नये राजा के सिंहासनारूढ़ हो जाने पर भी एक दिन-रात स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

राजा के रहने पर भी यदि राज्य में उपद्रव हो, जन-जीवन अशान्त हो, तो जब तक वह शान्त न हो जाय तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। शांति और सुव्यवस्था हो जाने पर भी एक अहोरात्रि तक अस्वाध्यायकाल माना गया है।

राज-मंत्री, गाँव का प्रमुख, शय्यातर एवं उपाश्रय के सन्निकट सात घरों के अन्दर किसी की मृत्यु हो जाय तो एक अहोरात्रि तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१९) राजव्युद्ग्रह–राजाओं में परस्पर संग्राम हो जाय, तो जब तक शांति न हो और शांति होने पर भी एक अहोरात्रि तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(२०) औदारिक शरीर–उपाश्रय में पंचेन्द्रिय तिर्यंच का या मानव का निर्जीव शरीर पड़ा हो तो उस शरीर से सौ हाथ दूरी तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण को औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय में इसलिए गिना है कि इनके विमान पृथ्वीकायिक जीवों द्वारा निर्मित हैं।

(२१-२८) चार महापूर्णिमा और चार महाप्रतिपदाएँ–आषाढ़ पूर्णिमा, आश्विन पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा और चैत्र पूर्णिमा–इन चार दिनों में महान् महोत्सव होते थे। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् की प्रतिपदाएँ महाप्रतिपदाएँ कहलाती थीं। एतदर्थ इन चार महापूर्णिमाओं को और चारों महाप्रतिपदाओं को स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(२९-३२) प्रातःकाल, मध्याह्न, सायंकाल और अर्द्धरात्रि इन चारों को सन्ध्याकाल कहते हैं। इन संध्याओं में भी दो-दो घड़ी तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अन्य ग्रंथों में अन्य कुछ बातें और भी दी गई हैं।

आगम : ज्ञान-विज्ञान का अक्षय कोष–श्रमण भगवान महावीर विश्व की एक अनुपम ज्योति थे, जिनका जन्म उस समय के प्रसिद्ध राजकुल में हुआ, पर उनका मन सांसारिकता में नहीं लगा और उस विराट् वैभव को छोड़कर वे अनगार बने, उग्र तप, जप व संयम की साधना कर केवली बने। श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविकारूप तीर्थ की संस्थापना कर वे तीर्थंकर बने। उसके पश्चात् उन्होंने जो प्रवचन किये वे आगम या सूत्र के नाम से आज विश्रुत हैं। आगम ज्ञान-विज्ञान का अक्षय-कोष हैं। उनमें केवल अध्यात्म और वैराग्य के ही उपदेश नहीं हैं किन्तु नीति, व्यवहार और जीवन के हर पहलू को छूने वाले सुविचाररूपी अनमोल रत्न भरे हैं। उन आगमों के अथाह सागर में डुबकी लगाने वाला पुरुष ही उन रत्नों को प्राप्त कर सकता है। उस व्यक्ति की चित्तवृत्ति शांत और एकाग्र हो जाती है, उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है, इसीलिए स्वाध्याय को परम तप माना गया है।

(५) ध्यान

साधना पद्धति में ध्यान का अत्यधिक महत्त्व रहा है। कोई भी आध्यात्मिक धारा उसके बिना अपने साध्य तक नहीं पहुँच सकती है। यही कारण है भारत की

सभी परम्पराओं ने ध्यान को महत्त्व दिया गया है। उपनिषद साहित्य[1] में ध्यान का महत्त्व प्रतिपादित है। आचार्य पतंजलि ने योगदर्शन में उसके महत्त्व को स्वीकृत किया है। तथागत बुद्ध ने भी ध्यान को महत्त्व दिया था। भगवान महावीर ने तो ध्यान का अत्यधिक गहराई से विश्लेषण किया ही है।

ध्यान की परिभाषाएँ

ध्यानशतक[2] में मन की दो अवस्थाएँ बताई हैं–(१) चल अवस्था, (२) स्थिर अवस्था। चल अवस्था चित्त है और स्थिर अवस्था ध्यान है। चित्त और ध्यान–ये मन के ही दो रूप हैं। जब मन एकाग्र, निरुद्ध और गुप्त होता है तब वह ध्यान होता है।

'ध्येय चिन्तायाम्।'–धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न हुआ है। शब्दोत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिन्तन है किन्तु प्रवृत्तिलब्ध अर्थ उससे जरा पृथक् है। इस दृष्टि से ध्यान का अर्थ है चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना।[3] आचार्य उमास्वाति[4] ने लिखा है–एकाग्र चिन्ता तथा शरीर, वाणी और मन का निरोध ध्यान है। इससे स्पष्ट है कि जैन परम्परा में ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही नहीं है अपितु शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति अथवा निष्प्रकम्प स्थिति को ही ध्यान की संज्ञा दी गई है।

आचार्य पतंजलि[5] ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही माना है, उनका अभिमत है जिसमें धारणा की गई हो उस देश में ध्येय विषयक ज्ञान की एकतानता जो अन्य ज्ञान से अपरावृष्ट हो, वह ध्यान है। सदृश प्रवाह से तात्पर्य है जिस ध्येय विषयक प्रथम वृत्ति हो उसी विषय की द्वितीय और तृतीय हो[6]–ध्येय से अन्य ज्ञान बीच में न हो। पतंजलि ने एकाग्रता और निरोध ये दोनों चित्त के ही माने हैं। गरुड़पुराण[7] में ब्रह्म और आत्मा की चिन्ता को ध्यान कहा है।

विसुद्धिमग्ग[8] के अनुसार ध्यान मानसिक है। पर जैनाचार्यों की यह विशिष्टता रही है कि उन्होंने ध्यान को मानसिक ही नहीं माना किन्तु वाचिक और कायिक

---

१. छांदोग्योपनिषद् ७-६-१/२
२. जं थिरमज्झवसाणं झाणं जं चलं तयं चित्तं। –ध्यानशतक २
३. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४६३
४. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमन्तर्मुहूर्तम्। –तत्त्वार्थसूत्र ९/२७
५. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम। –पातंजल योगदर्शन ३/२
६. पातंजल योगदर्शन ३-२
७. ब्रह्मात्मचिंता ध्यानं स्यात्। –गरुड़पुराण, अ. ४८
८. विसुद्धिमग्गो, पृ. १४१-१५१

भी माना है। पतंजलि[1] ने जिसे संप्रज्ञात समाधि कहा है वह जैन परिभाषा में शुक्लध्यान का पूर्व चरण है। पतंजलि ने जिसे असंप्रज्ञात समाधि कहा है उसे जैन परम्परा में शुक्लध्यान का उत्तर चरण कहा है।[2] जो केवलज्ञानी हैं, उन्हें केवल निरोधात्मक ध्यान होता है, किन्तु जो केवलज्ञानी नहीं हैं, उनके एकाग्रतात्मक और निरोधात्मक–ये दोनों प्रकार के ध्यान होते हैं।

आचार्य भद्रबाहु के सामने एक प्रश्न समुत्पन्न हुआ कि "यदि ध्यान का अर्थ मानसिक एकाग्रता ही है तो उसकी संगति जैन परम्परा, जो मानसिक, वाचिक और कायिक एकाग्रता को ध्यान मानती है, उसके साथ किस प्रकार हो सकती है?"[3] आचार्य भद्रबाहु ने इस प्रश्न का समाधान देते हुए कहा–शरीर में वात, पित्त और कफ ये तीन धातु हैं। उनमें से जो प्रचुर होता है उसी का व्यपदेश किया जाता है। जैसे वायु कुपित होने पर वायु कुपित है, ऐसा कहा जाता है। उसका तात्पर्य यह नहीं कि पित्त और श्लेष्म ठीक हैं। इसी तरह मन की एकाग्रता ध्यान है। यह परिभाषा भी प्रधानता को संलक्ष्य में रखकर की गई है।[4]

मेरा शरीर अकंपित हो इस तरह दृढ़ संकल्प करके जो स्थिरकाय बनता है उसे कायिक ध्यान कहते हैं।[5] इसी तरह दृढ़ संकल्पपूर्वक अकथनीय भाषा का परित्याग करना वाचिक ध्यान है[6] और जहाँ पर मन एकाग्र होकर अपने लक्ष्य के प्रति संलग्न होता है, शरीर और वाणी भी उसी लक्ष्य की ओर लगते हैं वहाँ पर मानसिक, वाचिक और कायिक–ये तीनों ध्यान एक साथ हो जाते हैं।[7]

मन सहित काया और वाणी को जब एकरूपता मिलती है, वह पूर्ण ध्यान है। उसमें अखण्डता और एकाग्रता होती है। एकाग्रता स्वाध्याय में भी होती है और ध्यान में भी। किन्तु स्वाध्याय में एकाग्रता घनीभूत नहीं होती; जबकि ध्यान में वह घनीभूत होती है।

ध्यान में चेतना की वह अवस्था है जो अपने आलम्बन के प्रति पूर्णतया एकाग्र होती है। एकाग्र चिन्तन ध्यान है। चेतना के विराट् आलोक में चित्त विलीन हो जाता है, वह ध्यान है।

---

१. तत्र पृथक्त्ववितर्कसविचारैकत्ववितर्काविचाराख्यशुक्लध्यानभेदद्वये संप्रज्ञातः समाधिवत्यर्थानां सम्यग्ज्ञानात्। —*पातंजल योगदर्शन, यशोविजय जी १/१८*
२. वही, यशोविजय जी १/१८
३. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४६७
४. वही, गाथा १४६८-१४६९
५. वही १४७४
६. वही १४७६-१४७७
७. वही १४७८

अतीतकाल में त्रियोग के निरुन्धन को ध्यान कहा गया, पर उसके बाद आचार्य पतंजलि आदि के प्रभाव से जैनाचार्यों ने भी ध्यान की परिभाषाओं में कुछ परिवर्तन किया। उन्होंने भी वाचिक और कायिक एकाग्रता को गौण करके मानसिक एकाग्रता पर बल दिया। आचार्य भद्रबाहु ने चित्त को किसी भी विषय में स्थिर करने को ध्यान कहा है।[1] आचार्य हेमचन्द्र[2] ने भी अभिधान चिंतामणि कोश में इसी परिभाषा को दुहराया है। उन्होंने कहा–अपने विषय में मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है।

जहाँ तक चित्त स्थिर नहीं होगा वहाँ तक संवर और निर्जरा नहीं हो सकती और बिना संवर और निर्जरा के ध्येय की प्राप्ति नहीं होती। सामान्य रूप से मानव की शक्तियाँ इधर-उधर बिखरी हुई रहती हैं। सिनेमा के चलचित्रों के समान प्रतिपल-प्रतिक्षण उसके विचार परिवर्तित होते रहते हैं। जब तक विकेन्द्रित विचार एकाग्र नहीं बनते वहाँ तक सिद्धि नहीं मिलती, भले ही उससे प्रसिद्धि मिल जाय। यही कारण है श्रीमद्भगवद्गीता[3], मनुस्मृति[4], रघुवंश[5] और अभिज्ञान शाकुन्तल[6] नाटक में ध्यान का महत्त्व बताते हुए स्पष्ट कहा है–"ज्ञानात् ध्यान विशिष्यते।"–ज्ञान से ध्यान बढ़कर है। ध्यान से मन स्थिर और शान्त हो जाता है। उसमें बुद्धि की स्फुरणा होती है–"स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति"।

चित्त को किसी भी एक केन्द्र पर स्थिर करना अत्यन्त कठिन है। यह सत्य है किसी भी एक विषय पर अन्तर्मुहूर्त से अधिक मन स्थिर नहीं हो पाता।[7] जब तक चंचल मन पर विजय प्राप्त नहीं होती तब तक ध्यान संभव नहीं।[8] जैसे जलाशय में हर क्षण तरंगें तरंगित होती रहती हैं वैसे ही मन में विचार-तरंगें उठती हैं। उन उठी हुई तरंगों को स्थिर करना ही ध्यान है। मन को बिना वश में किये ध्यान सिद्ध नहीं हो सकता। मलिन दर्पण में रूप नहीं निहारा जा सकता वैसे ही रागादि भाव युक्त मन से शुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन नहीं किया जा सकता है।

आराधनासार[9] में आचार्य ने यहाँ तक कहा है–प्रकाण्ड विद्वत्ता प्राप्त भी की हो पर यदि सम्यक् प्रकार से ध्यान नहीं किया गया है तो सभी निरर्थक है। क्योंकि उस विद्वत्ता से आकुलता-व्याकुलता नहीं मिटेगी। आकुलता-व्याकुलता को मिटाने

---

१. चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं।
–*आवश्यकनिर्युक्ति १४५६*

२. ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः।
–*अभिधानचिंतामणि कोष १/८४*

३. श्रीमद्भगवद्गीता १२-१२

४. मनुस्मृति १-१२-६-७२

५. रघुवंश १-७३

६. शाकुन्तल नाटक ७

७. (क) ध्यानशतक ३
(ख) तत्त्वार्थसूत्र ६-२८
(ग) योगप्रदीप १५-३३

८. ध्यानशतक ८

९. आराधनासार ९९

के लिये ध्यान एक संजीवनी बूटी है। ध्यान करते समय पूर्व संस्कारों के कारण यदि मन में चंचलता आये तो घबराकर ध्यान छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु निरन्तर अभ्यास से शनैः-शनैः वह चंचलता भी नष्ट हो जाती है।

ध्यान के भेद-प्रभेद

ध्यान के यों अनेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं, पर मुख्य रूप से ध्यान के दो भेद होते हैं–(१) अप्रशस्तध्यान, और (२) प्रशस्तध्यान। इन्हें अशुभ और शुभ-ध्यान भी कह सकते हैं। आर्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान–ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं, कर्मबंधन के कारण हैं। धर्म और शुक्लध्यान ये दोनों प्रशस्त हैं।

वैदिक परम्परा ने उन्हें क्लिष्ट और अक्लिष्ट ध्यान की संज्ञा दी है। बौद्ध आचार्य बुद्धघोष ने प्रशस्त ध्यान के लिए उसे कुशल शब्द का और अप्रशस्त ध्यान के लिए अकुशल शब्द का प्रयोग किया है। कुशल ध्यान से समाधि होती है, क्योंकि वह अकुशल कर्मों का दहन करता है।[1] जो ध्याया जाय वह ध्येय है और ध्याता का ध्येय में स्थिर होना ध्यान है।[2] निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा अपनी आत्मा में, अपनी आत्मा द्वारा, अपनी आत्मा के लिए, अपनी आत्मा के हेतु से और अपने आत्मा का ध्यान करता है वही ध्यान कहलाता है।[3] यह प्रशस्त ध्यान ही मोक्ष का हेतु है।[4]

ज्ञानार्णव[5] में ध्यान के अशुभ, शुभ और शुद्ध–ये तीन भेद किये गये हैं। जो आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानों में समाविष्ट हो जाते हैं।

आचार्य शुभचन्द्र[6] और हेमचन्द्र[7] ने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत–धर्मध्यान के इन चार अवान्तर भेदों का वर्णन किया है। इनकी उपयोगिता चित्तवृत्ति को एकाग्र करने की अपेक्षा से ही है। धर्मध्यान के मौलिक रूप आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के स्थान पर पिण्डस्थ आदि ध्यान प्राप्त होते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य भावना के स्थान पर पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी और मारुती–ये चार धारणाएँ मिलती हैं। संभव है, इस परिवर्तन का कारण जन-जन के मन में हठयोग और तंत्र शास्त्र के प्रति जो आकर्षण था जिसके कारण जैनाचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में उन विषयों का समावेश किया हो। विज्ञों का ऐसा मानना है कि पिण्डस्थ आदि जो ध्यान चतुष्टय

---

१. विसुद्धिमग्ग
२. (क) तत्त्वानुशासन ६६
   (ख) इष्टोपदेश ४७
३. तत्त्वानुशासन ७४
४. (क) वही ३४ (ख) ज्ञानार्णव ३/३४
५. वही ३/२८-३१
६. वही ३७/१
७. योगशास्त्र ७/८

है उसका मूल स्रोत तंत्रशास्त्र रहा है। गुरुगीता प्रभृति ग्रन्थों में ध्यान चतुष्टय का वर्णन प्राप्त होता है।

नमस्कार स्वाध्याय[1] में ध्यान के अड़ाईस भेद और प्रभेद भी मिलते हैं। यदि हम गहराई से अनुचिन्तन करें तो ये सभी भेद-प्रभेद आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल–इन चार ध्यानों में समाविष्ट हो जाते हैं। हम यहाँ पर आर्तध्यान के भेद-प्रभेद पर चिन्तन न कर सिर्फ धर्मध्यान और शुक्लध्यान पर ही चिन्तन प्रस्तुत कर रहे हैं। क्योंकि आर्त और रौद्रध्यान संसार के ही हेतु हैं, मोक्ष के हेतु नहीं हैं, इसलिए मोक्षमार्ग में इनका कोई स्थान नहीं है।

धर्मध्यान

धर्म का अर्थ आत्मा को निर्मल बनाने वाला तत्त्व है। जिस पवित्र आचरण से आत्मा की शुद्धि होती है वह धर्म है। उस धर्म में आत्मा को स्थिर करना धर्मध्यान है। इसी धर्मध्यानरूपी अग्नि के द्वारा आत्मा कर्मरूपी काष्ठ को जलाकर भस्म करती है और अपना शुद्ध-बुद्ध-सिद्ध निरंजन स्वरूप प्राप्त कर लेता है।[2]

धर्मध्यान के भेद

धर्मध्यान के भगवती[3], स्थानांग[4] और औपपातिक[5] आदि में आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय–ये चार प्रकार बताये गये हैं। यहाँ विचय का अर्थ निर्णय अथवा विचार है।

(१) आज्ञाविचय–वीतराग भगवान की जो आज्ञा है उनका निवृत्तिमय उपदेश है, उस पर दृढ़ आस्था रखते हुए उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलना। निषिद्ध कार्यों का परित्याग करना, क्योंकि कहा है–'आणाए तवो आणाए संजमो'[6] 'आणाए मामग धम्म'[7] यह धर्मध्यान का प्रथम भेद आज्ञाविचय है।

(२) अपायविचय–अपाय का अर्थ दोष या दुर्गुण है। आत्मा अनन्तकाल से मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के कारण इस विश्व में परिभ्रमण कर

---

१. नमस्कार स्वाध्याय ग्रन्थ, पृ. २२५

२. ध्यानाग्नि दग्ध कर्मासु सिद्धात्मा स्यान्निरंजनः। —योगशास्त्र (हेमचंद्र)

३. भगवती २५/७

४. स्थानांग ४/१

५. औपपातिक

६. संबोधसत्तरि ३२

७. आचारांग ६/२

रहा है। उन दोषों से आत्मा किस प्रकार मुक्त हो सकता है? दोषों की विशुद्धि कैसे हो सकती है? इस विषय पर चिंतन करना अपायविचय है।

(३) विपाकविचय–आत्मा अनेक दोषों के कारण कर्म का बंधन करता है। मोह की मदिरा में उन्मत रहने के कारण कर्म बाँधते समय अत्यन्त आच्छादित होता है। किन्तु ज्ञानी आत्मा कर्मों के विपाक को समझता है। वह जानता है कि आसक्ति, अज्ञान व मोह से बाँधे हुए कर्मों का विपाक, जब होता है तो अत्यन्त कष्ट होता है। सुखविपाक और दुःखविपाक में कथाओं के माध्यम से उन विपाकों पर चिंतन किया है। इस ध्यान में कर्मों के कटु परिणामों पर चिंतन होता है और उनसे बचने का संकल्प किया जाता है।

(४) संस्थानविचय–संस्थान का अर्थ आकार है। लोक के आकार पर चिन्तन करते हुए मेरी आत्मा इन विविध योनियों में परिभ्रमण करके आयी है, ऐसा विचार करके आत्म-स्वरूप का चिन्तन करना, संस्थानविचय धर्मध्यान कहलाता है।

ध्याता के लक्षण

धर्मध्यान करने वाले साधक के लक्षण इस प्रकार हैं।

धर्मध्यान के चार लक्षणों में सर्वप्रथम लक्षण आज्ञा रुचि है। यहाँ पर रुचि का अर्थ दृढ़ विश्वास–गहरी निष्ठा है। जिनेश्वर देव की आज्ञा में–सद्गुरुजनों की आज्ञा में पूर्ण विश्वास रखना, उस पर आचरण करना। यदि जिनेश्वर देव की आज्ञा में और जिनेश्वर देव पर निष्ठा नहीं है, उस कार्य को करने की लगन नहीं है तो वह साधक उस कार्य को किस प्रकार कर सकेगा? इसलिए सर्वप्रथम जिनाज्ञा में रुचि होना आवश्यक है।

दूसरी निसर्ग रुचि है। धर्म पर सर्वज्ञ पर सहज श्रद्धा होती है। उस श्रद्धा का कारण बाह्य न होकर दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है जिसके कारण सहज रुचि होती है।

तृतीय है सूत्र रुचि । जिनवाणी को सुनने की जो रुचि होती है वह सूत्र रुचि है। जब तक शास्त्र श्रवण करने की रुचि न होगी वहाँ तक धर्म के गंभीर रहस्य ज्ञात नहीं हो सकते। इसलिए यह रुचि आवश्यक है।

चतुर्थ है अवगाढ़ रुचि। अवगाढ़ का अर्थ गहराई में अवगाहन करना है। नदी, समुद्र या जलाशय में गहराई से डुबकी लगाना अवगाहन कहलाता है। मानव शास्त्रों का अध्ययन करता है, पर जब तक उस शास्त्र में अवगाहन नहीं करता, उसके अर्थ पर चिन्तन नहीं करता तब तक उसे उन शास्त्रों के गुरु गंभीर रहस्य का परिज्ञान नहीं होता। अवगाहन करने की रुचि से ही आगम के रत्न उपलब्ध होते हैं।

इन चार लक्षणों से धर्मध्यानी की आत्मा की पहचान की जाती है।

ध्यान के आलम्बन

धर्मध्यान के चार आलंबन हैं–(१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परिवर्तना, और (४) धर्मकथा।[1] इन चार से धर्मध्यान में स्थैर्य प्राप्त होता है।

धर्मध्यान की चार भावनाएँ

धर्मध्यान की चार भावनाएँ बताई गई हैं–(१) एकत्वानुप्रेक्षा, (२) अनित्यानुप्रेक्षा, (३) अशरणानुप्रेक्षा, (४) असंसारानुप्रेक्षा।[2]

इन चार भावनाओं से मन में वैराग्य की लहरें तरंगित होती हैं। सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण कम हो जाता है और आत्मा शांति के क्षणों में विचरण करती है।

ध्येय के भेद

जैनाचार्यों ने ध्येय के सम्बन्ध में कहा है कि ध्येय तीन प्रकार का होता है–

(१) परालंबन–इसमें दूसरों के आलंबन लेकर चित्त को स्थिर करने का प्रयास किया जाता है। जैसे एक पुद्गल पर दृष्टि को स्थिर रखकर ध्यान करना। भगवान महावीर ने इस प्रकार का ध्यान किया था।

(२) स्वरूपक्वलंबन–इसमें बाह्य दृष्टि बन्द कर कल्पना के नेत्रों से स्वरूप का चिंतन किया जाता है। इस आलंबन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ सँजोई जाती हैं। आचार्य हेमचन्द्र और शुभचन्द्र ने पिण्डस्थ, पदस्थ आदि जो ध्यान व धारणा के प्रकार बताये हैं वे सभी इसी के अन्तर्गत आते हैं।

(३) निरवलंबन–इसमें किसी प्रकार का अवलंबन नहीं होता। मन विचारों से पूर्णतया शून्य होता है। मन में न किसी प्रकार के विचार होते हैं और न विकल्प ही।

स्वरूपावलंबन के अन्तर्गत परिगणित पिण्डस्थ आदि ध्यान का स्वरूप इस प्रकार है–

पिण्डस्थ ध्यान–पिण्ड का अर्थ शरीर है। एकांत शांत स्थान पर बैठकर पिण्ड अर्थात् शरीर में स्थित आत्मदेव का ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है। इसमें विशुद्ध आत्मा का चिन्तन किया जाता है।

---

१. देखिए–इसी अध्याय का 'स्वाध्याय तप : एक अनुचिन्तन' शीर्षक

२. देखिए–इसी पुस्तक का 'साधना की सप्राणता : भावना योग' नामक अध्याय

प्रस्तुत ध्यान करने के लिए साधक वीरासन, पद्मासन, सुखासन, सिद्धासन या किसी भी आसन में बैठकर आँखें झुका ले, दृष्टि को नासाग्र पर स्थिर कर ले, मेरुदण्ड सीधा और स्थिर रखे। यह ध्यानमुद्रा कहलाती है।[1]

इस ध्यानमुद्रा में अवस्थित होकर शरीरस्थ आत्मा का चिन्तन किया जाता है। साधक यह कल्पना करता है कि मेरी आत्मा पूर्ण निर्मल है। वह चन्द्र की तरह पूर्ण कांतिमान है। वह मेरे शरीर में पुरुष आकृति में अवस्थित है। वह स्फटिक सिंहासन पर बैठा हुआ है। इस प्रकार कमनीय कल्पना से आत्म-स्वरूप पर साधक चिन्तन करता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने पिण्डस्थ ध्यान की पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वारुणी, तत्त्वरूपवती ये पाँच धारणाएँ बताई हैं।[2] धारणा का अर्थ ध्येय में चित्त को स्थिर करना है।[3]

(१) पार्थिवी धारणा–अपने शरीर स्थित अथवा सशरीर आत्मा का पृथ्वी का पीत वर्ण की कल्पना के साथ बाँधना पार्थिवी धारणा है।

प्रस्तुत धारणा में साधक मध्यलोक को क्षीर समुद्र के सदृश स्वच्छ जल से परिपूर्ण होने की कल्पना करे। उस क्षीर समुद्र में एक हजार दल वाले स्वर्ण के समान चमकते हुए कमल की कल्पना करे। उस कमल के बीच स्वर्णमय मेरु पर्वत की कल्पना करे। उस मेरु पर्वत के उच्चतम शिखा पर पाण्डुकवन में अर्द्धचन्द्राकार पाण्डुक शिला पर उज्ज्वल स्फटिक सिंहासन सुशोभित हो रहा है तथा उस सिंहासन पर मेरी आत्मा योगी के रूप में आसीन है, ऐसी कल्पना करे। यह सम्पूर्ण कल्पना चलचित्र के चित्रों के समान दृष्टिपथ में साकार होती रहनी चाहिए। पृथ्वी का बीजाक्षर 'सोऽहं' का निरन्तर अजपाजाप भी चलता रहना चाहिए। इस प्रकार की कल्पना से साधक का मन स्थिर हो जाता है।

याज्ञवल्क्य[4] के अनुसार पार्थिवी धारणा सिद्ध होने पर शरीर में किसी भी प्रकार का रोग नहीं होता।

(२) आग्नेयी धारणा–पार्थिवी धारणा के पश्चात् साधक आग्नेयी धारणा में प्रविष्ट होता है। वह यह कल्पना करता है कि उसकी आत्मा सिंहासन पर

---

१. अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्वाप्य सुखासनम्।
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रेति कथ्यते॥ –गोरक्षाशतक ६५

२. योगशास्त्र ७/९

३. धारणा तु क्वचिद् ध्येये चित्तस्य स्थिरबंधनम्। –अभिधानचिंतामणि (हेमचंद्र) १/८४

४. योगवाशिष्ठ, निर्वाणप्रकरण ७१ से ९२

विराजमान है और नाभि के भीतर हृदय की ओर ऊपर मुख किये हुए सोलह पंखुड़ियों वाला रक्त कमल या श्वेत कमल है। उन पंखुड़ियों पर वह अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन सोलह स्वरों की स्थापना करता है और कमल के मध्य में अर्थात् कर्णिका पर अग्नि के समान देदीप्यमान 'हँ' अक्षर की कल्पना करता है। फिर वह उस कमल के ठीक ऊपर हृदय स्थान में नीचे की ओर मुख किये हुए औंधे मुख वाले मटिया रंग के कमल की कल्पना करता है और उसके प्रत्येक पत्ते पर श्याम रंग से लिखे हुए आठ कर्मों (ज्ञानावरणीय आदि) का चिन्तन करता है। प्रस्तुत चिन्तन में नाभि में स्थित कमल के बीच लिखे हुए हँ अक्षर के ऊपरी सिरे की रेफ में से धुआँ निकल रहा है–इस प्रकार की कल्पना करता है। उसी के साथ रक्तवर्ण की ज्वाला की भी कल्पना करता है और यह भी कल्पना करता है कि प्रतिपल बढ़ती हुई उस ज्वाला ने आठ कर्मों को जला दिया है तथा फिर कमल के मध्य भाग को छेदकर वह ज्वाला मस्तक तक पहुँच गई है। तदुपरान्त यह चिन्तन करे कि ज्वाला की एक रेखा बाईं ओर से और दूसरी रेखा दाहिनी ओर से निकल रही है, तथा दोनों ज्वाला-रेखाएँ नीचे आकर पुनः मिल गई हैं। इस आकृति से शरीर के बाहर तीन कोण वाला अग्निमंडल बन गया है तथा उसमें अग्नि का बीजाक्षर 'र' स्फुरित हो रहा है। उस अग्निमण्डल से तीव्र ज्वालाएँ धधकती हैं जिससे आठों कर्म पूर्ण रूप से भस्म हो गये हैं। तदुपरान्त साधक यह चिन्तवन करे कि जलाने को कुछ भी नहीं बचा है, इसलिए धीरे-धीरे अग्नि शांत हो गई है और आत्मा अपने तेजस्वी रूप में दमकने लगी है। उसके दिव्य आलोक में साधक अपना प्रतिविम्ब देखता है।

उपनिषदों के अनुसार जिसको आग्नेयी धारणा सिद्ध हुई हो उस योगी को धधकती हुई आग में डाल दिया जाये तो भी वह नहीं जलता है।

(३) वायवी धारणा–आग्नेयी धारणा से कर्मों को भस्म कर देने के पश्चात् पवन की कल्पना की जाती है और उसके साथ मन को जोड़ते हैं। साधक चिन्तन करता है कि तेज पवन चक्राकार गति में चल रही है, साथ ही वायु का बीजाक्षर 'य' भी स्फुरित हो रहा है। उस पवन से आठ कर्मों की राख अनन्त आकाश में उड़ गई है। हृदय-कमल सफेद और उज्ज्वल हो गया है।

जिसे वायवी धारणा सिद्ध हो जाती है वह योगी आकाश में उड़ सकता है। वायुरहित स्थान में भी वह जीवित रह सकता है। उसे वृद्धावस्था नहीं आती।

(४) वारुणी धारणा–वायवी धारणा के पश्चात् साधक वारुणी धारणा में प्रविष्ट होता है। वह कल्पना करता है कि आकाश में उमड़-घुमड़कर घटाएँ आ रही हैं, बिजली कौंध रही है, तेज वर्षा हो रही है। उस वर्षा से मेरी आत्मा पर

लगी हुई कर्मरूपी धूलि साफ हो गयी है। आत्मा पूर्ण निर्मल और पवित्र हो गया है। इस धारणा में जल के बीजाक्षर 'द' का ध्यान किया जाता है। कोई-कोई जल का बीजाक्षर 'प' भी मानते हैं।

कहा जाता है कि जिसे वारुणी धारणा सिद्ध हो जाती है वह साधक अगाध जल में भी डूबता नहीं। उसके समस्त ताप और पाप शांत हो जाते हैं।[1]

तत्त्वरूपवती धारणा–इसे तत्त्वभू धारणा भी कहते हैं। इसे आकाशी धारणा भी कहा गया है। इस धारणा में साधक यह चिन्तन करता है–मुझमें अनन्त शक्तियाँ हैं। मैं आकाश के समान अनन्त हूँ। जैसे आकाश पर किसी प्रकार का लेप नहीं होता उसी तरह मुझ पर भी किसी प्रकार लेप नहीं। वह आत्मस्वरूप का चिंतन करता है।

इस तरह इस पिण्डस्थ ध्यान की पाँच धारणाएँ हैं। इन धारणाओं के सिद्ध होने पर आत्मशक्तियाँ अत्यधिक जाग्रत हो जाती हैं। कोई भी शक्ति उसे पराभूत नहीं कर पाती।

पदस्थ ध्यान–ध्यान का दूसरा रूप पदस्थ है। पद का अर्थ अक्षरों पर मन को स्थिर करना। इसमें पवित्र पदों का अवलंबन लेकर चित्त को स्थिर किया जाता है।[2] इस ध्यान में मंत्र-पदों को कल्पना से विभिन्न स्थानों पर लिखा जाता है और उन अक्षरों को कल्पना-चक्षु से देखने का प्रयत्न किया जाता है। उन मंत्राक्षरों में एकात्मता की अनुभूति की जाती है। साधक जैसा ध्यान करता है वैसा ही बन जाता है। यदि साधक रुद्र का चिन्तन करे तो रुद्र बनता है और विष्णु का चिंतन करे तो विष्णु। मनुष्य जिस स्वरूप का चिन्तन करता है उसी रूप में बन जाता है।

पदस्थ ध्यान को सिद्ध करने हेतु कितने ही जैनाचार्यों ने सिद्धचक्र की कल्पना की है। इस सिद्धचक्र में आठ पंखुड़ियों वाले श्वेत कमल की कल्पना की जाती है। उसके बीजकोश में 'नमो अरिहंताण' की कल्पना की जाती है और चारों दिशाओं में पंखुड़ियों पर 'नमो सिद्धाणं', 'नमो आयरियाणं', 'नमो उवज्झायाणं', 'नमो लोए सव्व साहूणं', इन चार पदों की स्थापना की जाती है। चार विदिशा में चार पंखुड़ियों पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप इन चार की कल्पना की जाती है। इन नौ पदों की स्थापना कर सिद्धचक्र पर ध्यान किया जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के स्थान पर 'ऐसो पंच नमोक्कारो', 'सव्व पाव प्पणासणो,

---

१. योगवाशिष्ठ, निर्वाण प्रकरण

२. यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते।
तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारगैः॥ –योगशास्त्र ८/१

'मंगलाणं च सव्वेसिं', 'पढमं हवइ मंगलं' इन चार की कल्पना की है। निरन्तर अभ्यास करने से आलंबन में अधिक दृढ़ता आती है।

इसी तरह अन्य मंत्रों की स्थापना की जा सकती है। आगम के किसी पद को लेकर ध्यान किया जा सकता है। पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मन को एक ही विचारधारा में प्रवाहित किया जाय।

सिद्धचक्र की तरह अविनाशी आत्म-स्वरूप का भी ध्यान किया जाता है। उसमें नाभि-कमल, हृदय-कमल, मुख-कमल पर अक्षरों की संस्थापना करके प्रत्येक अक्षर पर मन से चिन्तन करते जाना, जैसे–नाभिकमल के मध्य में 'अर्हं' लिखा है, सर्वप्रथम 'अर्हं' के भावार्थ पर, उसके स्वरूप पर चिन्तन करना चाहिए, उसके पश्चात् अ, आ, इ, ई प्रभृति अक्षरों (स्वर एवं व्यंजनों) पर चिन्तन करना चाहिए। उदाहरणार्थ–'अ' अक्षर से अरिहंत, उसका स्वरूप, उस पद को प्राप्त करने का उपाय, उसके साथ ही 'अ' यानी अजर, अमर आदि के स्वरूप पर चिन्तन करना। उसके बाद 'आ' यानी आत्मा, उसके स्वरूप और उसके दर्शन की कमनीय कल्पना से मन को भावित करना।

जब चिन्तन का प्रवाह प्रारम्भ होगा तब मन उसमें स्थिर हो जाएगा। जब वहाँ से मन तृप्त हो जाय तब उसे हृदय-कमल पर षोडश-दल-कमल के एक-एक अक्षर पर मन को घुमाना चाहिए। जैसे 'क' यानी कर्म, कर्म से मुक्त होने का उपाय क्या है? 'ख' यानी खंति यानी क्षमा किस तरह से धारण करनी चाहिए आदि प्रत्येक अक्षर पर चिन्तन करना चाहिए। उसके पश्चात् मुख-कमल पर ध्यान केन्द्रित किया जाय। इस तरह एक मुहूर्त तक मनरूपी भौंरे को एक-एक अक्षर पर घुमाकर उसके अपूर्व आनन्द को लिया जा सकता है।

पदस्थ-ध्यान में बीजाक्षरों पर भी चिन्तन किया जा सकता है, जैसे–एकाक्षरी मंत्र 'ॐ', 'ह्रीं' आदि मंत्रों पर भी चिन्तन किया जाता है। इसी प्रकार दो अक्षरी मंत्र 'अर्हं' यावत् अनेकाक्षरी मंत्रों पर चिन्तन किया जाता है। णमोकार मंत्र के पाँचों पदों तथा सम्पूर्ण ३५ अक्षरों पर भी चिन्तन किया जाता है।

रूपस्थ ध्यान–रूपयुक्त तीर्थंकर आदि का चिन्तन करना रूपस्थ ध्यान है।[1] साधक एकान्त शान्त स्थान पर बैठता है। आँखें मूँदकर हृदय की आँखें खोल देता है। मन में विविध प्रकार की कल्पनाएँ सँजोता है, जैसे–भगवान का दिव्य समवसरण लगा हुआ है। मैं पावन प्रवचन पीयूष का पान कर रहा हूँ और नेत्रों से परिषद को निहार रहा हूँ। इस प्रकार कल्पना करके साधक अरिहंत के रूप का ध्यान करता है और स्वयं को उसमें तनाव बना देता है।

---

१. अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते। –योगशास्त्र ९/७

रूपातीत ध्यान–यह धर्मध्यान का चतुर्थ प्रकार है। इसमें निरंजन निराकार, सिद्ध स्वरूप का ध्यान किया जाता है। आत्मा स्वयं को कर्ममलमुक्त सिद्ध स्वरूप में अनुभव करती है। इस ध्यान में किसी प्रकार की कोई कल्पना नहीं होती, न मंत्र या पद का स्मरण ही होता है। साधक अपने मन को इस प्रकार साध लेता है कि बिना किसी आलंबन के मन को स्थिर कर लेता है। वह यह जानता है कि मैं अरूपी हूँ। जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, वरन् कर्मों का स्वभाव है। यह ध्यान विचारशून्य होता है। इस ध्यान तक पहुँचने के लिए प्रारंभिक भूमिका अपेक्षित है। इस ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान के विकल्प मिट जाते हैं। जैसे नदियाँ समुद्र में अपना अस्तित्व विलीन कर देती हैं वैसे ही ध्याता और ध्येय ध्यान में एकाकार हो जाते हैं।

शुक्लध्यान

यह ध्यान की सर्वोत्कृष्ट दशा है। जब मन में से विषय वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तो वह पूर्ण विशुद्ध हो जाता है। पवित्र मन पूर्ण रूप से एकाग्र होता है, उसमें स्थैर्य आता है। शुक्लध्यान के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि जिस ध्यान में बाह्य विषयों का सम्बन्ध होने पर भी साधक का ध्यान उसकी ओर तनिक मात्र भी नहीं जाता, उसके मन में वैराग्य की ही प्रबलता होती है। इस ध्यान की स्थिति में साधक के शरीर पर कोई प्रहार करता है, उसका छेदन-भेदन करता है तो भी उसके मन में किंचित् मात्र भी संक्लेश नहीं होता। भयंकर से भयंकर वेदना होने पर भी, वह वेदना का अनुभव नहीं करता। वह देहातीत स्थिति में रहता है।

शुक्लध्यान के भेद-प्रभेद

शुक्लध्यान के दो भेद किये गये हैं–(१) शुक्लध्यान, और (२) परम शुक्लध्यान। चतुर्दश पूर्वी का ध्यान शुक्लध्यान है और केवलज्ञानी का ध्यान परम शुक्लध्यान है। प्रस्तुत भेद विशुद्धता और अधिकतर स्थिरता की दृष्टि से किया गया है।

स्वरूप की दृष्टि से शुक्लध्यान के–(१) पृथक्त्ववितर्क सविचार, (२) एकत्ववितर्क अविचार, (३) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती, और (४) समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति–ये चार प्रकार हैं।

(१) पृथक्त्ववितर्क सविचार–इस ध्यान में तर्कयुक्त चिन्तन के माध्यम से श्रुतज्ञान के विविध भेदों का गहराई से चिन्तन किया जाता है। द्रव्य-गुण-पर्याय पर चिन्तन करते हुए कभी द्रव्य पर, कभी पर्याय पर, कभी गुण पर–इस प्रकार भेद-प्रधान चिन्तन करना।

(२) एकत्ववितर्क अविचार–जब भेद-प्रधान चिन्तन करते हुए मन स्थिर हो जाता है तो उसके पश्चात् जो अभेद-प्रधान चिन्तन किया जाता है, वह एकत्ववितर्क अविचार ध्यान कहलाता है। इस ध्यान में वस्तु के एक रूप को ध्येय बनाया जाता है। यथा–किसी एक द्रव्य या उसकी एक पर्याय पर चिन्तन करना। जैसे–जिस स्थान में पवन नहीं होता वहाँ पर दीपक की लौ स्थिर रहती हैं, सूक्ष्म हवा तो उस दीपक को मिलती ही है, किन्तु तेज हवा नहीं, वैसे ही प्रस्तुत ध्यान में सूक्ष्म विचार चलते हैं, पर साधारण अथवा स्थूल विचार स्थिर रहते हैं जिसके कारण इसे निर्विचार ध्यान कहा गया है। एक ही वस्तु पर विचार स्थिर होने से यह निर्विचार है।

(३) सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती–प्रस्तुत ध्यान में अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया चलती है। जिस विशिष्ट साधक को यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वह पुनः ध्यान से च्युत नहीं हो सकता इसीलिए इसे सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती कहा है। यह ध्यान छद्मस्थ व्यक्ति को नहीं होता। जिन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया है वे सर्वज्ञ ही इस ध्यान के अधिकारी हैं। जब केवलज्ञानी का आयुष्य केवल अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहता है उस समय उस वीतरागात्मा में योग-निरोध की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। स्थूल काययोग के सहारे वे स्थूल मनोयोग को सूक्ष्म रूप देते हैं और फिर सूक्ष्म काययोग के अवलंबन से सूक्ष्म मन और वचन का निरोध करते हैं। केवल सूक्ष्म काययोग अर्थात् श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया ही शेष रहती है। उस स्थिति का ध्यान ही प्रस्तुत ध्यान है।

(४) समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति–यह शुक्लध्यान की चतुर्थ भूमिका है। तृतीय ध्यान में केवल श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया रहती है, पर इस ध्यान में श्वासोच्छ्वास का भी निरुन्धन हो जाता है। आत्म-प्रदेश पूर्ण रूप से निष्कम्प बन जाते हैं। मन-वचन-काया के योगों की चंचलता पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है। आत्मा तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में पहुँच जाती है। चौदहवें गुणस्थान में आत्म-प्रदेशों की निष्कम्प अवस्था होती है। इस क्रिया में पुनः निवृत्त नहीं होती। इसीलिए इसे समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति शुक्लध्यान कहा है। इस ध्यान के दिव्य प्रभाव से वेदनीय कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और आयुष्य कर्म–ये चारों कर्म नष्ट हो जाते हैं जिससे वह सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो जाता है।

धर्मध्यान श्वेताम्बर दृष्टि से छठे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है, किन्तु दिगंबर परंपरा धर्मध्यान का प्रारंभ सातवें गुणस्थान से मानती है। शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद सातवें से बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। शुक्लध्यान का तृतीय प्रकार तेरहवें गुणस्थान में होता है और चतुर्थ प्रकार में आत्मा चतुर्दश गुणस्थान में प्रवेश कर

जाती है। शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकार में श्रुतज्ञान का आलंबन होता है, किन्तु शेष दो में किसी प्रकार का आलंबन नहीं होता।

शुक्लध्यानी के लिंग, आलंबन और अनुप्रेक्षाएँ

शुक्लध्यानी आत्मा के चार लिंग और चार आलंबन तथा चार अनुप्रेक्षाएँ होती हैं।

शुक्लध्यानी आत्मा (१) अव्यथा–भयंकर से भयंकर उपसर्ग उपस्थित होने पर भी किंचित् मात्र भी चलित नहीं होती। (२) असंमोह–उसकी श्रद्धा अचल होती है, न तात्त्विक विषयों में उसे शंका होती है और न देव आदि के द्वारा माया की विकुर्वणा करने पर उसकी श्रद्धा डगमगाती है। (३) विवेक–वह आत्मा और देह की पृथकता से परिचित होती है। वह अकर्त्तव्य को छोड़कर कर्त्तव्य के पथ पर बढ़ती है। (४) व्युत्सर्ग–वह संपूर्ण आसक्तियों से मुक्त होती है। उसके मन में वीतराग भाव निरन्तर बढ़ता रहता है। इन चिन्हों से शुक्लध्यानी की सहज पहचान हो जाती है।

शुक्लध्यान के भव्य प्रासाद पर आरूढ़ होने के लिए चार आलंबन बताये हैं– (१) क्षमा–क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी वह क्रोध नहीं करता। (२) मार्दव–मान का प्रसंग उपस्थित होने पर मान नहीं करता। (३) मार्जव–माया के परित्यागपूर्वक उसके जीवन के कण-कण में सरलता होती है। (४) मुक्ति–वह लोभ को पूर्ण रूप से जीत लेता है।

शुक्लध्यान की (१) अनन्त-वर्तितानुप्रेक्षा, (२) विपरिणामानुप्रेक्षा, (३) अशुभानुप्रेक्षा, (४) अपाय-नुप्रेक्षा–ये चार अनुप्रेक्षाएँ हैं।

प्रथम अनुप्रेक्षा में वह अनंत भव परंपरा के बारे में चिन्तन करता है। द्वितीय अनुप्रेक्षा में वस्तु में प्रतिपल परिवर्तन होता रहता है, शुभ-अशुभ में बदलती रहती है और अशुभ शुभ में परिवर्तित होती है–इस प्रकार के चिन्तन से आसक्ति न्यून हो जाती है। तृतीय अनुप्रेक्षा में संसार के अशुभ स्वरूप पर गहराई से चिन्तन होता है जिससे उन पदार्थों के प्रति निर्वेद भावना पैदा होती है। चतुर्थ अनुप्रेक्षा में जिन अशुभ कर्मों के कारण इस संसार में परिभ्रमण होता है उन दोषों पर चिन्तन करने से वह क्रोध आदि दोष से मुक्त हो जाता है। जब तक मन में स्थैर्य नहीं आता उसके पहले ये अनुप्रेक्षाएँ हैं, स्थैर्य होने पर उसकी बहिर्मुखता नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार ध्यान के स्वरूप के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन हुआ है और ध्यान को उत्कृष्ट तप कहा है। ध्यान ऐसी धधकती हुई ज्वाला है जिसमें कर्म दग्ध हो जाते हैं।

(६) व्युत्सर्ग

व्युत्सर्ग जैन साहित्य व साधना पद्धति का एक चिरपरिचित शब्द है, आगमों में कहीं-कहीं पर 'काउसग्ग' को भी व्युत्सर्ग तप कहा है। जिसे कायोत्सर्ग सिद्ध हो जाता है उसे सम्पूर्ण व्युत्सर्ग तप सिद्ध हो जाता है। इसका अर्थ शरीर का उत्सर्ग अर्थात् देहत्याग है। पर देहत्याग से यहाँ तात्पर्य है देह के प्रति जो अनुराग है, देहाध्यास है–उसका परित्याग करना।

देह के प्रति जो अनुबंध है उससे ममता की परिधि बढ़ती है और वह परिधि ग्रन्थि का रूप ले लेती है। ग्रन्थि से तनाव उत्पन्न होता है। तनाव और ग्रन्थि के कारण ही आत्मा इस संसार में परिभ्रमण करती है। कायोत्सर्ग आन्तरिक और बाह्य दोनों ही तनावों को नष्ट करता है। जिससे आत्मा निज-स्वरूप में रमण करने लगता है। ममत्व नष्ट होने पर चांचल्य अपने आप मिट जाता है और उसके साथ ही राग-द्वेष की मात्रा भी कम होने से विषमता मिटकर समता आती है। विषमता से अनेक आन्तरिक और बाह्य रोग पैदा होते हैं। कायोत्सर्ग उन सभी रोगों की राम-बाण दवा है।

कायोत्सर्ग में सर्वप्रथम मन, वाक् और शरीर इन तीनों को सम अवस्था में लाया जाता है। इनके तनाव के अनुबंधों को दूर किया जाता है जिससे कायोत्सर्ग स्थिति में सहज रूप से लाया जा सके। कोई भी प्रवृत्ति क्यों न हो उस प्रवृत्ति से मांसपेशियों में तनाव आता है और तनाव का व्यक्त रूप क्रोध व हिंसा आदि में दिग्गोचर होता है। देह के शिथिलीकरण से माँसपेशियों का तनाव दूर होता है और आंतरिक ग्रंथियाँ सम हो जाती हैं।

कायोत्सर्ग में श्वास-नियमन

शरीर में जितनी भी शक्तियाँ हैं उन सभी शक्तियों से परिचित होने का सबसे सुगम मार्ग कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग में श्वास धीरे-धीरे सूक्ष्म होता चला जाता है। श्वास-प्रश्वास की सूक्ष्मता से ही कायोत्सर्ग घटित होता है। उसके साथ ही साधक का शरीर पृथक् है इसका बोध होने लगता है और ऐसा क्षण आता है जब साधक तन और मन से ऊपर उठकर आत्मस्थ हो जाता है।

प्राचीन योग के आचार्यों ने श्वास की कुछ स्थितियाँ बताई हैं–सहज श्वास, शांत श्वास, उखड़ी श्वास, विक्षिप्त श्वास और तेज श्वास। साधक सबसे पहले श्वास को गहरी और लम्बी करता है। उसके पश्चात् लयबद्ध श्वास का अभ्यास करता है, फिर उसके बाद सूक्ष्म, शांत और जमी हुई श्वास का अभ्यास

करता है। चतुर्थ अभ्यास में वह अपने आपको सहज कुम्भक स्थिति में पाता है। प्रस्तुत स्थिति का निर्माण प्राणायाम, प्रलंब जाप और ध्यान इन तीनों से किया जा सकता है।

कितने ही आचार्य दीर्घ श्वास की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। उनका यह अभिमत है कि तेज श्वास साधक के लिए उपयोगी नहीं है। क्योंकि तेज श्वास से शरीर और मन में अत्यधिक थकान का अनुभव होता है जिससे वह शिथिल हो जाता है तथा चेतना के प्रति सावधानता की स्थिति घटित नहीं होती। उस स्थिति में मूर्च्छा और थकान के कारण आने वाली तन्द्रारूपी शून्यता से अपने आपको बचाना कठिन हो जाता है। श्वास को उखाड़ने की अपेक्षा उसे लम्बा करने का अभ्यास करना चाहिए।

धीमी श्वास धैर्य की निशानी है। श्वास जितना सूक्ष्म होगा, शरीर में उतनी ही क्रियाशीलता कम होगी। श्वास की सूक्ष्मता की निष्क्रियता मौन और शांति है। इसमें ऊर्जा संचित होती है और वह ऊर्जा मन को एक देहाविष्ट बनाती है। श्वास के शिथिल होने से शरीर निष्क्रिय बन जाता है। प्राण शांत हो जाते हैं और मन निर्विचार हो जाता है। जिससे कषाय की ग्रंथियाँ आहत होने लगती हैं क्योंकि उस साधक में तीव्रतम वैराग्य, परद्रव्यात्म भिन्नता और अन्तर्प्रवेश की क्षमता समुत्पन्न होती है।

श्वास जब निश्चित डिग्री पर पहुँचता है तो उसके साथ मन का विलय प्रारंभ हो जाता है। श्वास की निष्क्रियता ही मन की शांति और समाधि है। जब श्वास उखड़ता है तो मन शांत नहीं रह सकता।

शरीर-विज्ञान की दृष्टि से हमारे शरीर में फेफड़ों के ६,000 कोष्ठक हैं। जब हम श्वास लेते हैं तो केवल १,५00-२,000 छिद्रों को ही भरते हैं। जो लोग पूरे प्राणवाययुक्त (ऑक्सीडाइज्ड) रहने की इच्छा रखते हैं वे श्वासों के प्रति सजग रहें। कार्बन और ऑक्सीजन इन दोनों का जीवन से गहरा सम्बन्ध है। कार्बन निद्रा, मूर्च्छा और आलस्य का कारण है जबकि ऑक्सीजन जागरण, स्फूर्ति और ताजगी का।

यह सच है कि कायोत्सर्ग में श्वास-क्रिया अत्यधिक मन्द हो जाती है जिसके कारण ऑक्सीजन-ग्रहण की मात्रा अत्यल्प हो जाती है, तथापि जागरूकता बनी रहती है। क्योंकि बाहर से आने वाली जागृति के लिए श्वास, इन्द्रिय आदि का सक्रिय होना आवश्यक है; पर आन्तरिक जागृति के लिए केवल सूक्ष्म प्राणतत्त्व का रहना पर्याप्त है। श्वास आदि साधनों की आवश्यकता नहीं रहती।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर यात्रा करना योग है। श्वास स्थूल है और प्राण सूक्ष्म है। श्वास के माध्यम से साधक प्राण यानी ऊर्जा को प्राप्त करता है। प्राण पर नियन्त्रण होने से अनासक्ति, अपरिग्रहवृत्ति, ब्रह्मचर्य आदि व्रत सहज रूप से सध जाते हैं और दुष्ट वृत्तियों में परिवर्तन हो जाता है जिससे घृणा नष्ट हो जाती है तथा उसके स्थान पर प्रेम के फूल महकने लगते हैं। क्रोध की अग्नि शान्त हो जाती है और क्षमा की वर्षा होने लगती है।

कायोत्सर्ग का महत्त्व, उसके भेद-प्रभेद आदि पर 'षडावश्यक' के अन्तर्गत 'कायोत्सर्ग' लेख में विस्तार से लिखा गया है। कायोत्सर्ग व्युत्सर्ग का ही एक प्रकार है। जिसने ममत्व वृत्ति का त्याग कर दिया है, संसार का त्याग कर दिया है, वही मोक्ष का अधिकारी है।

व्युत्सर्ग का अर्थ

व्युत्सर्ग का अर्थ विशेष रूप से उत्सर्ग करना है। आचार्य अकलंक[1] ने लिखा है–निःसंगता, अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा के परित्याग पर ही व्युत्सर्ग का भव्य प्रासाद टिका हुआ है। आत्म-साधना के लिए अपने आपको उत्सर्ग कर देना व्युत्सर्ग है।

व्युत्सर्ग के भेद-प्रभेद

भगवतीसूत्र में व्युत्सर्ग के (१) द्रव्य व्युत्सर्ग, और (२) भाव व्युत्सर्ग–ये दो भेद किये हैं। उसके पश्चात् द्रव्य व्युत्सर्ग के (१) गण व्युत्सर्ग, (२) शरीर व्युत्सर्ग, (३) उपधि व्युत्सर्ग, और (४) भक्तपान व्युत्सर्ग–ये चार प्रकार बताये हैं।

(१) गण व्युत्सर्ग–प्रश्न है कि साधक को गण में रहना चाहिए या अकेले? एक अवसर पर भगवान ने फरमाया है–साधना गाँव में भी हो सकती है और जंगल में भी। जिस साधक में आत्माभिमुखता की तीव्रता नहीं है उसके लिए चाहे जंगल क्यों न हो वह भी गाँव के सदृश ही है और जिस साधक में आत्माभिमुखता की तीव्रता है उसके लिए गाँव भी जंगल के समान है। इसी तरह आत्माभिमुख साधक संघ में रहकर भी निःसंग रह सकता है और जिसमें आत्माभिमुखता नहीं है वह एकाकी रहने पर भी वैचारिक अकेलेपन का अनुभव नहीं कर पाता।

तत्त्वदृष्टि से प्रस्तुत सत्य-तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता। पर मानव-मन की यह कठिनता है कि वह साधना के प्रथम चरण में तत्त्वचिन्तन की गहनता का व्यावहारिक जीवन के साथ समन्वय नहीं कर पाता। व्यावहारिक जीवन की अनेक

---

१. निःसंगनिर्भयत्व जीविताशाव्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः। —तत्त्वार्थराजवार्तिक ९/२६/१०

कठिनाइयाँ संघीय जीवन में सहज रूप से आ जाती हैं। संघ में विभिन्न रुचि, संस्कार और चिन्तन वाले व्यक्ति होते हैं। उन्हें साधना की विशिष्ट प्रक्रियाएँ व प्रयोगों में रुचि हो सकती है और नहीं भी हो सकती है। विशिष्ट अभ्यास करने वाले साधकों के लिए विक्षेप भी उपस्थित हो सकते हैं, इसलिए जो विशिष्टतम साधना करने वाले साधक थे वे गण से मुक्त होकर साधना करते थे। संघ से मुक्त होकर श्रुतज्ञान व चारित्र की विशेष आराधना के लिए वे एकाकी साधना करते थे।

जिस प्रकार कवि, लेखक, वैज्ञानिक और विद्यार्थी को एकांत शान्त स्थान की आवश्यकता होती है जिससे वह अध्ययन, चिन्तन, मनन कर सके उसी प्रकार साधक को भी प्रायोगिक काल में अकेलेपन की आवश्यकता होती है। जब उसे सत्य समुपलब्ध हो जाता है उसके पश्चात् पुनः वह संघ में मिल भी जाता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि गण से पृथक् होने के लिए गुरुजनों की आज्ञा अत्यन्त अपेक्षित होती है। वे साधक की योग्यता के अनुसार ही उसे एकाकी रहने की अनुमति देते हैं।

(२) शरीर व्युत्सर्ग–अहंकार और ममकार साधना के बाधक तत्त्व हैं। साधक अहंकार का भी त्याग करता है और ममकार का भी। ममकार का मूल-केन्द्र शरीर है। बिना शारीरिक ममत्व को विसर्जित किये, चेतन सत्ता की अनुभूति नहीं होती। जैसे एक दीपक की जगमगाती ज्योति पर ढक्कन लगा दिया जाय तो उसका आलोक आच्छन्न हो जाता है वैसे ही ममकार और अहंकार के कारण चैतन्य की ज्योति आच्छन्न हो रही है। शरीर का ममकार और अहंकार नष्ट होते ही चैतन्य की ज्योति प्रकट हो जाती है। शरीर व्युत्सर्ग का ही अपर नाम कायोत्सर्ग है।

(३) उपधि व्युत्सर्ग–पदार्थों का संग्रह और उनका ममत्व–ये दोनों ही साधना में विघ्न हैं। यद्यपि पदार्थ तो अपने आप में जड़ हैं किन्तु उनका संग्रह लोभ या ममत्व से किया जाता है। बिना ममत्व के संग्रह नहीं होता और जहाँ पर ममत्व-बुद्धि है, वहाँ अन्तरानुभूति नहीं होती। ममत्व के कारण उपधि उपाधि बन जाती है।

आगम साहित्य में संयम-साधना हेतु मर्यादानुसार वस्त्र, पात्र आदि रखने का विधान किया गया है किन्तु उस मर्यादा में भी क्रमशः कमी की जा सकती है। श्रमणों के लिए 'अप्पोवहि उवगरणजाए'। अल्प उपधि और अल्प उपकरण रखकर जीवनचर्या चलाने का विधान है। उपधि व्युत्सर्ग में साधक तीन वस्त्र में से एक वस्त्र का त्याग करता है अथवा दो वस्त्रों का त्यागकर एक ही वस्त्र रखता है इसी प्रकार क्रमशः कमी करता है।

(४) भक्तपान व्युत्सर्ग–शरीरधारी के लिए भक्त-पान की अनिवार्य आवश्यकता है। यह सत्य है कि शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति भी करनी पड़ती है, पर शरीर के लिए मर्यादा को विस्मृत होना सर्वथा अनुचित है। इसलिए जितनी आवश्यकता है उससे कम पूर्ति की जाय यही भक्तपान व्युत्सर्ग है।

भाव व्युत्सर्ग के तीन प्रकार हैं–(१) कषाय व्युत्सर्ग, (२) संसार व्युत्सर्ग, और (३) कर्म व्युत्सर्ग।

(१) कषाय व्युत्सर्ग–चेतना के अथाह महासागर में समय-समय पर कषायों के कारण उत्ताल तरंगें उठती रहती हैं जिससे चैतन्योपयोग में विक्षोभ उत्पन्न होता रहता है।

कषाय के स्वभाव एवं फल पर चिन्तन करते हुए कहा गया है–जो जीव के शुद्धोपयोग में मलिनता उत्पन्न करता है, वह कषाय है।[1] कषाय शब्द कषैले रस का द्योतक है। कषाय रस-प्रधान भोजन सेवन किया जाय तो अन्न-रुचि न्यून हो जाती है।[2] वैसे ही कषाय के कारण जीव में मोक्षाभिलाषा न्यून हो जाती है। कष् का एक अर्थ कुरेदना, खोदना और कृषि करना है। जिससे कर्मों की कृषि लहराती है, वह कषाय है। जब कषाय की खेती परिपक्व हो जाती है तब सुख व दुःख के फल निकल आते हैं। कषाय मन की मादकता है।

जब कषायरूपी रावण सद्बुद्धिरूपी सीता का अपहरण करता है तब विवेकरूपी राम सद्बुद्धिरूपी सीता को मुक्त कराने के लिए कषायरूपी रावण पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर देता है। यही कषाय व्युत्सर्ग है। इसमें कषायों को क्षीण कर उन पर विजय प्राप्त की जाती है।

(२) संसार व्युत्सर्ग–संसार का अर्थ नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप चार गतियाँ हैं। संसार के लिए आगमों में यत्र-तत्र 'चाउरन्त संसार कन्तारे' शब्द व्यवहृत हुआ है जिसका अर्थ है चार गति रूप संसार का अन्त करने वाला।

जिज्ञासा हो सकती है चार गति का व्युत्सर्ग कैसे किया जाय?

समाधान है–चार गतिरूप द्रव्य-संसार है। वस्तुतः द्रव्य-संसार का निर्माण भाव-संसार से होता है। भाव-संसार ही वास्तविक संसार है। जहाँ कामनाओं का हृदय में वास है, वहीं संसार है। उन्हीं कामनाओं के कारण चतुर्गतिरूपी संसार में जीव परिभ्रमण करता है। उस भाव-संसार का त्याग करना ही संसार व्युत्सर्ग है।

---

१. प्रज्ञापना पद १३ टीका

२. अन्नरुचिस्तंभनकृत् कषायः। –स्थानांग टीका (अभयदेव)

(३) कर्म व्युत्सर्ग–जैन दर्शन में कर्म पर बहुत ही विस्तार से चिन्तन किया गया है। श्वेताम्बर मूर्धन्य मनीषियों ने एक लाख से अधिक श्लोक परिमाण कर्म साहित्य का सृजन किया है तथा दिगम्बर मनीषियों ने तीन लाख श्लोक से भी अधिक कर्म साहित्य लिखा है। कर्मबन्ध के कारणों को समझकर उन कर्मबन्ध के कारणों का परित्याग करना ही कर्म व्युत्सर्ग है।

बाह्य-आभ्यन्तर तप का समन्वय

इस तरह आभ्यंतर तप से भावों में विशुद्धि होती है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक चंचलता नष्ट हो जाती है। शल्यों से मुक्ति मिलती है। जीवन के कण-कण में धार्मिक दृढ़ भावनाएँ उद्‌बुद्ध होती हैं। चित्त में समाधि भाव उत्पन्न होता है। आचार में विशुद्धि होती है। जिन-प्रवचन में वात्सल्य भावनाएँ जाग्रत होती हैं। प्रज्ञा में निर्मलता आती है। उत्कृष्ट संवेग के कारण अध्यवसाय प्रशस्त होते हैं। ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि के भाव नष्ट हो जाते हैं। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि शारीरिक कष्ट शरीर को प्रभावित नहीं करते। निर्ममत्व, निर्भयता, जीवन के प्रति अनासक्ति और मोक्ष-मार्ग की ओर द्रुतगति से बढ़ने की तत्परता समुत्पन्न होती है।

आभ्यन्तर तप में हृदय को विशुद्ध बनाने वाले आचारों का समावेश किया गया है तो बाह्य तप में शरीर सम्बन्धी साधना के सभी नियम और उपनियम आ जाते हैं। अनशन से लेकर व्युत्सर्ग तक बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही साधनाओं का सुन्दर समन्वय है। प्रस्तुत क्रम में न केवल कष्ट सहन करने का विधान है और न कष्ट से पलायन कर चित्त को एकाग्र करने का प्रयास है। साधक के लिए सहिष्णुता और एकाग्रता दोनों अपेक्षित हैं। इन दोनों का सुमेल इस साधना-क्रम में है। अन्य परम्पराओं में ऐसा सुनियोजित क्रम नहीं मिलता है। अन्य परम्पराओं में जहाँ केवल कायक्लेश और देह-दमन को महत्त्व दिया है वहाँ जैन परम्परा में कायक्लेश और देह-दमन के साथ ही आभ्यन्तर तप को भी महत्त्व दिया है। जैन संस्कृति का यह वज्र आघोष रहा है कि बाह्य तप के साथ यदि आभ्यन्तर तप का मेल नहीं है तो वह बाह्य तप मिथ्या अथवा बाल तप है। धन्य अनगार[1], तामली तापस[2] और पूरण तापस[3] ने उग्र तप किया था किन्तु आभ्यन्तर तप के अभाव में उनका उग्र तप अज्ञान तप ही था।

बाह्य तप क्रियायोग का प्रतीक है तो आभ्यन्तर तप ज्ञानयोग का। ज्ञान और क्रिया का समन्वय ही मोक्ष का मार्ग है।[4] उपाध्याय यशोविजय जी ने एतदर्थ

१. अनुत्तरोपपातिक, वर्ग ३
२. भगवती, शतक ३, उ. १
३. वही, शतक ३, उ. २
४. विज्जाए चेव, चरणेण चेव।
—स्थानांग २/६३

श्रमणों को बाह्य और आभ्यन्तर तप करने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है।[1] तथागत बुद्ध ने मज्झिमनिकाय में जैन संस्कृति के तप का उपहास भी किया है और उसकी निरर्थकता भी बतायी है। पर हमारी दृष्टि से ऐसा लगता है कि उन्होंने केवल बाह्य तप को ही असली तप समझा। आभ्यन्तर तप वैयावृत्य, स्वाध्याय, विनय, ध्यान आदि की ओर उन्होंने सम्भवतः लक्ष्य नहीं दिया। यदि उस पर वे विचार करते तो उसका उपहास नहीं करते।

उपाध्याय यशोविजय जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–जो बाह्य तप आध्यात्मिक कलुषता उत्पन्न करता है, वह तप नहीं ताप[2] है। उपवास का अर्थ पापों से पूर्णतया निवृत्त होकर सद्गुणों में रमना है।

हमारी दृष्टि से भगवान महावीर और तथागत बुद्ध की तपःसाधना में मुख्य रूप से यही अन्तर रहा है कि तथागत बुद्ध ने दीर्घकाल तक तप करके शरीर को अत्यधिक कृश बनाया[3] किन्तु आभ्यन्तर तप के अभाव में वह बाह्य तप उन्हें शान्ति प्रदान न कर सका और अन्त में उन्होंने बाह्य तप का परित्याग कर दिया।[4]

भगवान महावीर की तपःसाधना

भगवान महावीर बाह्य तप के साथ सतत आभ्यन्तर तप भी करते थे। अनशन के साथ आसन और ध्यान की साधना भी चलती रही। उन्होंने अपने साधनाकाल में उत्कटिक आसन, निषद्या, कायोत्सर्ग प्रतिमा आदि शताधिक बार किये।[5] बारह बार उन्होंने एक रात्रि की प्रतिमा अंगीकार की।[6] जब भगवान दृढ़ भूमि के पेढालग्राम में विचरण कर रहे थे तब उन्होंने पोलाश चैत्य में तीन दिन का उपवास किया। कायोत्सर्ग मुद्रा में उनका तन कुछ आगे की ओर झुका हुआ था। उनकी दृष्टि एक पुद्गल पर केन्द्रित थी। आँखें अनिमेष थीं, तन प्रणिहित था, इन्द्रियाँ गुप्त थीं, दोनों पैर सटे हुए थे और दोनों हाथ प्रलम्बित थे। प्रस्तुत मुद्रा में भगवान

---

१. बाह्याभ्यंतरं चेत्थं तपः कुर्यात् महामुनिः। –ज्ञानसार, तप अष्टक ६

२. तदेव हि तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च॥ –ज्ञानसार, तप अष्टक (उपा. यशोविजय जी)

३. इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति॥
–दर्शन और चिन्तन, पं. सुखलाल जी, द्वितीय खण्ड, पृ. ९३ से उद्धृत

४. मज्झिमनिकाय १२, महासिंहनाद सुत्त दण्डिका २० से ३९ तक

५. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ५३४

६. वही, गा. ५३१

ने एक रात्रि की महाप्रतिमा की।[1] भगवान ने सानुलष्टि ग्राम में भद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा प्रतिमा नामक तपश्चर्या की थी। चारों दिशाओं में चार-चार प्रहर तक कायोत्सर्ग करना भद्रा प्रतिमा है।[2] प्रस्तुत प्रतिमा की आराधना करने वाला प्रथम दिन पूर्व दिशा की ओर अभिमुख होकर कायोत्सर्ग करता है। रात्रि में दक्षिण दिशा की ओर अभिमुख होकर कायोत्सर्ग करता है। दूसरे दिन पश्चिम दिशा की ओर अभिमुख होकर तथा रात्रि में उत्तर की ओर अभिमुख होकर कायोत्सर्ग करता है। भगवान ने भद्रा के बाद महाभद्रा[3] प्रतिमा की। उसमें चारों दिशाओं में एक-एक दिन-रात कायोत्सर्ग किया जाता है। भगवान ने चार दिन तक इसकी आराधना की। इसके बाद सर्वतोभद्रा प्रतिमा[4] का प्रारम्भ किया। इसमें दस दिन-रात लगे। दसों दिशाओं में क्रमशः अहोरात्र कायोत्सर्ग किया। इस तरह भगवान सोलह दिन-रात तक सतत ध्यानरत और उपवासी रहे।[5] जब भगवान महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ उस समय वह उकडू आसन पर बैठे हुए थे, दो दिन का उपवास था[6] और ध्यानांतरिका में वर्तमान थे।[7]

उनके जीवन-दर्शन के अधयन से यह स्पष्ट है कि वे तप से कभी भी ऊबे नहीं थे। इस उग्र तपश्चरण के कारण उनमें असाधारण सहिष्णुता उत्पन्न हो गई थी। यही कारण है कि घोर से घोर अनुकूल और प्रतिकूल परीषह और उपसर्ग के उपस्थित होने पर भी वे अपने ध्येय से किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुए।[8] भगवान ने अत्यन्त वीरता के साथ उपसर्ग एवं परीषह सहन कर एक महान् आदर्श उपस्थित किया।

तप का उद्देश्य : आत्म-शुद्धि

आत्मा का अभ्युत्थान ही जैन संस्कृति के तप का उद्देश्य रहा है। तप का फल भ. महावीर ने व्युदान कहा है। व्युदान का अर्थ संचित मल को साफ करना है। आचार्य हेमचन्द्र[9] ने कहा–"जैसे सदोष स्वर्ण प्रदीप्त अग्नि से शुद्ध होता है वैसे ही

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ४९७, मलयगिरिवृत्ति, पत्र २८८
२. स्थानांग सटीक, प्रथम भाग, पत्र ६५-२
३. स्थानांगवृत्ति, प्रथम भाग, पत्र ६५-२
४ वही
५. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ४९४, मलयगिरिवृत्ति २८८
६. वही, गा. ५२५
७. वही, गा. ५२४
८. वही, गा. ५०२-५०५ (ख) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र १०-४-१८९
९. नवतत्त्व साहित्य संग्रह–श्री हेमचन्द्रसूरि रचित सप्ततत्त्व प्रकरण, गा. १२९-१३२

तप-अग्नि से आत्मा विशुद्ध होती है। बाह्य और आभ्यन्तर तप-अग्नि के प्रज्वलित होने पर यमी दुर्जय कर्मों को उसी क्षण भस्म कर देता है।" तप के ध्येय पर प्रकाश डालते हुए आचार्य सय्यंभव ने लिखा है[1]–इहलोक सम्बन्धी लाभ के निमित्त तप नहीं करना चाहिए, परलोक सम्बन्धी अभ्युदय के निमित्त तप नहीं करना चाहिए, कीर्ति, वर्ण (लोकव्यापी यश), शब्द (लोक प्रसिद्धि), श्लोक (स्थानीय प्रशंसा) के लिए तप नहीं करना चाहिए। निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य के लिए तप नहीं करना चाहिए।

आचार्य अकलंकदेव[2] ने कहा–जैसे किसान को खेती से अभीष्ट धान्य के साथ-साथ पराल भी मिलता है, वैसे ही तप-क्रिया का प्रधान प्रयोजन कर्मक्षय ही है, अभ्युदय की प्राप्ति तो पयाल की तरह आनुषंगिक है।

सकाम और निष्काम तप

तप स्वरूपतः एक है, पर तपस्वी की भावना के भेद के कारण उसे सकाम और निष्काम इन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। लौकैषणा या लौकिक ऋद्धि-सिद्धि के उद्देश्य से किया जाने वाला तप सकाम तप है। आत्म-उत्थान के लिए या कर्म-निर्जरा के लिए जो तप किया जाता है, वह निष्काम तप है।

आगम साहित्य के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि लौकिक कामना से तप करने वालों को लौकिक सिद्धियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[3] में भरत चक्रवर्ती के प्रसंग को देखा जा सकता है। अन्तकृद्दशांग[4] में कृष्ण वासुदेव ने अपनी माता देवकी की पुत्र-प्राप्ति की इच्छा पूरी करने के लिए तप की साधना की थी। ज्ञाताधर्मकथा[5] में धारिणी के दोहद को पूर्ण करने के लिए अभयकुमार ने तप किया था। इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट है कि तप से लौकिक कामनाएँ भी पूर्ण होती हैं। पर जैन संस्कृति में आध्यात्मिक दृष्टि से इस प्रकार के तप को महत्त्व नहीं दिया, अपितु लौकिक कामना की लालसा से किया जाने वाला तप मोक्ष प्राप्ति के लिए बाधक माना और वह शल्य की तरह बताया गया है।[6]

---

१. दशवैकालिक, अ. ९, उ. ४, सूत्र ३
२. तत्त्वार्थसूत्र ९-३, राजवार्तिक ५
३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, भरत चक्रवर्ती अधिकार
४. अन्तकृद्दशांग, तृतीय वर्ग
५. ज्ञाताधर्मकथा १-१६
६. (क) दशाश्रुतस्कन्ध, अ. १० निदान वर्णन (ख) स्थानांग ३-१८२ (ग) समवायांग ३

महात्मा गाँधी[1] ने एक स्थान पर लिखा है–तप से जीवन निखरता है, मन मँजता है, काया कंचनमय होती है। काया के कंचनमय हो जाने का अर्थ यही है कि तप से शुष्क शरीर में एक अनूठा तपःतेज दमक उठता है। तप एक प्रकार से शुद्ध की हुई रसायन है।

आज के वैज्ञानिकों ने 'बायोकेमिस्ट' औषधियों की शोध की है। उनका अभिमत है शरीर में बारह प्रकार के तत्त्व होते हैं, उन तत्त्वों में से किसी भी एक तत्त्व की न्यूनता होने से शरीर रुग्ण होता है। बारह प्रकार के क्षार तत्त्वों से रोगों को नष्ट कर शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाया जा सकता है। तप के भी बारह प्रकार हैं। वे 'बायोकेमिस्ट' औषधियों के सदृश हैं। इन तपों का शरीर के किस तत्त्व पर कैसा प्रभाव पड़ता है यह अनुसंधान का विषय है। तथापि यह निस्सन्देह कहा जा सकता है इनके आचरण से कर्मरूपी रोग नष्ट होते हैं और आत्मा पूर्ण स्वस्थ तथा शुद्ध बनती है।

तप श्रमण संस्कृति की आत्मा है। तप और श्रमण संस्कृति को पृथक्-पृथक् समझना उचित नहीं है। तप और संयम के पौधे का फूलना-फलना ही श्रमण संस्कृति का सही विकास है।

●●

---

१. गाँधीजी की सूक्तियाँ

परिशिष्ट १

पारिभाषिक शब्द-कोष

अंग–(१) मगध देश का पूर्व भाग, (२) वह साहित्य जिसके अर्थ-प्ररूपक तीर्थंकर और सूत्र रचयिता गणधर हैं। जैन आगमों का एक प्रमुख भाग।

अंगप्रविष्ट–तीर्थंकर के अर्थ की गणधरों द्वारा आचार आदि के रूप में जो अंग-रचना की जाती है, वह शास्त्र अंगप्रविष्ट कहलाता है।

अंगबाह्य–गणधरों के शिष्य-प्रशिष्यादि आचार्यों द्वारा अल्पबुद्धि शिष्यों के अनुग्रह के लिए की गई संक्षिप्त शास्त्र रचना।

अंगार–आहार सम्बन्धी दोष।

अंगारजीविका–कोयला निर्माण कर, भाड़ भूजकर, कुम्हार, लुहार, सुनार और ठठेरे आदि का कार्य कर आजीविका चलना।

अंगुल–आठ यव मध्य प्रमाण माप; अथवा जिस माप विशेष से पदार्थों का प्रमाण जाना जाता है।

अंगुष्ठप्रसेनी–जिस विद्या से देवता को अंगूठे पर अवतीर्ण कराया जाता है। इसका अपर नाम अंगुष्ठ प्रश्निका भी है।

अंगोपांग (नामकर्म)–जिस कर्म के उदय से हस्त, पाद, शिर आदि शरीर के अंग और नासिका आदि उपांगों की निष्पत्ति होती है।

अकर्मभूमि–असि, मषि, कृषि आदि कर्मों से रहित भूमि अर्थात् भोग भूमि।

अकल्प्य–अग्राह्य (विशेषतः श्रमण के लिए)।

अकामनिर्जरा–अनिच्छापूर्वक कष्ट भोगने से होने वाली कर्मनिर्जरा।

अक्रियावादी–जो अवस्थान का प्रसंग प्राप्त होने पर भी संभावना से–अवस्थान से रहित किसी भी अनवस्थित पदार्थ की क्रिया को स्वीकार नहीं करते।

अकुशल (कर्म)–दुःख देने वाले पापकर्म।

अगुरुलघु–गुरुता तथा लघुता का अभाव।

अचक्षुदर्शन–चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाला सामान्य प्रतिभास या अवलोकन।

अचक्षुदर्शनावरण (कर्म)–अचक्षुदर्शन को आवरण करने वाला कर्म।

अचारित्र–चारित्र निरोधक कषाय के उदय से चारित्र के प्रतिकूल आचरण करना।

अचित्त–जीवरहित–प्रासुक।

अचित्त परिग्रह–रत्न, वस्त्र, सोना, चाँदी आदि।

अचित्त अदत्तादान–खुली भूमि, खेत आदि में गढ़े हुए या रखे हुए स्वर्ण, रजत आदि अचेतन वस्तु जो स्वामी के द्वारा न दिये जाने पर भी ली गई है।

अचेलक–जिसके वस्त्र न हों या अल्प वस्त्रधारी।

अचेल परीषह–सर्वथा वस्त्ररहित होकर अथवा अल्प वस्त्र धारण करके श्रमण द्वारा शीत आदि के परीषह को शान्त भावना से सहन करना।

अचौर्य महाव्रत–ग्राम, नगर, वन या किसी भी स्थान पर किसी के रखे हुए, भूले हुए या गिरे हुए द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा भी न करना।

अचौर्याणुव्रत–अन्य की वस्तु को बिना स्वामी की अनुमति के न स्वयं ग्रहण करना, न अन्य को देना। इसमें स्थूल चोरी का त्याग वर्ज्य है।

अजीव–जिसमें चेतना का अभाव हो।

अजीवकाय असंयम–सुवर्ण, बहुमूल्य वस्त्र, पात्र आदि को ग्रहण करना।

अजीव क्रिया–अचेतन पुद्गलों का कर्मरूप में परिणत होना।

अजीव विचय धर्मध्यान–पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि अचेतन द्रव्यों के अनन्त पर्यायात्मक स्वभाव का चिन्तन करना।

अजीव अप्रत्याख्यान क्रिया–अचेतन मदिरा आदि के सेवन का त्याग न करने से होने वाला कर्मबन्ध।

अज्ञान–ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न होना अज्ञान है। मिथ्यात्व के उदय के साथ विद्यमान ज्ञान भी अज्ञान है। इसके मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंग ज्ञान ये तीन प्रकार हैं।

अज्ञान परीषह जय–यह अज्ञ है, पशु है इत्यादि तिरस्कारपूर्ण वचनों को सहकर और परम दुश्चर तपश्चरण करते हुए भी विशिष्ट ज्ञान के उत्पन्न न होने पर उसके लिए संक्लेश न करना।

अणिमा–अत्यन्त सूक्ष्म शरीररूपी विक्रिया करने वाली ऋद्धि।

अणु–पुद्गल का अविभागी अंश।

अणुव्रत–हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह–इन स्थूल पापों का परित्याग।

अतिक्रम–मानसिक शुद्धि का अभाव।

अतिक्रान्त प्रत्याख्यान–पर्युषणा के समय गुरु, तपस्वी, ग्लान श्रमण की वैयावृत्य आदि करने के कारण जिस स्वीकृत तपस्या को न कर सके, तथा बाद में यथावसर उसे करे।

अतिचार–(१) असद् अनुष्ठान विशेष, (२) चारित्र सम्बन्धी स्खलना, (३) व्रत का देशतः भंग होना, (४) व्रत में शिथिलता अथवा कुछ असंयम-सेवन।

अतिथि–संयम की आराधना करते हुए भिक्षा हेतु घर-घर परिभ्रमण करने वाला भिक्षु अथवा जिसके आने का तिथि, पर्व आदि निश्चित न हो।

अतिथि संविभाग–श्रमण के लिए भक्तिपूर्वक आहार, औषध आदि दान करना।

अतिभार–द्विपद, चतुष्पद जितना बोझ ले सके उससे अधिक बोझ उन पर लाद देना।

अतिलोभ–विशेष अर्थ का लाभ होने पर और अधिक लाभ की लालसा करना।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष–निश्चय, स्वरूप ज्ञान, अतिशय निर्मल यथार्थ, भ्रांति से रहित, इन्द्रिय व्यापार से निरपेक्ष देश आदि व्यवधान से रहित ज्ञान। समस्त लोक में उत्कृष्ट स्वयं को और बाह्य दोनों को विषय करने वाला ज्ञान।

अतीन्द्रिय सुख–इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखकर आत्मा की अपेक्षा प्राप्त होने वाला निर्बाध सुख, अथवा आत्मिक सुख।

अतीर्थंकरसिद्ध–सामान्य केवली होकर सिद्ध होने वाले जीव।

अतीर्थसिद्ध–तीर्थ के न होते हुए भी जो तीर्थांतर में सिद्ध होते हैं, ऐसे जीव, जैसे–मरुदेवी माता।

अतीर्थसिद्ध केवलज्ञान–तीर्थ की स्थापना न होने पर या उसके विच्छिन्न हो जाने पर जो सिद्ध हुए उनका केवलज्ञान।

अत्यन्ताभाव–जिसका त्रिकाल में भी सद्भाव सम्भव नहीं वह अभाव, जैसे–खर-सींग।

अदत्तग्रहण–दूसरों के द्वारा बिना दिये हुए अन्न आदि पदार्थ को स्वयं ग्रहण करना।

अदत्तादान–स्वामी की बिना आज्ञा के, परायी वस्तु ग्रहण करना।

अदर्शन परीषह–चिरकाल तक तपश्चरण करने पर भी ज्ञानातिशय या ऋद्धि विशेष के नहीं प्राप्त होने पर यह 'व्रतों का धारण करना व्यर्थ है' ऐसा विचार न करके सम्यग्दर्शन को शुद्ध बनाये रखना।

अद्धाकाल–चन्द्र, सूर्य आदि की क्रिया से परिलक्षित होकर जो समय आदि रूप, काल, अढाई द्वीप में जो प्रवर्तमान है।

अद्धापल्य–उद्धार पल्य के प्रत्येक रोम खण्ड को सौ वर्षों के समय से गुणित करके उनसे परिपूर्ण गड्ढा। एक काल मापक परिकल्पना।

अद्धापल्योपम काल–अद्धापल्य में से एक-एक समय में एक-एक रोम खण्ड को निकालते समय समस्त रोमखण्डों को निकालने के लिए लगने वाला काल।

अद्धासागरोपम–दस कोटाकोटि अद्धापल्योपम प्रमाण काल का नाम।

अद्वेष–तत्त्व सम्बन्धी अप्रीति को दूर करने का नाम।

अधर्म–जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि न हो अथवा मिथ्यादर्शन से युक्त ज्ञान व चारित्र रूप आत्म-परिणाम।

अधर्मद्रव्य–स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों के ठहरने में सहायक होने वाला द्रव्य।

अधःप्रवृत्तकरण–वे परिणाम जो अधस्तन समवर्ती परिणाम, उपरितन परिवर्ती परिणामों के साथ कदाचित् समानता रखते हैं। इसका अपर नाम यथा-प्रवृत्तकरण भी है। यह परिणाम अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पाया जाता है।

अधःप्रवृत्तकरण विशुद्धि–प्रथम समय के योग्य अधःप्रवृत्त परिणामों की अपेक्षा द्वितीय समय के योग्य परिणाम अनन्तगुणे विशुद्ध होते हैं। इनकी अपेक्षा तृतीय समय के योग्य परिणाम अनन्तगुणे विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के समय के परिणाम उन परिणामों में समयोत्तर क्रम से अनन्तगुणी विशुद्धि को अधःप्रवृत्तकरण विशुद्धि कहा जाता है।

अधिकमास–एक समय में एक दिन की वृद्धि होती है। इस प्रकार एक वर्ष में बारह दिन तथा ढाई वर्ष में एक मास की जो वृद्धि होती है, वह अधिकमास कहलाता है।

अधिकरण क्रिया–हिंसा के उपकरणों को ग्रहण करना।

अधिगम–ऐसा ज्ञान जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं।

अधिगमज सम्यग्दर्शन–परोपदेशपूर्वक जीवादि तत्त्वों के निश्चय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसका अपर नाम अधिगम भी है।

अधोदिग्व्रत–अधोदिशा सम्बन्धी कुएँ आदि में गमन करने का परिमाण करना।

अधोलोक–पुरुष-आकार लोक में नीचे का भाग जो वेत्रासन सदृश है।

अध्ययन–जो शुभ अध्यात्म चित्त को उत्पन्न करता है अथवा जो अध्यात्म निर्मल चित्तवृत्ति को लगाता है जिससे तत्त्वबोध, संयम और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अध्यात्म–निर्मोह अवस्था में आत्मा को अधिकृत करके की जाने वाली शुद्ध क्रिया।

अध्यात्म विद्या–आत्मा विषयक ज्ञान के संकल्प-विकल्परहित निर्मल अन्तरंग जिससे हो, ऐसी विद्या।

अध्रुवबन्ध–जिस बन्ध की आगामी काल में व्युच्छित्ति होगी ऐसे भव्य जीवों का ऐसा कर्मप्रकृतियों का अनुबन्ध।

अध्रुवबन्धिनी–बन्ध कारणों का सद्भाव होने पर भी जिन कर्मप्रकृतियों का कदाचित् बन्ध होता है और नहीं भी होता है, ऐसी कर्मप्रकृतियों को अध्रुवबन्धिनी प्रकृति कहा जाता है।

अध्रुवोदया–उदय व्युच्छित्ति हो जाने पर भी द्रव्यादि सामग्री विशेष के निमित्त से जिनका उदय पुनः सम्भव है ऐसी सातावेदनीय आदि कर्मप्रकृतियाँ।

अनक्षरश्रुत–उच्छ्वसित, निःश्वसित, निष्ठ्युत (थूक), काक्षित (छींक), अव्यक्त शब्द और संकेत।

अनगार–महाव्रती श्रमण, जिनका आगार नहीं होता।

अनंगक्रीड़ा–कामसेवन के अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों से कामक्रीड़ा करना।

अनंगप्रविष्ट–जो आगम साहित्य स्थविरों द्वारा रचित है।

अनंगश्रुत–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण आदि।

अनन्त–जो राशि एक मात्र केवलज्ञान का विषय हो। जिसका अन्त नहीं हो।

अनंतकाय–जिन अनन्त जीवों का एक साधारण शरीर हो तथा जो अपने मूल शरीर से छिन्न-भिन्न होने पर भी पुनः उग जाते हैं, जैसे–आलू, पलाण्डु, लहसुन आदि।

अनंतवीर्य–वीर्यान्तराय कर्म का क्षय होने पर जो अप्रतिहत सामर्थ्य उत्पन्न होता है।

अनंतानुबन्धी–(१) जिसका उदय होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता है और यदि उत्पन्न हो गया हो तो नष्ट हो जाता है। (२) अनंत भवों की परम्परा को चालू रखने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी कषाय है। (३) यहाँ अनन्त शब्द से मिथ्यात्व को लिया गया है जिसके कारण अनन्त संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। जिन कषायों का सम्बन्ध मिथ्यात्व से है वे कषाय।

अनंतोपभोग–उपभोगान्तराय कर्म के समूल को नष्ट हो जाने पर जो उपभोग प्रादुर्भूत हो जाता है।

अनपवर्तन–पूर्व में बाँधी हुई कर्मस्थिति का ह्रास न होकर उतनी ही स्थितिरूप कर्म का अनुभव करना।

अनपवर्तनीय–आयु कर्म की जितनी स्थिति बाँधी गई है उतनी स्थिति का वेदन करना; अपने काल की अवधि के पूर्व उसका विघात न होना; दूसरे शब्दों में 'अनपवर्तनीय आयु' वह है जिसका विघात किसी भी प्रकार से न हो सके।

अनभिगृहीत मिथ्यात्व–परोपदेश के विना ही मिथ्यात्व कर्म के उदय से तत्त्वों का अश्रद्धान।

अनभिप्रेत–अपने लिए अनिष्ट या प्रतिकूल वस्तु।

अनभिहित–अपने सिद्धान्त में अनुपदिष्ट या अकथित तत्त्व।

अनर्थ क्रिया–प्रयोजन रहित क्रिया।

अनर्थदण्ड–जिस क्रिया से लाभ तो कुछ भी नहीं होता पर सदा पाप ही होता है।

अनर्थदण्डविरति–जिन कार्यों को करने से अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न हो, केवल पाप का संचय हो, ऐसी क्रियाओं अथवा अनर्थदण्डों का त्याग। इसे अनर्थदण्ड व्रत भी कहते हैं।

अनवस्थाप्यार्ह–जिनका सेवन करने पर साधक कुछ काल तक व्रतों में स्थापना के योग्य नहीं होता; पश्चात् तप का अनुष्ठान करने पर उस दोष के शान्त हो जाने से व्रतों में जो साधक स्थापना के योग्य हो जाता है।

अनशन–किसी प्रकार के फल की अपेक्षा न करके संयम की सिद्धि, रागोच्छेद, कर्म विनाश, ध्यान व स्वाध्याय के लिए भोजन का परित्याग करना।

अनाकांक्ष क्रिया–शठता या आलस्य के वशीभूत होकर आगम निर्दिष्ट आवश्यक क्रियाओं को करने में अनादर भाव रखना।

अनाकांक्षणा–कर्माधीन विनश्वर दुःखोत्पादक और पाप के बीजभूत सांसारिक सुख में अनास्था का श्रद्धान करना; उनमें विश्वास न रखना।

अनाकारोपयोग–दर्शनोपयोग।

अनाचरित दोष–दूर देश से या ग्रामान्तर से लाये हुए आहार को ग्रहण करना।

अनाचार–विषयों में अत्यधिक आसक्ति या आधाकर्म–स्वयं के निमित्त निर्मित भोजन को श्रमण द्वारा करना।

अनादर–भूख, प्यास, श्रम, आलस्य आदि के कारण सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओं के करने में उत्साह न रखना, जैसे-तैसे पूरा करना।

अनादिकरण–धर्म-अधर्म और आकाश द्रव्यों के परस्पर व्याघात के बिना सदा एक साथ अवस्थान।

अनादिसांत–अनादिकाल से प्रवृत्त होकर भविष्य में, विच्छेद को प्राप्त होने वाले बंध आदि।

अनादृत–वन्दन आदि क्रिया आदररहित करना।

अनादेश–गति, कषाय आदि औदयिक भावविशेषों में रहने वाले अनुवृत्तिस्वरूप सामान्य का नाम।

अनानुगामिक (अननुगामी) अवधिज्ञान–जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में अवस्थित जीव को उत्पन्न होता है, उसी क्षेत्र में उसके अवस्थित रहने पर वह संख्यात-असंख्यात योजन के अन्तर्गत अपने नियत विषय को जानता है। स्वामी के अन्यत्र जाने पर वह उसे नहीं जानता। इसका कारण यह है कि उसका आवरक अवधिज्ञान का क्षयोपशम उस क्षेत्र से सम्बन्धित है।

अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व–परोपदेश निरपेक्ष स्वभाव से होने वाला पदार्थों का अयथार्थ श्रद्धान।

अनाभोग–आगम का पर्यालोचन न करके अज्ञान को श्रेयस्कर मानना।

अनाभोगक्रिया–बिना देखे और बिना परिमार्जन किये उठना, बैठना आदि शरीर संबंधी क्रिया।

अनाभोगबकुश–सहसा, बिना सोचे-विचारे शरीर और उपकरण आदि को विभूषित करने वाला साधु।

अनाभोगिक मिथ्यात्व–विचारशून्य व्यक्ति के अथवा विशेष ज्ञान से रहित एकेन्द्रिय आदि में जो विपरीत श्रद्धान होता है।

अनार्य–जिनका आचरण श्रेष्ठजनसम्मत नहीं है।

अनालब्ध दोष–उपकरण आदि प्राप्त करने की इच्छा से गुरु की वन्दना आदि करना।

अनास्रव–हिंसादि पापों से रहित तथा कषाय से रहित पंच महाव्रत व समिति से युक्त।

अनाहार–औदारिक आदि तीन शरीरों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण न करना।

अनाहारक–विग्रह गति को प्राप्त चारों गति के जीव, समुद्घातगत सयोगी केवली, अयोगी केवली और सिद्ध।

अनिकाचित–जिन कर्म-प्रदेशों का उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा की जा सके।

अनित्य–विनश्वर वस्तु।

अनित्यनिगोद–जो जीव त्रस पर्याय को प्राप्त कर चुके हैं या आगे प्राप्त करने वाले हैं।

अनित्यानुप्रेक्षा–शरीर, इन्द्रियाँ, भोग-उपभोग, जलबुदबुदों के समान क्षणभंगुर है उसे मोह के कारण नित्य मानना; पर मोह नष्ट होने पर ज्ञान दर्शन ही नित्य है ऐसा चिन्तन करना।

अनिधत्त–जिस कर्म प्रदेशाग्र का अपकर्षण, उत्कर्षण और प्रकृति संक्रमण किया जा सकता है, और जो उदय में आता है।

अनिन्द्रिय–इन्द्रियों के समान दृष्टिगोचर न होकर पर इन्द्रियों के कार्यों में जो सहायक है वह अन्तःकरण रूप मन।

अनिन्द्रिय सुख–अनुपम अमेय अक्षय निर्मल अजर अरुज भयविरहित संसारातीत निर्बाध सुख।

अनिर्हारिम–पर्वत की गुफा आदि में, गिरे हुए पादप वृक्ष के समान निश्चेष्ट होकर मरण प्राप्त करना। बस्ती में मरने से शरीर का निर्हरण होता है, पर वहाँ नहीं।

अनिवृत्तिकरण–जिस विशिष्ट आत्म-परिणाम के द्वारा जीव मिथ्यात्व ग्रंथि का भेदन कर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। प्रस्तुत परिणाम में सम्यक्त्व को प्राप्त होने तक जीवन निवृत्त नहीं होता।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान–जिस गुणस्थान में विवक्षित एक समय के भीतर वर्तमान सभी जीवों के परिणाम परस्पर में भिन्न न होकर समान हों।

अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान–विष, कंटक आदि अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए मन में पुनः संकल्प-विकल्प उठते हैं।

अनिन्हवाचार (अनिह्नवाचार)–जिस गुरु से शास्त्र पढ़ा हो उसी के नाम को प्रगट करना या जिस आगम व ग्रंथ को पढ़कर ज्ञानवान हुआ हो उसी ग्रन्थ का नाम बताना।

अनीक–हाथी-घोड़े, रथ, पादचारी, बैल, गंधर्व, नर्तकी–यह सात प्रकार की देवसेना।

अनुकम्पा–तृषित, बुभुक्षित आदि किसी दुःखित प्राणी को देखकर उसके दुःख से स्वयं दुःखी होना, मन में उसके उद्धार की चिन्ता करना।

अनुकृष्टि–अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय तक प्रत्येक समय में जो असंख्यात लोकमात्र परिणाम स्थान छह वृद्धियों के क्रम से अवस्थित होते हैं, स्थिति, बंधापसरण आदि के कारण होते हैं, परिपाटी क्रम से विरचित उन परिणामों की पुनरुक्तता, अपुनरुक्तता की खोज करना।

अनुगामि अवधि–सूर्य के दिव्य प्रकाश की तरह देशान्तर या भवान्तर में जाते हुए अपने स्वामी अवधिज्ञानी के साथ जाने वाला अवधिज्ञान।

अनुग्रह–जीवों के पारस्परिक उपकार।

अनुज्ञा–दूसरों को सूत्र और अर्थ स्वयं प्रदान करना और प्रदान करते हुए अन्य की अनुमोदना करना।

अनुत्तरोपपातिक–उपपात जन्म। जन्म ही जिनका प्रयोजन है। प्रत्येक तीर्थंकर के समय उत्कृष्ट तप की साधना करके पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले महामुनियों के चरित्र का वर्णन वाला अंग।

अनुदय बंधोत्कृष्ट–जिन कर्मप्रकृतियों का विपाकोदय के अभाव में बन्ध से उत्कृष्ट स्थिति सत्व पाया जाता है।

अनुपक्रम–आयु के अपवर्तन के कारणभूत अध्यवसान बाह्य विष, शस्त्र, अग्नि आदि के अभाव का नाम।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय–वस्तु की अन्तर्गत शक्ति विशेष से निरपेक्ष होकर सामान्य रूप से निरूपण करने वाला नय।

अनुप्रेक्षा–शरीर आदि के स्वभाव का चिन्तन करना या पठित अर्थ का मन से अभ्यास करना।

अनुप्रेक्षादोष–वस्तु स्वरूप का चिन्तन करते हुए ओठों को हिलाते रहना।

अनुभवावीचिमरण–आयु कर्म सम्बन्धी परमाणुओं में छह प्रकार की वृद्धि व हानि के क्रम से जल-तरंगों के समान अवस्थित उक्त कर्मपुद्गलों के रस (अनुभाग) का प्रतिक्षण प्रलय होना।

अनुभाग–कषायजनित परिणामों के अनुसार कर्मों में जो शुभ या अशुभ रस प्रादुर्भूत होता है, वह अनुभाग है।

अनुभागबंध–जिस प्रकार लड्डू में स्निग्ध व मधुर आदि रस एक गुणे, दुगुणे व तिगुणे आदि रूप से रहता है उसी प्रकार कर्म में भी जो देशघाती व सर्वघाती, शुभ व अशुभ तथा तीव्र व मन्द आदि रस (अनुभाग) होता है, वह अनुभाग बन्ध कहलाता है।

अनुभागसंक्रमण–अनुभाग का अपकर्षण, उत्कर्षण या अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना।

अनुभागोदीरणा–वीर्य विशेष से उदय को प्राप्त हुए रस के साथ अनुदय प्राप्त रस का वेदन होना।

अनुमत–कार्य को न स्वयं करना, न कराना किन्तु करते हुए की मन से अनुमोदना या प्रशंसा करना।

अनुमान–साध्य के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाले साधन से साध्य का ज्ञान।

अनुमोदना–आधाकर्मदूषित भोजन करने वाले साधु की प्रशंसा करना; अथवा अन्य किसी अयोग्य आचरण की प्रशंसा करना।

अनुयोग–अर्थ के साथ सूत्र की जो अनुकूल योजना; अथवा सूत्र का अपने अभिधेय जो योग होता है वह।

अनुवीचिभाषण–जिनागम के अनुसार निरवद्य वचन बोलना।

अनुश्रेणी–लोक के मध्य भाग से लेकर ऊपर-नीचे और तिरछे रूप में अवस्थित आकाश-प्रदेशों की पंक्ति।

अनुश्रोतःपदानुसारिणी बुद्धि–किसी अन्य से प्रथम पद के अर्थ और ग्रन्थ को श्रवण कर अन्तिम पद तक अर्थ और ग्रन्थ के विचार में समर्थ अतिशय निपुण बुद्धि।

अनुसारी–गुरु के उपदेश से किसी भी ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त के एक बीज पद को श्रवण कर उसके उपरिवर्ती ग्रन्थ को जान लेना।

अनेकसिद्ध–एक समय में अनेक जीवों का सिद्ध होना।

अनेकांत–एक वस्तु में मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अस्तित्व और नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों का प्रतिपादन।

अनेकांत हेत्वाभास–जो हेतु साध्य से विपरीत के साथ भी रहता हो अथवा जिस हेतु की अन्यथानुपपत्ति संदिग्ध हो। दूसरे शब्दों में पक्ष और सपक्ष के समान विपक्ष में रहने वाला हेतु।

अन्तकृद्दशांग–जिस अंग में प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में होने वाले अनन्त केवलियों का वर्णन हो, ग्यारह अंग में आठवाँ अंग।

अन्तरकरण–विवक्षित कर्मों की अधस्तन और ऊपरी स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितियों के निषेकों का परिणाम विशेष से अभाव करना।

अन्तरंग क्रिया–स्व-समय और पर-समय के जानने रूप ज्ञान क्रिया।

अन्तरात्मा–(१) जो आठ मदों से रहित होकर देह और जीव के भेद को जानते हैं। (२) आठ कर्मों के भीतर रहने से जीव को अन्तरात्मा कहा जाता है। (३) सकर्म अवस्था में भी ज्ञानादि उपयोग स्वरूप शुद्ध चैतन्यमय आत्मा में जिन्हें आत्म-बुद्धि प्रादुर्भूत हुई हो ऐसे जीव सम्यग्दृष्टि (चौथे) गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय (बारहवें) गुणस्थान तक होते हैं।

अन्तराय–किसी के ज्ञान, दान आदि में बाधा पहुँचाना।

अन्तरिक्ष महानिमित्त–आकाशगत सूर्य, चन्द्र व तारा प्रभृति के उदय-अस्त अवस्थाविशेष को देखकर भूत-भविष्यत् काल सम्बन्धी फल को जानने की विद्या।

अन्तर्गति–एक गति को त्यागकर दूसरी गति में जन्म लेने के पूर्व जीव की जो मध्यवर्ती गति होती है, वह जैसे मानव मरकर जब तक तिर्यंच रूप अपने उत्पत्ति स्थान को नहीं प्राप्त कर लेता तब तक की उसकी गति अन्तर्गति कहलाती है।

अन्तर्धान–अदृश्य होना।

अन्तर्मल–अन्तरंग का मल। जैसे स्वर्ण का अन्तर्मल कालिमा है वैसे आत्मा का अन्तर्मल कर्म है। कषायादि भी अन्तर्मल है।

अन्तर्मुहूर्त–एक समय अधिक आवली से लगाकर एक समय कम मुहूर्त (४८ मिनट) का काल।

अन्तःकरण–मन।

अन्तःशल्य–अन्तःकरण में अपराध काँटे की तरह चुभ रहा हो, पर अस्मिता के कारण आलोचना नहीं करना। दुष्प्रवृत्ति को छुपाने पर होने वाली आंतरिक चुभन।

अन्त्यसूक्ष्म–परमाणुगत सूक्ष्मता।

अन्त्यस्थूल–जगत्व्यापी महास्कंधगत स्थूलता।

अन्यत्वग भावना–पुत्र, मित्र, कलत्र आदि सर्वथा भिन्न हैं, वस्तुतः किसी के साथ सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार का चिन्तन।

अन्य लिंग–जैन लिंग से भिन्न, परिव्राजक आदि लिंग।

अन्य विवाहकरण–अपने पुत्र-पुत्री के अतिरिक्त अन्य स्वजन-परिजनों के पुत्र-पुत्री का विवाह कराना।

अपध्यान–राग-द्वेष के वशीभूत होकर दूसरों के वध, बन्धन, छेदन और परस्त्रीहरण का विचार करना।

अपकर्षण–कर्म-प्रदेशों की स्थिति को कम करना।

अपरविदेह–मेरु पर्वत के पश्चिम की ओर के विदेह क्षेत्र का आधा भाग।

अपरिग्रहीता–पतिविहीन स्त्री, गणिका आदि जो पुंश्चली के रूप में पर-पुरुषों के पास आती हो।

अपरिग्रह–मोह के उदय से होने वाली पर में ममत्व बुद्धि से निवृत्त होना।

अपरीतसंसार–जिसने सम्यक्त्व के संसार को परिमित न कर दिया है।

अपर्याप्त–जो पृथ्वीकायिक आदि जीव अपर्याप्त नामकरण के उदय से रहित होते हैं अर्थात् जिन जीवों का शरीर पूर्ण नहीं हुआ है।

अपर्याप्त नाम–जिस कर्म के उदय से जीव अपनी यथायोग्य पर्याप्तियों को पूरा न कर सके।

अपलाप–किसी से ज्ञान प्राप्त करके उसका नाम न बताकर अन्य का नाम बताना।

अपवर्ग–जहाँ जन्म, जरा, मरण आदि दोषों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है, ऐसी स्थिति, अर्थात् मुक्ति।

अपवर्तना संक्रमण–आत्मा के विशिष्ट परिणामों के प्रभाव से किसी कर्म-प्रकृति की स्थिति को कम करना अथवा इस प्रकृति को अन्य प्रकृति में बदल देना।

अपवाद–सामान्य विधि का निर्देश कर देने के पश्चात् आवश्यकता के अनुसार जो उसमें यथायोग्य विशेषता का विधान किया जाता है, वह।

अपूर्वकरण–(१) मोह कर्म के उपशम या क्षपणा को प्रारम्भ करते हुए अन्तर्मुहूर्त तक प्रति समय होने वाले अपूर्व अध्यवसाय। (२) अपूर्व गुणस्थान में विवक्षित समयवर्ती जीवों को छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवों के न पाये जाने वाले भाव। (३) आत्मा के ऐसे परिणाम जिनके द्वारा जीव राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़ देता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान–आठवाँ गुणस्थान। इस गुणस्थान में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी और स्थितिबन्ध आदि के निवर्तक अपूर्व कार्य होते हैं।

अप्काय–अप् यानी जल ही जिनका शरीर हो, जैसे–ओस, बर्फ, शुद्ध जल आदि।

अप्रतिबद्ध–ग्राम, नगर, अरण्य में रहने वाले मुनि या गृहस्थ के द्वारा किये जाने वाले आदर सत्कार से जो सर्वत्र अनासक्त रहता है।

अप्रतिबुद्ध–बहिरात्मा, आत्मा-अनात्मा के ज्ञान से रहित जीव।

अप्रत्याख्यान–अल्प प्रत्याख्यान।

अप्रत्याख्यान क्रिया–संयम का घात करने वाले कर्म के उदय से विरक्त न होना।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषाय–जिनके उदय से लेशमात्र भी संयमासंयम न धारण किये जा सकें।

अप्रमत्तसंयत–सर्व प्रकार के प्रमादों से रहित और व्रत, गुण, शील से मण्डित श्रमण।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान–सातवाँ गुणस्थान। इसमें श्रमण सभी प्रकार के प्रमादों से दूर रहता है। किसी भी प्रकार के प्रमाद का सेवन नहीं करता।

अप्रशस्त ध्यान–पापास्रव के कारणभूत आर्त-रौद्र ध्यान।

अप्रशस्त भावना–मिथ्यात्व आदि से युक्त विचार।

अबहुश्रुत–जिसने आचार कल्प का अध्ययन नहीं किया या पढ़कर विस्मृत हो गया है।

अबाधाकाल–बँधने के पश्चात् भी कर्म जितने समय तक बाधा नहीं पहुँचाता अर्थात् उदय में नहीं आता।

अब्रह्म–स्त्री-पुरुषों की रागपूर्ण चेष्टा।

अब्रह्मवर्जन–जिस व्रत में परस्त्री का स्मरण न स्वयं करना, न दूसरों से करवाना। इसी प्रकार का विधान स्त्री के लिए पुरुष के सम्बन्ध में है।

अभयदान–सूक्ष्म और बादर जीवों की अपनी शक्तिप्रमाण रक्षा करना और उन्हें कष्ट नहीं देना।

अभव्य–ऐसे जीव जिन्हें कभी भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अभिगृहीत–दूसरों के उपदेश से ग्रहण किया गया मिथ्यात्व।

अभिनिबोध–अर्थाभिमुख होकर नियत विषय का ज्ञान।

अभिन्न दशपूर्वी–रोहिणी आदि महाविद्याओं के ५०० और अंगुष्ठ प्रसेनादि (प्रश्नादि) क्षुद्र विद्याओं के ७०० देवता आकर विद्यानुवाद नामक दसवें पूर्व के पढ़ते समय आज्ञा देने के लिए अभ्यर्थना करते हैं तथापि उन्हें स्वीकार नहीं करते, ऐसे श्रमण अभिन्न दशपूर्वी कहलाते हैं।

अभिमान–मान कषाय के उदय से अन्तःकरण में उदय होने वाला अहंकार का भाव।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग–जीवादि पदार्थों के स्वकीय स्वरूप को जानने रूप सम्यग्ज्ञान में सतत उपयोगवान रहना।

अमनस्क–मन से रहित जीव।

अमूढ़दृष्टि–(१) दुःखों के कारणभूत कुमार्ग-मिथ्यादर्शनादि तथा उसमें स्थित मिथ्यादृष्टि जीवों की भी मन-वचन-काय से प्रशंसा न करना। (२) जो सन्मार्ग के समान प्रतीत होने वाले मिथ्यामार्गों में परीक्षारूप नेत्र के द्वारा युक्ति के अभाव को देखकर, उन्हें युक्तिहीन जानकर–उसमें मुग्ध नहीं होना।

अमूर्त–(१) जीव जिन विषयों को इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण कर सकता है वह मूर्त है, उनसे भिन्न सभी अमूर्त हैं। (२) अष्ट कर्म से रहित होने से रूपादिमय शरीर से भी वह मुक्त हो जाता है, अतः वह अमूर्त कहलाता है।

अमृतस्रावी–जिनके हाथ का संस्पर्श पाते ही नीरस आहार अमृत के सदृश सरस बन जाता है और जिनके मधुर वचन अमृत के सदृश सभी प्राणियों पर अनुग्रह करने वाले होते हैं, ऐसे श्रमण।

अयोग–जो शुक्लध्यानरूपी अग्नि से घातिया कर्मों को नष्ट करके योगों से रहित होता है उसे अयोग केवली भी कहते हैं।

अयोगी केवली–जो योगों का निरुन्धन कर चुके हैं ऐसे चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव।

अरति–पुत्र-पौत्रादि में प्रीति का अभाव होना अथवा जिसके उदय से देशादि के विषय में अनुत्सुकता रहती है।

अरतिरति–अरतिमोहनीय कर्म के उदय से होने वाली चित्तोद्वेगरूप रति के फलस्वरूप जो विषयों के प्रति मन में अनुराग होता है।

अरूपध्यान–रूपरहित विशुद्ध सिद्ध स्वरूप की उपलब्धि के लिए रूपादि से रहित सिद्ध के स्वरूप का जो संवेदनात्मक ध्यान किया जाता है वह अरूप धर्मध्यान है। यह रूपातीत ध्यान भी कहलाता है।

अरूपी–जिन द्रव्यों में रूप, रस, गंध, वर्ण का अभाव हो। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव–ये पाँचों द्रव्य शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित होते हैं, अतः अरूपी हैं।

अर्थविनय–विशिष्ट व्यक्तियों के संकित के अनुसार कार्य करना, उठकर उनका स्वागत करना, आसन देना इस प्रकार अर्थ प्राप्ति के लिए विनय करना।

अर्धमागधी भाषा–जो भाषा आधे मगध देश में बोली जाती थी अथवा जिसमें अठारह देशी भाषाएँ गर्भित थीं; वह अर्धमागधी है।

अलोक–लोक से बाहर जितना भी अनन्त आकाश है वह।

अल्पबहुत्व–परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा से हीनाधिकता का बोध।

अवक्तव्य उदीरणा–अनन्त अतीत समय में उदीरणा से रहित होकर वर्तमान समय में उदीरणा करने वाले की उदीरणा अवक्तव्य उदीरणा है।

अवगाढ़ रुचि–आचारादि द्वादशांग के अध्ययन से जो दृढ़ श्रद्धान होता है वह अवगाढ़ रुचि या अवगाढ़ सम्यक्त्व कहलाता है।

अवधिमरण–अवधि का अर्थ मर्यादा है उस अवधि से होने वाला मरण अवधिमरण है, जैसे–नरक व देव आदि का मरण।

अवमौदर्य–पुरुष का जो बत्तीस ग्रास प्रमाण स्वाभाविक आहार है उसमें क्रमशः ग्रास को कम करना और अन्त में केवल एक ग्रास ही आहार करना।

अवर्णवाद–गुणी महापुरुषों में जो दोष नहीं हैं फिर भी अपने अंतरंग की कलुषता से उन पर दोषारोपणा करना।

अवसन्न–जिनवचन से अनभिज्ञ होकर जो श्रमण ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट होता हुआ इन्द्रियों के अधीन होता है वह अवसन्न श्रमण है अर्थात् समाचारी के विषय में प्रमादयुक्त रहने वाला श्रमण अवसन्न है।

अवसर्पिणी–जिस काल में जीवों के अनुभव, आयु प्रमाण, वल और शरीरादि क्रम से घटते जाते हैं वह।

अवग्रह–मतिज्ञान का एक भेद। नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य सत्ता मात्र का ज्ञान।

अविग्रहगति–विग्रह का अर्थ रुकावट या कुटिलता है। जीव की जो गति वक्रता, कुटिलता या मोड़ से रहित होती है वह अविग्रहगति है। दूसरे शब्दों में एक समय वाली ऋजुगति या इषुगति का नाम अविग्रहगति है।

अविपाक निर्जरा–जिस कर्म का उदयकाल अभी प्राप्त नहीं हुआ है उसे तपश्चरण आदि रूप औपक्रमिक क्रियाविशेष के सामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावली में प्रवेश कराके उसके विपाक को वेदन करना। जिस प्रकार आम्रादि फल पाल आदि में रखकर समय से पहले ही पका लिये जाते हैं, उसी प्रकार की यह निर्जरा है।

अविरत सम्यग्दृष्टि–ऐसा सम्यक्त्वी जीव, जो इन्द्रिय-विषयों से विरत नहीं है, त्रस और स्थावर जीवों का रक्षण भी नहीं करता किन्तु जिनवाणी पर पूर्ण निष्ठा रखता है। अर्थात् हिंसादि पापों से विरत होने का नाम 'विरति' है। ऐसी विरति का अभाव अविरति है।

अव्यक्त दोष–मेरा अपराध इसके अपराध के सदृश ही है, इसे जो प्रायश्चित्त दिया गया है वही मेरे लिये भी है। ऐसा विचार करके अपने अपराध को प्रकट न करना। यह आलोचना का अव्यक्त नामक दोष है।

अव्यक्त मिथ्यात्व–मोह रूप मिथ्यात्व।

अव्याघात–अन्य किसी भी कारण द्वारा जिसकी बाधा सम्भव न हो।

अव्याबाध–जिनके काम-विकार जनित बाधा नहीं होती।

अव्याबाध सुख–कर्म-मल से रहित अनुपम-अपरिमित-अविनश्वर आत्मिक-सुख।

अशरणानुप्रेक्षा–मणि, मन्त्र, औषध, रक्षक, घोड़ा, हाथी, रथ, विद्या आदि कोई भी मरण के समय प्राणी का रक्षण नहीं कर सकते। मरण से रक्षा करने में

यदि कोई समर्थ है तो अपनी आत्मा ही है। उस पर पुनः-पुनः चिन्तन करना।

अशुचित्व अनुप्रेक्षा–यह शरीर रक्त माँस और अशुचि का पिण्ड है, स्नान और सुगन्धित उवटन आदि से शुद्ध नहीं हो सकता, इस प्रकार का चिन्तन करना।

अशुभ काययोग–हिंसा, चोरी, मैथुन-सेवन आदि काय सम्बन्धित अशुभ क्रियाएँ।

अशुभ मनोयोग–दूसरे के वध और बन्धनादि का विचार या चिन्तन।

अशुभ योग–कुत्सित परिणामों से प्रादुर्भूत मन, वचन व काया की क्रिया।

अशुभ वचनयोग–असत्य, कठोर व असभ्य भाषा बोलना।

असतीपोषण–हिंसक प्राणी, बिल्ली, कुत्ता, मयूर आदि को पालना और उससे अर्थ प्राप्त करना। इसी तरह दासी आदि से दुष्कृत्य करवाकर अर्थ-प्राप्त करना अथवा असामाजिक तत्त्वों को संरक्षण देना।

असंख्येय–जो राशि संख्या से रहित, गणनातीत हो, वह असंख्येय या असंख्यात है।

असंज्ञी–जो जीव मन के न होने से शिक्षा, उपदेश और आलाप आदि ग्रहण न कर सके।

असंयत–चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से प्राणी-हिंसा और इन्द्रिय-विषयों में क्रम से द्वेष और अभिलाषा की निवृत्ति रूप परिणाम का न होना।

असंयत सम्यग्दृष्टि–सम्यग्दर्शन से युक्त होकर भी जो चारित्रमोहनीय के उदय से संयम-भाव से विहीन है।

असंयम–षट्काय-जीवों का घात करना तथा इन्द्रिय और मन को नियन्त्रित न रखना।

असंविग्न–पार्श्वस्थ और शिथिलाचारी श्रमण।

असात–रोग आदि के होने से जो पीड़ा होती है। जिस कर्म का वेदन-अनुभव परिताप के साथ किया जाता है।

असातावेदनीय–असाता का अर्थ दुःख है, उस दुःख का वेदन जिस कर्म के उदय से होता है, वह असातावेदनीय कर्म कहलाता है।

अस्तिकाय–जिनका गुणों और अनेक प्रकार की पर्यायों के साथ अस्ति स्वभाव है–अभेद या तद्रूपता है अथवा जिन द्रव्यों के प्रदेश अथवा परमाणु रत्न

राशि के समान अलग-अलग न हों, वरन् अभेद हों, वे अस्तिकाय कहलाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश–ये पाँचों द्रव्य अस्तिकाय हैं।

अस्तेय महाव्रत–खेत, मार्ग और कल (कीचड़) आदि में गिरी हुई, नष्ट और विस्मृत दूसरों की किसी भी वस्तु को बिना आज्ञा के ग्रहण न करना।

अहंकार–जो कर्म-जनित भाव वस्तुतः आत्मा से पृथक् है, उनमें अपनेपन का दुराग्रह होना।

अहिंसा–रागादि भावों की अनुद्भूति या अनुत्पत्ति।

अहिंसाणुव्रत–मन, वचन व काया से तथा कृत-कारित और अनुमोदना से त्रसजीवों की सांकल्पिक-हिंसा का परित्याग करना।

अहिंसा महाव्रत–सभी प्रकार के प्राणातिपातों से निवृत्त होना।

आकाशगामित्व–जिस ऋद्धि के प्रभाव से पर्यङ्कासन में बैठे हुए अथवा कायोत्सर्ग से स्थित श्रमण पैरों को बिना उठाये आकाश गमन में कुशल हो।

आकाशचारण–भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की शक्ति वाले श्रमण। आकाशचारण श्रमण पादक्षेप करते हुए भी प्राणियों को बिना पीड़ा पहुँचाये आकाश में गमन करते हैं।

आकाशातिपाती–जो आकाशगामी विद्या के प्रभाव से या पाद-लेपादि के प्रभाव से आकाश में गमनागमन कर सकते हैं अथवा आकाश से स्वर्ण चाँदी की वर्षा कर सकते हैं अथवा अमूर्त आकाशादि की सिद्धि में जो समर्थ होते हैं।

आकिंचन्य–जो श्रमण बाह्य और आभ्यन्तर समस्त परिग्रह से रहित होकर राग-द्वेष का निग्रह करता है और सर्व संक्लेश से रहित होकर निराकुल भाव में रहता है, वह अकिंचन है। उसका यह धर्म आकिंचन्य कहलाता है।

आकुट्टी–प्राणी के छेदन-भेदनादि रूप व्यापार का नाम आकुट्ट है और ऐसा व्यापार करने वाला आकुट्टी है।

आक्रोशपरीषह–क्रोध बढ़ाने वाले, अत्यन्त अपमान करने वाले कर्कश और निंद्यवचनों को सुनकर तथा प्रतीकार करने का सामर्थ्य होने पर भी उस ओर ध्यान नहीं देना और पापकर्म का फल जानकर उसे समभाव से सहन करना।

आगम–पूर्वापरविरोधादि दोषों से रहित शुद्ध आप्त के वचन।

आचार्य–जिनसे भव्य जीव व्रतों का आचरण किया करते हैं अथवा संघ-व्यवस्था के नियामक। आचार्य २६ गुणधारी होते हैं।

आचार्यपदायोग्य–जो पाँच प्रकार के आचार से रहित हो, क्रूर हो, कठोर भाषण करने वाला हो, कुरूप हो, विकृत अंग हो, अनार्य देश में उत्पन्न हुआ हो जाति-कुल से हीन हो, अभिमानी हो, विद्याविहीन हो विशेषज्ञ न हो, आत्म-प्रशंसक हो, ईर्ष्यालु हो, बाह्य शरीरादि में दृष्टि रखने वाला हो, कातर हो, गुणहीन हो, कलाओं से शून्य हो, दुष्ट हो, ऐसा श्रमण आचार्य के पद के अयोग्य है।

आचेलक्य–जीर्ण अल्पमूल्य वाले, खण्डित वस्त्रों को धारण करना।

आज्ञाविचय–जीव आदि पाँच अस्तिकाय, पृथ्वी आदि छह जीवनिकाय और काल द्रव्य ये जो जिनाज्ञा के अनुसार ग्रहण करने योग्य पदार्थ हैं, उनका उसी प्रकार से विचार करना यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

आज्ञाव्यवहार–देशान्तर स्थित गुरु को अपने दोषों की आलोचना कर लेने के लिए किसी अगीतार्थ के द्वारा आगम भाषा में पत्र लिखकर भेजने और गुरु के द्वारा भी उसी प्रकार गूढ़ पदों में ही प्रायश्चित्त लिखकर भेजने को आज्ञाव्यवहार प्रायश्चित्त कहते हैं।

आत्मज्ञप्ति–'मैं हूँ' इस प्रकार की प्रतीति का उत्पन्न होना।

आत्म-तत्त्व–मन की विक्षेपरहित अवस्था का नाम आत्म-तत्त्व है। आत्मा का स्वरूप है।

आत्म-भ्रान्ति–शरीर को आत्मा मानकर रागादि से परिणत हुआ मन जो आत्म-स्वरूप में अस्थिरता को प्राप्त होता है वह।

आत्मा–ज्ञान-दर्शन स्वरूप जीव ही आत्मा है।

आत्यन्तिक मरण–जीव नारक आदि आयुस्वरूप जिन कर्म-प्रदेशों का अनुभव करके मरता है–उन्हें छोड़ता है, अथवा मर चुका है–वह भविष्य में उनका अनुभव करके मरने वाला नहीं है–उन्हें पुनः छोड़ने वाला नहीं है, अतः इस प्रकार का द्रव्याश्रित मरण।

आदाननिक्षेपण समिति–ज्ञान, संयम के साधनभूत पुस्तक व अन्य वस्त्र आदि धर्मोपकरणों को सावधानीपूर्वक अच्छी तरह से देखकर उठाना और रखना।

आधाकर्मिक (दोष)–श्रमणों के लिए बनाया हुआ आहार।

आन्तरतप–प्रायश्चित्त आदि छह प्रकार के तप जिनको लौकिक जन देख नहीं सकते, विधर्मी भाव से उनका आराधन नहीं कर सकते और जो मुक्ति का अन्तरंग कारण है, उसे आन्तर और आभ्यन्तर तप कहते हैं।

आभिनिबोधिक–अभिमुख और नियमित पदार्थ को इन्द्रिय और मन के द्वारा जानना। यह मतिज्ञान का अवान्तर भेद है।

आम्नायार्थवाचक–आम्नाय के अनुसार आगम के उत्सर्ग और अपवाद रूप अर्थ का प्रतिपादन करने वाला आचार्य।

आयुकर्म–इस कर्म के उदय से जीव मनुष्य, देव आदि के रूप में जीवित रहता है और इसके क्षय होते ही वह दूसरी पर्याय में चला जाता है, लौकिक भाषा में वह मर जाता है।

आयोजिकाकरण–केवली समुद्घात के पूर्व जो अतिशय शुभ योगों का आयोजन (व्यापार) किया जाता है, वह आयोजिकाकरण है। इसे 'आवर्जितकरण' और 'आवर्जीकरण' भी कहते हैं।

आरंभविरत–पूर्व प्रतिमाओं के साथ आठ मास तक स्वयं आरम्भ न करने वाला श्रावक आरंभविरत कहलाता है।

आरंभ-समारंभ–आरंभ का अर्थ प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने वाली प्रवृत्ति है और समारंभ का अर्थ है, प्राणी विघातक साधनों को जुटाना। कृषि, उद्योग आदि व्यापार से जो प्राणी विघात होता है वह आरंभ-समारंभ है।

आराधक–जो पाँचों इन्द्रियों को गुप्त रखता है, मन आदि तीनों योगों की प्रवृत्ति में सावधान है तथा तप, संयम और नियम में संलग्न है, ऐसा जीव।

आर्जव धर्म–कुटिलता का परित्याग कर निर्मल अन्तःकरण से प्रवृत्ति करना।

आर्तध्यान–अनिष्ट का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिये, इष्ट का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिये, पीड़ा होने पर उसके परिहार के लिये, निदान–आगामी काल में सुख की प्राप्ति के लिये पुनः-पुनः चिन्तन करना।

आर्य–जो गुणों से युक्त हो और गुणीजन जिसकी सेवा करते हों।

आर्यिका–पाँच महाव्रतों को धारण करने वाली महिला–साध्वी।

आलम्बन–ध्यान के आधारभूत वाह्य पदार्थ।

आलोचन–गुरु के सन्मुख दश दोषों से रहित, अपने प्रमादजनित दोषों का निवेदन करना। इसे आलोचना भी कहते हैं।

आलोचनार्ह–जिन अपराधों की शुद्धि केवल आलोचना से ही की जाती है। आलोचना मर्यादापूर्वक बालक के समान सरल-माया और मद से रहित होकर करनी चाहिए।

आलोचनाशुद्धि–क्रोधादि कषाय, इन्द्रिय-विषय, तीनों प्रकार के गारव और राग-द्वेष को दूर कर आलोचना करना।

आवलि–असंख्यात समय समूह की एक आवली होती है।

आवश्यक–श्रमण और श्रावक दिन-रात के भीतर जिस धार्मिक क्रिया को अवश्य करणीय समझकर करते हैं।

आवीचिमरण–वीचि का अर्थ तरंग है। तरंग के सदृश जो निरंतरता से आयुकर्म के निषेकों का प्रतिक्षण क्रम से उदय होता है, उसका अनुभव 'आवीचिमरण' है।

आशीविष–ऐसी ऋद्धि जिसके प्रभाव से 'मर जाय' ऐसा कहने पर प्राणी सहसा मरण को प्राप्त होता है।

आश्रवभावना–समस्त संसारी जीवों के मिथ्यात्व, कषाय, अविरति, प्रमाद और आर्त्त-रौद्र आदि ध्यानों से निरन्तर कर्मों का आगमन होता रहता है, इस प्रकार का चिन्तन।

आहार–औदारिक आदि तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना।

आहारक शरीर–सूक्ष्म पदार्थों के विषय में शंका-समाधान अथवा जिज्ञासा शान्ति के लिये अथवा असंयम के परिहार की इच्छा से प्रमत्तसंयत के द्वारा जो शरीर की रचना की जाती है, वह।

आहारक समुद्घात–अल्पपाप और सूक्ष्म तत्त्वों के अवधान रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले आहारक-शरीर की रचना के लिये जो समुद्घात–आत्मप्रदेश बहिर्गमन होता है, वह।

आहारपर्याप्ति–आहार-वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करके उन्हें खल और रस भाग में परिणमन कराने की शक्ति।

आहारसंज्ञा–आहार को देखने से, पेट के खाली होने से, असातावेदनीय की उदीरणा होने से आहार की अभिलाषा होना।

इंगिणीमरण–दूसरे के द्वारा की जाने वाली सेवा को स्वीकार न कर स्वयं ही शरीर की सेवा करते हुए जो मरण होता हो, वह।

इच्छाकार–बल प्रयोग के बिना इच्छा से मेरा यह कार्य कर दो।

इत्वर-अनशन–परिमित काल तक जो आहार का त्याग किया जाता है, वह।

इत्वर-परिगृहीतागमन–द्रव्य देकर कुछ काल के लिए अपने अधीन करके व्यभिचारिणी (वेश्या) स्त्री के साथ विषय सेवन करना।

इन्द्रिय–परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले आत्मा को इन्द्र और उस इन्द्र के लिंग या चिन्ह को इन्द्रिय कहते हैं अथवा जो जीव को अर्थ की उपलब्धि में निमित्त होता है, वह इन्द्रिय है।

इन्द्रियजय–चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रिय-विषयों को ज्ञान से वश में करना, जीतना।

इन्द्रिय-संयम–पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष का अभाव।

इभ्य–जिसके पास संचित सुवर्ण-रत्नादि की राशि के अम्बार में हाथी भी दिखाई न दे, वैसा धनवान पुरुष।

ईर्यासमिति–प्रासुक–जीवजन्तु-रहित मार्ग पर चार हाथ (युगमात्र) भूमि को देखते हुए यतनापूर्वक गमन करना।

ईर्ष्या–दूसरों के उत्कर्ष को सहन न करना।

उच्च गोत्र–जिसके उदय से लोकपूजित कुल में जन्म हो।

उच्चारप्रस्रवणसमिति–जो भूमि प्रासुक हो, अंकुरोत्पादन और द्वीन्द्रियादि जीवों से रहित हो वहाँ पर मल-मूत्रादि का विसर्जन करना।

उत्कालिक (श्रुत)–जिस अंगबाह्य श्रुत के स्वाध्याय का काल नियत नहीं है।

उत्सर्ग–बाल, वृद्ध श्रान्त और रुग्ण साधु मूलभूत संयम का विनाश न हो इस दृष्टि से जो शुद्ध आत्मतत्त्व के साधनभूत अपने योग्य अति कठोर संयम का आचरण करता है वह संयम-परिपालन उत्सर्ग-मार्ग है।

उत्सर्पिणी–जिस काल में जीवों की आयु, शरीर की ऊँचाई, बल-विभूति आदि में उत्तरोत्तर वृद्धि हो। कालचक्र का आधा भाग।

उत्सूत्र–तीर्थंकर और गणधरों के उपदेश के विपरीत तत्त्व का स्वमति से कथन करना।

उदीरणा–अधिक स्थिति और अनुभाग को लिये हुए जो कर्म स्थित हैं, उनकी उस स्थिति व अनुभाग को हीन करके फल देने को उन्मुख करना।

उपकरणबकुश–ऐसा श्रमण जो उपकरणों में मुग्ध होता हुआ, अनेक प्रकार के विचित्र परिग्रह से युक्त होता है और विशेष उपकरणों का अभिलाषी होकर उनके संस्कार की अपेक्षा करता है।

उपगूहन–बाल एवं अशक्त जनों के द्वारा विशुद्ध मोक्ष-मार्ग की होने वाली निन्दा को दूर करना।

उपचार विनय–आचार्य आदि के सामने आने पर खड़ा होना, उनके सामने जाना, उन्हें प्रणाम आदि करना।

उपबृंहण–उत्तम क्षमा आदि की भावना से अपने धर्म को बढ़ाना अथवा साधर्मी बन्धुओं के समीचीन गुणों की प्रशंसा करना, उन्हें बढ़ाना।

उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत–अन्न पान आदि उपभोग, वस्त्र अलंकार आदि परिभोग–इन दोनों का परिमाण करना।

उपवास–अशन, पेय, खाद्य और स्वाद्य–चार प्रकार के आहार का परित्याग करना।

उपशम–आत्मा में कारणवश कर्म के फल देने की शक्ति को प्रगट न होने देना।

उपशम श्रेणी–जहाँ (अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय और उपशान्तमोह गुणस्थान) जीव मोहनीय–चारित्रमोहनीय को उपशान्त करता हुआ आरोहण करता है।

उपशमसम्यक्त्व–दर्शनमोहनीय के उपशमन से उत्पन्न होने वाला सम्यक्त्व। दूसरे शब्दों में औपशमिक लब्धि से अनन्तानुबन्धी चार और दर्शनमोहनीय तीन–इन सात प्रकृतियों का उपशमन हो।

उपशान्त कषाय–सम्पूर्ण मोहकर्म का उपशमन करने वाला–ग्यारहवाँ गुणस्थानवर्ती जीव।

उपाध्याय–जो रत्नत्रय से सम्पन्न होकर जिन-प्ररूपित पदार्थों का निष्पक्ष वृत्ति से उपदेश करते हैं। वे २५ गुणधारी होते हैं।

उपासकदशांग–जिस अंग में उपासकों के नगर आदि तथा शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषध आदि के ग्रहण की विधि एवं विवेचन हो; प्रतिमा, उपसर्ग, संलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, देवलोक गमन आदि की चर्चा हो।

उपांशुजप–जिसकी ध्वनि दूसरे को सुनाई न दे, ऐसे अन्तर्जप रूप मन्त्रोच्चारण करना।

उपेक्षासंयम–असंयम योग्य कार्यों में प्रवृत्त होना और संयम योग्य कार्यों में प्रवृत्त न होना उपेक्षा संयम है अथवा देश काल का ज्ञाता त्रिगुप्ति गुप्त श्रमण के राग-द्वेष का अभाव उपेक्षा संयम है।

ऋजुता–मायाचार से रहित मन, वचन, काया की सरल प्रवृत्ति।

एकत्वभावना–जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही कर्मों का उपार्जन करता है और अकेला ही उन्हें भोगता है–पुनः-पुनः ऐसा चिन्तन करना।

एकत्ववितर्कअविचार–मोह को समूलोच्छेदन करने की भावना से अनन्तगुणी विशुद्धि सहित योग विशेष के द्वारा ज्ञानावरण की सहायक बहुत-सी प्रकृतियों के बन्ध का निरोध, उनकी स्थिति के ह्रास व क्षय को करने वाला श्रुत ज्ञानोपयोग से सहित तथा अर्थ व्यंजन और योग की संक्राति रहित जो एक द्रव्य, गुण और पर्याय का चिन्तन करता है, ऐसे क्षीणकषायवर्ती गुणस्थान वाले श्रमण के जो निश्चल शुक्लध्यान होता है वह एकत्व वितर्क अविचार ध्यान है।

एकेन्द्रिय–वह जीव, जो एक स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा सुख-दुःख का संवेदन करता है।

एषणासमिति–कृत, कारित व अनुमोदना दोषों से रहित दूसरे द्वारा दिये गये प्रासुक व शुद्ध भोजन को ग्रहण करना।

ओघमरण–आयु का क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त करना।

ओघ-संज्ञा–ज्ञानावरण कर्म के अल्प क्षयोपशम से अव्यक्त ज्ञानोपयोग रूप जो संज्ञा होती है, वह। इसका निश्चय लता समूह के आरोहण आदि रूप लिङ्ग के द्वारा होता है।

औद्देशिक–अपना और पराया का विभाग किये बिना, अपने लिये पकाये जाने वाले आहार में से कुछ भाग को भिक्षार्थ देने के उद्देश्य से उसमें कुछ और मिलाकर पकाना।

औषधदान–रोगी के लिये शक्ति के अनुसार औषध प्रदान करना।

औदयिकभाव–कर्म के उदय से उत्पन्न आत्मा के परिणाम।

औपशमिक चारित्र–समस्त मोहनीय के उपशमन से प्रादुर्भूत होने वाला चारित्र।

औपशमिकसम्यक्त्व–दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्रमोहनीय की चार (अनन्तानुबन्धी चार) इन सात प्रकृतियों के उपशमन से प्रगट होने वाला सम्यक्त्व।

करुणा–दूसरे जीवों के दुःख को दूर करने की इच्छा।

कषाय–कर्म और संसार को 'कष' कहा जाता है, इस प्रकार कष को प्राप्त करना, दूसरे शब्दों में चारित्रमोह के भेदभूत कषायमोहनीय के उदय से आत्मा में जो क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कलुषता उत्पन्न होती है वह।

कषाय संलेखना–परिणामों की विशुद्धि करना अर्थात् क्रोधादि कषायों को कृश करना।

कायगुप्ति–शयन, आदान, आसन, निक्षेप, स्थान और गमन आदि क्रियाओं को करते समय शरीर की प्रवृत्ति को नियमित रखना। जीव-जन्तुओं को निहारकर प्रमार्जित कर विवेकपूर्वक उक्त कार्य करना।

कारकसम्यक्त्व–जिस सम्यक्त्व के होने पर जीव आगमोक्त व्रत, तप आदि के अनुष्ठान को तदनुसार ही करे।

कांक्षा–इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी विषयों की अभिलाषा।

कूटलेखक्रिया–बनावटी लेख लिखना, दूसरों के हस्ताक्षर बनाना, दूसरों के द्वारा जो नहीं कहा गया है उसे दूसरे की प्रेरणा से कहना।

क्षपक–चारित्रमोहनीय कर्म को क्षय करने वाला श्रमण।

क्षपकश्रेणी–मोहनीयकर्म को क्षय करता हुआ आत्मा जिस श्रेणी (अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म संपराय और क्षीणमोह इन चार गुणस्थानों रूप नसैणी) पर आरूढ़ होता है।

क्षमा–क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत बाह्य कारण प्रत्यक्ष में होने पर भी किंचित् मात्र भी क्रोध न करना।

क्षय–कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति।

क्षयोपशम–सर्वघाती स्पर्धक अनन्तगुणहीन होकर देशघाती स्पर्धक से परिणत होते हुए उदय को प्राप्त होते हैं। उनकी अनन्तगुणहीनता का नाम क्षय है, उन्हीं का देशघाती रूप में अवस्थित रहना यह उपशम है, इस प्रकार के क्षय और उपशम के साथ जो उदय हुआ करता है, वह क्षयोपशम है।

क्षयोपशमसम्यक्त्व–जो मिथ्यात्व उदय को प्राप्त हुआ है, वह क्षीण और जो उदय को अप्राप्त है वह उपशान्त–इस क्षय के साथ उपशमरूप मिश्र अवस्था को प्राप्त होना, इसे क्षयोपशम या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षीणमोह–मोह विजय के पथिक श्रमण का मोह जब सर्वथा क्षय हो जाता है, ऐसी निर्मोह अवस्था।

गण–जो श्रमण स्थविर मर्यादा के उपदेशक या श्रुत में वृद्ध होते हैं उनका समूह।

गणधर–जो गण का रक्षण करता है अथवा जो अनुपम ज्ञानदर्शन आदि रूप धर्म गण को धारण करता है, वह।

गणावच्छेदक–गच्छ के एक आचार्य के नेतृत्व में वर्तमान श्रमण समूह के कार्यों की जो चिन्ता करता है, वह।

गणी–ग्यारह अंगों का ज्ञाता अथवा गच्छ का स्वामी।

गुणव्रत–अणुव्रतों के उपकारक होने से दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगव्रत को गुणव्रत कहते हैं।

गुणस्थान–शुद्धि-अशुद्धि के प्रकर्ष-अपकर्ष द्वारा जो जीव के स्वभावभूत ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप गुणों में भेद किया जाता है, वह।

गुप्ति–सम्यग्दर्शनपूर्वक मन, वचन व काया के योगों का निग्रह करना।

गोदोहिका–गोदोहन के समय जिस प्रकार दोनों एड़ियों को ऊपर उठाकर बैठा जाता है उसी प्रकार के आसन-विशेष से बैठना।

ग्रन्थि–जैसे किसी वृक्ष-विशेष की कठोर गाँठ अतिशय दुर्भेद्य होती है वैसे ही कर्मोदय से उत्पन्न जो जीव के घनीभूत राग-द्वेष परिणाम उस गाँठ के समान दुर्भेद्य होते हैं, वह ग्रन्थि है।

घातिकर्म–क्रम से केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व व चारित्र तथा वीर्य रूप जीवगुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म।

चक्रवर्ती–षट्खण्ड भरतक्षेत्र का अधिपति और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध आदि राजाओं का अधिपति।

चतुर्विंशतिस्तव–नामनिरुक्ति के साथ ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन करना।

चरणपुलाक–मूलगुण व उत्तरगुणों की प्रतिसेवना के साथ चारित्र की विराधना करने वाला श्रमण।

चलदोष–जो श्रद्धान आत्मीय अनेक विशेषों में चंचलता को प्राप्त होता है वह चल-दोष से दूषित होता है।

चारण–(१) जल, जंघा, तन्तु, पुष्प, पत्र, श्रेणि (आकाश प्रदेश पंक्ति) और अग्नि की शिखा आदि के आलम्बन से गमन में समर्थ साधु, (२) जिस चारणऋद्धि के प्रभाव से साधु अतिशययुक्त गमन में समर्थ होते हैं।

चारित्र–शुभ कर्म में प्रवृत्ति और अशुभ कर्म से निवृत्ति–हिंसा आदि से निवृत्त होना।

चारित्रमोहनीय–जो बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओं की निवृत्तिरूप चारित्र को मोहित करता है, विकृत करता है।

चारित्रविनय–इन्द्रियों और कषायों के प्रसार को रोकना तथा गुप्तियों व समितियों के पालन में प्रयत्नशील रहना।

चारित्राचार–पापक्रिया की निवृत्ति रूप परिणति।

छद्मस्थ–ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का नाम छद्म है इस छद्म में जो स्थित है वह छद्मस्थ है।

छविच्छेद–छवि नाम शरीर का है, उसके नख आदि अवयवों का छेदन करना।

छेद–छेद का अर्थ अपवर्तन है, यह महाव्रत आरोपण से लेकर दीक्षा पर्याय का किया जाता है। जिस साधु ने महाव्रत स्वीकार किये हैं, उसके अपराध के अनुसार एक दिन से लेकर छह मास प्रमाण तक दीक्षा पर्याय का छेद किया जा सकता है। इस प्रकार के छेद से दीक्षा का काल उतना कम हो जाता है।

छेदार्ह–जैसे व्याधि से दूषित शरीर के किसी अवयव का शेष शरीरावयवों के रक्षाणार्थ छेद किया जाता है, उसे काटकर पृथक् किया जाता है। उसी प्रकार जिसका सेवन करने पर दूषित हुई पूर्वपर्याय श्रामण्य अवस्था का कुछ अंश में दिन, पक्ष, मास आदि के क्रम से छेद कर दिया जाता है, कम कर दिया जाता है, वह छेदार्ह प्रायश्चित्त है।

छेदोपस्थापन–जिस चारित्र में पूर्व पर्याय को छेदकर महाव्रतों को स्थापित किया जाता है अथवा व्रत का विनाश होने पर विशुद्धि की जाती है।

जघन्य अन्तर्मुहूर्त–एक समय अधिक आवली प्रमाण काल।

जिन–जिन्होंने चार घाती कर्मों को जीत लिया है।

जिनकल्प–राग-द्वेष व मोह के विजेता होकर उपसर्ग और परीषहों को सहन करने वाले जो श्रमण जिनदेव के सदृश विचरण करते हैं।

जीतव्यवहार–अशुभ कर्मरूपी मैल से होने वाली मलिनता को अतिशय शुद्ध करना, उसे दूर करना।

जुगुप्सा–जिस कर्म के उदय से अपने दोषों का संवरण और पर के दोषों का प्रकाशन किया जाता है।

ज्ञानाचार–वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाले ज्ञान में जो परिणति होती है वह।

तत्त्वार्थ–जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है उसी रूप से उसे निश्चित करना, तत्त्वार्थ है।

तप–जो अष्ट प्रकार की कर्मग्रन्थि को सन्तप्त करता है, उसे नष्ट करता है अथवा जो शरीर और इन्द्रियों को संतप्त करता हुआ कर्म को नष्ट करता है, वह तप है।

तप-आचार–अनशनादि धर्मक्रियाओं में प्रवृत्त होना।

तीर्थ–संसार-समुद्र से दुःखी प्राणियों के पार उतारने वाला श्रेष्ठ मार्ग।

त्रस–त्रस नामकर्म के वशीभूत जीव, जैसे–द्वीन्द्रियादि जीव।

दर्शन (सम्यग्दर्शन)–आप्त, आगम और पदार्थों में जो रुचि होती है, वह। रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा, दर्शन–ये समानार्थक हैं।

दर्शनाचार–निःशंकादि आठ अंगयुक्त सम्यक्त्व का परिपालन करना।

दशपूर्वी–दसवें विद्यानुवाद पूर्व को पढ़ते हुए रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं के तथा अंगुष्ठ प्रसेनादि सात सौ छोटी विद्याओं के द्वारा सिद्ध होकर अभीष्ट कार्यसिद्धि के लिए, देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर भी जो उनकी इच्छा न करते हुए चारित्र से विचलित नहीं होते हैं उन विद्याओं को धारण करने वाले श्रमण।

दंश-मशक परीषह–डाँस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू, मधुमक्खी, खटमल, कीट, चींटी आदि द्वारा दी गई बाधा को शान्ति से सहन करना, मन, वचन और काया से उन्हें पीड़ा नहीं पहुँचाना, उनके प्रति दुर्भाव न लाना।

दान–अपने और दूसरे के अनुग्रह के लिए जो धन आदि अपने स्वामित्व की वस्तु का त्याग किया जाता है, वह।

दिग्विरति–दिशाओं को मर्यादित करके 'मैं इससे बाहर नहीं जाऊँगा' जीवन-पर्यन्त के लिए ऐसा नियम करके उससे बाहर नहीं जाना।

दीक्षा–समस्त परिग्रह का परित्याग और भव परम्परा को नष्ट करने वाली।

दीक्षायोग्य–जो जाति, कुल से शुद्ध, रूपवान, शान्त, परिणामी, धीर, सन्तुष्ट और संसार से उदासीन हो, वह।

दीपक सम्यक्त्व–जो स्वयं मिथ्यादृष्टि होकर धर्मकथा आदि द्वारा दूसरे के सम्यक्त्व का प्रकाशक होता है, उसे कारण में कार्य के उपचार से दीपक सम्यक्त्व कहा है।

दुर्ध्यान–जो ध्यान अभीष्ट नहीं है।

दूतीपिण्ड–कार्य को सिद्ध करने के लिए दूत का कार्य सम्पन्न कर आहार प्राप्त करना।

देवाधिदेव–जो अरिहन्त भगवान केवलज्ञान व केवलदर्शन के धारक सर्वज्ञ होते हैं, वे देवाधिदेव कहलाते हैं।

देशचारित्र–हिंसादि पापों से की जाने वाली आंशिक अथवा एकदेशविरति।

देशनिर्जरा–चतुर्गतिमय संसार में परिभ्रमण करने वाले सर्व संसारी जीवों के क्षयोपशम से प्राप्त हुए कर्म की जो निर्जरा होती है वह। यह निर्जरा सभी संसारी जीवों को होती है।

देशार्श्वस्थ–नित्यपिण्ड और अग्रपिण्ड को खाने वाला श्रमण।

देशविरति–ग्राम, नगर आदि के जितने प्रदेश का परिमाण निश्चित किया गया है, उसके बाहर गमन का परित्याग करना।

देशव्रती–अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशमन होने पर पृथ्वी आदि स्थावरों के घात में प्रवृत्त होता हुआ भी जो यथाशक्ति त्रस जीवों की हिंसा से विरत रहता है, ऐसा श्रावक।

द्यूत–जिस क्रिया में चौसर के पाँसे, ताश, रेस के घोड़े आदि पर निक्षिप्त धन से जय-पराजय होती है।

द्रव्यकायोत्सर्ग–जो कायोत्सर्ग के वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता होकर वर्तमान में उसके उपयोग से रहित है ऐसे जीव को अथवा उसके शरीर को द्रव्य कायोत्सर्ग कहा जाता है।

द्रव्यमन–पुद्गलविपाकी नामकर्म के उदय से जो पुद्गल मन रूप में परिणत होते हैं अथवा मनःपर्याप्ति नामक कर्म के उदय से योग्य मनोद्रव्य–मनःवर्गणा को ग्रहण करके मन रूप परिणमाये गये द्रव्य का नाम द्रव्य मन है।

धर्मकथा–सर्वज्ञोक्त अहिंसादिस्वरूप धर्म का कथन करना तथा अनुयोग के विचार से उत्तम पुरुषों के जीवन-चरित्र का कथन करना।

धर्मध्यान–आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय का पुनः-पुनः चिन्तन करना। विचय का अर्थ विवेक या विचारणा है। धर्माभिमुखी चिन्तनधारा।

धर्मरुचि–जो जिन-प्ररूपित अस्तिकायधर्म, श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का श्रद्धान करता है, वह।

धर्मानुप्रेक्षा–अहिंसा जिसका लक्षण है, सत्य से जो अधिष्ठित है, विनय जिसका मूल है, क्षमा जिसका बल है, ब्रह्मचर्य से जो सुरक्षित है, उपशम प्रधान है, अपरिग्रह जिसका आलम्बन है, वह धर्म है। इस धर्म को पाकर जीव मोक्ष को प्राप्त होते हैं–इस प्रकार का चिन्तन।

धारणाव्यवहार–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पुरुषातिसेवना गीतार्थ जिस अपराध के होने पर जो प्रायश्चित्त दिया गया है वैसे ही प्रायश्चित्त स्थान उपस्थित होने पर प्रायश्चित्त देना।

धीर–जो धी–बुद्धि से सुशोभित होते हैं, परीषह उपस्थित होने पर विचलित नहीं होते हैं और मुक्ति को प्राप्त करने वाले होते हैं, वे धीर कहलाते हैं।

ध्याता–'मैं पर का नहीं हूँ और पर मेरा नहीं है, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ', इस प्रकार जो ध्यान में चिन्तन करता है, वह; अथवा जो कषाय की कलुषता से रहित व विषयों से विरक्त होता हुआ मन को निज स्वभाव में स्थित करता है, वह।

ध्यान–स्थिर अध्यवसाय–आत्म-परिणाम।

ध्येय–केवलज्ञान आदि रूप अनेक गुणों से सम्पन्न वीतराग जिन और उनके द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्येय हैं, ध्यान करने योग्य हैं; इनके अतिरिक्त बारह अनुप्रेक्षाएँ, उपशम और क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने की विधि, २३ वर्गणाएँ, ५ परिवर्तन, प्रकृति-स्थिति आदि बन्ध भेद भी ध्येय हैं।

नरक–असातावेदनीय वेदनीय कर्म के उदय से शीत-उष्ण आदि की वेदना से जो नरों–जीवों को शब्द कराते हैं, बुलाते हैं, वे; अथवा जो पाप करने वाले प्राणियों को अतिशय दुःख को प्राप्त कराते हैं।

निकाचित–कर्म के जिस प्रदेश पिण्ड का न अपकर्षण हो, न अन्य प्रकृति रूप संक्रमण हो, वह निकाचित कर्म है।

निगोद–जीवों के आश्रय विशेषों का नाम 'निगोद' है अथवा जो अनन्तानन्त जीवों को नियत, गो यानी भूमि (आधार) देता है, वह।

नित्यपिण्ड–मैं आपको प्रतिदिन इतना आहार दूँगा, आप मेरे घर पर गोचरी के लिये आइये, इस प्रकार निमंत्रित होकर प्रतिदिन गृहस्थ के घर जाकर आहार ग्रहण करना।

निदान–विशेष सुख की अभिलाषा के साथ 'चारित्र और तप का कोई फल है तो मैं चक्रवर्ती, अर्धचक्री आदि होऊँ' इस प्रकार संकल्प कर अनुष्ठित तप व चारित्र का खण्डन करना। तप के फल रूप भौतिक ऋद्धि प्राप्त करने का संकल्प।

नियाग–सदा आमन्त्रित आहार को ग्रहण करना। अनामन्त्रित को ग्रहण न करना।

निरालम्बन ध्यान–ध्यान की जिस अवस्था में न कोई धारणा हो, न किसी मन्त्रपद का चिन्तन हो, न मन में किसी प्रकार का चिन्तन हो, किन्तु अपनी आत्मा को आत्मा के द्वारा रोककर श्रमण जो आत्मस्थ होता है, वह अवस्था।

निर्ग्रन्थ–बाह्य और आभ्यन्तर मिथ्यात्व आदि ग्रन्थ से रहित–निर्ग्रन्थ।

निर्जरा–बाह्य बाँधे हुए कर्मों के प्रदेशापिण्ड के गलने का नाम 'निर्जरा' है अर्थात् परिपाक के वश या तप के द्वारा कर्मों के आत्मा से पृथक् होने को निर्जरा कहा है।

निर्विचिकित्सा–मानव शरीर यद्यपि स्वभाव से अपवित्र है तथापि रत्नत्रय की प्राप्ति का कारण है, अतएव रत्नत्रय से पवित्र श्रमण आदि के शरीर में घृणा न करके गुण के कारण प्रीति करना।

निर्वेद–संसार, शरीर और इन्द्रियभोगों से होने वाली विरति।

निश्चयचारित्र–औपाधिक रागादि विकल्पों से रहित स्वाभाविक सुख के स्वाद से जो चित्त में स्थिरता होती है, वह।

निश्चयनय–शुद्ध द्रव्य का निरूपण करने वाला 'नय'।

नैष्ठिक श्रावक–जो निष्ठापूर्वक धर्म का आचरण करता है, उसकी धर्म के विषय में निष्ठा रहती है और निरतिचार श्रावक धर्म का पालन करता है।

नोकर्म–कर्मोदयवश जो पुद्गल-परिणाम जीव के सुख-दुःख का कारण होता है।

पण्डितमरण–पण्डित–विरत, संयत का मरण।

पदस्थध्यान–पवित्र पदों का अवलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है, वह।

परीषह–शारीरिक और मानसिक उत्कृष्ट पीड़ा की हेतुभूत जो आभ्यन्तर और बाह्य परिणामस्वरूप क्षुधादि हैं वे परीषह हैं उनकी संख्या बाईस है।

परीतसंसार–जिसने सम्यक्त्व आदि के द्वारा अपने संसार को परिमित कर दिया है वह संसारपरीत या परीत संसारी कहलाता है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अपार्धपुद्गल परिवर्तन काल में अवश्य मुक्त होता है।

पाक्षिक श्रावक–जिसने श्रावक के एकदेश हिंसादि रूप व्रत को प्रतिज्ञा का विषय बना लिया है और उसके पालन में उद्यत है, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

पादपोपगमन–जो चार प्रकार के आहार का परित्याग करता हुआ जन्तुरहित शुद्ध भूमिका का आश्रय लेकर पादप–'वृक्ष' के समान निश्चल हो जाता है, एक पार्श्व भाग से पड़ जाता है और प्रशस्त ध्यान में मन को लगाता हुआ मृत्यु-पर्यन्त उसी प्रकार से निश्चल रहता है।

पाप–अशुभ कर्मपुद्गल जो शुभ कार्य में प्रवृत्त नहीं होने देते।

पार्थिवीधारणा–ध्यान की अवस्था में मध्यलोक के सदृश क्षीर सागर, उसके मध्य में जम्बूद्वीप के प्रमाण वाला सहस्रपत्रमय स्वर्णकमल, उसके पराग समूह के भीतर पीली कान्ति से युक्त सुमेरु के प्रमाण कर्णिका और उसके ऊपर एक श्वेतवर्ण के सिंहासन पर अवस्थित होकर कर्मों को नष्ट करने में उद्यत अपनी आत्मा का चिन्तन करना।

पार्श्वस्थ–जो आत्महितकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप और प्रवचन के पार्श्व में विहार करता है किन्तु पूर्ण रूप से उसके पालन करने में प्रयत्नशील नहीं रहता, वह पार्श्वस्थ श्रमण है।

पिण्डस्थ ध्यान–अपने शरीर में पुरुष के आकार, जो निर्मल गुण वाला जीव प्रदेशों का समुदाय स्थित है उसका चिन्तन; अथवा नाभिकमलरूप स्थानों में जो इष्ट देवता आदि का ध्यान किया जाता है, वह।

पुद्गल–जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पाया जाता है, वह; अथवा पूरण-गलन स्वभाव वाला द्रव्य।

पौषधोपवास–पौषध का अर्थ 'पर्व' है। पर्व में जो उपवास किया है, वह पौषधोपवास है। अष्टमी, चतुर्दशी और पंचमी–ये पर्व कहलाते हैं, इनमें और इनके अतिरिक्त अमावस्या, पूर्णिमा और प्रतिपदा को भी वह किया

जाता है। उपवास के समय सावद्य कर्म के साथ-साथ स्नान आदि शरीर संस्कार का त्याग किया जाता है और दर्भ आदि बिछाकर कायोत्सर्ग से अथवा वीरासन आदि से संस्थित होकर धर्म-जागरण किया जाता है।

बन्ध–कार्मण-वर्गणाओं का आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना।

बकुश–जो निर्ग्रन्थ श्रमण व्रतों का अखण्ड रूप से पालन करते हैं किन्तु शरीर और उपकरणों की शोभा बढ़ाने में लगे रहते हैं, परिवार से घिरे रहते हैं, ऋद्धि और यश की कामना रखते हैं, वे श्रमण बकुश हैं। यहाँ बकुश का अर्थ–चित्र-विचित्र है।

बहिरात्मा–मिथ्यात्व व राग-द्वेष से मलिन आत्मा की अवस्था।

भव्य–जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है, वह।

मद–जाति, कुल, वल आदि से अपना वड़प्पन मानना।

मन–संकल्प-विकल्पात्मक परिणाम तथा चिन्तवन आदि रूप ज्ञान की अवस्था विशेष भाव मन है। द्रव्य मन पुद्गल विपाकी नामकर्म के उदय से होता है।

मिथ्यादर्शन–तत्व विषयक विपरीत अभिनिवेश। मिथ्यात्व के उदय से तत्त्वों का श्रद्धन रूप परिणाम।

मुनि–श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त, यति ये सभी समानार्थक हैं।

मोक्ष–(१) शुद्ध रत्नत्रय की साधना से अष्ट कर्मों की आत्यंतिक निवृत्ति द्रव्यमोक्ष और रागादि भावों की निवृत्ति भावमोक्ष। (२) बंध और बंध के कारणों का सर्वथा अभाव।

मोह–दर्शनमोहनीय के विपाक से होने वाले कलुषित परिणाम।

मौखर्य–धीठता को लिए हुए निःसार कुछ भी बकवास करना।

मौन–प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त वचन विलास का त्याग।

योनि–जीवों के उत्पन्न होने का स्थान।

रूपातीत ध्यान–वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से रहित केवलज्ञान-दर्शन स्वरूप सिद्ध परमेष्ठी का या शुद्ध आत्मा का ध्यान करना।

रौद्रध्यान–रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है, इसका कर्म या इसमें होने वाला भाव रौद्र है। जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है, वह रुद्र, क्रूर अथवा सब जीवों में निर्दय कहलाता है ऐसे पुरुष में जो ध्यान होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है।

वाचना–शिष्यों को पढ़ाना।

विकृति–जिस आहार से जिह्वा या मन में तथा इन्द्रियों में विकार उत्पन्न हो।

विनय–(१) पूज्य पुरुषों का आदर करना। (२) रत्नत्रय को धारण करने वाले पुरुषों के प्रति नम्र होना।

विभाव–(१) कर्मों के उदय से होने वाले जीव के रागादि विकारी भाव। निमित्त की अपेक्षा कथन करने पर ये कर्मों के हैं और जीव की अपेक्षा कथन करने पर ये जीव के हैं। संयोगी होने से वस्तुतः वे किसी एक के नहीं हैं। (२) स्वभाव से अन्यथा परिणमन करना विभाव है।

वीतराग–जिनका राग नष्ट हो चुका है, ऐसे केवली भगवान।

वैनयिक मिथ्यात्व–सब मतों व सब देवताओं को एक समान मानना।

वैयावृत्य–गुणों में अनुरागपूर्वक संयमी पुरुषों के खेद को दूर करना तथा अन्य प्रकार से उनकी सेवा करना। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी–आदि के भेद से वैयावृत्य के दस प्रकार हैं।

वैराग्य–विषयों से विरत होना।

व्युत्सर्ग–परिमित काल के लिये शरीर से ममत्व का त्याग करना।

व्रत–यावज्जीवन हिंसादि पापों की एकदेश या सर्वदेश निवृत्ति अथवा प्रतिज्ञा लेकर जो नियम लिया जाता है, वह व्रत है।

शरीर–जो शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त होकर शीर्यते अर्थात् गलता है, वह।

शल्य–पीड़ा देने वाली वस्तु, जैसे शरीर में काँटा चुभने पर कष्ट होता है, वैसे ही मिथ्यादर्शन, माया और निदान–ये तीन शल्य हैं।

शुक्लध्यान–निर्मल गुणयुक्त आत्मपरिणति; कषायरूपी रज के क्षय या उपशम होने से आत्मा में सुनिर्मल परिणाम होते हैं और वह शुक्लध्यान वैडूर्यमणि के समान सुनिर्मल और निष्कम्प होता है।

शौच–प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग शौचधर्म है।

श्रमण–जो मोक्ष मार्ग में श्रम करता है अथवा जो उपशम भाव रखता है, वह; अथवा जो संसार के सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, वह। श्रमण, साधु, यति, ऋषि, मुनि आदि समानार्थक शब्द हैं।

श्रावक–धर्म सुनने वाला, धर्म पर श्रद्धा रखने वाला तथा विवेकवान, विरक्तचित्त अणुव्रती गृहस्थ को श्रावक कहते हैं। उसके तीन प्रकार हैं–पाक्षिक,

नैष्ठिक और साधक। निज धर्म का पक्ष मात्र करने वाला पाक्षिक, व्रतधारी, नैष्ठिक और वैराग्य की प्रकर्षता से उत्तरोत्तर ११ प्रतिमा धारण करने वाला साधक। शक्ति को न छिपाता हुआ वह निचली दशा से क्रमपूर्वक उठता चलता है। अन्तिम श्रेणी में इसका रूप साधु से किंचित् न्यून होता है।

श्रुतज्ञान–(१) मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के अवलम्बन से तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता है, वह। (२) शब्द सुनने के पश्चात् जो मन की ही प्रधानता से अर्थज्ञान होता है, वह।

संक्रमण–जीव के परिणामों के प्रभाव से कर्म प्रकृति का बदलकर अन्य प्रकृति रूप हो जाना।

संज्ञी–मन के सद्भाव के कारण जिन जीवों में शिक्षा ग्रहण करने व विशेष प्रकार से विचार, तर्क आदि करने की शक्ति होती है वे संज्ञी हैं। यद्यपि चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं में भी इष्ट पदार्थ की प्राप्ति हेतु गमन और अनिष्ट पदार्थों से दूर हटने की क्रिया देखी जाती है, लेकिन यह उनकी सहज स्वाभाविक क्रिया है, बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं; इसलिए उपरोक्त लक्षण के अभाव में वे सज्ञी नहीं हैं।

संज्वलन–संयम के साथ एकीभाव, या जिसके सद्भाव से संयम चमकता रहता है, अथवा जो कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करता है, वह।

सम्पराय–कषाय और संसार।

संमूर्च्छन–तीनों लोकों में ऊपर, नीचे, तिरछे सभी ओर से देह का मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना।

संयत–बहिरंग और अन्तरंग आश्रवों से विरत होने वाला श्रमण।

संयतासंयत–जो एकदेश विरति में लगा हुआ है वह श्रावक; संयम धारण करने के अभ्यास में स्थित कुछ संयम और कुछ असंयम परिणामयुक्त।

संयम–सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियन्त्रण।

संवर–आश्रवों का निरोध, जिनसे कर्मों का आगमन रुके; अथवा कर्मों का रुकना संवर है।

संवेग–संसार के दुःखों से हमेशा डरते रहना।

संसार–संसरण संसार है, जिसका अर्थ परिवर्तन है। कर्म के विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना।

संसारी–कर्मकलंक से जो लिप्त है और अपने स्वरूप को नहीं जानने वाला और जो मोह से बँधा हुआ है, वह संसारी है।

सत्य–जैसा हुआ हो, वैसा ही कहना। राग-द्वेष अथवा मोह से होने वाले मृषा-भाषा के परिणाम को जो सर्वथा–पूर्ण रूप से छोड़ता है वह सत्य महाव्रत है और स्थूल झूठ को स्वयं न बोले, न बुलावे तथा जिस वचन से विपत्ति आती हो वह यथार्थ वचन भी न स्वयं बोले और न बुलावे, वह सत्य अणुव्रत है।

समय–जघन्य गति से एक पुद्गल परमाणु सटे हुए द्वितीय परमाणु तक जितने काल में जाता है, उतना काल एक समय कहलाता है।

समिति–चलने-फिरने, बोलने-चालने और आहार ग्रहण करने में, वस्तु को उठाने-धरने में और मल-मूत्र को निक्षेप करने में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना अथवा प्राणी-पीड़ा के परिहार के लिए सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना 'समिति' है।

समुद्घात–वेदना आदि निमित्तों से मूल शरीर को न छोड़कर तेजस् कार्मण रूप उत्तर देह के साथ-साथ जीव प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना 'समुद्घात' है।

सम्यग्दर्शन–दुरभिनिवेशरहित पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान अथवा आत्म-प्रत्यक्ष पूर्वक स्व-पर भेद का कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक सम्यग्दर्शन है।

संलेखना–सम्यक् प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना–कृष करना संलेखना है।

सागार–आगारयुक्त–श्रावक।

सामायिक–सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, इष्ट-अनिष्ट आदि विषमताओं में राग-द्वेष न करना अपितु साक्षी भाव से उसका ज्ञाता द्रष्टा बने हुए समता-स्वभावी आत्मा में स्थित रहना और सर्व सावद्य योग से निवृत्त होना।

सासादन–सम्यक्त्व रूप रत्नपर्वत के शिखर से च्युत मिथ्यात्व रूप भूमि की ओर पतनोन्मुख और सम्यक्त्व के वमन रूप जीव के परिणाम।

सुमेरु–तीनों लोकों का मानदण्ड और मध्यलोक का सबसे प्रधान पर्वत है।

सूक्ष्मसम्पराय–जिस चारित्र में अति सूक्ष्म कषाय होता है, जैसे–कुसुमली रंग भीतर से सूक्ष्म लालिमा वाला होता है वैसे ही सूक्ष्मराग लोभ होने से इसे सूक्ष्मसम्पराय कहते हैं।

स्तेय–विना दी हुई वस्तु लेना स्तेय है।

स्थविरकल्पिक–गच्छ में रहकर साधना करने वाला श्रमण।

स्याद्वाद–वस्तु का कथन करने की अनेकान्तमयी पद्धति।

स्वाध्याय–सत्शास्त्र का मनन चिन्तन या उपदेश देना, अथवा अपने आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना।

हास्यमोहनीय–जिस कर्म के उदय से बिना कारण अथवा कारण सहित हँसी आवे।

हिंसा–स्व तथा पर के अन्तरंग प्राणों का हनन करना। जहाँ रागादि हों वहाँ स्वहिंसा है और षट्काय जीवों को मारना परहिंसा है। परहिंसा भी स्वहिंसापूर्वक होने से परमार्थ में स्वहिंसा ही है।

हिरण्य–जिसमें रूप्य–चाँदी आदि का व्यवहार होता है।

हीयमान अवधिज्ञान–उत्पत्ति के समय अधिक विषयों को प्रत्यक्ष करने वाला किन्तु उत्तरोत्तर अल्प, अल्पतर, अल्पतम होने वाला अवधिज्ञान।

● ●

परिशिष्ट २

प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

अकालस्तुति

अंगिरा

अंगुत्तरनिकाय
भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता, सन् १९५७

अग्निपुराण

अथर्ववेद
भाष्यकार श्री जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, वि. सं. १९८६

अथर्ववेद सायण भाष्य

अनुयोगद्वारवृत्ति
आगमोदय समिति १९२४ तथा आत्माराम जी महाराज

अनुत्तरोपपातिकदशा
विनय मुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

अनगार धर्मामृत
आशाधर जी, माणिकचन्द दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

अपरार्क दानरत्नाकर

आप्टिज संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी

अभिधान चिन्तामणि कोश
आचार्य हेमचन्द्र

अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग १-७
जैन प्रभाकर प्रेस, रतलाम

अध्यात्म रामायण

अभिज्ञान शाकुन्तल
चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

अध्यात्म विचारणा
पं. दलसुखभाई मालवणिया

अष्टांग हृदय
वाग्भट

अष्टांग संग्रह

अष्टपाहुड
आचार्य कुन्दकुन्द, माणिक्यचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२३

अत्रि स्मृति

अन्तकृद्दशांग
जैन धर्म प्रचार सभा, भावनगर, वि. १९८०

अत्रि सूत्र

अध्यात्म मत-परीक्षा

अमरकोश
निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

अशोक के धर्मलेख
जर्नादन भट्ट, पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली

अष्टक प्रकरण
हरिभद्रसूरि

अंगीरस

आगार धर्मामृत

आचार-प्रदीप
रत्नशेखर वृत्ति

आचारांगसूत्र
अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६
आचारांगनिर्युक्ति
आगमोदय समिति सूरत, वि. सं. १९६२-१९७३
आचारसार
वीरनन्दि, माणिकचन्द दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९७४
आचारांगशीलांकवृत्ति
आगमोदय समिति, सूरत, वि. सं. १९६२-१९७३
आतुरप्रत्याख्यान
जैन प्रचार सभा, भावनगर, वि. सं. १९६६
आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आत्मानुशासन
आवश्यकहरिभद्रीयावृत्ति
आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६-१९१७
आवश्यकनिर्युक्ति
मलयगिरिवृत्ति, आगमोदय समिति, बम्बई-सूरत
आवश्यकचूर्णि
जिनदास गणी महत्तर, रतलाम, सन् १९२८-१९२९
आवश्यकसूत्र
पुण्यविजय जी, महावीर विद्यालय, बम्बई
आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आसणिकोपनिषद्
आश्वलायन गृह्यसूत्र
आराधनासार
देवसेनाचार्य, भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
आदिपुराण
आचार्य जिनसेन–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
आत्मानुशासन
गुणभद्र–जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, गिरगाँव, बम्बई, वि. सं. १९८६
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आश्वलायन श्रौतसूत्र
इण्डियन कल्चर
इण्डियन फिलॉसफी
इस्लाम धर्म क्या कहता है ?
ईशावास्योपनिषद्
उत्तराध्ययनसूत्र
जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर सन् १९३९-१९४२
उत्तराध्ययननिर्युक्ति
देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सं. १९७२
उत्तराध्ययनबृहद्वृत्ति
देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सं. १९७२
उत्तराध्ययन
आचार्य आत्माराम जी महाराज
उत्तराध्ययन
शान्त्याचार्य टीका–देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई सन् १९१९-१९२७
उत्तरपुराण
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
उत्तराध्ययनचूर्णि
रतलाम, सन् १९३३

उत्तराध्ययन
आचार्य तुलसी
उपवास से जीवनरक्षा
उपवास
उपदेशमाला
मलधारी हेमचन्द्र, ऋषभदेव जी केसरीमल संस्था, रतलाम
उपाशकदशांग का अनुवाद
प्रो. हार्नले
उपासकाचार
उपासकाचार
आचार्य अमितगति
उपासकदशांग
आगमोदय समिति, बम्बई, १९२०
उत्तर हिन्दुस्तान मां जैन धर्म
चिमनलाल जयचन्द शाह
ऋग्वेद
वसन्त श्रीपाद सातवेलकर, भारत मुद्रणालय, औंध सात्तारा, १६४८
ऋग्वेद यास्क निरुक्त
एन. के. भगत, पटना यूनिवर्सिटी रीडरशिप लेक्चरर्स
ऐतरेय ब्राह्मण
ऐतरेय आरण्यक
ऐतरेय उपनिषद्
ओघनिर्युक्ति
विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत, सन् १९५७
ओघनिर्युक्तिभाष्य
ओघवृत्ति
औपपातिक सूत्र
औपपातिकवृत्ति
अभयदेवकृत, आगमसंग्रह, कलकत्ता, सन् १८८०
आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६
कठोपनिषद्
निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६३२
कथासरित्सागर
कबीर ग्रन्थावली
कर्मग्रन्थ, भाग १–६
कल्पसूत्र
पुण्यविजय जी म., साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, सन् १९५२
कल्पसूत्र कल्पलता टीका
समयसुन्दरगणि, जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९३६
कल्पसूत्र सुबोधिका
विनयविजय, आत्मानन्द सभा, भावनगर, सं. १९७५
कल्पद्रुम कलिका
लक्ष्मीवल्लभ, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९७५
कल्प समर्थन
कल्पसूत्र कल्पार्थबोधिनी
विजय राजेन्द्रसूरि, राजेन्द्र प्रवचन कार्य, खुडाला (फालना)
कल्प दर्शनम्
कल्पद्रुम, कल्पद्रुम-कलिका टीका
कल्पसूत्रनिर्युक्ति
पुण्यविजय जी, साराभाई नवाब, अहमदाबाद, सन् १९५२
कल्पसूत्रचूर्णि
पुण्यविजय जी, साराभाई नवाब, अहमदाबाद, सन् १९५२
कल्पसूत्रवृत्ति
कल्पसूत्र

श्री देवेन्द्र मुनि
काठ संहिता
कामसूत्र
कथाकोश
देवभद्रसूरि
कवितावली
काशी भारद्वाज सूत्र
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
आचार्य स्वामी कार्तिकेय
कर्पूर प्रकरण
कर्मस्तव
महेशाणा संस्करण
क्रिया-कोश
मोहनलाल बांठिया, १६ सी,
डीवर लेन, कलकत्ता-२९
कौशीतकी ब्राह्मण उपनिषद्
कुम्भ जातक
कुवलयमाला
उद्योतनसूरि
कुरान-शरीफ
कायोत्सर्ग शतक
कूर्मपुराण
बाइबिल योयिका इंडिका,
एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल
कृष्णयजुर्वेद
कौटिल्य अर्थशास्त्र
गरुड़पुराण
गीत गोविन्द
जयदेव
गीता रहस्य
लोकमान्य तिलक
गीता
गीता प्रेस, गोरखपुर
गीतावली
गोपथब्राह्मण
गोचरचर्यासूत्र
गोरक्षा शतक
गाँधीजी की सूक्तियाँ
गोम्मटसार–कर्मकाण्ड
नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, रायचन्द
जैन शास्त्रमाला, १९२८
गोभिल स्मृति
गोभिल गृह्यसूत्र
गोम्मटसार
नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, अनु. जे.
एल. जैनी, एम. ए.
गुणस्थान क्रमारोह
सोपज्ञवृत्ति
गुरु ग्रन्थ साहिब
गौतम धर्मसूत्र
गौतम स्मृति
गृहस्थधर्म
आचार्य जवाहरलाल जी म.
गृहस्थधर्म
आचार्य फूलचन्द जी म.
गृहस्थाचार
गुरुवन्दन भास
देवेन्द्रसूरि
चतुःशरण
चन्द्रवेध्यक
चाणक्यनीति
चारित्त पाहुड
आचार्य कुन्दकुन्द
चरक संहिता
चारित्रसार
चामुण्डराय

चारित्र प्रकाश
चारित्र प्राभृत
चुलुसुत्त सोम जातक
चुल्लवग्ग खुद्दकत्थुखन्धक
छान्दोग्योपनिषद्
निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
जातक
भदन्त आनन्द कौशल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश १-४
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
जाबालोपनिषद्
जैन दिवाकर स्मृति ग्रन्थ
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
देवचन्द लालभाई, जैन पुस्तकोद्धार, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६२०
जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा
देवेन्द्र मुनि
जैन सिद्धान्त बोल संग्रह
जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण
देवेन्द्र मुनि
जैमिनीय गृह्यसूत्र
जैन आचार
डॉ. मोहनलाल मेहता, काशी हिन्दु यूनिवर्सिटी, वाराणसी
जीतकल्प
जीतकल्पबृहद्चूर्णि
जय जियकप्प
सोमप्रभसूरि
जइ सामाचारी
भावदेवसूरि
तत्त्वार्थसूत्र
उमास्वाति/जैनीकृत, अंग्रेजी अनु. सहित, वाराणसी, १९२०
तत्त्वार्थसार
अमृतचन्द्रसूरि गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला
तत्त्वार्थराजवार्तिक
भट्ट अकलंक
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
विद्यानन्द
तत्त्वार्थसूत्र
पं. सुखलाल जी, जैन संस्कृति संशोधन मंडल, वाराणसी
तत्त्वार्थसूत्र
श्रुतसागरीय वृत्ति-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९३२
तत्त्वानुशासन
रामसेन, माणिकचन्द दिगम्बर ग्रन्थमाला, बम्बई
तत्त्वार्थभाष्य
उमास्वाति
तत्त्वार्थसूत्र
सर्वार्थसिद्धि-पूज्यपाद
तैत्तिरीय संहिता
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्तिरीय आरण्यक
तैत्तिरीयोपनिषद्
निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३२
तिलकमंजरी
धनपाल
तपोष्टक-ग्रन्थ
तन्त्रवार्तिक
ताण्ड्य महाब्राह्मण
ता. सनहेन्द्रिय
ता. बाबा मेतालिया

तोरा-लैव्य व्यवस्था
थेरी गाथा
राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७
दशवैकालिकसूत्र
आ. आत्माराम जी कृत हिन्दी टीका सहित, महेन्द्रगढ़, वि. सं. १९८९
दशवैकालिक-जिनदासचूर्णि
दशवैकालिक-हारिभद्रीयावृत्ति
देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डार, बम्बई, १९१८
दशवैकालिकनिर्युक्ति
देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बम्बई, १९१८
दर्शन और चिन्तन
पं. सुखलाल जी संघवी
दर्शन पाहुड
आचार्य कुन्दकुन्द
दर्शनसार
हिन्दी जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, वि. सं. १९७३
दर्शन का प्रयोजन
दर्शन अने चिन्तन
पं. सुखलाल जी संघवी
दशवैकालिक अगस्त्यसिंहचूर्णि
प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५, प्र. सं. १९७३
दि वेदाज–एफ. मैक्समूलर
दीघनिकाय
हिन्दी अनु. राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा सारनाथ, वाराणसी
दशाश्रुतस्कन्ध
आ. आत्माराम जी म., जैन शास्त्र-माला कार्यालय, लाहौर, सं. १९३६
दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति
मणिविजय जी ग्रन्थमाला, भावनगर, वि. सं. २०११
दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि
मणिविजय जी ग्रन्थमाला, भावनगर
द्रव्यसंग्रह
आ. नेमिचन्द्र, सं. डा. दरबारी लाल जी कोटिया
दक्षस्मृति
द्वादशानुप्रेक्षा
धम्मपद
भिक्षु धर्मरक्षित, मास्टर खेलाड़ी एंड संस, बनारस, १९५३
धर्मसंग्रह श्रावकाचार
मेधावी
धर्मबिन्दु प्रकरण
आचार्य हरिभद्र
धर्मशास्त्र का इतिहास
पी. वी. काणे
धर्मसंग्रह
ध्यान शतक
भाष्य. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, शा. कमलचंद रंग जी वेणय, सूर्योदय प्रेस, जामनगर
नव तत्त्व साहित्य संग्रह
नमस्कार स्वाध्याय ग्रन्थ
नवपद प्रकरण सटीक
देवगुप्तसूरि
नारद पुराण
निमिजातक
निशीथसूत्र

निशीथसूत्र भाष्य
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
निशीथसूत्र सभाष्यचूर्णि
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५७-१९६०
निरयावलिया
नियमसार
कुन्दकुन्द, सं. पं अजितप्रसाद,
लखनऊ, १९३७
निरुक्त
नीतिवाक्यामृत
आचार्य सोमदेवसूरि
न्यायसूत्रभाष्य
न्यायमंजरी
गौतमसूत्र तत्त्वार्थविवृत्ति, चौ. सं.
सीरीज, वाराणसी, १९३१-१९५४
न्यायवार्तिक
सं. विघ्नेश्वरीप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा
सं. सी. वाराणसी, १९७५
न्यायभाष्य
निर्णयसिन्धु
पद्मपुराण
परिशिष्ट पर्व
आचार्य हेमचन्द्र
परमात्म द्वात्रिंशिका
पातंजल योगसूत्र
पातंजल-दर्शन-व्यासभाष्य
पद्मचरित
रविसेन
पातंजल दर्शनवृत्ति
आचार्य यशोविजय
परमात्माप्रकाश
पिण्डनिर्युक्ति
पिण्डविशुद्धि
जिनवल्लभसूरि
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
अमृतचन्द्राचार्य–परमश्रुत प्रभावक
मंडल, बम्बई, वी. सं. २४३१
पुरुषार्थानुशासन भावसंग्रह
पं. गोविन्द
पंचास्तिकाय
कुन्दकुन्द सं. प्रो. ए. चक्रवर्ती प्र.
कुमार देवेन्द्रप्रसाद, आरा, १९२०
पंचवस्तु
पंचाचाराधिकार
पंचाशक सटीक विवरण
पंचसंग्रह
चन्द्रर्षि महत्तर (भा. २) सं. विजय
प्रेमसूरि
पंचविंशतिका
पद्मनन्दी
पंचकल्प महाभाष्य
पंचसुत्तय
पंचनियंट्ठि
आ. हरिभद्र
पंचनियंट्ठि
अभयदेव
पंचवत्थुक
आचार्य हरिभद्र
प्रवचनसारोद्धार
नेमिचन्द्र (सिद्धसेन टीका सहित)
प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति टीका
प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति
प्रशमरति प्रकरण
उमास्वाति
प्रश्नव्याकरणसूत्र
तपागच्छाधिपतिसूरि पुरंदर श्रीमद्

प्रायश्चित्त विवेक
ज्ञान विमलसूरि विरचित वृत्ति, सं. मफतलाल झवेरचंद, अहमदाबाद
प्रवचनसार
कुन्दकुन्द, सं. डॉ. एन. ए. उपाध्ये, रायचंद जैन शास्त्र मण्डल
प्रवचनसारवृत्ति
जयसेनाचार्य प्रकाशक-परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९६९
प्रकरण पंजिका
प्रशस्तपद भाष्य
यान्यमति टीका
प्रस्थान त्रयी
प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
आचार्य सकलकीर्ति
प्रत्याख्यान सिद्धि
प्रभावक चरित्र
प्रतिक्रमणत्रयी
प्रज्ञापनासूत्र
सं. पुण्यविजय मुनि, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९६६
प्राचीन प्राकृत
प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्
परिसाम्मिवायग्गो
पारसी धर्म क्या कहता है ?
पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इन्सियेण्ट इण्डिया
एच. सी. राय चौधरी
प्राकृत पद्य संग्रह
प्रायश्चित्त प्रकाश
प्रायश्चित्त मयूख
प्रायश्चित्त विवेक
पर्युषण कल्पसूत्र
केसर मुनि
फिलॉसफी ब्रिगिन्स इन वण्डर
बारस अणुवेक्खा
बोधायन धर्मसूत्र
बोधायन गृह्यसूत्र
बौद्ध संस्कृति का इतिहास
डॉ. भागचन्द्र जैन
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास
बौद्ध धर्म दर्शन
आचार्य नरेन्द्रदेव
बीजक साखी
ब्रह्मपुराण
ब्रह्मसूत्र
बोधायन श्रौतसूत्र
भगवद्गीता
भगवद्गीता
डॉ. राधाकृष्णन्
भगवतीसूत्र
संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना
भगवती आराधना
आचार्य शिवार्य, अनन्तकीर्ति ग्रन्थालय, बम्बई, सं. १९८६
भगवती आराधनावृत्ति
भगवतीसूत्र
अभयदेव वृत्ति
भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन
देवेन्द्र मुनि
भरतेश बाहुबलि वृत्ति
भागवत पुराण
भारतीय दर्शन
उपाध्याय बलदेव

भारतीय विद्या
डॉ. मोतीचन्द
भारतीय दर्शन
डॉ. राधाकृष्णन्
भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन–
एक तुलनात्मक अध्ययन
डॉ. अशोककुमार लाड
भारद्वाज गृह्यसूत्र
भावपाहुड
भावसंग्रह
देवसेन
भक्तपरिज्ञा
भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययन
आ. जिनदेव
मनुस्मृति
टीकाकार पं. जनार्दन भा. हिन्दी
पुस्तकालय एजेन्सी, हैरसिन रोड,
कलकत्ता, सं. १९८३
महापुराण
जिनसेन
महावीर-चरियं
गुणचन्द्र
महावीर की साधना का रहस्य
मुनि नथमल
महावग्ग
महामंगल सुत्त
महासिंहनाद सुत्त
महानिशीथ
पुण्यविजय जी के संग्रह की प्रति
महाप्रत्याख्यानसूत्र
महाभारत
टी. आर. कृष्णाचार्य, बम्बई,
१९०६-१९०७
महात्मा गाँधी
मरणसमाधि
मरणविभक्तिप्रकरण
मरुधर केसरी-अभिनन्दन ग्रन्थ
मज्झिम निकाय
मष्करी भाष्य
मानव गृह्यसूत्र
मालाविकाग्निमित्र
कालिदास
मिताक्षरा-याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीका
मीमांसा सूत्र
मुण्डकोपनिषद्
मूलाचार
आचार्य वट्टकेर, भारतीय दिगम्बर
जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. सं.
१९७७-१९८०
मूलाराधना-दर्पण
मूलाराधना-आश्वास
मूलाराधना-विजयोदयावृत्ति
मूलाराधना-अमितगति
मूल सर्वास्तिवाद
मृत्यु-महोत्सव
मृच्छकटिकम्
शूद्रक
मैत्रायणि आरण्यक
मैत्रायाणि संहिता
मोक्ष प्राभृत
मोक्षमार्ग
रतनलाल दोशी
मोक्ष पाहुड
मत्स्यपुराण
मार्कण्डेयपुराण
राजप्रश्नीय

जयदेव जी शर्मा, आर्य साहित्य मंडल, अजमेर, वि. सं. २००५
यतिधर्म संग्रह
यतिदिन कृत्य
हरिभद्र
यशस्तिलक चम्पू
आचार्य सोमदेव
याज्ञवल्क्यस्मृति
योगदर्शन व्यास भाष्य
योगप्रदीप
योगदर्शन
योगशास्त्र
आ. हेमचन्द्र
योगशास्त्र
आ. श्री हेमचन्द्र/ऋषभचंद जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली, १९६३
योग-बिन्दु
हरिभद्र–जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९११
योगलक्षण द्वात्रिंशिका
योगभेद द्वात्रिंशिका
योगावतार द्वात्रिंशिका
योगशिखोपनिषद्
योग वाशिष्ठ
रघुवंश
मल्लिनाथ टीका
रघुवंश
कालिदास
रत्नकरण्ड श्रावकाचार
स्वामी समन्तभद्र
रत्नमाला
आ. शिवकोटि
विनयपिटक
आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२५
रामचरितमानस
रामायण
रयणसार
आचार्य कुन्दकुन्द
रयणसार
अमृतचन्द
लब्धि-सार
लाटी संहिता
लोकप्रकाश
उपाध्याय विनयविजय जी
लिंगपुराण
वराहपुराण
वशिष्ठ धर्मसूत्र
वशिष्ठ स्मृति
वसुनन्दी श्रावकाचार
वायुपुराण
प्र. मनसुराय मोर, कलकत्ता, १९५९
वाग्भट
वासुदेव हिण्डी
संघदासगणि और धर्मसेनगणि
वरांगचरित
जटासीन नन्दी
वाजसनेयी संहिता
वाल्मीकि रामायण
विषय निग्रह कुलक
विधि-कौमुदी
आचार्य रत्नशेखरसूरि
विपाकसूत्र
विष्णुधर्मसूत्र
विष्णुपुराण
विष्णुधर्मोत्तरपुराण

विशेषावश्यकभाष्य
जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण
सं. दलसुख मालवणिया
विशुद्धिमग्ग
विवाद रत्नाकर
वीतराग स्तोत्र
वेराइटीस ऑफ रिलीजियस एक्सपीरियन्स
वृहदारण्यक उपनिषद्
वृहद्धर्मपुराण
वृहद्नारदीयपुराण
वृद्ध पाराशर स्मृति
वृद्ध योगी-याज्ञवल्क
वृहद्कल्पसूत्र
वृहद्द्रव्यसंग्रह
नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
वृहत्कल्पनिर्युक्ति
पुण्यविजय जी सम्पादित, आत्मानन्द
सभा, भावनगर, सन् १९३३-१९४१
वृहत्कल्प लघुभाष्य
आत्मानन्द सभा, भावनगर
वेदान्तसूत्रभाष्य
आचार्य शंकर
वैशेषिक दर्शन
डॉ. भगवानदास
वैशेषिकसूत्र
वैखाननसंग्रह
व्यवहारसूत्र
मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल'
व्यवहारभाष्य
केशवलाल प्रेमचन्द, अहमदाबाद,
वि. स. १९८२-१९८५
व्यवहारभाष्य टीका
मलयगिरि वृत्ति,
सिगालोवादसूत्र
व्यवहारनिर्युक्ति
भद्रबाहु, सम्पादक मुनि माणक
समयसार
आचार्य कुन्दकुन्द जैनकृत अंग्रेजी
अनु. अजिताश्रम, लखनऊ, १९३०
सप्त तत्त्व प्रकरणम्
आचार्य हेमचन्द्र
सप्ततिस्थानक
सत्तरियस्थानक
संबोध सत्तरि
समवायांग
अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार
समिति, राजकोट, १९६२
समवायांग
अभयदेववृत्ति
समवायांग
मु. कन्हैयालाल जी महाराज
सर्वार्थसिद्धि
समीचीन धर्मशास्त्र
समन्तभद्र
सप्तति शतस्थान
सामवेद पूर्वार्चिक
सागार धर्मामृत
आशाधर जी. मा. दि. जैन ग्र.,
बम्बई, १९१७
साधना के सूत्र
मधुकर मुनि
सामाचारी प्रकरण
साहित्य और संस्कृति
देवेन्द्र मुनि, भारतीय विद्या प्रकाशन,
वाराणसी
सावयधम्म दोहा

स्कन्दपुराण

सिन्दूरप्रकरण
सिफरा लैव्य व्यवस्था
सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट
सुत्तनिपात
सुश्रुत सूत्रस्थान
सूत्रकृतांग
अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६९
सूत्रकृतांगशीलांकवृत्ति
सूफीमत साधना और साहित्य
सुक्ति मुक्ता
आचार्य सोमप्रभसूरि
स्मृति मुक्ताफल
स्मृतिचन्द्रिका
सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट भाग–४५
संयुक्तनिकाय
आ. भिक्षु जगदीश काश्यप
संस्तारक
संवेग रंगशाला
देवभद्रसूरि
संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ
संबोध सत्तरि
स्थानांगसूत्र
स्थानांग टीका
अभयदेव
संस्कृत भाव संग्रह
वामदेव
सांख्य कारिका
सं. डॉ. उमाशंकर त्रिपाठी, वाराणसी, १९७०
सांब पुराण
श्रावकाचार
समयसार
कुन्दकुन्दाचार्य, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशन संस्था, काशी, ई. सन् १९१५
साइकोलॉजी एण्ड मोरल्स
स्याद्वादमंजरी
सम्यग्दर्शन
डॉ. एल. के. गाँधी, श्याम जी वेलजी विरानी, राजकोट
सुत्तागमे
धर्मोपदेष्टा श्री फूलचन्द जी म.
सौन्दरनन्द
अश्वघोष
शतपथ ब्राह्मण
शब्दकल्पद्रुम
शाकुन्तल नाटक
शाखा श्रोत
शाण्डिल्योपनिषद्
शान्त सुधारस
शिव संहिता
शिवपुराण
श्रीमद्भागवत
श्रावकधर्मप्रकरणवृत्ति
श्रावकधर्म-विधिप्रकरण
श्रावकधर्म-विधि
जिनेश्वरसूरि
श्रावकधर्म
महासती उज्जवलकुमारी जी
श्रावकधर्म दर्शन
उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी
श्रावकाचार
वसुनन्दी
संस्कृत टीका सहित

अमितगति, अनन्तकीर्ति ग्रन्थालय, बम्बई, १९७६
श्रावकाचार
गुणभूषण
श्रावकाचार
पूज्यपाद
श्रावकाचार
पद्मनन्दी
श्रावकाचार संग्रह
श्रमणसूत्र
श्रमणसूत्र
उपाध्याय अमर मुनि
श्राद्धदिनकृत्यसूत्र
देवेन्द्रसूरि
श्राद्धगुण-विवरण
जिनमंडलगणि
श्राद्धविधि
रत्नशेखरसूरि
षट्खण्डागम
धवलावृत्ति, लेखक–वीरसेनाचार्य, जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती, ई. सन् १९३८-१९५८
षट्प्राभृतादि
आ. कुन्दकुन्द, श्रुतसागर कृत
षट्स्थान प्रकरण
आचार्य जिनेश्वर सुविहित
त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र
हेमचन्द्रसूरि–जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, बम्बई, वि. सं. १९६५
हरिभद्रीय अष्टक
हरिभक्ति विलास
हरिवंशपुराण
आचार्य जिनसेन
हारीतस्मृति
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी
हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी–ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न
हेमादि व्रत
हारीत धर्मसूत्र
ज्ञान-सार
उपाध्याय यशोविजय जी
ज्ञानार्णव
ज्ञाताधर्मकथा
ज्ञातासूत्र
आचार्य अमोलक ऋषि जी म. हैदराबाद, वी. सं. २४४६